छन्दःसमीक्षा

लेखक
समीक्षा चक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा

सम्पादक एवं अनुवादक
श्री सुरजनदास स्वामी
एम० ए०, षड्दर्शनाचार्य

प्रकाशक
राजस्थान संस्कृत अकादमी
जयपुर (राजस्थान)

छन्दःसमीक्षा

पं० मधुसूदन ओझा विरचित

प्रथम संस्करण : १९९१ ई०

मूल्य : दो सौ रुपये

प्रकाशक :

निदेशक, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

मुद्रक :

सतीशचन्द्र शुक्ल

प्रबन्धक, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

प्राप्तिस्थान :

राजस्थान संस्कृत अकादमी

वीरेश्वर भवन, गणगौरी बाजार, जयपुर

प्रकाशकीय

स्वनामधन्य विद्यावाचस्पति, समीक्षा चक्रवर्ती वन्दनीय महामनीषी पं. मधुसूदन ओझा द्वारा रचित 'छन्दः समीक्षा' नामक ग्रन्थ को आप लोगों के करकमलों में समर्पित करते हुए अकादमी महान् गौरव का अनुभव करती हुई सुधी विज्ञ जनों से छन्दःशास्त्रविषयविज्ञानजनिततथ्यों से लाभान्वित होने की प्रार्थना करती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दीर्घावधि तक अनुपलब्धता के कारण प्रकाश में नहीं आ सका था परन्तु संस्कृत जगत् के सौभाग्य से दार्शनिकविद्वन्माला के सुमेरु, अनेक विषयों के मर्मज्ञ आचार्य तथा सम्मानित लेखक पूज्य स्वामीजी श्री सुरजनदासजी महाराज को इसकी एक प्रति कहीं से उपलब्ध हुई। ग्रन्थ को उपयोगी समझकर उन्होंने संस्कृत-अकादमी को इसके प्रकाशन हेतु प्रेरित किया। उत्तर में अकादमी के साग्रह निवेदन को स्वीकार कर स्वामीजी ने अस्वस्थ होते हुए भी स्वयं इसका हिन्दी अनुवाद कर सम्पादित करने तथा अजमेर में ही प्रकाशित कराने का दायित्व अपने ऊपर लेते हुए हमारा बड़ा उपकार किया। इसके लिए उस महान् विभूति को शत सहस्रशः नमन।

छन्दःशास्त्र के सांगोपांग गण, यति, प्रकार, प्रस्तार, मेरु आदि विधाओं के विवरण से अनुप्राणित यह ग्रन्थ पूज्य ओझाजी की अभूतपूर्व प्रतिभा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। आपने वेदविज्ञान के निगूढ तत्त्व का प्राचीन एवं अर्वाचीन शैली के समन्वय के रूप में जो प्रकाश संसार को दिया उससे वेदवीथीपथिकों की विश्वस्तता का मार्ग प्रशस्त हुआ है। 'वेदेषु ऐतिह्यमस्ति नवा' के दोनों पक्षों का समाधान तो आपकी ही देन है।

प्रकाशित हो रहा छन्दःसमीक्षा ग्रन्थ केवल प्रथम खण्ड मात्र है। शेष खण्डों के प्रकाशन के लिए भी अकादमी आशान्वित है परन्तु दुर्दैववशात् स्वामीजी महाराज के आकस्मिक ब्रह्मलीन होने से हिन्दी अनुवाद की समस्या सामने है। ओझाजी के ग्रन्थ का शेष अनुवाद स्वामीजी जैसे विद्वानों की लेखनी से ही पूर्णतः सन्तुष्टिदायक होता।

वैदिक वाङ्मय की षडंग प्रक्रिया में छन्दःशास्त्र का नामोल्लेख तो है ही 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' यह बताकर इसकी प्रामाणिकता एवं अपरिहार्यता का स्पष्ट निदर्शन भी कराया गया है। शास्त्रीय विवेचन में इसकी उपयोगिता एवं महत्ता अवश्यमेव परिगणनीय है। वर्तमान में प्रचलित सामान्य अध्ययन अध्यापन की सीमा से दूर छन्दःशास्त्र की तात्त्विक विवेचना से परिपूर्ण विषय की उपलब्धि से ही प्रकाशन का सही उद्देश्य सिद्ध हो सकेगा।

यह स्मरणीय है कि पुस्तक के प्रकाशन, पाण्डुलिपि-निर्माण तथा प्रूफ संशोधन में सक्रिय सहयोग प्रदान करने के लिए स्वामीजी के अनन्य प्रिय शिष्य वेदविषयवेत्ता पं० अनन्तराम शर्मा, डॉ० नरेशचन्द्र पाठक तथा डॉ० शिवचरण गर्ग धन्यवाद के पात्र हैं। श्री कलानाथ शास्त्री, उपाध्यक्ष अकादमी तथा निदेशक भाषा विभाग के सहयोग का बारम्बार स्मरण कर अकादमी कृतज्ञता ज्ञापित करती है, जिनके सत्प्रयास से प्रकाशन का कार्य यथाविधि सम्पन्न हो सका।

अजमेर स्थित ग्रन्थ के मुद्रक, वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक श्री सतीशचन्द्र शुक्ल भी कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं जिनकी जागरूकता एवं सावधानी के कारण अप्रचलित पारिभाषिक शब्दावलि के मुद्रण में अशुद्धियों को अस्वाभाविक रूप में स्थान नहीं मिल सका है। "समादधति सज्जनाः" की सूक्ति की छाया में विद्वज्जनों से हम निवेदन करना चाहेंगे कि वे इस सम्बन्ध में हमारा मार्गदर्शन करें जिससे भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति न हो सके।

—राधाकृष्ण दीक्षित
अध्यक्ष
राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

भूमिका

छन्दःसमीक्षा का संक्षिप्त भाषानुवाद

इस छन्दःसमीक्षा नामक ग्रन्थ में वाक्सम्बन्धी मङ्गलाचरण के बाद छन्दस्तत्व की समीक्षा की गई है। इसमें पद्यच्छन्दोवेदगत शिक्षा, गणित, निरुक्ति, व्याकरण व कल्पभेद से पाँच अङ्ग प्रतिपादित हैं। अर्थात् छन्दःशिक्षा, छन्दोगणित, छन्दोनिरुक्ति, छन्दोव्याकरण, छन्दःकल्प इन पाँच अङ्गों का इस पद्यच्छन्दोवेद में निरूपण किया गया है। इन में छन्दःशिक्षा-परिभाषाधिकार में छन्द, पद, अवष्टम्भ, वर्ण, मात्रा, गण, गति व संकेत—इन ८ तत्त्वों का निरूपण हुआ है। इन में छन्द से लेकर गतिपर्यन्त ७ तत्त्वों के ज्ञान से छन्दःस्वरूप का ज्ञान होता है तथा संकेतरूप समय केवल शास्त्रविज्ञान में ही उपयोगी है। किसी भी मात्रा से नियत अवयवविशेषों के सन्निवेश से विहित मर्यादा छन्द है। व्यवस्थित मात्राओं से ही कोई वस्तु उत्पन्न होती है अतः वह व्यवस्थित मात्रा प्रकृत में वस्तुजनक होने से जाति कहलाती है। अथवा सभी वस्तुएँ मात्राव्यवस्था से भिन्नता को प्राप्त होती हैं अर्थात् मात्राव्यवस्था से ही वस्तु भिन्न भिन्न रूप से उत्पन्न होती है, अतः मात्राव्यवस्था ही जाति है तथा मात्राओं से निष्पन्न गुरुलघुव्यवस्था से जो वस्तु भिन्न होती है, उसे वृत्त कहते हैं। अतः जातिमर्यादा तथा वृत्तनामक मर्यादा छन्द कहलाती है। जातिमर्यादा में वस्तुस्थिति का कारण मात्राव्यवस्था है। वृत्तमर्यादा में वस्तुस्थिति का कारण नियतस्थानों में स्थित मात्राओं से निष्पन्न गुरुलघुव्यवस्था है। यद्यपि जातिमर्यादा व वृत्तमर्यादा दोनों में ही अन्ततोगत्वा वस्तुस्थिति का कारण मात्रायें ही हैं क्योंकि लघुगुरुव्यवस्थामूलक वस्तुस्थिति में गुरुलघुव्यवस्था नियत स्थानों में अवस्थित मात्राओं पर ही निर्भर है, तथापि स्वरविशेषसमष्टिमात्रा जाति में कारण है तथा स्वरविशेष-व्यष्टिमात्राएँ वृत्त में कारण होती हैं। अतः स्वरविशेष-समष्टि-रूप मात्राओं तथा स्वरविशेष-व्यष्टिरूप मात्राओं को लेकर जाति और वृत्त दोनों में भेद हो जाता है।

यद्यपि यह छन्द आर्थिक तथा वाचिक भेद से दो प्रकार का है तथापि आर्थिक छन्दों का निरूपण न करके यहाँ वाचिक छन्दों का ही निरूपण किया जा रहा है। इन वाचिक छन्दों में अनेक वर्णों से निष्पन्न शरीर वाली वाणी का अभिनय होने पर किसी न किसी प्रकार की मर्यादा से बद्ध छन्दों की आधारभूत भूमिका का अनुभव होता है, जिस भूमिका का स्वरूप वर्णों का परिवर्तन हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता तथा उस मर्यादा का नाश होने पर उस भूमिका का नाश हो जाता है। वह अनिर्वचनीय वर्णभूमिका या मर्यादा ही छन्द कहलाती है।

यह वाचिक छन्द पद्य, गद्य, गेय, भेद से तीन प्रकार का है, अतः छन्दःशास्त्र पद्यकाण्ड, गद्यकाण्ड, गेयकाण्ड भेद से त्रिकाण्डात्मक है। यद्यपि बहुत से विद्वान् गद्यसमूह में छन्दोव्यवस्था नहीं मानते हैं क्योंकि उनमें कोई छन्दमर्यादा नहीं है तथापि उनमें अच्छन्दस्कता (किसी छन्द का न होना) को ही छन्द मानकर छन्दोव्यवहार माना जाता है, जैसे शूद्रों का किसी छन्द से निर्माण न होने के कारण उनके छन्दोरहित होने पर भी छन्दोव्यवहार माना जाता है।

पद्य, गद्य, गेय भेद से त्रिधा विभिन्न छन्द में पद्यरूप छन्द वृत्त व जाति भेद से दो प्रकार का है। नियतवर्णव्यवस्था से निष्पन्न छन्द वृत्त कहलाता है तथा नियतमात्राव्यवस्था से निष्पन्न छन्द जाति कहलाता है। जैसा कि नारायण ने कहा है—

'पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥' इति।

हलायुध ने भी—

'पद्यं चतुष्पदं तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
एकदेशस्थिता जातिर्वृत्तं लघुगुरुव्यवस्थितम्॥'

अर्थात् वृत्त में लघुगुरुव्यवस्था होती है तथा जाति में मात्राव्यवस्था।

कतिपय विद्वान् पद्य को वृत्ति तथा जाति भेद से द्विधा विभक्त कर दोनों में अर्थात् मात्राव्यवस्थानिबन्धन जातिमर्यादा में तथा गुरुलघुव्यवस्थानिबन्धन वृत्तिमर्यादा में सामान्यतः वृत्तशब्द तथा छन्दशब्द का व्यवहार करते हैं। जैसे वर्णवृत्त, वर्णछन्द तथा मात्रावृत्त व मात्राछन्द। इनके मत में वृत्तशब्द व छन्दशब्द पर्यायवाची हैं। किन्तु छन्दःपरिमलकार वृत्तशब्द तथा छन्दशब्द की पर्यावाचिता का प्रत्याख्यान कर मात्रासंख्या तथा अक्षरसंख्या से नियत वाक् को छन्द तथा गुरुलघुरूप से नियत वाक् को वृत्त बतलाते हैं। अतः इनके मत में उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा आदि से प्रारम्भ कर संकृति, अतिकृति, उत्कृति, दण्डकपर्यन्त वर्णच्छन्द हैं और उनके भेद वृत्त कहलाते हैं। इसी प्रकार ण, ढ, ड, आदि मात्रा छन्द कहलाते हैं और इनके अवान्तर भेदों को जाति कहा जाता है।

कुछ मनीषी पद्यछन्द को वैदिक, लौकिक तथा उभयसाधारण—इन तीन विभागों में विभक्त कर लौकिक पद्यच्छन्द को गणच्छन्द, मात्राच्छन्द तथा अक्षरच्छन्द—इन तीन विभागों में विभक्त करते हैं। इनमें आर्या से उद्गीतिपर्यन्त छन्द गणच्छन्द है। औपच्छन्दसिक छन्द से प्रारम्भ कर चूलिकापर्यन्त छन्द मात्राछन्द हैं। समानी छन्द से उत्कृतिपर्यन्त छन्द अक्षरच्छन्द हैं।

दूसरे छान्दसिक—अक्षरच्छन्द, मात्राछन्द, अक्षरगणच्छन्द, तथा मात्रागणच्छन्द भेद से छन्दों के चार भेद मानते हैं। जहाँ मात्राओं के न्यूनाधिक होने पर

अक्षरसंख्या नियत है ऐसे गायत्री आदि वैदिक छन्दों को अक्षरच्छन्द कहते हैं। तथा अक्षरों के न्यूनाधिक होने पर भी मात्रासंख्या नियत है ऐसे औपच्छन्दसिक आदि को मात्राछन्द एवं क्रमसंनिविष्ट अक्षरगणों की व्यवस्था से जिन छन्दों की स्वरूपसिद्धि है उनमें अक्षर भी नियत होते हैं और लघुगुरुस्थानरूप मात्रायें भी नियत होती हैं ऐसे इन्द्रवज्रादि को अक्षरगणच्छन्द तथा क्रमसंनिवेशयुक्त मात्रागणों की व्यवस्था से स्वरूपसिद्धि वाले आर्या आदि को मात्रागणच्छन्द कहते हैं। इनमें अक्षरसंख्या का नियम नहीं होता।

पदनिरूपण

छन्दोनिरूपण के बाद पद का निरूपण किया जा रहा है। पद्य में विश्रामस्थान को पद कहा जाता है। वह विश्रामस्थान पद तीन प्रकार का है—पादखण्ड, पाद व दल। जहाँ किसी भी प्रकार विश्राम होता है उसे पादखण्ड कहते हैं। जहाँ पादखण्ड की अपेक्षा अधिक विश्राम होता है उसे पाद कहते हैं। जहाँ पाद की अपेक्षा और अधिक विश्राम होता है उसे दल कहते हैं। और जहाँ पर उपर्युक्त विश्राम स्थानों की अपेक्षा सर्वाधिक विश्राम होता है, वह विश्रामस्थान चतुष्पदी, श्लोक व पद्य शब्द से व्यवहृत होता है। श्लोकों में प्रायः चार पाद होते हैं। इनमें श्लोक का चतुर्थ भाग पाद कहलाता है। वह पाद सर्वसम, अर्धसम, सर्वविषम भेद से तीन प्रकार का है। यदि वर्ण, मात्रा या लघुगुरुव्यवस्था के भेद से प्रथमपाद के समान शेष तीन पाद होते हैं वह श्लोक सर्वसम पाद वाला होता है तथा श्लोक के प्रथम पाद के ससान तृतीय पाद तथा द्वितीय पाद के समान चतुर्थ पाद होता है, उसे अर्धसमपाद वाला श्लोक कहते हैं। जिस पद्य में चारों पाद विलक्षण होते हैं उसे विषमपाद श्लोक कहते हैं।

जहाँ पाद के मध्य में भी कहीं किसी प्रकार विश्राम होता है वहाँ वह विश्रामस्थान पादखण्ड कहलाता है। पादखण्डरूप विश्रामस्थान कहीं एक, कहीं दो तथा कहीं तीन होते हैं। पद्य में प्रथम व द्वितीय पाद तथा तृतीय व चतुर्थ पाद मिल कर दल कहलाते हैं, उसे ही श्लोकार्ध कहा जाता है।

इस प्रकार पद्य में पादखण्ड, पाद तथा दलभेद से तीन प्रकार के पद का निरूपण किया गया। इस रीति से छन्द में नियत विश्रामस्थान के कारण तीन प्रकार का पद कहा है। इन से अतिरिक्त एक प्रकार का पद और मानते हैं वहाँ भी यथाकथञ्चित् विश्राम से छन्द का अनुवर्तन होता है।

यह पद सर्वतन्त्रसिद्ध (सर्वशास्त्रसिद्ध) तथा प्रतितन्त्रसिद्ध (छान्दसिकों के अपने शास्त्र में सिद्ध) भेद से दो प्रकार का है। इनमें व्याकरणनियमानुसार लुप्तविभक्त्यन्त पद तथा व्याकरणनियमानुसार व्यक्त (स्पष्ट) विभक्त्यन्त पद सर्वशास्त्रसिद्ध माना जाता है। जैसे—

'श्रद्दधद्व्यक्तये राजपुरुषेण समर्प्यते ।
बहुधान्यधनं वस्तु तत्तच्छास्त्रस्य पुस्तकम् ।।'

इस पद्य में 'श्रद्दधद्व्यक्तये में 'श्रद्दधत्' पद, 'राजपुरुपेण' में 'राज' पद व्याकरणनियमानुसार लुप्तविभक्त्यन्त पद हैं, क्योंकि इन दोनों में समास के द्वारा विभक्ति का लोप हुआ है। इन पदों में विश्राम होता है।

इसी रीति से पद के अन्तिम अवयववाले व्यंजनों का परवर्ती स्वर में अनुगम (सम्बन्ध) होने पर तथा वर्णैकदेश के द्वारा एक स्वर का पूर्व स्वर में या परस्वर में प्रवेश होने पर जितना पदावयव बच जाता है उसे भी छन्दोवेद में पद माना गया है। जैसे—

'देशान्तरादुपावृत्तमासाद्य दयितं यथा ।
कान्ता शुश्रूषते श्लाघातिशयेन तथा कुरु ।।'

इस पद्य में 'देशान्तरात्' शब्द में दीर्घरूप एकादेश के द्वारा 'अन्तर' शब्द के आदि अकार का पूर्वस्वर में अनुप्रवेश हो जाने पर अवशिष्ट 'न्तरा' शब्द पद है। इसी प्रकार 'उपावृत्त' शब्द में 'आवृत्त' शब्द के आकार का दीर्घरूप एकादेश द्वारा पूर्वस्वर के पकाराकार में प्रवेश हो जाने पर अवशिष्ट 'वृत्त' शब्द तथा 'श्लाघातिशयेन' में 'अतिशय' शब्द के अकार का दीर्घरूप एकादेश द्वारा श्लाघाशब्द के अन्तिम आकाररूप पूर्वस्वर में अनुप्रवेश होने पर अवशिष्ट 'तिशयेन' शब्द पद कहलाता है। किन्तु उपर्युक्त शब्दों में पदत्व सर्वशास्त्रसिद्ध नहीं है किन्तु छान्दसिकों के स्वशास्त्र छन्दःशास्त्र के अनुसार है। अतः इनमें प्रतितन्त्रसिद्ध पदत्व है। किन्तु 'राजभ्याम्' 'राजभिः' इत्यादि में व्यंजनादिविभक्तिपरकत्वनिबन्धन पदत्व 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इस व्याकरणसूत्र के अनुसार है। इसी तरह पर्श्वादि शब्दों में पदत्व 'सित्' प्रत्यय, णस् प्रत्यय के कारण 'सिति च' इस व्याकरणसूत्र से सिद्ध है। 'राजीयति' इस क्यच् प्रत्ययान्त शब्द में राजन् शब्द में पदत्व 'नः क्ये' इस व्याकरणशास्त्र के अनुसार है। तथापि उपर्युक्त रीति से उपर्युक्त शब्दों में पदत्व व्याकरणशास्त्रसिद्ध है किन्तु छान्दसिकों के छन्दःशास्त्र के अनुसार नहीं है। अतः व्याकरणशास्त्रसिद्ध पदत्व को छान्दसिक स्वीकार नहीं करते। इसलिए 'रामं राजीयबुधचरणाभ्यां नमस्तस्य कुर्याः' इस पद्य में छन्दःशास्त्र के अनुसार पदान्तयोग्य यति के अभाव से यति करना छन्द की अशुद्धि है। नैयायिकशास्त्रसिद्ध 'शक्तं पदम्' पदत्व भी छान्दसिकों को अभिप्रेत नहीं है।

अवष्टम्भनिरूपण

अवष्टम्भ, विष्टम्भ, यम, यति, विरति, विराम, विश्राम, विच्छेद, त्रुटि शब्द समानार्थक हैं। यह अवष्टम्भ यात्न, सामयिक व छान्दस भेद से त्रिविध है। वर्णोच्चारण के लिए प्रयुक्त प्रयत्न के अनुरोध से उत्पन्न होने वाला वर्णस्वरूपभेद का उत्पादक दो वर्णों का मध्यवर्ती अवष्टम्भ यात्न कहलाता है। इस यात्न

अवष्टम्भ का निरूपण वर्णवेद में प्रधानरूप से किया गया है। अतः उसका यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है। इसी तरह अर्थज्ञान के लिए प्रयुक्त संकेत के अनुरोध से उत्पन्न होने वाला पद तथा वाक्य के स्वरूप के भेद का उत्पादक, दो पदों तथा दो वाक्यों का मध्यवर्ती अवष्टम्भ सामयिक कहलाता है। जैसे 'नसहितम्' इस पद में नकार से सहित—इस अर्थ में, सहित नहीं—इस अर्थ में, वह हितकर नहीं है—इस अर्थ में, वह उसको नहीं है—इन अर्थों के ज्ञान के लिए भिन्न प्रकार से स्वर के उच्चारण की विलक्षणता के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में अवष्टम्भ की विवक्षा देखी जाती है—यही सामयिक अवष्टम्भ है। इसका निरूपण भी पदवेद आदि में प्रधानतया कर दिया गया है। अतः उसका भी विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

छन्द के अनुरोध से उत्पन्न होने वाले अवष्टम्भ (विश्राम) का यहाँ निरूपण किया जा रहा है। वह अवष्टम्भ न्यूनता व आधिक्य के तारतम्य से पाँच प्रकार का है—अयति, यति, विरति, विच्छेद व अवसाय। जैसे गतिविशेष से चलता हुआ घोड़ा रुक-रुक कर चरणों का संचालन करता है, गतिरूपता को प्राप्त यह अवष्टम्भ 'अयति' कहलाता है। चलते हुए घोड़े का लगाम से नियन्त्रण किया जाता है जिससे वह निम्नप्रदेश में गिर न पड़े किन्तु उसकी गति को रोकता नहीं। यह अवष्टम्भ 'यति' कहलाता है। समाचार ले जाने वाला घुड़सवार घोड़े पर बैठकर जाता हुआ जिस पुरुष को सन्देश देता है उस पुरुष के पास पहुंचकर उसे सन्देश देकर लौट पड़ता है और घोड़े से उतरता नहीं है और न उत्तर की अपेक्षा रखता है, इस अवष्टम्भ का नाम 'विरति' है। घुड़सवार दौड़ता हुआ भी मार्ग में आये हुए मित्र के पास पहुँचकर कुछ विश्राम कर लेता है और वार्त्तालाप से चित्तविनोद कर फिर अपने मार्ग पर चल देता है—वह अवष्टम्भ 'विच्छेद' कहलाता है। तथा जैसे घुड़सवार जाता हुआ गन्तव्यस्थान पर पहुँच कर ठहर जाता है—वह अवष्टम्भ 'अवसाय' कहलाता है। इस प्रकार श्लोक के अन्त में प्रयुज्यमान, श्लोक की पूर्ति का सूचक अवष्टम्भ 'अवसाय' है। श्लोकार्ध में अर्थात् दो चरणों के अन्त में प्रयुज्यमान, श्लोकार्ध की पूर्ति का सूचक अवष्टम्भ 'विच्छेद' है। यह विश्राम अवसाय की अपेक्षा कम होता है। इसी प्रकार एक पाद के अन्त में प्रयुज्यमान, श्लोक के चतुर्थांश की पूर्ति का सूचक अवष्टम्भ 'विरति' कहलाता है। यह विश्राम विच्छेद की अपेक्षा भी न्यून है। यदि पाद के मध्य में भी नियत अक्षरों के अन्त में विश्राम होता है, वह अवष्टम्भ 'यति' कहलाता है। जैसे १७ अक्षर वाले शिखरिणी छन्द में छठे अक्षर के अन्त में जो अवष्टम्भ है वह 'यति' है। ये चार ही अवष्टम्भ मुख्य हैं। इनसे भिन्न जो यत्याभास है वह गण के अन्त में तथा चतुर्थ प्रकार के पद के अन्त में होता है। यही यत्याभास यमक तथा अनुप्रास के अनुरोध से कहीं-कहीं यति की तरह प्रतीत होता है। यह अयति शिखरिणी छन्द में ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें वर्ण में पदपूर्ति के अनुरोध से दिखाई देती है। यह अणुयति ही 'अयति' कहलाती है। जैसे—

'महोदारापारा स्फुरदुरगहारारहिवलया,
तडिल्लेखालोलोल्लसितरसना कृत्तिवसना ।
महामेघश्यामा शरदमृतधामाननरुचा,
रणत्काञ्चीदामा हरतु हरवामा परिभवम् ।।'

इस पद्य में 'रसना' तथा 'वामा' के अन्त में अयति है । इसी प्रकार मगण, भगण, नगण व लघु गुरु वर्णों से निर्मित क्षद्वय अर्थात् ४ गुरु अक्षरों पर यतिवाले भ्रमरविलसिता छन्द में प्रत्येक डगण अर्थात् ४ लघु अक्षरों पर अयति है । इसीलिए—

मुग्धे मानं परिहर न चिरात् तारुण्यं ते सफलयतु हरिः ।
फुल्ला वल्ली भ्रमरविलसिताभावे शोभां कलयति किमु ताम् ।।'

इस भ्रमरविलसिता छन्द में 'सफलयतु' 'भ्रमरविलसिता' पदों में अयति के न होने से छन्द में असौष्ठव परिलक्षित होता है । इस अयतिरूप अवष्टम्भ के अनुरोध से अर्थात् अयति के न होने से—अविचारितमाशु विहितम् । साधय महेश मदिष्टम् । निरन्तरं तु मां पालय । निरन्तरं तु मम पाता । बन्धो मदङ्कभायहि ।' इत्यादि में दोहा की तरह त्रयोदशमात्राओं के होने पर भी इनको दोहा का अङ्ग नहीं माना जा सकता ।

उपर्युक्त रीति से अवष्टम्भ पाँच प्रकार का है । अवष्टम्भ के इन भेदों में वर्ण-सन्धि आदि की व्यवस्था भिन्न-भिन्न है । अवसाय तथा विच्छेद में पूर्व वर्ण तथा परवर्ण में सन्धियोग्यता, समासयोग्यता तथा एकपदयोग्यता नहीं होती । अतः अखण्डपद तथा समस्तपद के मध्य में अवसाय और विच्छेद नहीं करना चाहिए । अवसाय तथा विच्छेद व्यवधान वाले वर्णों में सन्धि भी नहीं करनी चाहिए । इसलिए—

'सुरासुरशिरोरत्ननिघृष्टचरणारविन्दः शिवः सर्वदा संसाराखिलक्लेशनाशनः'

इसमें 'अरविं' के बाद तथा 'संसा' के बाद में विच्छेद करना असाधुता हैं । इसी प्रकार—

'सुरासुरशिरोरत्नस्फुरत्किरणमञ्जरी—
पिञ्जरीकृतपादाब्जद्वन्द्वं वन्दामहे शिवम् ।।'

इस पद्य में 'सुरासुर' से प्रारम्भ होने वाले 'पादाब्जद्वन्द्वं' तक के समस्त पद के मध्य में 'शिरोरत्न' तथा 'पादाब्ज' के मध्य में विच्छेद रूप अवष्टम्भ अनुचित है ।

इसी तरह—

'तमो धूर्जटये तस्मै समस्त-सुरपुङ्गव-
निषेव्यचरणाब्जाय भक्ताभीष्टप्रदायिनेऽ-

खिलामरनिषेव्याय देवदेवाय चन्द्रशे—
खराय जगदाधारमूर्तयेऽम्यष्टमूर्तये ।।'

इस श्लोक में 'शेखराय' इस अखण्ड पद के मध्य में 'शे' के बाद विच्छेद तथा 'समस्तसुरपुङ्गवनिषेव्यचरणाब्जाय' इस समस्त पद के मध्य में 'पुङ्गव' के बाद एवं 'जगदाधारमूर्तये' इस समस्त पद के मध्य में 'जगदाधार' के बाद विच्छेद करना असाधु है। इसी प्रकार 'भक्ताभीष्टप्रदायिने', 'अखिलामरसेव्याय' इन पदों में अवसायरूप अवष्टम्भ का व्यवधान होने से उन पदों के वर्णों में पूर्वरूपसन्धि ठीक नहीं है, अपितु असाधु है।

इसी तरह—कृपां कुरु महाराजोद्रिक्तसर्वगुणाकरेश्वरतुल्य' में 'सर्वगुणाकर' व 'ईश्वर' पद में विच्छेदरूप अवष्टम्भ का व्यवधान होने से 'अ' 'ई' वर्णों में गुणसन्धि असाधु है। एवमेव—

'नमस्यामि सदोद्भूतमिन्धनीकृतमन्मथम् ।
ईश्वराख्यं परं ज्योतिरज्ञानतिमिरापहम् ।।'

इत्यादि पद्यों में प्रथम चरण के अन्त में विद्यमान मकार तथा तृतीय चरण के अन्त में विद्यमान रेफ में परादिवद्भाव करने से पूर्व ही विरतिरूप अवष्टम्भ हो जाता है किन्तु 'इन्धनीकृतमन्मथम्' इस द्वितीय चरण के अन्त में विद्यमान मकार से पूर्व विच्छेदरूप अवष्टम्भ तथा मकार का परादिवद्भाव नहीं होता।

विरतिरूप अवष्टम्भ विरति से पूर्व व परवर्णों में सन्धि-योग्यता व समास-योग्यता का निषेध नहीं करता अपितु एक-पद-योग्यता की ही व्यावृत्ति करता है। इसलिए समासघटकपदों में प्रत्येक के अन्त में पादपूर्ति की जा सकती है और पाद के अन्तिम व पाद के आदि वर्णों में सन्धि भी समीचीन है। अतः

'सुरासुरशिरोरत्नराजिनीराजितक्रमः ।
जयत्यपारसंसारपारदृश्वा महेश्वरः ।।'

इस पद्य में समासघटक 'रत्न' पद के व समासघटक 'संसार' पद के अन्त में विरतिरूप अवष्टम्भ समीचीन है। इसी तरह—

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानायाखिलैकगतये नमः ।।'

इस पद्य में प्रथम पाद के अन्त में विरतिरूप व्यवधान होने पर भी विरति से पूर्व वर्ण तथा पर वर्णों में दीर्घरूप सन्धि तथा तृतीय पाद के अन्त में विरति के होने से उससे पूर्ववर्ती व परवर्ती वर्णों में दीर्घसन्धि दोषावह नहीं है। किन्तु अखण्डपद के मध्य में विरति द्वारा पादपूर्ति उचित नहीं है।

अखण्ड एकपद मुख्य तथा आतिदेशिक भेद से द्विविध है। दूसरे पद से अघटित घटादिपद मुख्य अखण्ड एकपद हैं। इनमें खण्ड संभव नहीं। किन्तु जिन

दो पदों में नित्यार्थसम्बन्ध के कारण उनका अखण्डपद की तरह ग्रहण होता है उनमें आतिदेशिक अखण्डपदत्व है। यह आतिदेशिक अखण्ड एकपद—संज्ञारूप से गृहीत, विभक्तिकृत, द्वित्वसिद्ध, कुगतिप्रादिसमाससिद्ध, गतिगृहीत क्रियापद तथा आमन्तानुप्रयुक्त भेद से ६ प्रकार का है। मुख्य अखण्डैकपद में विरति नहीं होती। इसलिए—

यः शिवः सर्वदा संसाराखिलक्लेशनाशनः।
तमेकमाहितं भावनाधारे प्रणमाम्यहम् ॥

नमो देवाय नारायणायायतमूर्तये।
कायश्यामाय धर्मायनाय दण्डधराय मे ॥

इन पद्यों में 'संसार', 'भावना' इन मुख्य अखण्ड एक पदों के मध्य में विरति करने से पद्य दोषयुक्त है। किन्तु जहाँ सन्धि के द्वारा परादिस्वर को पूर्वान्तवद्भाव हो जाता है, वहाँ उस सन्ध्यन्त पद में पद के मध्य में विरति होती है। वहाँ सन्धि के द्वारा अपहृत स्वररहित भाग को पद स्वीकार किया गया है। और जहाँ पर संधि के द्वारा व्यञ्जन-सहित पूर्वान्तस्वर को परादिवद्भाव किया जाता है, वहाँ परादिवद् भाव किये हुए व्यञ्जनसहित स्वर के पूर्ववर्ती स्वर में पदमध्य में भी विरति होती है। क्योंकि वहाँ परादिवद्भाव सन्धि से अपहृत व्यञ्जन व स्वररहित भाग को पद माना गया है। इसलिए—

अज्ञातपूर्वाणि न दन्तकाष्ठान्यद्यान्न पत्रैश्च समन्वितानि।
न युग्मपर्वाणि न पाटितान्यत्यन्तोर्ध्वशुष्काणि विना त्वचा वा ॥

अच्छिन्नप्रसराणि नाथ भवतः पातालकुक्षौ यशां—

स्यद्यापि क्षपयन्ति कोकिलकुलच्छायासपत्नं तमः ॥
गृहावग्रहणी देहल्यङ्गणं चत्वराजिरे ॥

सत्यं क्षमा शौचमुदारतेत्याद्यनेकसंभ्रान्तगुणैरुपेतम्।
महानुभावं प्रणमामि येनान्वयः पुरं राष्ट्रमलंक्रियन्ते ॥

इन पद्यों में 'काष्ठा' के आकारस्वर में, 'पाटितान्य' के अकार स्वर में, 'यशांसि' के शकारोत्तरवर्ती आकारस्वर में 'देहल्यङ्गणम्' में हकारोत्तरवर्ती अकार स्वर में, 'उदारतेत्यादि' में त्यकारोत्तरवर्ती आकारस्वर में, 'येनान्वयः' में नकारोत्तरवर्ती आकारस्वर में विरति समीचीन ही है।

दूसरे विद्वानों को यह अभिमत है कि द्वयक्षरपदों के अवयव दोनों अर्थात् पूर्व व पर अक्षरों के सन्धि से निगृहीत होने पर पदमध्य में यद्यपि विरति समीचीन है, किन्तु जहाँ एक ही अक्षर का पूर्वान्तवद्भाव होता है वहाँ एक अक्षर ही शेष रह

जाता है और उस एक अक्षर का वा, हि, च आदि की तरह पाद के आदि में प्रयोग होने से ऐसे स्थलों में पद के मध्य में विरति नहीं होती। इसलिए—

वाच्यं दीनवचो नैवाथ न गर्ववचः सदा।
गम्भीरार्थमृतं स्वाद्वाह धीरोऽवसरोचितम्॥

नाहं मानी भवेत्क्वाप्यहं करोमीति नोच्यताम्।
दीनो गर्वी च हेयौ स्तोऽपि मान्यो मध्यमो भवेत्॥

इन पद्यों में 'नैवाथ' में 'वा' के बाद 'स्वाद्वाह' में 'वा' के बाद, 'क्वाप्यहं' में 'प्य' के बाद, 'स्तोऽपि' में 'स्तो' के बाद विरति असमीचीन ही है। इस तरह मुख्य अखण्ड पद में विरतिव्यवस्था का निरूपण हो चुका। अब ६ प्रकार के आतिदेशिक अखण्डपदों में विरतिव्यवस्था का निरूपण किया जा रहा है—

१. जहिहि नरमुखेन्दुश्रीसुधां सौधवातायनविवगरश्मिश्रेणिनालोपनीताम्।
भज भज भवबन्धक्लेशनाशाय नारायणचरणसरोजद्वन्द्वमानन्दकन्दम्॥
इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातवासिततमः समपादि।
एकमेव तमुपाश्रय कण्ठेकालबालकलाभ्रम्॥

इन पद्यों में वातायन, नारायण, सम्प्रज्ञातादिपदों, जो कि संज्ञापद होने से अखण्डपद के समान हैं, के मध्य में वाता-यन, नारा-यण, सं-प्रज्ञात इस रूप से विरति करना,

२. नमस्तमै महादेवाय शशाङ्कार्धधारिणे।
यत्प्रसादादयं लोकानामोघः सुखमश्नुते॥

इस पद्य में 'महादेवाय' तथा 'लोकानाम्' पद के मध्य में जो कि क्रमशः चतुर्थी व षष्ठी विभक्तिकृत होने से अखण्डपद की तरह हैं, उनमें महा-देवाय, लो-कानाम्—इस प्रकार से विरति करना,

३. 'विधिर्विधोर्बिम्बशतानि लोपं लोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि।'

में 'लोपं लोपं' पद के मध्य में, जो कि द्वित्वसिद्ध होने के कारण अखण्ड-पद की तरह गृहीत है, विरति करना,

४. 'व्यलोकि सा पौरजनैरसूर्यम्पश्यापि मध्येनगरं व्रजन्ती।'

इसमें 'असूर्यम्पश्या' पद के मध्य में, जो कि उपपदसमाससिद्ध होने के कारण अखण्डपद की तरह गृहीत है, असूर्यं-पश्या इस रूप में विरति करना,

५. 'किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्वपुः पृथुम्।'

इसमें 'पराभवितुं' पद, जो कि गतिक्रियापद होने से अखण्डपद की तरह गृहीत है, में परा-भवितुं इस रूप से विरति करना,

६. ज्ञानाग्नौ यो हि जुहवांचक्रे सर्वमिदं जगत् ।
स प्राप्य सर्वमेवासामास निःशोकनिर्भयः ।।

इसमें 'जुहवांचक्रे' 'आसामास' इन पदों के मध्य, जो कि आमन्तानुप्रयुक्त होने से अखण्डपद की तरह गृहीत है, में जुहवां-चक्रे, आसा-मास इस रूप से विरति करना असमीचीन है ।

जिस तरह मुख्य अखण्ड एकपद के मध्य में व्यञ्जनसहित पूर्वान्त स्वर का परादिवद्भाव हो जाने पर परादिवद्भाव वाले व्यञ्जनसहित पूर्वस्वर के पूर्ववर्ती स्वर में विरति साधु है उसी प्रकार आतिदेशिक अखण्डपद के मध्य में भी व्यञ्जन-सहित-पूर्वान्तस्वर के परादिवद्भाव हो जाने पर सन्धि द्वारा अपहृत सव्यञ्जन पूर्वान्त स्वर के पूर्ववर्ती स्वर में विरति समीचीन मानी जाती है । जैसे—

'अन्तेवासिदयालुरुज्झितनयेनासादितो जिष्णुना ।'

इस पद्य में 'नये-नासादितः' इस रूप से 'ये' स्वर पर विरति निषिद्ध नहीं है अपितु समीचीन ही है । इसी प्रकार—

'द्वैमातुरपदद्वन्द्वमानन्दप्रदमाश्रये ।
येन सिध्यन्ति वै कार्याण्यशेषाणि महात्मनाम् ।।

'विततधनतुषारक्षोदशुभ्रासु दूर्वास्वविरलपदमालामुज्ज्वलामुल्लिखन्तः ।'

इन पद्यों में 'कार्याण्यशेषाणि' 'दूर्वास्वविरल' में व्यञ्जन सहित पूर्वान्तस्वर के परादिवद्भाव हो जाने पर उससे पूर्ववर्ती स्वर में विरति समीचीन ही है । आतिदेशिक ६ प्रकार के अखण्ड पद में विरतिव्यवस्था का निरूपण हो गया ।

पूर्वान्वित अर्थ के वाचक एकाक्षरों के पूर्व में तथा उत्तरान्वित अर्थ के वाचक एकाक्षरों के बाद में विरति नहीं होती । इसलिए—

'वोपकारो वापकारो हि न स्याद्येन कर्मणा ।
तत्कर्म कुर्वतः पुंसश्च क्लीबस्य च तुल्यता ।।'

इस पद्य में वा, हि, च अक्षरों के पूर्व विरति नहीं होती । क्योंकि इन अक्षरों के चरण के आदि में होने का निषेध है । इसी तरह—

'यश्चित्ततो नितान्तं प्रक्षिपेदालस्यमाग्रहम् ।
स्वस्थः सर्वत्र नूनं विचरेत् परिवृतः श्रिया ।।'

इस पद्य में प्र, वि, इन अक्षरों के बाद में विरति नहीं होती । क्योंकि इनके पादान्तत्व का निषेध है ।

यति

जैसे विरति अपने से (विरति से) पूर्व व परवर्णों की सन्धियोग्यता व समास-योग्यता का निषेध नहीं करती किन्तु एकपदयोग्यता की व्यावृत्ति करती है, उसी प्रकार यति भी अपने से पूर्व व पर वर्णों की सन्धियोग्यता व समासयोग्यता का

निषेध नहीं करती। अर्थात् यति से पूर्व व पर वर्णों में सन्धि हो सकती है और समास भी हो सकता है किन्तु एकपदयोग्यता की व्यावृत्ति करती है तथा स्थलभेद से एकपदयोग्यता की अनुवृत्ति भी करती है। अर्थात् अखण्ड पद के मध्य में यति का अभाव भी होता है और स्थलविशेष में अखण्डपद के मध्य में यति होती भी है जबकि वहाँ पर विरति नहीं होती। किन्तु पूर्वान्वितार्थ को बतलाने वाले एकाक्षर से पूर्व व उत्तरान्वितार्थ को बतलाने वाले अक्षर के बाद विरति की तरह यति भी नहीं होती। इसलिए 'रामं कृष्णं च' में तथा 'स्वादु स्वच्छं च' में पूर्वान्वितार्थाभिधायी च शब्द से पूर्व यति नहीं होती। अर्थात् ऐसे स्थल में यति के बाद 'च' शब्द का प्रयोग असाधु है। इसी प्रकार 'दुःखं मे प्रक्षिपति' में उत्तरान्वितार्थाभिधायी एकाक्षर 'प्र' शब्द के बाद में यति उचित नहीं है। अर्थात् यति से पूर्व 'प्र' शब्द का प्रयोग असाधु है। किन्तु मुख्य अखण्डपदों में व संज्ञापद व विभक्त्यन्तरूप आतिदेशिक अखण्डपदों में यदि गुरुगर्भित चतुरक्षर पद हो तो वहाँ द्वितीय गुरु अक्षर में यति उचित है, इसलिए निम्नाङ्कित पद्यों में—

वैरञ्चानां तथोच्चारितचतुरऋचां चाननानां चतुर्णां।
खङ्गे पानीयमाह्लादयति हि महिषं पक्षपाती पृषत्कः ।।
तत्तद्वस्तूनि वास्तोष्पतिरपि सहसैरावतादीन्यवाप।
हासो हस्ताग्रसंवाहनमपि तुलिताद्रीन्द्रसारद्विषोऽस्य ।।
कूजत्कोयष्टिकोलाहलमुखरभुवः प्रान्तकान्तारदेशाः।
पर्याप्तं तप्तचामीकरकनकतटे श्लिष्टशीतेतरांशौ ।।
शूलं तूलं तु गाढं प्रहर हरहृषीकेशकेशोऽपि वक्रः।

'उच्चारित,' 'आह्लादयति,' 'संवाहन,' 'कोलाहल,' 'चामीकर' आदि शब्दों में द्वितीय गुरु अक्षर पर की गई यति समीचीन है। कतिपय विद्वान् प्रयोग के अनुरोध से प्रथम गुरु अक्षर में भी यति को स्वीकार करते हैं। जैसे—'उद्यत्' इत्यादि गौतमीय तन्त्र के पद्य में—'विष्णुं वन्दे दरकमलकौमोदकीचक्रपाणिम्' में कौमोदकी शब्द में 'कौ' इस प्रथम गुरु अक्षर के बाद यति की गई है।

इसी तरह 'निराधारो हा रोदिमि' में 'रोदिमि' शब्द के आद्य अक्षर 'रो' के बाद जो यति की गई है वह इससे पूर्ववर्ती एकाक्षर गुरु के पूर्व में होने से उसको लेकर चतुरक्षरत्व का अतिदेश मानकर चतुरक्षर 'हा रोदिमि' में 'रो' अक्षर को द्वितीय गुरु अक्षर मानकर है। अन्यथा 'रो' के द्वितीय गुरु न होने से यति नहीं होती। इस प्रकार यति कहाँ कहाँ अशुद्ध है। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर यति प्रकरण की समाप्ति कर दी गई है।

अयति (यत्याभास)

अयति (यत्याभास) दृढ व श्लथ दो भेद मानकर अखण्ड पद के मध्य में दृढ यति नहीं होती। जैसे—'कल्याणं तस्य सदा महेश्वरं पूजयति सदा' इत्यादि आर्या-

पूर्वार्ध में षष्ठ चतुष्कल नगण 'जयति स' में प्रथमकलान्त योग्य यति पदमध्य में होने से असाधु है; यह बतला कर श्लथ यति मात्राछन्द में चतुष्कलान्त में पद का नियम होने से छन्द में सौष्ठव उत्पन्न करती है, किन्तु वहाँ श्लथ यति न करने से छन्द की अशुद्धि नहीं होती ।

वर्ण

यद्यपि वर्णवेद में—

> 'त्रिषष्टिर्वा चतुःषष्टिर्वर्णाः संभवतो मताः ।
> प्राकृते संस्कृते वापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ।।
> त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः ।
> द्विचत्वारिंशद् व्यंजनान्येतावान् वर्णसंग्रहः ।।'

इन पद्यों के द्वारा स्वर व व्यञ्जन दोनों को वर्ण बतलाते हुए वर्ण व अक्षर को समानार्थक कहा है । किन्तु छन्दोवेद में अक्षर वर्ण से भिन्न है । जैसा कि— 'वागित्येकमक्षरम्, अक्षरमिति त्र्यक्षरम्' इस ऐतरेय श्रुति के अनुरोध से व्यञ्जन-सहित स्वर तथा शुद्ध अर्थात् निर्व्यञ्जन स्वर दोनों को अक्षर बतलाया है । अर्थात् व्यञ्जन के न होने पर शुद्ध स्वर अक्षर है और व्यञ्जन के होने पर व्ञ्जनसहित स्वर अक्षर होता है । इसलिए वर्णवेद के अनुसार 'अचिरा' यह पाँच वर्णों वाला पद है क्योंकि इसमें 'अ-च्-इ-र्-आ' ये पाँच वर्ण हैं । किन्तु छन्दोवेद के अनुसार यह तीन अक्षरों वाला पद है । क्योंकि इसमें प्रारम्भिक 'अ' शुद्ध स्वर अर्थात् व्यञ्जनरहित अक्षर है और चि-रा' ये दो स्वर व्यञ्जनसहित स्वर होने के कारण सव्यञ्जन अक्षर हैं । भगवान् कात्यायन ने प्रातिशाख्य में—'स्वरोऽक्षरम् । सहाद्यैर्व्यञ्जनैः । उत्तरैश्चावसितैः ।' इत्यादि आठ सूत्रों द्वारा तथा 'एते पञ्च-षष्टिर्वर्णाः ब्रह्मराशिरात्मा वाचः । तत्समुदायोऽक्षरं वर्णो वा' इन सूत्रों के द्वारा स्पष्टरूप से वर्ण व अक्षर को भिन्न बतलाया है । इसीलिए 'वेदस्याध्ययनाद् धर्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुतेः । वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानात् विभक्तिपदशोऽपि च' इस प्राचीनों की गाथा में वर्ण व अक्षर का विभिन्न रूप से निर्देश किया है । अतः 'वर्णच्छन्दोऽक्ष-रच्छन्दः' ऐसा वर्णों व अक्षरों की एकार्थता बतलाने वाला व्यवहार छान्दसिकों को उचित नहीं प्रतीत होता तथापि वर्णवेद में वर्णपदार्थ मुख्य है व अक्षरव्यवहार गौण है तथा इस छन्दोवेद में अक्षरपदार्थ मुख्य है तथा वर्णव्यवहार गौण है—इस तथ्य को मानने से अभेद मानकर वर्णच्छन्द अक्षरच्छन्द है, यह कथन उपपन्न हो जाता है ।

अक्षर लघुगुरुभेद से द्विविध है । एकमात्रावाला अक्षर लघु तथा दो या तीन मात्रा वाला अक्षर गुरु होता है । इसलिए 'अमले ३ आगच्छात्र': में 'अ-म-त्र' ये तीन अक्षर लघु हैं तथा ले-आ-ग-च्छा ये चार अक्षर गुरु हैं । क्योंकि ह्रस्व अर्थात् एक मात्रा से उच्चारित स्वर लघु कहलाता है तथा दीर्घ अर्थात् द्विमात्रिक,

संयोगादि, सानुस्वार तथा सविसर्ग स्वर गुरु होता है। किन्तु प्राकृतादि भाषाओं में सानुस्वार तथा द्विमात्रिक स्वर गान, रोदन आदि में एक मात्रा से उच्चारित होने के कारण लघु माने जाते हैं और दो मात्राओं से उच्चारित होने पर गुरु माने जाते हैं—यह व्यवस्था है। किन्तु संस्कृतभाषाच्छन्दों में सानुस्वार, सविसर्ग तथा आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ—ये गुरु ही माने जाते हैं।

यद्यपि संयुक्त व्यञ्जन से पूर्व का अक्षर गुरु माना जाता है किन्तु रेफसंयुक्त व्यञ्जन वाले ह्र, प्र, ध्र, ग्र आदि से पूर्व के ह्रस्व अक्षर का यदि एकमात्रा से उच्चारण किया जाता है तो वह गुरु नहीं होता और दो मात्रा से उच्चारण किया जाता है तो गुरु होता है। यह व्यवस्था छन्द के अनुरोध से है। इसी तरह अवसाय, विच्छेद व विरति के कारण ह्रस्व अक्षर भी विस्तारित उच्चारण के कारण द्विमात्रिक की तरह उच्चारित होने पर गुरु माना जाता है और स्वारसिक उच्चारण होने पर एकमात्रिक के समान उच्चारित होने से लघु ही माना जाता है—ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था है। किन्तु यह विकल्प व्यवस्थित है। अतः सभी छन्दों में समान नहीं है। वसन्ततिलका आदि छन्दों में चरण के अन्तिम ह्रस्व अक्षर का विस्तारपूर्वक द्विमात्र के समान उच्चारण होने से सर्वत्र गुरु माना जाता है। तथा शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों में चरण के अन्तिम ह्रस्व अक्षर का स्वारसिक एक मात्रा से उच्चारण होने से वह गुरु (दीर्घ) नहीं होता। अतः शार्दूलविक्रीडित आदि में चरण के अन्त में लघु अक्षर का प्रयोग नहीं करना चाहिए अन्यथा छन्दोऽशुद्धि होगी। द्रुतविलम्बित आदि में द्वितीय व चतुर्थ चरण में अन्तिम लघु का सन्तानित उच्चारण होने से उसे गुरु मान लिया जाता है, किन्तु प्रथम व तृतीय चरण में नहीं। आर्यादि मात्राछन्दों में चरण के अन्तिम ह्रस्व अक्षर को छन्द के अनुरोध से गुरु या लघु माना जाता है।

रिफित (रेफयुक्त) व्यञ्जन से पूर्व अक्षर ही लघु माना जाता है, यही बात नहीं, किन्तु सभी संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्व स्वर छन्दोऽनुरोध से गुरु या लघु माना जाता है। छन्द के चरण का अन्तिम लघु भी विकल्प से गुरु माना जाता है। आगे उपर्युक्त तथ्यों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिन्हें मूल में देखें।

मात्रा

वर्णस्वरूप को सीमित करने वाला तत्त्व अर्थात् वर्णस्वरूप की सीमा मात्रा है। यह मात्रा अर्धमात्रा, एकमात्रा, १½ मात्रा, दो मात्रा, तीन मात्रा भेद से अनेक प्रकार की है। इनमें व्यञ्जनों की अर्धमात्रा, ह्रस्व स्वरों की एक मात्रा ए, ओ की अध्यर्ध (डेढ) मात्रा, ऐ, औ आदि स्वरों की दो मात्रायें तथा प्लुत की तीन मात्रायें होती हैं। इसी प्रकार गेयकाण्ड में तीतर, चिड़िया, बगुला, चाष (नीलकण्ठ), कोयल, कौआ, मुर्गा की बोली के अनुसार अणुद्रुत (द्रुताणु) द्रुत, द्रुविराम, लघु, लघुविराम, गुरु, प्लुतभेद से सात भागों में विभक्त मात्रायें ताल के अङ्गरूप

से बतलायी गयी हैं। किन्तु वर्णवेद में तथा गेयकाण्ड में वर्णित दोनों प्रकार की मात्राएं यहाँ छन्दोवेद में विवक्षित नहीं हैं।

अतः 'अ इ उइ ए ऐ ओ औ—ओऔ अए उए इ आआई' इस निर्व्यंजन स्वरवाले तथा 'स्त्र्यविरुदिते वै श्लोक्यौ—प्रोह्यौ प्रथिते स्तुतेऽस्ति वा स्त्र्यार्त्नी' इस व्यंजनसहित स्वर वाले आर्या छन्द के प्रथम व द्वितीय चरण में क्रमशः १२ व १८ मात्राओं का व्याघात नहीं होता। अर्थात् उपर्युक्त आर्या के प्रथम चरण में १२ मात्राओं तथा द्वितीय चरण में १८ मात्राओं का निर्वाह बन जाता है। वर्णवेदीय मात्राओं को मानने पर तो उपर्युक्त निर्व्यंजन स्वर वाले आर्या के प्रथम चरण में ११ मात्रायें होंगी। क्योंकि चार ह्रस्व स्वरों की चार मात्रा, ए ओ की अध्यर्ध मात्रा होने से दोनों की तीन मात्राएँ तथा ऐ औ के प्रत्येक के द्विमात्रिक होने से चार मात्राएँ मिलकर ४+३+४=११ मात्रायें होंगी। इसी प्रकार सव्यंजन आर्या के प्रथम चरण में १७½ मात्रायें होंगी, क्योंकि व्यंजन की आधी मात्रा, ह्रस्व स्वर की एक मात्रा, ए ओ की डेढ मात्रा तथा ऐ औ की दो मात्रा होने से मिलकर १७½ ही होंगी। सव्यंजन आर्या के प्रथम चरण में १३ व्यंजन हैं। व्यंजनों की अर्धमात्रा के हिसाब से इनकी ६½ मात्रायें होती हैं। ४ ह्रस्व स्वर हैं। ह्रस्व स्वर की एक मात्रा से चारों ह्रस्व स्वरों की ४ मात्रायें होती हैं। ए ओ की अध्यर्ध मात्रा होने से इनकी तीन मात्राएँ होती हैं। ऐ औ की दो-दो मात्राओं के हिसाब से ४ मात्रायें होती हैं। इस प्रकार ६½+४+३+४= को मिलाने से संभूय १७½ मात्राएँ होंगी। इससे आर्याछन्द का व्याघात होगा। इसलिए छन्दोवेद में मात्रा का स्वरूप वर्णवेद से भिन्न ही माना गया है। छन्दोवेद के अनुसार मात्रा वर्णानुगत नहीं अपितु अक्षरानुगत है। और अक्षर छन्दोवेद में व्यंजनरहित शुद्ध स्वर तथा व्यंजनसहित स्वर दोनों हैं। अतः छन्दोवेद के अनुसार मात्रा दो प्रकार की है—एक मात्रा तथा दो मात्रायें। ह्रस्व स्वरों की एक मात्रा तथा गुरुस्वरों की दो मात्रायें मानी जाती हैं। इसलिए वर्णवेद में वत्सशब्द में वकारोत्तरवर्ती अकार के ह्रस्व होने से उसकी एक मात्रा है। किन्तु छन्दोवेद में वकारोत्तरवर्ती अकार के संयुक्त व्यंजन के आदि में होने से गुरु अक्षर हो जाने के कारण उसकी दो मात्रायें मानी जाती हैं। इसी प्रकार वर्ण वेद के अनुसार प्लुतस्वर त्रिमात्रिक होता है किन्तु छन्दोवेद के अनुसार वह द्विमात्रिक ही है। वर्णवेद में व्यंजन की भी अर्धमात्रा मानी जाती है किन्तु छन्दःशास्त्र में व्यंजनों की कोई मात्रा नहीं होती। क्योंकि स्वर से पूर्व में व्यंजन के होने न होने से छन्द में कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वर के बाद व्यंजन हो और वह व्यंजन परवर्ती स्वर से अपकृष्ट है तो भी कोई अन्तर नहीं होता। किन्तु यदि वह परवर्ती व्यंजन पूर्वस्वर से अनुकृष्ट है तो वह एकमात्रिक पूर्वस्वर को द्विमात्रिक बना देता है। यह मात्रावृद्धि भी पूर्वस्वर के अनुकर्षण व्यापार के कारण ही है, व्यंजन का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

गण

छन्दोनिर्वचन के सौकर्य के लिए छन्दोविद् आचार्यों ने समूहविशेष को कल्पित गणसंज्ञा दी है। मगण, नगण आदि गणों के द्वारा छन्द का निर्वचन आसानी से हो जाता है। वह गण वर्णगण, मात्रागण भेद से दो प्रकार का है।

'मो गंगागो, नो लीलालो, भो गोलोलो, यो लिगागः।
जो लिगालो, रो गालीगः, सो लंलिगः, तो गंगालः।।'

इस श्लोक में बतलाया गया है। इस श्लोक में गवर्ण गुरु का तथा लवर्ण लघु का वाचक है। 'यमाताराजभानसलगम्' यह पिङ्गलसूत्र भी इन्हीं वर्णगणों के स्वरूप का निरूपण कर रहा है। जैसे 'यमाता' आदि लघु यगण (।ऽऽ) का, 'मातारा' सर्वगुरु मगण (ऽऽऽ) का, 'ताराज' अन्त लघु तगण (ऽऽ।) का, 'राजभा' मध्य लघु रगण (ऽ।ऽ) का, 'जभान' मध्यगुरु जगण (।ऽ।) का, 'भानस' आदिगुरु भगण (ऽ।।) का, 'नसल' सर्वलघु नगण (।।।) का, तथा 'सलगम्' अन्तगुरु सगण (।।ऽ) का स्वरूप बतला रहा है।

मात्रागण चार मात्राओं वाले पाँच गण हैं जिनके नाम क्ष-भ-ज-स-ह हैं अर्थात् क्षगण, भगण, जगण, सगण व हगण हैं, वे मात्राओं पर निर्भर हैं अर्थात् उसमें चार मात्रायें होनी चाहिएँ, अक्षर चाहे न्यून या अधिक हों। पाँचों मात्रागण चार मात्रा वाले हैं। जैसे 'क्ष' दो गुरु अक्षरों का बोधक है और एक गुरु में दो मात्रायें होती हैं। अतः 'क्ष' में चार मात्रायें हैं। भगण में एक गुरु और दो लघु अक्षर होते हैं। गुरु की दो मात्रायें और दो लघु अक्षरों की दो मात्रायें—इस प्रकार भगण भी चतुष्कल मात्रागण है। जगण भी मध्यगुरु त्र्यक्षरगण हैं। अतः यह भी चतुष्कल मात्रागण है। सगण (।।ऽ) अन्त गुरु होता है। गुरु की दो मात्रायें तथा आदि के दो लघु वर्णों की दो मात्रायें, इस प्रकार यह भी चतुष्कल मात्रागण है। हकार चार लघुमात्राओं का बोधक है, अतः यह भी चतुष्कल मात्रागण है। इसीलिए कहा है—

'क्षगणो यदि च गुरू द्वौ हगणः स्याल्लघुचतुष्टयं यदि च।
भजसास्त्र्यक्षरकाः स्युर्यदि गुर्वादिगुरुमध्यगुर्वन्ताः।।'

इन पाँचों मात्रागणों के उदाहरण क्रमशः—

क्षेमं, भाविषु, जनेषु, सचते, व हरि हरि हैं।
ऽऽ ऽ।। ।ऽ। ।।ऽ ।। ।।

नव्य छान्दसिकों ने व्यवहारसौकर्य के लिए कुछ अन्य गणों की भी कल्पना की है। एक गुरु अक्षर से लेकर ६ गुरु अक्षरों तक क्रमशः क्ष—म—क्षु—भ—मु ये गण माने हैं तथा एक लघु अक्षर से लेकर ६ लघुअक्षरों तक क्रमशः ल—घ—न—ह—ठ—नु इन गणों की कल्पना की है। इसी प्रकार 'क्ष' दो गुरु अक्षरों का, 'क' एक लघु और एक गुरु का, 'ख' एक गुरु और एक लघु का, 'घ' दो लघुओं का,

ट, ठ, ड, ढ, ण—ये वर्ण क्रमशः ६ लघु, ५ लघु, ४ लघु ३ लघु व दो लघु अक्षरों का बोध कराते हैं। इन वर्णों तथा मगण आदि आठों गणों के बोधक म—य—र—स—त—ज—भ—न शब्दों से परे उकार को जोड़ देने पर वे मु यु आदि उकारान्त शब्द दो मगण, दो यगण आदि के बोधक होते हैं। इन्हीं गणों के बोधक म—य—र आदि में इनसे परे आकार लगा देने पर तीन मगण, तीन यगण, तीन रगण आदि के बोधक हो जाते हैं, और इन्हीं म. य. र. आदि के बाद इकार जोड़ देने पर ये चार मगण, चार यगण, व चार रगण आदि अर्थों के बोधक हो जाते हैं। इसीलिए अभियुक्तों ने कहा है—

गलौ क्षकखधा एवं मयौ रसतजा भनौ।
एकद्वित्र्यक्षरैर्भेदा द्विगुणा उपरा यदि॥
त्रिगुणा आपरा बोध्या इपरास्तु चतुर्गुणाः।
अनुस्वारविसर्गाभ्याँ यतिश्च विरतिः क्रमात्॥
ये षट्पञ्चचतुस्त्रिद्विमात्रास्ते टठडा ढणौ। इति
णपौ चतौ द इति वा चभेदाः क्षसजा भहौ॥
हरः शशी सूर्यशक्रशेषाहिकमलाः क्रमात्।
धाता कलिश्चन्द्रध्रुवौ धर्मः शालीति सन्ति टाः॥
इन्द्रासनं सूरचापहीरशेखरकौसुमम्।
क्रमादहिगणः पापगणश्चेति भवन्ति ठाः॥
कर्ण-करतल-पयोधर-वसुचरणाः विप्र इति च डाः पञ्च।
ढाः ध्वज-सुरपति-भावाः णौ तु द्वौ हारसुप्रियौ प्रोक्तौ॥

इन श्लोकों के बाद में टेबिल के द्वारा इनको समझाया गया है। इसके बाद गण-प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है।

गतिनिरूपण

छन्दःस्वरूप की अभिव्यक्ति में प्रधान कारण गति है। अतः त्र्यक्षरक तथा चतुर्मात्राक प्रस्तारस्वरूपों में गतियुक्त किन्हीं प्रस्तारों में छन्दोव्यवहार होता है, अन्यों में नहीं। इनमें कुछ गतियों को अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए यति की भी अपेक्षा रहती है और कुछ को नहीं। किन्तु विरति, विच्छेद और अवसाय-इन अवष्टम्भों की अपेक्षा सभी गतियों को होती है। किन्तु जिस प्रस्तारस्वरूप में गति नहीं होती उस प्रस्तारस्वरूप में यति, विरति, विच्छेद, अवसाय का संनिवेश होने पर भी पद्यच्छन्दःस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसलिए यति, विरति आदि से भिन्न गति को स्वीकार करना पड़ता है।

वह गति-कालकृत, यतिकृत, नादकृत व प्रदेशकृत भेद से चार प्रकार की है। इनमें कालकृतगति को वृत्ति कहते हैं तथा वह द्रुता, मध्या, विलम्बिता भेद से तीन

प्रकार की है। किसी किसी छन्द को अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए केवल द्रुतावृत्ति की, कुछ को केवल मध्यावृत्ति की तथा कतिपय छन्दों को केवल विलम्बिता वृत्ति की अपेक्षा है। कुछ छन्दों को दो-दो वृत्तियों की (द्रुता व मध्या की, मध्या व विलम्बिता की, तथा द्रुता व विलम्बिता की) अपेक्षा होती है। तथा कुछ छन्दों का स्वरूप द्रुतादि वृत्तियों में से एक का प्रयोग कर देने पर भी निष्पन्न हो जाता है किन्तु उनमें अन्य वृत्तियों का प्रतिषेध नहीं होता। (यह स्थल मूल संस्कृत ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में पृ. २८८ में दिया गया है जहां इसके उचित स्थल का निर्देश है तदनुसार वह यहाँ प्रकृतस्थान पर अनूदित है।)

उनमें जलधरमाला, वासन्ती, रुचिरा, भ्रमरविलसिता आदि छन्दोभेद द्रुता-वृत्ति के पक्षपाती हैं। अर्थात् इनमें द्रुता वृत्ति होती है। भुजङ्गप्रयात शार्दूल-विक्रीडित आदि छन्दों में मध्या वृत्ति होती है। चर्चरी चामर वसन्ततिलका निशि-पालक आदि में विलम्बिता वृत्ति होती है। मालती आदि छन्दों में द्रुतमध्या वृत्ति होती है। इस प्रकार अनुभवरसिकों को सर्वत्र कालकृत गति की स्पष्ट प्रतीति होती है।

दूसरी यतिकृत गति है जिसे लय कहते हैं। यह लय द्रुतवृत्ति, मध्यवृत्ति या विलम्बितवृत्ति का इच्छानुसार प्रयोग कर देने पर भी छन्द में नियतस्थानों पर कृत विरत्यादि अवष्टम्भों के स्वरूप का निर्माण कर उनसे भिन्न ही प्रतीत होती है। उस लय के सौष्ठव से छन्द में सौष्ठव आता है। दुःस्थित वर्ण आदि के प्रयोग से उस लय का व्याघात होने पर छन्दसौष्ठव का विनाश हो जाता है। वह लय प्रत्येक छन्द में वर्ण, मात्रा, अवष्टम्भ के भेद से भिन्न-भिन्न हो जाती है। जैसे—

शिष्टा वा दुष्टा यावन्तो लोकाः।
विद्याभिर्नूनं वश्या जायन्ते॥

इस पञ्चाक्षर छन्द की गति को यति की अपेक्षा नहीं है। किन्तु इसी पञ्चा-क्षरच्छन्द के प्रत्येक चरण में एक-एक अक्षर की वृद्धि से—

शिष्टा वा दुष्टा वा यावन्तोऽमी लोकाः।
विद्याभिर्नूनं ते वश्या वै जायन्ते॥

इस तरह षडक्षर छन्द हो जाने पर मगण के अन्त में लयरूप गति को यति की अपेक्षा है।

उपर्युक्त रीति से पञ्चाक्षर व षडक्षर छन्दों में जिसका वर्णों के द्वारा भेद प्रतीत होता है वही लयकृत गति है। इसी षडक्षर छन्द में चतुर्थ अक्षर के लघु कर देने पर—

शिष्टा वा खला वा यावन्तोऽपि लोकाः।
विद्याभिस्तु नूनं जायन्ते सुवश्याः॥

इस प्रकार से स्वरूप बन जाने पर मगण के अन्त में यति की अपेक्षा नहीं रहती है और इसमें पद्यधर्मिता का नाश होकर गद्यधर्मिता दिखाई देती है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों छन्दों में अक्षरसंख्या के समान होने पर भी मात्रा के द्वारा जिसका भेद प्रतीत होता है, वह यतिकृत गति है अर्थात् लय है। इसी तरह—

'विद्यायां सिद्धायां सिद्धिस्ते वा न स्यात्।
राजानः सम्राजः सर्वे ते वश्याः स्युः॥

निःसन्दिग्धं ब्रूमः संसारेऽस्मिन्नेवम्।
कः स्याद् यस्याभीष्टं विद्याभिर्नो सिध्येत्॥

इन दोनों पद्यों में षडक्षरता तथा दो मगणों के समान होने पर भी प्रथम छन्द में मगण के बाद यति है तथा द्वितीय छन्द में मगण के बाद यति नहीं है। इसी यति के कारण गति में भेद दिखाई देता है और गति के भेद से इन दोनों छन्दों में छन्दःस्वरूप का भेद है। इस गति के अङ्गभूत अवष्टम्भ भी अणुद्रुत-द्रुत-द्रुविराम-लघु-लविराम-गुरु-प्लुत भेद से सप्तविध हैं। प्लुत मात्रा के कारण अवसायरूप अवष्टम्भं, गुरुमात्रा के कारण विच्छेदरूप अवष्टम्भ, लविराम के द्वारा विरतिरूप अवष्टम्भ, लघुमात्रा द्रुविराम मात्रा तथा द्रुत मात्रा से यतिरूप, अवष्टम्भ, द्रुताणु व द्रुतमात्रा से अयतिरूप अवष्टम्भ होता है।

तीसरी नादकृत गति ध्वनि कहलाती है। भिन्न-भिन्न छन्दों के अभिनय में कहीं वर्णों की उच्चस्वरता, कहीं नीचस्वरता व समता की अपेक्षा होती है। छन्द के प्रथम अवयव में रहने वाले वर्णों के उच्चारण से लेकर छन्द के अन्तिम अवयव में रहने वाले वर्ण के उच्चारण में प्रयत्न (आभ्यन्तर प्रयत्न) तथा अनुप्रदान (बाह्य प्रयत्न) की समानता नहीं रह सकती। इस प्रकार नादकृत उच्चता,' नीचता व समता क्रम से अनुगत भेद के कारण गति में भेद हो जाता है। यहाँ नाद के कारण गति का भेद होने से इसे ध्वनि कहा है। (परिशिष्ट में पृष्ठ २८९ में आये मूल पाठ का अनुवाद जो क्रम की दृष्टि से इसी स्थल का है वहाँ यह स्थल निर्दिष्ट है)

चौथी गति प्रदेशकृत होती है जिसे चाल कहते हैं। जैसे--

यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चिन् मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिन् लोके गर्हितः स्यात् परे च॥

इस महाभारत के आदिपर्वस्थ शुक्रवचन में एक ही उपजाति छन्द में तीन प्रकार की गति दिखाई देती है। प्रथम तथा द्वितीय चरण में एक प्रकार की गति, तृतीय चरण में दूसरे प्रकार की गति तथा चतुर्थ चरण में तीसरे प्रकार की गति है। प्रथम तथा तृतीय गति में अत्यन्त भेद होने से उनमें सहयोगयोग्यता न होनें पर भी पूर्वा व उत्तरा गति से साम्य रखने वाली द्वितीय गति के मध्य में आ जाने से उस द्वितीय गति के द्वारा पूर्व व उत्तर गति में सहयोग का अवसर मिल जाता है। क्योंकि तृतीय चरण में विद्यमान द्वितीय गति में पाँचवें अक्षर के बाद सगण को

हटाकर 'ब्रह्महा' इत्याकारक रगण तथा 'चै' इस गुरु अक्षर के निवेश के कारण प्रथम द्वितीय चरण की अपेक्षा तृतीय चरण में भेद हो गया है। किन्तु और सभी समानता द्वितीय गति वाले तृतीय चरण की प्रथम गति वाले प्रथम चरण व द्वितीय चरण के साथ है। यदि तृतीय चरण 'अपेतधर्मा द्विजहा स स्यात्' इस प्रकार का हो तो तृतीय चरण में प्रथमादि चरणों की अपेक्षा कोई गतिभेद नहीं रहता। इसी प्रकार तृतीय चरण के आदि में 'क्ष' वर्ण अर्थात् दो गुरु अक्षरों को हटा कर जगण का प्रयोग करने से तृतीय चरण की गति का चतुर्थ चरण की गति से भेद है किन्तु अन्य सभी समानता चतुर्थ चरण की तृतीय चरण के साथ है। अर्थात् चतुर्थ चरणस्थ तृतीय गति की समानता तृतीय चरणस्थ द्वितीय गति के साथ है।

समयनिरूपण—

समय, संकेत, परिभाषा, संज्ञा ये समानार्थक शब्द हैं। समय—लोकतन्त्रसिद्ध, साधारणतन्त्रसिद्ध व प्रतितन्त्रसिद्ध भेद से तीन प्रकार का है। नियतसंख्याविशेष से ज्ञात लौकिक अर्थों के वाचक शब्द स्वार्थ में तात्पर्य न होने से स्वार्थ से सम्बद्ध संख्यामात्र के बोधन में प्रयुक्त किये जाते हैं, वह लोकतन्त्रसिद्ध समय है। जैसे भू, चन्द्र आदि शब्द भूमि, चन्द्रमा आदि अर्थों में प्रसिद्ध हैं। किन्तु जहाँ इन शब्दों के पृथिवी, चन्द्र आदि अर्थों के ग्रहण करने पर वक्ता के तात्पर्य के अनुपपन्न होने से उन अर्थों में समवायसम्बन्ध से रहने वाली एकत्वादि संख्या का बोध कराते हैं वह लोकतन्त्रसिद्ध समय है। इसी प्रकार पक्ष, नेत्र आदि द्वित्व संख्या के, लोक, काल, राम आदि शब्द त्रित्व संख्या के, वेद, समुद्र आदि चतुष्ट्व संख्या के, भूत, इन्द्रिय बाण आदि शब्द पञ्चत्व संख्या के, रस, ऋषि, वसु, अङ्क आदि शब्द ६, ७, ८, ९ संख्या के बोधक बनते हैं। तथा वरासा, कागुहा, वसुधा आदि शब्द गुरुलघु रूप में व्यवस्थित तीन वर्णों के स्वरूप को बतलाते हैं। यह लोकतन्त्रसिद्ध समय छन्दशास्त्र में भी उपादेय हैं। इस बात को 'अष्टौ वसवः' अर्थात् वसु आठ हैं, इसका कथन करते हुए भगवान् पिङ्गलाचार्य ने भी स्वीकार किया है। दूसरे शास्त्र में प्रसिद्ध जिस अर्थ का, छन्दःशास्त्र से विरुद्ध न होने के कारण ग्रहण कर लिया गया है, वह साधारणतन्त्रसिद्ध समय कहलाता है। जैसे आगमशास्त्र में प्रसिद्ध क, ट, प य आदि वर्णों द्वारा संख्याविशेष की प्रतिपत्ति छन्दःशास्त्र में गृहीत कर ली गई है, क्योंकि उसका छन्दःशास्त्र से विरोध नहीं है। जैसे सुबन्त व तिङन्त का पदत्व, समाससिद्धि व सन्धिप्रकार आदि, जो कि व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, उन्हें छन्दःशास्त्र में अविरोधी होने से स्वीकार कर लिया गया है। जिस अर्थ का विशेष रूप से छन्दःशास्त्र में विधान किया गया है, वह प्रतितन्त्रसिद्ध संकेत कहलाता है। जैसे वर्णवेद में प्रसिद्ध वर्ण, मात्रा, अवष्टम्भ पदार्थों की उपेक्षा कर छन्दःशास्त्र के अनुबन्ध से वर्णशास्त्र से भिन्न वर्ण, मात्रा, अवष्टम्भ भेदों का निरूपण किया गया है। व्याकरणादिप्रसिद्ध पद को हटाकर छन्दःशास्त्र में दूसरे प्रकार से पदव्यवस्था स्वीकृत की है। तीन अक्षरों तथा चार मात्राओं को गण तथा प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट,

मेरु, पताका, मर्कटी व संख्यान को प्रत्यय एवं क्रम, पार, तार, हार, सूची, पाताल आदि शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों का बोधक छन्द:शास्त्र में स्वीकार किया गया है।

यह प्रतितन्त्रसिद्ध समय (संकेत) छन्द:शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में साधारणतया स्वीकृत तथा प्रातिस्विक है। अर्थात् कोई संकेत छन्द:शास्त्रीय कतिपय ग्रन्थों में स्वीकृत है। उसे साधारण-प्रतितन्त्रसिद्ध समय कहते हैं और जो संकेत छन्द:शास्त्र के एक ही ग्रन्थ में व्यवहारसौकर्य के लिए कल्पित है अन्य ग्रन्थों में नहीं, वह प्रातिस्विक-प्रतितन्त्र-सिद्ध समय कहलाता है। जैसे प्राकृत पिङ्गल शास्त्र में ट—ठ—ड—ढ—ण— इन वर्णों में एक-एक की बहुत-सी संज्ञाएँ बतलायी गई हैं। जैसे इसी ग्रंथ में त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म—इन दश वर्णों को दशों दशतियों का बोधक माना है। उनमें भी इन वर्णों के बाद में प्रयुक्त अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ—ये दश स्वर प्रत्येक दशति' के अवयवों को बतलाते हैं। १ संख्या से प्रारम्भ कर १० संख्या तक एक दशति, ११ से २० तक दूसरी दशति २१ से ३० तक तीसरी दशति, ३१ से ४० तक चौथी दशति, ४१ से ५० तक पाँचवो दशति। इन पाँचों दशतियों को क्रमश: त, थ, द, ध, न वर्ण बतलाते हैं। और प, फ, ब, भ, म वर्ण क्रमश: ५१ से ६० तक की छठी दशति को, ६१ से ७० तक की सातवीं दशति को, ७१ से ८० तक की आठवीं दशति को, ८१ से ९० तक की नवीं दशति को, ९१ से १०० तक की दसवीं दशति को बतलाते हैं। इसी प्रकार त वर्ण के बाद में प्रयुक्त अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ ओ, औ—ये स्वर क्रमश: प्रथम दशति के अवयव १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० को बतलाते हैं। और ११ से २० तक की दशति के ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०—इन अवयवों को क्रमश: 'थ' वर्ण के बाद में प्रयुक्त अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ औ, ये बतलाते हैं। इसी तरह दकारादि वर्णों के आगे प्रयुक्त अ, आ इत्यादि स्वर क्रमश: तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं व दसवीं दशति के अवयवों को बतलाते हैं। तकारादि वर्णों से पूर्व में प्रयुक्त अकारादि दसों स्वर १०० अंकों के बोधक होने से क्रमश: १००, २००, ३००, ४००, ५००, ६००, ७००, ८००, ९०० व १००० को बतलाते हैं। इसी तरह वर्णों से पूर्व प्रयुक्त अकारादि स्वर १००, २००, ३०० आदि रूप से शताङ्क के बोधक होते हैं। उनमें भी शुद्ध अकारादि स्वर तथा य-र-ल-व-श-ष-ह्-क्ष ये वर्ण जिनके पूर्व में हैं ऐसे अकारादि स्वर क्रमश: शताङ्क की दश दशतियों के बोधक होते हैं। शुद्ध अकारादि स्वरों से १०० से १००० तक की दशतियों का बोधक होता है और यकारादिपूर्वक अकारादि स्वरों से ११००, १२००, १३००, १४००, १५००, १६००, १७००, १८००, १९०० आदि के बोधक हैं।

अर्थात् य पूर्वक अकारादि स्वरों से ११०० से २००० तक की दशति का, रेफ पूर्वक अकारादि स्वरों से २१०० से ३००० तक की दशति का, ल पूर्वक अकारादि स्वरों से ३१०० से ४००० तक की दशति का, व पूर्वक अकारादि स्वरों से ४१०० से ५००० की दशति का, ५१०० से ६००० तक

की दशति का श पूर्वक अकारादि स्वरों से, ६१०० से ७००० तक की दशति का षपूर्वक अकारादि स्वरों से, ७१०० से ८००० तक की दशति का स पूर्वक अकारादि स्वरों से, ८१०० से ९००० तक की दशति का ह पूर्वक अकारादि स्वरों से, ९१०० से १०००० तक की दशति का क्ष पूर्वक अकारादि स्वरों से बोध होता है। इस प्रकार 'अनु' शब्द १४५ संख्या का बोध कराता है। क्योंकि नकारवर्ण से पूर्व प्रयुक्त अकार स्वर १०० संख्या का बोधक है, न वर्ण ४१ से ५० तक की पाँचवीं दशति का बोधक है तथा नकार वर्ण के बाद में प्रयुक्त उकार स्वर उपर्युक्त दशति की पाँचवीं संख्या का बोधक है। अतः इस रीति से 'अनु' शब्द १४५ संख्या को बतलाता है। इसी प्रकार 'ऊभे' शब्द ६८७ संख्या को बतलाता है। क्योंकि 'भ' वर्ण से पूर्व में प्रयुक्त 'ऊ' स्वर ६०० संख्या को, 'भ' वर्ण ८१ से ९० तक की दशति को, तथा 'भ' के बाद प्रयुक्त 'ए' स्वर इस दशति की ७ संख्या को बतलाता है। इस प्रकार 'ऊ भे' शब्द ६८७ संख्या का बोधक है। इसी प्रकार 'रूपी' शब्द २६५४ संख्या का बोधक है। क्योंकि रेफपूर्वक ऊकार २६०० संख्या का बोधक है। उससे उत्तरवर्ती 'प' वर्ण ५१ से ६० तक की दशति का बोधक है अतः इससे पाँच संख्या का ग्रहण होता है और 'प' वर्ण के बाद प्रयुक्त 'ई' स्वर चार संख्या का बोधक है। इस तरह 'रूपी' शब्द २६५४ संख्या को बतलाता है। इसी रूप से 'सानी' शब्द ७२४४ संख्या का बोधक है। इसी तरह विभिन्न शब्दों से विभिन्न संख्याओं का ग्रहण होता है।

उपर्युक्त रीति से 'छन्दःशिक्षा' नामक परिभाषाधिकार में छन्द, पद, अवष्टम्भ, वर्ण, मात्रा, गण, गति व समय का स्वरूप बतलाया है।

छन्दोगणित

छन्दस्वरूपों के पूर्णरूप से जानने के लिए प्रस्तारक्रिया आवश्यक है, और प्रस्तार की शुद्धि के लिए नष्ट, उद्दिष्ट, शलाका, पताका, मेरु और मर्कटी का ज्ञान आवश्यक है। इनमें प्रस्तार, मेरु और मर्कटी संगृहीत अर्थ को बतलाते हैं तथा उद्दिष्ट, शलाका, व पताका, एकैक अर्थ की सिद्धि कराते हैं। प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, शलाका, पताका, मेरु, व मर्कटी ये सातों प्रत्यय कहलाते हैं। इन्हीं प्रत्ययों का निरूपण 'छन्दोगणित' अधिकार में किया गया है।

इनमें प्रथम प्रत्यय प्रस्तार वर्णप्रत्यय, मात्राप्रत्यय भेद से द्विविध है। उन दोनों में प्रथम वर्णप्रत्यय का निरूपण किया जा रहा है—

प्रस्तार-विषयक सूत्र है—

न्यासाधो न्यासान्तरमित्येवंक्रमे पूर्वन्यासीय-प्रथम-गुरोरधस्ताल्लघुस्ततः पूर्वस्थाने गुरुरथोत्तरस्थाने तूपरिवत्।'

इसका अभिप्राय यह है कि छन्दःपदों के स्वरूप का उल्लेख न्यास कहलाता है। गौणवृत्ति से छन्दःपदों के उल्लिखित स्वरूप को भी न्यास कहते हैं। किसी एक न्यास का उल्लेख करने पर तीन क्रियाओं द्वारा **परन्यास की** कल्पना कर पूर्वन्यास

के नीचे परन्यास के उल्लेख को न्यासक्रम कहा जाता है। जिन क्रियाओं के द्वारा परन्यास का उल्लेख किया जाता है वे क्रियायें मूलक्रिया, पृष्ठक्रिया व अग्रक्रिया हैं। पूर्वन्यास के गुरु को लघु में परिवर्तित कर देना—यह क्रिया प्रथमन्यास से भिन्न न्यासों में होती है। प्रथम न्यास में यह क्रिया हो नहीं सकती। अतः प्रथमन्यास सर्वगुरु अक्षरवाला होता है। सर्व गुरु अक्षर वाले न्यास में प्रथम गुरु अक्षर के स्थान में लघु अक्षर लिखना चाहिए—यह न्यास की प्रथम क्रिया है। अब जिस गुरु के स्थान में लघु अक्षर लिखा गया है उससे पूर्व कोई स्थान नहीं है, अतः द्वितीय न्यास में पृष्ठक्रिया नहीं बन सकती। किन्तु तृतीयादि न्यासों में जिस गुरु के स्थान में लघु लिखा है उससे पीछे जितने भी स्थान हैं उन सब में गुरु अक्षर ही लिखना चाहिए—यह दूसरी पृष्ठक्रिया है। न्यास में पूर्वन्यास के जिस गुरु के स्थान में लघुक्रिया है उससे आगे के स्थानों में जैसा पूर्वन्यास में लघु गुरु का उल्लेख है वैसा ही उल्लेख करना चाहिए—यह तीसरी अग्रक्रिया है। जैसा कि अभियुक्तों ने कहा है—

'अधो लघुं गुरोराद्यात् पुरतस्तु यथोपरि।
पश्चाद्दद्याद् गुरूनेव वर्णप्रस्तार ईदृशः॥'

किन्हीं-किन्हीं न्यासों में पृष्ठक्रिया व अग्रक्रिया की अप्राप्ति है किन्तु उन न्यासों में मूलक्रिया के होने से प्रस्तारक्रम की निवृत्ति नहीं होती, प्रस्तारक्रम चालू रहता है। किन्तु जिस न्यास में गुरु अक्षर नहीं मिलता वहाँ मूलक्रिया के समाप्त हो जाने से वहाँ तीनों क्रियाओं की निवृत्ति से प्रस्तार समाप्त हो जाता है। न्यासों में फण की आकृति वाली टेढी रेखा (ऽ) गुरु अक्षर का तथा दण्ड की आकृति वाली सीधी रेखा (।) लघु अक्षर का चिह्न है। नीचे तीन अक्षरों वाले प्रस्तार का उल्लेख है—

त्र्यक्षरप्रस्तार

ऽ ऽ ऽ
। ऽ ऽ
ऽ । ऽ
। । ऽ
ऽ ऽ ।
। ऽ ।
ऽ । ।
। । ।

इस त्र्यक्षर प्रस्तार में तीनों अक्षर गुरु हैं। इसमें प्रस्तार-क्रिया करने पर मूलक्रिया के द्वारा दूसरे न्यास में प्रथम गुरु के स्थान में लघु अक्षर हो गया। इसके पीछे कोई अक्षर न होने से इसमें पृष्ठक्रिया की संभावना नहीं है। अग्रक्रिया के द्वारा लघु अक्षर के बाद प्रथम न्यास के समान ही दोनों अक्षर गुरु द्वितीय न्यास में भी रखे गये हैं। तृतीय न्यास में द्वितीय न्यास के प्रथम गुरु अक्षर के स्थान में मूलक्रिया द्वारा लघु कर दिया। पृष्ठक्रिया द्वारा लघुकृत अक्षर को गुरु कर दिया गया और अग्रक्रिया द्वारा द्वितीय न्यास के समान ही गुरु अक्षर ही रखा गया है। चतुर्थ न्यास में तृतीय न्यास के प्रथम गुरु को लघु कर दिया। पृष्ठक्रिया की यहाँ संभावना नहीं क्योंकि लघूकृत वर्ण से पूर्व कोई अक्षर नहीं है। अग्रक्रिया के द्वारा तृतीय न्यास में जैसे लघु व गुरु अक्षर थे वैसे ही इस में लिख दिये गये हैं। पञ्चम न्यास में मूलक्रिया द्वारा चतुर्थ

न्यास के गुरु के स्थान में लघु अक्षर कर दिया। पृष्ठक्रिया के द्वारा लघूकृत अक्षर से पूर्व के दोनों अक्षरों के स्थान में गुरु अक्षर लिख दिये गये। लघु के बाद में कोई अक्षर न होने से अग्रक्रिया की यहाँ संभावना नहीं है। छठे न्यास में पञ्चम न्यास के प्रथम गुरु के स्थान में मूलक्रिया द्वारा लघु अक्षर लिखा। इस लघु से पूर्व कोई अक्षर न होने से पृष्ठक्रिया की यहाँ संभावना नहीं। अग्रक्रिया के द्वारा लघु अक्षर के बाद पञ्चम न्यास में जैसे गुरु व लघु अक्षर थे वैसा ही इस षष्ठ न्यास में उल्लेख कर दिया गया। सप्तम न्यास में मूलक्रिया के द्वारा षष्ठ न्यास के द्वितीय गुरु के स्थान में लघु अक्षर कर दिया। पृष्ठक्रिया के द्वारा लघु से पूर्व अक्षर को गुरु कर दिया। अग्रक्रिया द्वारा जैसा षष्ठ न्यास में लघु अक्षर था वैसा ही लघु अक्षर रख दिया गया है। अष्टम न्यास में मूलक्रिया द्वारा सप्तम न्यास के प्रथम गुरु अक्षर को लघु कर दिया। इस लघु से पूर्व अक्षर इस न्यास में न होने से पृष्ठ-क्रिया की यहाँ संभावना नहीं है और अग्रक्रिया के द्वारा लघु अक्षर के बाद जैसे सप्तम न्यास में दोनों लघु अक्षर थे उसी रूप में उनका यहाँ उल्लेख कर दिया गया। इस प्रकार अष्टम न्यास में किसी भी गुरु अक्षर के न होने से मूलक्रिया के अभाव से प्रस्तार की समाप्ति हो जाती है। वर्णप्रस्तार में प्रथम न्यास के सभी अक्षरों को लघु बना दिया है। इसी प्रकार चतुरक्षर, पञ्चाक्षर, षडक्षरादि प्रस्तारों का उल्लेख समझना चाहिए।

प्रस्तारोल्लेख का दूसरा प्रकार संख्यामूलक है। इस प्रकार में पहिले प्रस्तार में कितने न्यास हैं—उन न्यासों की संख्या मालूम करनो चाहिए। न्यासों की संख्या को जानने के लिए अङ्कसूचीक्रिया का उपयोग करना चाहिए। एतदर्थ पहिले एकाङ्क की स्थापना करनी चाहिए। तदनन्तर जितने अक्षरों का प्रस्तार है उतनी बार उस संख्या को द्विगुणित करनी चाहिए। यही अङ्कसूची कहलाती है। इस अङ्कसूची में अन्त में जो अङ्क आता है वही उस अक्षर प्रस्तार में न्यासों की संख्या होती है। जैसे त्र्यक्षर प्रस्तार में एकाङ्क की स्थापना कर इस संख्या को उत्तरोत्तर तीन बार द्विगुणित करना चाहिए। जैसे एक अङ्क को द्विगुणित करने में दो अङ्क होते हैं। दो अङ्कों को द्विगुणित करने पर चार अङ्क होते हैं तथा चार अङ्कों को द्विगुणित करने पर आठ अङ्क होते हैं। यह आठ संख्या ही त्र्यक्षर प्रस्तार में न्यासों की संख्या है। इसी प्रकार चतुरक्षर प्रस्तार में एक अंक को चार बार उत्तरोत्तर द्विगुणित करने पर चतुरक्षर प्रस्तार में न्यासों की संख्या प्राप्त हो जाती है। जैसे १ अङ्क को द्विगुणित करने पर दो अङ्क सिद्ध होते हैं। दो अङ्कों को द्विगुणित करने पर चार अङ्क प्राप्त होते हैं। चार अङ्कों को द्विगुणित करने पर आठ अङ्क होते हैं और आठ को द्विगुणित करने पर १६ अङ्क प्राप्त होते हैं। यही १६ अङ्क संख्या चतुरक्षर प्रस्तार में न्यासों की संख्या है। इसी द्विगुणीकरण-परिपाटी से ऊपर नीचे स्थापित १६ स्थानों में गुरु लघु अक्षरों को रख कर प्रस्तार-क्रिया करनी चाहिए। ऊर्ध्वाधः (ऊपर नीचे) रूप से स्थापित १६ स्थानों में एक-

एक करके गुरु व लघु अक्षर क्रमश: लिखने चाहिए। ऐसा करने पर सोलहों न्यासों का प्रथम अक्षर प्राप्त हो जाएगा। तदनन्तर ऊर्ध्वाध: स्थापित १६ न्यासों में दो-दो करके क्रमश: गुरु व लघु अक्षरों को लिखने से उन न्यासों का द्वितीय अक्षर प्राप्त हो जाएगा। पुन: दो को द्विगुणित कर चार-चार बार गुरु लघु अक्षरों के लिखने से उन न्यासों का तृतीय अक्षर प्राप्त हो जायगा और चार अक्षरों को पुन: द्विगुणित कर ऊर्ध्वाध:स्थापित उन न्यासों में ८-८ इस रूप से गुरु व लघु अक्षरों को क्रमश: लिखने पर उन न्यासों का चतुर्थ अक्षर प्राप्त हो जायगा। जैसे—

चतुरक्षर प्रस्तार

ऽ ऽ ऽ ऽ
। ऽ ऽ ऽ
ऽ । ऽ ऽ
। । ऽ ऽ
ऽ ऽ । ऽ
। ऽ । ऽ
ऽ । । ऽ
। । । ऽ
ऽ ऽ ऽ ।
। ऽ ऽ ।
ऽ । ऽ ।
। । ऽ ।
ऽ ऽ । ।
। ऽ । ।
ऽ । । ।
। । । ।

इस चतुरक्षर प्रस्तार के न्यासों में गुरु लघु अक्षरों को एक एक करके क्रमश: लिखने से न्यासों का प्रथम अक्षर हो गया। पश्चात् इस एक को द्विगुणित कर दो दो करके क्रमश: गुरु लघु ऊर्ध्वाध: स्थापित न्यासों में लिखने से न्यासों का द्वितीय अक्षर हो गया है। पश्चात् दो को द्विगुणित कर चार बनने पर चार चार करके गुरु लघु अक्षरों को क्रमश: ऊर्ध्वाध: स्थापित न्यासों में लिख कर न्यासों का तृतीय अक्षर प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर चार को द्विगुणित कर ८ बनाकर ८-८ करके गुरु लघु अक्षरों को क्रमश: ऊर्ध्वाध: स्थापित न्यासों में लिखने से न्यासों का चतुर्थ अक्षर हो जाता है। यह प्रस्तारोल्लेख का संख्यामूलक द्वितीय प्रकार है।

प्रस्तारोल्लेख के इस द्वितीय प्रकार के विषय में निम्नलिखित सूत्र हैं—

'उत्तरोत्तरद्विगुणाङ्कलेख: सूची, सूच्यङ्को यावतिथस्तदक्षरप्रस्तारे न्यास-संख्या, तावत्स्थानेषु प्रथमाक्षरादयो द्वैगुण्यपरम्परया लेख्या:।'

प्रस्तारोल्लेख का प्रस्तारमूलक तृतीय प्रकार और है। वह निम्नलिखित रूप से है—

गुरु, लघु भेद से अक्षर दो प्रकार का है। एकाक्षर प्रस्तार में दो भेद हैं—एक गुरु अक्षर वाला और एक लघु अक्षर वाला।

एकाक्षर प्रस्तार के दो भेद

ऽ
।

इन दो भेदों को दो बार लिखकर चार भेद होने पर प्रथम दो भेदों के आगे गुरु अक्षर लिखने से तथा दूसरे दो भेदों में लघु अक्षर लिखने से द्वयक्षर प्रस्तार के चार भेद हो जाते हैं । जैसे—

ऽऽ
।ऽ
ऽ।
।।

इस चार भेदों वाले द्वयक्षर प्रस्तार को दो बार स्थापित करने से ८ भेद बन जाते हैं । इनमें चार भेद गुरु अक्षरपरक हैं तथा चार भेद लघुपरक हैं । जैसे—

ऽऽऽ
।ऽऽ
ऽ।ऽ
।।ऽ
ऽऽ।
।ऽ।
ऽ।।
।।।

इस प्रकार द्वयक्षर चार भेदों को दो बार लिखकर पहिले चार भेदों के अन्त में गुरु अक्षर तथा अन्तिम चार भेदों के अन्त में लघु अक्षर लिखने से ८ भेद वाला त्र्यक्षर प्रस्तार बन जाता है ।

इस त्र्यक्षरप्रस्तार की भी दो बार स्थापना कर प्रथम आठ भेदों के अन्त में गुरु अक्षर तथा द्वितीय आठ भेदों के अन्त में लघु अक्षर लिखने पर १६ भेद वाला चतुरक्षर प्रस्तार बन जाता है । जैसे—

ऽऽऽऽ
।ऽऽऽ
ऽ।ऽऽ
।।ऽऽ
ऽऽ।ऽ
।ऽ।ऽ
ऽ।।ऽ
।।।ऽ
ऽऽऽ।
।ऽऽ।
ऽ।ऽ।
।।ऽ।
ऽऽ।।
।ऽ।।

इसी तरह चतुरक्षर प्रस्तार के १६ भेदों की दो बार स्थापना कर प्रथम १६ भेदों के अन्त में गुरु अक्षर तथा दूसरे १६ भेदों के अन्त में लघु अक्षर लिखने से ३२ भेद वाला पञ्चाक्षर प्रस्तार बन जाता है और इसी तरह पञ्चाक्षर प्रस्तार के ३२ भेदों की दो बार स्थापना कर आदि के ३२ भेदों के अन्त में गुरु अक्षर तथा दूसरे ३२ भेदों के अन्त में लघु अक्षर लिखने पर ६४ भेद वाला षडक्षर प्रस्तार बन जाता है । प्रस्तारोल्लेख के इस तृतीय प्रकार के विषय में निम्नलिखित सूत्र हैं—

'गुरुपरत्वलघुपरत्वाभ्यां द्विद्विरुल्लिखिते पूर्वपूर्वप्रस्तारे परपरप्रस्तारसिद्धिः ।'

उपर्युक्त रीति से क्रियामूलक, संख्यामूलक व प्रस्तार-मूलक प्रस्तारोल्लेख का वर्णन हो चुका । यह त्रिविधि प्रस्तारोल्लेख लघुक्रिय, गुरुक्रिय भेद से पुनः दो प्रकार का है । लघुक्रिय का अर्थ न्यास के गुरु अक्षरों को लघु अक्षरों में परिवर्तित करना

ऽ I I I
I I I I

तथा गुरुक्रिय का अर्थ न्यास के लघु अक्षरों को गुरु अक्षरों में परिवर्तित करना है। लघुक्रिय प्रस्तार के तीन भेदों का ऊपर निरूपण किया जा चुका है। गुरुक्रिय प्रस्तार के तीन भेद इससे विपरीत हैं। उनमें लघु अक्षरों को गुरु अक्षरों में परिवर्तित किया जाता है। इस तरह प्रस्तार ६ प्रकार का है। यह ६ प्रकार का प्रस्तार पुनः वामावर्त, दक्षिणावर्त भेद से दो प्रकार का है। वामावर्त में वामभाग की ओर से गुरु अक्षरों का लघु-अक्षरों में तथा लघु अक्षरों का गुरु अक्षरों में परिवर्तन किया जाता है और दक्षिणावर्त में दक्षिणभाग की ओर से परिवर्तन किया जाता है। इस तरह १२ प्रकार के प्रस्तारोल्लेख का निरूपण कर दिया गया। इनमें क्रियामूलक, संख्या-मूलक व प्रस्तारमूलक प्रस्तारों में स्थान व संख्या का परिवर्तन नहीं होता, किन्तु दक्षिणावर्ती लघुक्रिय व गुरुक्रिय तथा वामावर्ती लघुक्रिय व गुरुक्रिय भेदों वाले प्रस्तारों में स्थान व संख्या का परिवर्तन प्रायः हो जाता है। इनका उदाहरण निम्नलिखित परिलेख है।

दक्षिणावर्ती लघुक्रिय व गुरुक्रिय	
ऽऽऽ	III
Iऽऽ	ऽII
ऽIऽ	IऽI
IIऽ	ऽऽI
ऽऽI	IIऽ
IऽI	ऽIऽ
ऽII	Iऽऽ
III	ऽऽऽ

वामावर्ती लघुक्रिय गुरुक्रिय	
ऽऽऽ	III
ऽऽI	IIऽ
ऽIऽ	IऽI
ऽII	Iऽऽ
Iऽऽ	ऽII
IऽI	ऽIऽ
IIऽ	ऽऽI
III	ऽऽऽ

मेरुनिरूपण

जिस प्रत्यय से प्रस्तार के न्यासों में कितने अक्षर अगुरुक अर्थात् गुरुभिन्न, कितने एक गुरुवाले इत्यादि का तथा कितने अलघुक तथा एक लघु वाले अक्षर हैं? इत्यादि का ज्ञान होता है, वह 'मेरु' प्रत्यय कहलाता है। पर्वताकार से इसका उल्लेख होने से स्वरूपसाम्य के कारण इसे मेरु कहा गया है। अथवा लोकविन्यासों का प्रमाणसूत्र जहाँ संनिविष्ट है उसे लोक में मेरु कहते हैं। उसी तरह प्रस्तार-विन्यासों का प्रमाणसूत्र जहाँ संनिविष्ट है उसको मेरुसाधर्म्य के कारण मेरु कहा जाताहै।

मेरु में ऊपर की पंक्ति में स्थित दो अङ्कों की योजना से सिद्ध अङ्कों को ऊपर के दोनों अङ्कों के नीचे के स्थान में लिखा जाता है, यह प्रथम नियम है। अतः जहाँ यह नियम नहीं लगता, वहाँ नीचे की पंक्ति में एक अङ्क लिखना चाहिए, यह द्वितीय नियम है। ऊपर की पंक्ति में जितने अङ्कस्थान हैं, नीचे की

पंक्तियों में एक-एक अङ्कस्थान की वृद्धिवाले अङ्कस्थान बनाने चाहिए, यह तीसरा नियम है। इन तीन नियमों का अनुसरण करने पर मेरु सिद्ध होता है और इस प्रकार मेरु के सबसे ऊपर के स्तर के दोनों स्थानों में तथा उससे भिन्न स्तरों में दोनों ओर के स्थानों में अर्थात् प्रथम तथा अन्तिम स्थानों में एक अङ्क का ही उल्लेख किया जाता है। मेरु का उल्लेख निम्न प्रकार से है—

१ १
१ २ १
१ ३ ३ १
१ ४ ६ ४ १
१ ५ १० १० ५ १
१ ६ १५ २० १५ ६ १
१ ७ २१ ३५ ३५ २१ ७ १
१ ८ २८ ५६ ७० ५६ २८ ८ १
१ ९ ३६ ८४ १२६ १२६ ८४ ३६ ९ १
१ १० ४५ १२० २१० २५२ २१० १२० ४५ १० १

इस प्रकार से दस प्रस्तार उदाहरण के लिए ऊर्ध्वाधः भाव से (ऊपर नीचे रूप से) स्थापित किए गए हैं। इसमें प्रथम प्रस्तर के साथ एकाक्षर प्रस्तार का अनुगम है अर्थात् प्रथम प्रस्तर एकाक्षर प्रस्तार से अनुगत है। इस एकाक्षर प्रस्तार में अगुरुक एक तथा एकगुरुक एक—इस प्रकार दो स्वरूपभेद अर्थात् न्यास हैं। अथवा अलघुक एक तथा एकलघुक एक—इस प्रकार दो प्रस्तारस्वरूप भेद अर्थात् न्यास हैं।

मेरु के द्वितीय प्रस्तर के साथ द्व्यक्षर प्रस्तार का अनुगम है। इस द्व्यक्षर प्रस्तार में अगुरुक एक, एक—गुरुक दो तथा द्विगुरुक एक—इस रूप से चार प्रस्तारस्वरूपभेद अर्थात् न्यास हैं। अथवा अलघुक एक, एकलघुक दो, द्विलघुक एक—इस प्रकार चार न्यास हैं।

मेरु के तृतीय प्रस्तर के साथ त्र्यक्षर प्रस्तार का अनुगम है। त्र्यक्षर प्रस्तार में अगुरुक एक, एकगुरुक तीन, द्विगुरुक तीन तथा त्रिगुरुक एक—इस प्रकार से ८ स्वरूपभेद अर्थात् न्यास हैं। अथवा अलघुक एक, एकलघुक तीन, द्विलघुक तीन तथा त्रिलघुक एक—इस प्रकार से ८ न्यास हैं।

मेरु के चतुर्थ प्रस्तर के साथ चतुरक्षर प्रस्तार का अनुगम है। इस चतुर-क्षर प्रस्तार में अगुरुक १, एकगुरुक ४, द्विगुरुक ६, त्रिगुरुक ४, चतुर्गुरुक १—इस प्रकार १६ स्वरूपभेद अर्थात् न्यास हैं। अथवा अलघुक १, एकलघुक ४, द्विलघुक ६, त्रिलघुक ४ तथा चतुर्लघुक १ इस प्रकार से १६ स्वरूपभेद (न्यास) हैं। इस तरह से मेरु के उत्तरोत्तर प्रस्तर के साथ उत्तरोत्तर प्रस्तारों का अर्थात्

पञ्चाक्षर षडक्षरादि प्रस्तारों का अनुगम है। इस रीति से मेरु के प्रस्तरों के साथ न्यासों के अनुगम से लघु, गुरु अक्षरों की संख्या का ज्ञान हो जाता है।

इसी मेरु के नीचे पाषाणेष्टकाविन्यास अर्थात् पत्थर की ईंटों के विन्यास को दर्शाया गया है। [पाषाणेष्टकाविन्यासपरिलेख मूल पुस्तक के पृ. २८ में है]

आगे दक्षिणतः नत अर्थात् दाहिनी ओर झुके हुए मेरु को परिलेख द्वारा दर्शाया गया है। उसका निर्माण निम्न रीति से होता है--

ऊपर से नीचे की ओर क्रम से लिखित स्थानों में क्रम से एक-एक अङ्क लिखने चाहिएँ। पश्चात् दक्षिण भाग में पूर्व स्थानों के समान स्थानों में क्रमशः १, २, ३, ४ आदि क्रमिक अंक लिखने चाहिएँ। पश्चात् उन क्रमिक अङ्कों के दक्षिण भाग में नीचे से प्रारम्भ कर एक-एक स्थान की कमी करके ऊपर के स्थानों को बनायें और उन स्थानों में सबसे ऊपर के स्थान में एक अङ्क लिखकर उसके नीचे के स्थानों में अपने-अपने शीर्ष स्थान के अङ्क को तथा उस शीर्षस्थ अङ्क के वामपार्श्वभाग में स्थित अङ्क को जोड़कर अङ्क लिखें। जैसे—

१	१									
१	२	१								
१	३	३	१							
१	४	६	४	१						
१	५	१०	१०	५	१					
१	६	१५	२०	१५	६	१				
१	७	२१	३५	३५	२१	७	१			
१	८	२८	५६	७०	५६	२८	८	१		
१	९	३६	८४	१२६	१२६	८४	३६	९	१	
१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०	१

इस दक्षिणनत खण्डमेरु में १० स्थानों में वामभाग में १-१ अङ्क लिखा गया है। तत्पश्चात् उन अङ्कों के दक्षिण भाग में इन स्थानों में क्रमशः १, २, ३ आदि क्रमिक अङ्क लिखे गये हैं। उसके बाद उन अङ्कों के दक्षिण भाग में उपरितन शीर्षस्थ अङ्क तथा शीर्षस्थ अङ्क के वामभाग में स्थित अङ्क के योग से जो संख्या बनती है, वह उत्तरोत्तर नीचे के स्थानों में लिखी गई है। जैसे सर्वोपरि विद्यमान दूसरी पंक्ति के शीर्षस्थानवर्ती १ अङ्क तथा शीर्षस्थान अङ्क के वाम भाग में विद्यमान १ अङ्क को जोड़कर बनी हुई संख्या २ अङ्क को उसके नीचे की दूसरी पंक्ति में लिख दिया गया है। तृतीय पंक्ति में उसके शीर्षस्थानवर्ती २ अङ्क तथा शीर्षस्थ २ अङ्क के वामभागस्थ १ अङ्क को जोड़कर ३ अङ्क लिखा गया है। उसी प्रकार तृतीय पंक्ति के शीर्षस्थ १ अङ्क तथा दक्षिणभाग में स्थित २ अङ्क को मिला

कर दूसरा तीन अङ्क लिखा गया है। चतुर्थ पंक्ति में उसके शीर्षस्थान में स्थित ३ अङ्क तथा उसके वाम भाग में स्थित एक अङ्क को जोड़कर ४ अङ्क लिखा गया है तथा चतुर्थ पंक्ति के शीर्षस्थान में स्थित ३ अङ्क और उसके वामभाग में स्थित ३ अङ्क को जोड़कर चतुर्थ पंक्ति में ६ अङ्क लिखा गया है। उसी प्रकार से चतुर्थ पंक्ति के शीर्षस्थान तृतीय पंक्ति में स्थित १ अंक को उसके वामभाग में स्थित ३ अंक से मिलाकर ४ अङ्क लिखा गया है। पाँचवीं पंक्ति में उसकी शीर्षस्थ चतुर्थ पंक्ति के शीर्षस्थ अङ्क ४ तथा उसके वामभाग में स्थित १ अङ्क को युक्त कर ५ अङ्क होता है, वह पाँचवी पंक्ति में लिखा है। इसी प्रकार पाँचवीं पंक्ति के शीर्षस्थ चतुर्थ पंक्ति के शीर्षाङ्क ६ और उसके वामभाग में स्थित ४ अङ्क के योग से निष्पन्न १० अङ्क का, शीर्षस्थ चतुर्थ पंक्ति के शीर्षस्थ ४ अङ्क का उसके वाम-भागस्थ ६ अङ्कों के योग से निष्पन्न दूसरी १० संख्या का, तथा पञ्चमी पंक्ति के शीर्षस्थ १ अङ्क का तथा उसके वामभास्थ ४ अङ्क के योग से निष्पन्न ५ संख्या का क्रमशः पञ्चमी पंक्ति में उल्लेख है। यही क्रम आगे की १० तक की पंक्तियों में है। इसी प्रकार वामनत खण्ड मेरु भी बनता है। यह दक्षिण भाग से प्रारम्भ होता है और वाम भाग की ओर इसका झुकाव होता होता जाता है। इसका निर्माण दक्षिणनत मेरु की तरह ही होता है। यहाँ शीर्षस्थ पंक्ति के शीर्षाङ्क तथा उसके दक्षिणपार्श्वस्थ अङ्क के योग से निष्पन्न संख्या का नीचे की पंक्ति में उल्लेख होता है।

इस के आगे परिलेख द्वारा इन्हीं खण्डमेरुओं को पाषाणेष्टका के आकार से प्रदर्शित किया गया है। उनका परिलेख मूल में देखे।

मेरुभङ्गी

विभिन्न अक्षर वाले प्रस्तारों के न्यासों में कितने भेद अर्थात् कितने न्यास अगुरुक हैं, कितने एकगुरुक हैं, कितने द्विगुरुक या त्रिगुरुक आदि भेद हैं—इसको जानने के लिए मेरुप्रत्यय का निरूपण किया गया है। इसी अर्थ को प्रकारान्तर से जानने के लिए मेरुभङ्गी का निरूपण किया जा रहा है।

जितने अक्षर वाला प्रस्तार है उतने ही एकाङ्क किसी ध्रुवक एकाङ्क के बाद अधोनत क्रम से तथा तिर्यङ्नत (तियक्गामी) क्रम से स्थापित करने चाहिएँ। तदनन्तर ध्रुवक एकाङ्क से अधःस्थित तथा तिर्यक्स्थित एकाङ्कों के योग से निष्पन्न अङ्क लिखकर बाद में नीचे तथा तिर्यक् ऊर्ध्व तथा पार्श्वभाग के अङ्कों के योग से दो पंक्तियाँ लिखनी चाहिएँ। तथा प्रत्येक क्रिया के बाद एक-एक अङ्क को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार अन्यान्य पंक्तियों को लिखने पर अन्तिम अङ्कों से तिर्यङ्नत व उन्नत अर्थात् तिर्यग् की ओर से ऊर्ध्वगामिनी जो अङ्कवल्ली बनती है उसे मेरुभङ्गी कहते हैं। उसका प्रयोजन उतने अक्षर वाले प्रस्तार के अगुरुक आदि भेदों का ज्ञान हो जाता है। जैसे षडक्षर प्रस्तार में ध्रुवक एकाङ्क

के नीचे की ओर तथा तिरछी ओर ६-६ एकाङ्क लिख दिये जाते हैं। तदनन्तर ध्रुवक एकाङ्क के नीचे तथा तिर्यग् भाग में स्थित एकाङ्कों का योग लिखकर उसके नीचे तथा तिर्यग् भाग में ऊपर के तथा पार्श्वभाग में स्थित अङ्कों के योग से दो पंक्तियां लिखी जाती हैं। इस नियम के अनुसार षडक्षर प्रस्तार में ध्रुवक एकाङ्क से नीचे के तथा तिर्यग् भाग में स्थित एकाङ्कों के योग से २ संख्या बनी है उस संख्या को लिखकर संख्या के नीचे और तिर्यग् भाग में ऊर्ध्व अंक २ तथा पार्श्वाङ्क १ के योग से निष्पन्न ३ संख्या लिखी है। इसी प्रकार ३ संख्या के नीचे और तिर्यग् भाग में ऊर्ध्ववर्ती ३ संख्या व पार्श्ववर्ती १ के अंक के योग से निष्पन्न ४ संख्या लिखी गई है। आगे भी ऊर्ध्ववर्ती तथा पार्श्ववर्ती अंकों के योग से निष्पन्न ५ व ६ संख्या लिखकर दोनों पंक्तियों की पूर्ति करनी चाहिए। और अन्त में १-१ अंक का परित्याग कर दिया जाता है। इसी प्रकार अन्य पंक्तियों को लिखना है। जैसे तृतीय पंक्ति में ६ अंक इससे ऊर्ध्ववर्ती ३ अंक तथा पार्श्ववर्ती ३ अंक के योग से निर्मित है। चतुर्थ पंक्ति का १० अंक उससे ऊर्ध्ववर्ती ६ अंक तथा पार्श्ववर्ती ४ अंक के योग से निर्मित है। अन्त की पंक्ति में केवल १ अङ्क है। इस प्रकार अन्तिम पंक्ति से तिर्यक् की ओर ऊर्ध्वगामी अन्तिम अङ्कों से जो वल्ली बनती है वही अङ्कवल्ली मेरुभङ्गी है। इससे षडक्षर प्रस्तार में गुरुलघु अक्षर वाले प्रस्तार-भेदस्वरूप न्यासों का ज्ञान हो जाता है अर्थात् षडक्षर प्रस्तार में ६४ न्यास हैं यह ज्ञान हो जाता है। षडक्षर प्रस्तार वाली मेरुभङ्गी का परिलेख से प्रदर्शन के बाद उसके नीचे एकाक्षर प्रस्तार से लेकर द्वादशाक्षर प्रस्तार वाली मेरुभङ्गी का परिलेख द्वारा प्रदर्शन किया है। इस प्रकार मेरु, खण्डमेरु व मेरुभङ्गी भेद से त्रिविध मेरु तथा उससे विभिन्न प्रस्तारों में गुरु लघु अक्षर वाले स्वरूपभेदों का निदर्शन कर दिया गया।

मर्कटी निरूपण

ऊर्णनाभि कीट को मर्कटी (मकड़ी) कहते हैं। मकड़ी से निर्मित चक्रजाल के समान इस मर्कटी प्रत्यय का उल्लेख होने से इस प्रत्यय की मर्कटीचक्रजाल संज्ञा है। इसी को यहाँ संक्षिप्त 'मर्कटी' नाम से कहा गया है। इसमें ६ पंक्तियाँ होती हैं। प्रथम पंक्ति में क्रमशः १, २, ३, ४ आदि क्रमिकाङ्कों का उल्लेख होता है। द्वितीय पंक्ति में क्रमशः उत्तरोत्तर २, ४, ८, १६, ३२ आदि द्विगुणित अङ्कों का उल्लेख होता है। तदनन्तर प्रथम व द्वितीय पंक्ति के अङ्कों के गुणन से सिद्ध अङ्कों का चौथी पंक्ति में उल्लेख है। जैसे—२, ८, २४, ६४ आदि अङ्क। ये अंक प्रथम व द्वितीय पंक्ति के गुणन से बनते हैं। जैसे प्रथम पंक्ति का अङ्क २ और द्वितीय पंक्ति का अङ्क ४, इन दोनों के गुणन से जो ८ अङ्क है उसका चतुर्थ पंक्ति में उल्लेख है। इसी प्रकार प्रथम पंक्ति व द्वितीय पंक्ति के अङ्कों के गुणन से प्राप्त २४, ६४ आदि अङ्कों का चतुर्थ पंक्ति में उल्लेख है। अर्थात् इन अङ्कों से चतुर्थ पंक्ति का निर्माण है। इसके बाद चतुर्थ पंक्ति के अंकों के आधे करने पर जो अंक बनते हैं, उन अङ्कों का उल्लेख पञ्चम व षष्ठ पंक्ति में होता है। जैसे चतुर्थ पंक्ति के ८ अङ्क का आधा

करने पर निष्पन्न ४ग्रङ्क का पञ्चम व षष्ठ पंक्ति में उल्लेख है। ग्रर्थात् चतुर्थ पंक्ति के ग्रर्धीकृत ग्रङ्कों से पञ्चम व षष्ठ पंक्ति का निर्माण है तथा चतुर्थ व पञ्चम पंक्ति के ग्रङ्कों के योग से निष्पन्न ३, १२, २४ ग्रादि ग्रङ्कों से तृतीय पंक्ति का निर्माण है।

इनमें प्रथम पंक्ति से एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर ग्रादि प्रस्तारों का ज्ञान होता है। द्वितीय पंक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रस्तारों के न्यासों का ज्ञान होता है। जैसे एकाक्षर प्रस्तार में दो न्यास, द्वयक्षर प्रस्तार में ४ न्यास, त्र्यक्षर प्रस्तार में ८ न्यास, चतुरक्षर प्रस्तार में १६ न्यास, पञ्चाक्षर प्रस्तार में ३२ न्यास, षड-क्षर प्रस्तार में ६४ न्यास, सप्ताक्षर प्रस्तार में १२८ न्यास, ग्रष्टाक्षर प्रस्तार में २५६ न्यास, नवाक्षर प्रस्तार में ५१२ ग्रौर दशाक्षर प्रस्तार में १०२४ न्यास हैं। तृतीय पंक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रस्तारों में कितनी मात्रायें हैं इसका ज्ञान होता है। जैसे एकाक्षर प्रस्तार में ३ मात्रायें, द्वयक्षर प्रस्तार में १२ मात्रायें, त्र्यक्षर प्रस्तार में ३६ मात्रायें, चतुरक्षर प्रस्तार में ९६ मात्राएं, पञ्चाक्षर प्रस्तार में २४० मात्रायें, षडक्षर प्रस्तार में ५७६ मात्राएँ, सप्ताक्षर प्रस्तार में १३४४ मात्राएँ, ग्रष्टाक्षर प्रस्तार में ३०७२ मात्राएँ, नवाक्षर प्रस्तार में ६९१२ मात्राएँ तथा दशाक्षर प्रस्तार में १५३६० मात्राएँ हैं। मात्रासमष्टि की गणना लघु की एक मात्रा तथा गुरु की दो मात्रा मानकर करनी चाहिए।

चतुर्थ पंक्ति के द्वारा विभिन्न प्रस्तारों की वर्णसमष्टि का ज्ञान होता है। जैसे एकाक्षर प्रस्तार में दो वर्ण, द्वयक्षर प्रस्तार में ८ वर्ण, त्र्यक्षर प्रस्तार में २४ वर्ण होते हैं। इसी प्रकार चतुरक्षरादि प्रस्तारों में कितने-कितने वर्ण हैं इसका ज्ञान चतुर्थ पंक्ति से होता है। पञ्चम पंक्ति के द्वारा विभिन्न प्रस्तारों में कितने-कितने गुरु ग्रक्षर हैं—इसका ज्ञान तथा षष्ठ पंक्ति द्वारा विभिन्न प्रस्तारों में कितने-कितने लघु ग्रक्षर हैं—इसका ज्ञान होता है। जैसे चतुरक्षर प्रस्तार में ३२ गुरु ग्रक्षर हैं इसका ज्ञान पञ्चम पंक्ति द्वारा तथा उसी प्रस्तार में ३२ लघु ग्रक्षर हैं—इसका ज्ञान षष्ठ पंक्ति से होता है।

मर्कटी जाल का परिलेख

प्रस्तार	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
प्रस्तारभेद (न्यास)	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	५१२	१०२४
मात्राएँ	३	१२	३६	९६	२४०	५७६	१३४४	३०७२	६९१२	१५३६०
वर्ण	२	८	२४	६४	१६०	३८४	८९६	२०४८	४६००	१०२४०
गुरुग्रक्षर	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	५१२०
लघुग्रक्षर	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	५१२०

मर्कटी का यह स्वरूप प्राचीनों के ग्रनुसार है। प्राचीन-सम्मत मर्कटी के स्वरूप में पञ्चम षष्ठ पंक्ति में भेद न होने से समान ग्रङ्क वाली दो पंक्तियां हैं।

अतः समान दो पंक्तियों को दूसरे विद्वान् नहीं मानते तथा मात्रापंक्ति के तृतीयत्व को भी वे स्वीकार नहीं करते। अतः वे मर्कटी में अन्य प्रकार से पंक्तियों की कल्पना करते हैं। इनके मत में १, २, ३, ४ इत्यादि क्रमिक अङ्कों से निर्मित प्रस्ताराङ्क पंक्ति प्राचीनों के अनुसार ही है। तथा प्रथम अङ्कों को दुगुना करने पर द्विगुणीकृत अङ्कों से निर्मित द्वितीय पंक्ति भी प्राचीनों के अनुसार ही है। किन्तु इनके मत में प्रथम व द्वितीय पंक्ति के अङ्कों के गुणन से निष्पन्न वर्ण पंक्ति तृतीय पंक्ति है। तथा तृतीय-पंक्तिस्थ वर्णों के आधा करके उन अर्धीकृत अङ्कों से निर्मित गुर्वङ्क व लघ्वङ्क पंक्ति चतुर्थ पंक्ति है। तदनन्तर तृतीय व चतुर्थ पंक्ति के अङ्कों के योजन से निर्मित अङ्कों वाली मात्रा-पंक्ति पञ्चम पंक्ति है और पञ्चम पंक्तिस्थ मात्राओं के अर्धीकरण से निष्पन्न अङ्कों वाली पिण्डाङ्कपंक्ति षष्ठ पंक्ति है। इन विद्वानों के अनुसार मर्कटीचक्र का स्वरूप निम्नरीति से है—

१—प्रस्ताराङ्क	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२—भेदाङ्क	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	५१२	१०२४
३—वर्णाङ्क	२	८	२४	६४	१६०	३८४	८९६	२०४८	४६०८	१०२४०
४—गुरुलघ्वङ्क	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	५१२०
५—मात्राङ्क	३	१२	३६	९६	२४०	५७६	१३४४	३०७२	६९१२	१५३६०
६—पिण्डाङ्क	१½	६	१८	४८	१२०	२८८	६७२	१५३६	३४५६	७६८०

इसके आगे के परिलेख में इस मर्कटी का चक्रजाल के आकार से उल्लेख है। [मूल पुस्तक का ३३ पृष्ठ]

प्रस्तार मेरु और मर्कटी तीनों प्रत्यय संगृहीतार्थ के बोधक हैं क्योंकि २६ अक्षर वाले प्रस्तार का उल्लेख करने पर उससे पूर्व के सभी प्रस्तारों का उसमें अन्तर्भाव हो जाने से सभी प्रस्तारभेदों का उपसंग्रह किया जा सकता है। और २६ प्रस्तार वाले मेरु का उल्लेख कर देने पर सभी प्रस्तारों के जितने अवान्तर भेद अर्थात् न्यास हैं उनका आसानी से ही उपसंग्रह किया जा सकता है तथा चक्रजाल वाले मर्कटीजाल का उल्लेख कर देने पर सभी प्रस्तारों के अवान्तर भेद वर्ण, मात्रा, गुरु लघु भेद व पिण्ड भेदों का अनायास ही उपसंग्रह हो जाता है। अतः प्रस्तार, मेरु व मर्कटी—ये तीनों छन्दोजिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त हैं। अतः ये तीनों प्रत्यय संगृहीतार्थ के बोधक हैं।

अब अपेक्षित एक ही अर्थ को सरल उपाय से बतलाने के लिए अन्य प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है। वे प्रत्यय—नष्ट, उद्दिष्ट, संख्यान, अध्वयोग, शलाका, पताका, सूची, पाताल, मात्रा, पिण्डभेद से दश हैं।

नष्ट प्रत्यय

भिन्न-भिन्न अक्षर वाले प्रस्तार के जिस संख्या वाले स्वरूपभेद अर्थात् न्यास के स्वरूप को जानने की इच्छा है, वह संख्या यदि सम है तो वहाँ लघु का चिन्ह (।) लिखना चाहिए। उस संख्या को आधी करने पर वह संख्या विषम है तो वहाँ गुरु का चिह्न (ऽ) लिखना चाहिए। उस विषम संख्या में एक मिलाकर फिर उस संख्या का आधा कर देना चाहिए। आधा कर देने पर वह संख्या यदि सम है तो लघु का चिह्न (।) और विषम है तो गुरु का चिह्न (ऽ) लिखना चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर संख्या का आधा करते जाइये और सम संख्या के लिए लघु चिह्न (।) तथा विषम संख्या के लिए गुरु चिह्न (ऽ) लगाते जाइये। विषम संख्या का अर्धकरण १ अङ्क मिलाकर करना चाहिए। इन लघु गुरु चिह्नों के द्वारा जो स्वरूप बनता है वह जिज्ञास्य संख्या का स्वरूप होगा। जैसे षडक्षर प्रस्तार में ३०वीं संख्या का स्वरूप क्या है—यह मालूम करने के लिए ३० संख्या के सम होने से वहाँ लघु का चिह्न (।), ३० संख्या को आधा कर देने पर १५ संख्या होती है वह विषम है अतः वहाँ गुरु का चिह्न (ऽ), १५ संख्या में १ मिलाकर आधा कर देने पर ८ संख्या आती है वह सम है, अतः वहाँ लघु का चिह्न (।), ८ संख्या को आधा कर देने पर ४ संख्या होती है उसके भी सम होने से यहां भी लघु का चिह्न (।), चार संख्या को आधा करने पर २ संख्या आती है वह भी सम है तो वहाँ भी लघु का चिह्न (।) और उसको आधा कर देने पर १ संख्या विषम है तो वहाँ गुरु का चिह्न (ऽ) लिखना चाहिए। इस प्रकार जो स्वरूप होगा वह ।ऽ।।।ऽ जगणसगणात्मक होगा। यही षडक्षर प्रस्तार में ३०वें न्यास का स्वरूप है। यह नष्ट क्रिया का प्रथम प्रकार है।

द्वितीय प्रकार

संस्कृत पिङ्गल शास्त्र में यही विषय 'लर्द्धे' और 'सैके ग्' इन दो सूत्रों द्वारा यत् किञ्चित् अन्तर से बताया गया है। इन सूत्रों का अर्थ है कि स्वतः सिद्ध समसंख्या को आधा करने पर ल् अर्थात् लघु की प्राप्ति, स्वतः विषम संख्या में एक जोड़कर आधा करने पर गुरु की प्राप्ति। लघु (।) इस रूप में तथा गुरु (ऽ) इस रूप में लिखें। इस अर्धकरण क्रिया की उत्तरोत्तर अनुवृत्ति करें।

प्रस्तार में जितनी संख्या वाले स्वरूप को मालूम करना है वह यहाँ 'नष्टाङ्क' होता है, यही नष्टाङ्क उस संख्यावाले स्वरूप को सिद्ध करने वाला होने से साधन कहलाता है। इस (नष्टांक) साधन के द्वारा जिस स्वरूप को मालूम करना होता है वह साध्य स्वरूप कहलाता है। जितने अक्षरवाले प्रस्तार में स्वरूप की जिज्ञासा

है उतने अक्षरों की पूर्ति हो जाने पर नष्टक्रिया बन्द कर देनी है क्योंकि अभीष्ट की पूर्ति हो चुकी है। जैसे षडक्षर प्रस्तार में जिज्ञास्य (३०वाँ) रूप कैसा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर ३० अंकरूप साधन के द्वारा साध्य अभीष्ट रूप का सम्पादन करना चाहिए। तथा हि ३० संख्या रूप नष्ट साधनाङ्क से अर्ध अर्थात् पञ्चदश संख्या का लोप कर देना चाहिए। यह क्रिया समसाधनाङ्क में हुई है, अतः साध्यस्वरूप में लघु (।) का प्रयोग होता है। अवशिष्ट पञ्चदश संख्यारूप नष्ट साधनाङ्क के विषम संख्या होने से उसमें १ संख्या मिलाकर उसमें अर्धकरण क्रिया द्वारा आधी ८ संख्या का लोप कर देना चाहिए। यह अर्धकरण एक संख्यायुक्त विषम पञ्चदश अंक में हुई है। अतः यहाँ साध्यस्वरूप गुरु (ऽ) का प्रयोग होता है। पश्चात् अष्ट-संख्यारूप नष्टाङ्क के आधे का लोप कर दें। यह विलोपन क्रिया अष्टसंख्या रूप सम नष्टाङ्क में हुई है, अतः साध्यस्वरूप में लघु (।) का प्रयोग होता है। पुनः अवशिष्ट रूप चार संख्या रूप नष्टाङ्क के आधे का विलोप कर दें। यह विलोपक्रिया सम ४ संख्या में हुई है, अतः यहाँ भी साध्यस्वरूप में लघु (।) चिह्न लिखा जाता है। अवशिष्ट द्वित्वसंख्यारूप नष्टाङ्क में भी अर्धकरण द्वारा आधे का विलोप कर दें। यह विलोपक्रिया भी द्वयङ्करूप सम संख्या में हुई है। अतः यहाँ भी साध्यस्वरूप में लघु (।) का प्रयोग होता है। तदनन्तर अवशिष्ट एकाङ्क में १ संख्या मिलाकर उसमें से आधे का विलोप कर दें। यह विलोपक्रिया एक संख्या मिला कर एक अंक रूप नष्ट साधन में की गई है। अतः यहाँ साध्यस्वरूप में गुरु (ऽ) का प्रयोग होता है। इस प्रकार अर्धविलोपक्रिया द्वारा (।ऽ। ।।ऽ) जगण-सगणात्मक स्वरूप षडक्षर-प्रस्तार के ३० वें न्यास का प्राप्त हो जाता है। यह नष्ट क्रिया का द्वितीय प्रकार है।

तृतीय प्रकार

जितने अक्षर वाले प्रस्तार में स्वरूपजिज्ञासा है, उस इष्टाक्षराङ्क के प्रमाण से वर्णसूची लिखनी चाहिए। जिस अङ्क के स्वरूप की जिज्ञासा है उस ईप्सित अङ्क को प्रस्ताराङ्क से कम कर देना चाहिए। अवशिष्ट अङ्क सूच्यङ्कों में जिन-जिन स्थानों के अङ्कों से शोधित होकर निःशेष हो जाता है उन स्थानों के अङ्कों में गुरु (ऽ) लिखना चाहिए। उनसे अतिरिक्त स्थानों में लघु (।) लिखना चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार में इष्टाक्षर (षडक्षर) प्रमाण से वर्णसूची में १, २, ४, ८, १६, ३२ ये सूची के अङ्क होते हैं। प्रस्ताराङ्क ६४ वर्णात्मक है। ईप्सिताङ्क ३० है। इसको ६४ में से निकाल देने पर ३४ अङ्क बचते हैं। इस ३४ अङ्क की पूर्णता सूच्यङ्कों में द्वितीय व षष्ठ स्थानस्थ अङ्कों के शोधित होने पर हो जाती है। अतः द्वितीय स्थान व षष्ठ स्थान में गुरु (ऽ) तथा शेष एक, तीन, चतुर्थ, पञ्चम स्थानों में लघु (।) लिखने से (।ऽ।।।ऽ) इस जगण-सगणात्मक स्वरूप की सिद्धि ३०वें न्यास में हो जाती है। नष्टक्रिया का यह तृतीय प्रकार है।

नष्ट क्रिया का चतुर्थ प्रकार

ईप्सिताङ्क में एक अङ्क की कमी कर उसका तृतीय प्रकारोक्त रीति की तरह प्रस्ताराङ्क से लोप कर देना चाहिए। जहाँ जहाँ लोपप्राप्ति है वहाँ लघु (।) तथा अन्य स्थानों में गुरु (ऽ) लिखना चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार में ईप्सिताङ्क ३० हैं। उसमें एक अङ्क की कमी कर देने पर २९ शेष रहता है। यह २९ अङ्क सूच्यङ्कों में १, ४, ८, १६ में शोधित होकर निःशेष हो जाता है। अतः प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम स्थानों में लघु (।) तथा उन स्थानों से भिन्न द्वितीय, षष्ठ स्थानों में गुरु (ऽ) लिखा जाता है। इस प्रकार (। ऽ । । । ऽ) जगण-सगणात्मक स्वरूप ३०वें न्यास का सिद्ध हो जाता है। यह नष्टक्रिया का चतुर्थ प्रकार है।

उद्दिष्ट प्रत्यय वर्णन

नष्ट क्रिया के द्वारा संख्याविशेष के ज्ञान से उस संख्याविशेष के स्वरूप का ज्ञान बतलाया। अब, उद्दिष्ट क्रिया के द्वारा स्वरूपविशेष के ज्ञान से संख्याविशेष का ज्ञान बतलाया जा रहा है। उद्दिष्ट स्वरूप का उल्लेख कर उसके ऊपर सूच्यङ्कों की स्थापना करनी चाहिए। उन सूच्यङ्कों के लघुवर्ण पर स्थित अङ्कों का योग कर उसमें एक संख्या की वृद्धि करने पर उस संख्याविशेष का ज्ञान हो जाता है। जैसे जगण सगणात्मक (। ऽ । । । ऽ) उद्दिष्ट स्वरूपविशेष है। इन पर सूच्यङ्कों का

१ २ ४ ८ १६ ३२

विन्यास करने पर १, ४, ८, १६ अङ्क जगणसगणात्मक (। ऽ । । । ऽ) स्वरूप के लघु वर्णों पर आते हैं। इनका योग कर एक संख्या की वृद्धि करने पर ३० संख्या होती है। अतः ३० वीं संख्या अर्थात् ३०वां न्यास उस जगणसगणात्मक स्वरूप का है। इसीलिए पिङ्गलसूत्र में कहा है—'प्रतिलोमगुणं द्विर्लाद्यम्' इति।

उद्दिष्ट क्रिया का दूसरा प्रकार

उद्दिष्ट स्वरूप का उल्लेख कर उस पर सूच्यङ्कों की स्थापना करनी चाहिए। उद्दिष्टस्वरूप में गुरुवर्णों पर स्थित अङ्कों को प्रस्ताराङ्क से कम कर देने पर जो संख्या शेष रहती है प्रस्तार में वही संख्या उद्दिष्ट स्वरूप की है। जैसे जगण-

१ २ ४ ८ १६ ३२

सगणात्मक (। ऽ । । । ऽ) स्वरूप में गुरु अङ्क २ और ३२ हैं। चतुःषष्टचात्मक प्रस्तार में उन अङ्कों को कम कर देने पर तीस (३०) संख्या शेष रहती है। षडक्षर प्रस्तार में यह तीसवीं संख्या अर्थात् ३०वाँ न्यास जगणसगणात्मक प्रस्तार स्वरूप से सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तार के अन्य भेदों की संख्या का ज्ञान भी उद्दिष्ट स्वरूप के स्थानों की संख्या से करना चाहिए।

उद्दिष्ट क्रिया के इस द्वितीय प्रकार का भी 'संस्कृत पिङ्गल सूत्र, में कुछ भेद के साथ उल्लेख किया गया है। जैसे 'ततो ग्येकं जह्यादिति'। अर्थात् प्रतिलोमरूप से स्थापित द्विगुणीकृत अंकश्रेणी के गुरु अक्षरों पर स्थित ३४ अङ्कों में एक अङ्क को

छोड़कर ३३ अङ्कों का सूच्यङ्कों से परित्याग कर देना चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार में द्विगुणीकृत अङ्कश्रेणी में संकलित अङ्क ६३ है। उस ६३ अङ्कों में से जगण-सगणात्मक स्वरूप के गुरु अक्षरों पर स्थित ३४ अंकों में से एक अङ्क कमकर अवशिष्ट ३३ अङ्कों का परित्याग कर देने पर ३० अङ्क शेष रहते हैं। यही ३० संख्या अर्थात् ३०वां न्यास उद्दिष्ट स्वरूप का है।

उद्दिष्ट क्रिया का तृतीय प्रकार

उद्दिष्ट स्वरूप का उल्लेख कर उसके अन्तिम अक्षर से वामावर्त से अर्थात् बाईं ओर क्रिया करें। यदि अन्तिम अक्षर गुरु है तो उस पर एक अङ्क लिखें। यदि अन्तिम अक्षर लघु है तो उस पर दो अङ्क लिखें। तदनन्तर बाएँ-बाएँ अक्षर में द्विगुणित द्विगुणित अङ्क लिखें। किन्तु यह ध्यान रहे कि लघु अक्षर पर समाङ्क तथा गुरु अक्षर पर विषमाङ्क लिखा जाय। अतः गुरु अक्षर पर द्विगुणित समअङ्क आए तो उसमें एक अङ्क कम करके गुरु अक्षर पर अङ्क लिखना चाहिए। पश्चात् उसे द्विगुणित करके उसे दूसरे लघु अक्षर पर लिखना चाहिए। इस प्रकार क्रिया का अनुवर्तन करने पर उद्दिष्ट-स्वरूप के आदि अक्षर पर जो अङ्क लिखा जाता है वही अङ्क उस उद्दिष्टस्वरूप की संख्या होती है। जैसे जगणसगणात्मक उद्दिष्ट स्वरूप में अन्तिम षष्ठ अक्षर के गुरु होने से उस पर १ अङ्क लिखा जाएगा तदनन्तर पञ्चम अक्षर के लघु होने से उस पर २ अङ्क लिखा जाएगा। तत्पश्चात् चतुर्थ अक्षर के लघु होने से उस पर ४ अङ्क लिखा जाएगा। बाद में तृतीय अक्षर के लघु होने से उस पर ८ अङ्क लिखा जायेगा। इसके बाद द्वितीय अक्षर के गुरु होने से उस पर १६ अङ्क न लिख कर उसमें से एक अङ्क कम कर १५ अङ्क लिखा जाएगा। क्योंकि गुरु अक्षर पर विषम अङ्क लिखने का नियम है। इसके बाद उस १५ अङ्क को द्विगुणित कर ३० का अङ्क उद्दिष्ट स्वरूप के आदि लघु अक्षर पर लिखा जायेगा। यही ३०वीं संख्या उद्दिष्ट स्वरूप की संख्या है अर्थात् ३०वाँ न्यास जगणसगणात्मक (। ऽ । । । ऽ) उद्दिष्ट स्वरूप का है। यह उद्दिष्ट क्रिया का तृतीय प्रकार है।

उद्दिष्ट क्रिया के इस तृतीय प्रकार का निरूपण संस्कृत पिङ्गल के निम्न सूत्रों द्वारा किया गया है—

'प्रतिलोमगुणं द्विर्लाद्यम्' 'ततो ग्येकं जह्यात्' —इति।

अर्थात् उद्दिष्ट स्वरूप में जो अन्तिम लघु अक्षर है उससे प्रारम्भ कर बाईं ओर के अक्षरों पर द्विगुणित २, ४, ८ आदि अङ्क लिखने चाहिएँ। किन्तु गुरु अक्षर पर एक अङ्क कम कर अङ्क लिखना चाहिये। संस्कृत पिङ्गल के उपर्युक्त प्रथम सूत्र में 'लाद्य' पद उद्दिष्ट स्वरूप के लघु अक्षरों का तथा आदय अक्षर का बोधक है। उपर्युक्त रीति से तीन प्रकार की उद्दिष्टक्रिया का वर्णन हो चुका।

संख्यानप्रत्ययनिरूपण

अब गुणवर्गक्रिया से संख्यानसिद्धि की व्याख्या की जा रही है। विभिन्न अक्षर वाले प्रस्तारों के कितने स्वरूपभेद अर्थात् न्यासभेद हैं इस अर्थ को जानने के लिए गुणवर्गक्रिया का उपयोग किया जाता है। जितने अक्षर वाले प्रस्तार में उद्दिष्टस्वरूप के संख्या की जिज्ञासा होती है उसे इष्टाक्षराङ्क कहते हैं। यदि इष्टाक्षराङ्क समसंख्यावाला है तो उस अङ्क का आधा करके वहाँ वर्गसंकेत लिखना चाहिए। यदि इष्टाक्षराङ्क विषम संख्या वाला हैं, उसमें एक अङ्क की कमी कर उसमें गुणसंकेत लिखना चाहिए। अर्धीकृत में अथवा एकोनित में अङ्कसमाप्ति तक गुणवर्गक्रिया का अनुवर्तन करना चाहिए। अन्त में नियम से गुणसंकेत ही लिखना चाहिए। इस प्रकार गुणवर्गपंक्ति बन जाने पर अन्त्यगुणक से आरम्भ कर बाईं ओर आदि अङ्क तक गुणसंकेतस्थान में अंक का द्विगुणीकरण तथा वर्गसंकेतस्थान में कृतिकरण (अङ्क का उसी अङ्क से गुणन) अर्थात् गुणन का अनुवर्तन करते हुए जिस आदि (प्रथम) अङ्क पर गुणवर्गक्रिया की समाप्ति हो वही अङ्क उतने अक्षर वाले प्रस्तार को न्याससंख्या होगी। जैसे दशाक्षर वाले प्रस्तार में कितने स्वरूपभेद अर्थात् न्यास हैं इसे जानने के लिए दस अङ्क के सम संख्यारूप होने से उसका अर्धीकरण कर देने पर वर्गसंकेत प्राप्त होता है। दशाङ्क के अर्धीकृत ५ अंक के विषमसंख्यारूप होने से उसमें एकोनितीकरण द्वारा एक संख्या कम कर देने पर गुणसंकेत लिखा जाता है। ५ अङ्क में से १ संख्या को कम कर देने पर चतुरङ्क (४ अङ्क) के समसंख्या रूप होने से उसका अर्धीकरण कर देने पर वहाँ वर्गसंकेत लिखा जाता है। पुनः अर्धीभूत द्वयङ्क के समसंख्या रूप होने से उसका अर्धीकरण कर देने पर वर्गसंकेत लिखा जाता है। अर्धीकृत १ संख्या के विषम होने से एकोनितीकरण करने पर वहाँ शून्य (०) पर गुणसंकेत लिखा जाता है। इस प्रकार पांच अवयवों वाली वर्ग, गुण, वर्ग, वर्ग गुणरूप गुणवर्गपंक्ति सिद्ध हो जाती है। यह गुणवर्गपंक्ति दशाङ्क से लेकर एकाङ्क तक समाङ्क में अर्धीकरण तथा विषमाङ्क में एकोनितीकरण (एक अङ्क कम करना) क्रिया द्वारा बनी है। वर्ग, गुण, वर्ग, वर्ग गुणरूप इस गुणवर्गपंक्ति को विपरीत क्रम से रखने पर अर्थात् दशाङ्क से आरम्भ न कर एकाङ्क से आरम्भ करने पर यह गुण, वर्ग, वर्ग, गुण, वर्ग रूप पंक्ति बन जाती है। यह पूर्व में बतला दिया है कि गुणसंकेतस्थान में द्विगुणीकरण तथा वर्गसंकेतस्थान में कृतिकरण (गुणन) होता है। इस तरह एकांक के गुणसंकेतस्थान होने से द्विगुणीकरण के द्वारा दो अङ्क बन जाते हैं। (१) दो अङ्क के समसंख्या होने से उस पर वर्गसंकेतस्थान के कारण गुणन होकर ४ अङ्क बन जाते हैं। (२) ४ अङ्क के भी समाङ्क होने से वहाँ वर्गसंकेतस्थान के कारण उसका गुणन होकर १६ अङ्क बन जाते हैं। (३) १६ अङ्क के गुणसंकेतस्थान होने के कारण वहाँ अङ्क के द्विगुणीकरण द्वारा ३२ अङ्क हो जाते हैं। (४) पश्चात् ३२ अङ्क के वर्गसंकेतस्थानीय होने से गुणनक्रिया होती है और ३२ अङ्क का ३२ अङ्क

से गुणन करने पर १०२४ संख्या होती है—यही न्याससंख्या दशाक्षर वाले प्रस्तार में सिद्ध हो जाती है। यहाँ १ से आरम्भ कर १३ अक्षर तक के प्रस्तारों में प्रत्येक प्रस्तार के गुणवर्गन्यासक्रमों का उल्लेख किया जा रहा है—

प्रस्तार		स्वरूपाक्षर		प्रस्तार स्वरूपाक्षर
(१)	०	गु	२	(२)
(२)	१	व	४	(४)
	०	गु	२	
(३)	२	गु	८	(८)
	१	व	४	
	०	गु	२	
(४)	२	व	१६	(१६)
	१	व	४	
	०	गु	२	
(५)	४	गु	३२	(३२)
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(६)	३	व	६४	(६४)
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(७)	६	गु	१२८	(१२८)
	३	व	६४	
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(८)	४	व	२५६	(२५६)
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	

(९)	८	गु	५१२	(५१२)
	४	व	२५६	
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(१०)	५	व	१०२४	(१०२४)
	४	गु	३२	
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(११)	१०	गु	२०४८	(२०४८)
	५	व	१०२४	
	४	गु	३२	
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(१२)	६	व	४०९६	(४०९६)
	३	व	६४	
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(१३)	१२	गु	८१९२	(८१९२)
	६	व	४०९६	
	३	व	६४	
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	

इससे आगे १४ अक्षर से २६ अक्षर तक के प्रस्तारों में प्रस्तारस्वरूप के अक्षरों का 'भुजगतिक' आदि वर्णों के द्वारा निरूपण किया गया है। यहाँ छन्दः शास्त्र में आगमशास्त्र की तरह क से लेकर ञ वर्ण तक के वर्ण क्रमशः १० तक के अङ्कों के, ट से लेकर न तक के वर्ण भी क्रमशः १ से १० तक के अङ्कों के, प से लेकर म तक के वर्ण क्रमशः १ से ५ तक के अङ्कों के, य से लेकर ह तक के वर्ण क्रमशः १ अङ्क से ८ तक के अङ्कों के बोधक हैं। जैसे 'भुजगतिक' में भ वर्ण ४ अङ्क का, ज वर्ण ८ अङ्क का, ग वर्ण ३ अङ्क का, त वर्ण ६ अङ्क का और क वर्ण १ अङ्क का बोधक है। इस प्रकार 'भुजगतिक' वर्णों से ४८३६१ संख्या की प्रतीति है।

तथा 'अङ्कानां वामतो: गति:' इस नियम से उपर्युक्त अङ्कसमूह को विपरीत क्रम से रखने पर १६३८४ न्याससंख्या होती है, अतः यही चतुर्दशाक्षर प्रस्तार में न्यासों की संख्या है। इसी प्रकार पञ्चदशाक्षरक प्रस्तार में जातसफल (३२७६८) न्याससंख्या, षोडशाक्षर प्रस्तार में चलममत (६५५३६) न्याससंख्या, सप्तदशाक्षर प्रस्तार में रसनाकालिक(१३१०७२) न्याससंख्या, अष्टादशाक्षर प्रस्तार में भवपार-तिरं (२६२१४४) न्याससंख्या, १९ अक्षरवाले प्रस्तार में दहरभरम (५२४२८८) न्याससंख्या, २० अक्षर वाले प्रस्तार में तुच्छमहीवनप(१०४८५७६)न्याससंख्या, २१ अक्षर वाले प्रस्तार में रमापथाधिनर (२०९७१५२) न्याससंख्या, २२ अक्षरवाले प्रस्तार में वनलघुभिण्टीभ (४१९४३०४) न्याससंख्या, २३ अक्षर वाले प्रस्तार में जनितहाहागद (८३८८६०८) न्याससंख्या, २४ अक्षरवाले प्रस्तार में तपो-रसासिसूतक (१६७७७२१६) न्यास संख्या, २५ अक्षरवाले प्रस्तार में रागभाव-शिशुगल (३३५५४४३२) न्यास संख्या, २६ अक्षरवाले प्रस्तार में भीतहूजनकसुतं (६७१०८८६४) न्याससंख्या है।

इसी अर्थ का निरूपण संस्कृत पिङ्गल के निम्नसूत्रों में किया गया है—

'द्विरर्द्धे' १, 'रूपे शून्यम्' २, 'द्विः शून्ये' ३, 'तावदर्द्धे तद्गुणितम्' ४ इति।

इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार है—'ततो ग्येकं जह्यात्' इस पूर्वसूत्र से यहाँ 'जह्यात्' पद के अर्थ का अध्याहार है। सूत्रों में 'अर्धे' तथा 'रूपे' पद के अनुरोध से यहाँ 'हीने' इस सप्तम्यन्त पद का अध्याहार है। विध्यन्तर के अध्याहार के बिना सूत्रार्थ की अनुपपत्ति होने से विध्यन्तर का अध्याहार भी अर्थसिद्ध है। इससे आदि के दो सूत्रों का अर्थ निम्न प्रकार से है—

बीजभूत अपेक्षित अक्षर वाले प्रस्तार के अङ्क में आधे का परित्याग कर दे। जहाँ अर्ध का त्याग हुआ है वहाँ 'द्विः' लिखना चाहिए। जहाँ अर्धीकरण नहीं बनता है वहां रूप (स्वरूप) का परित्याग कर दे। रूप का परित्याग कर देने पर वहाँ शून्य (०) लिखना चाहिए। इस प्रकार आदि के सूत्रों द्वारा साधनक्रिया बतलाई गई है। जैसे द्वयक्षर प्रस्तार में बीजभूत द्वयङ्क से अर्ध एक अङ्क का परित्याग कर देना चाहिए। यहाँ अर्धत्यागविधि बन गई है अतः संकेत के लिए द्विः अथवा २ अङ्क लिखा जाता है। तदनन्तर अर्धभूत १ अङ्क का अर्धीकरण संभव नहीं है अतः स्वरूप का परित्याग कर शून्य (०) लिखें। रूप का परित्याग करने पर शून्य रह गया है, अतः वहाँ संकेत के लिए शून्य या बिन्दु लिखा जाता है।

उपर्युक्त 'द्विरर्धे' 'रूपे शून्यम्'—इन दो सूत्रों से साधनविधि का निर्देश कर शेष 'द्विः शून्ये 'तावदर्द्धे तद्गुणितम्, इन दो सूत्रों से साधनविधि से अपेक्षित साध्य-विधि का कथन किया जा रहा है। यहाँ पूर्वसूत्र से 'रूपे' पद की अनुवृत्ति कर उसका प्रथमा विभक्तयन्त 'रूपं' पद में परिवर्तन कर दिया जाता है। इससे निम्नाङ्कित सूत्रार्थ बन जाता है—

जहां शून्य का उल्लेख है, वहां रूप अर्थात् १ अंक को द्विगुणित कर लिखना चाहिए। जैसे पूर्वनिर्दिष्ट साधनन्यास में शून्य (बिन्दु) को लक्ष्य कर द्विगुणित एकाङ्क अर्थात् २ का अङ्क लिखा जाता है। इसी प्रकार अर्धकृत को लक्ष्य करके पूर्व-क्रियासिद्ध २ अंक को २ अंक से गुणित कर ४ अंक लिखा जाता है। यहां 'द्विःशून्ये' सूत्र का प्रथम उल्लेख होने से साधनन्यास से विपरीत साध्यक्रिया होती है यह सूचित किया गया है। 'रूपे शून्यम्' सूत्र से 'रूपे' पद की अनुवृत्ति कर उसका प्रथमा विभक्ति में परिवर्तन कर जहाँ शून्य का उल्लेख है वहां रूप अर्थात् १ अंक को द्विगुणित कर लिखना चाहिए यह ऊपर बतलाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि साध्यक्रिया रूप (१ अंक) से ही आरम्भ की जाती है। किन्तु रूप (१ अंक) क्रिया में पूर्वसिद्ध अंक का उपलक्षक है। अथवा यहाँ 'रूपे शून्यम्' सूत्र से 'रूपे' पद की अनुवृत्ति नहीं करनी चाहिए। अतः गुणवर्गक्रिया में पूर्वसिद्ध अंक का ही द्विगुणीकरण होता है। किन्तु जहाँ अन्य पूर्वसिद्ध अंक नहीं हो वहां प्रथमाङ्क के छोड़ने में कोई प्रमाण न होने से १ अङ्क का द्विगुणीकरण होता है। शून्य और द्विरुल्लेख अर्थात् जहां शून्य का उल्लेख हो वहां रूप (१ अंक) का द्विगुणीकरण सभी प्रस्तारों में गुणवर्गक्रिया में अवश्य प्राप्त है। क्योंकि द्व्यङ्कलेखन तथा चतुरङ्कलेखन के बाद ही गुणवर्गक्रिया होती है। इस प्रकार गुणवर्गक्रिया प्रस्तारों के स्वरूपभेद (न्यासभेद) की संख्या के ज्ञान के लिए है। यह प्रस्तार-स्वरूपों की संख्या मालूम करने का एक प्रकार है।

द्वितीय प्रकार

मेरु द्वारा प्रस्तार के स्वरूपों की संख्या का ज्ञान किया जा सकता है। जितने अक्षर वाले प्रस्तार में प्रस्तारस्वरूपों (न्यासों) के प्रमाण (संख्या) को मालूम करना है उस अक्षर वाले मेरुस्तर में जितने अङ्क हैं उनका योग ही उस अक्षर वाले प्रस्तार में न्यासों की संख्या होगी। जैसे छठे मेरुस्तर में १, ६, १५, २० १५,६,१, ये अंक हैं। इन अंकों का योग ६४ है। यही षडक्षर प्रस्तार में प्रस्तारस्वरुपों (न्यासों) की संख्या है। इसी प्रकार ९वें मेरुस्तर में १, ९, ३६, ८४, १२६, १२६, ८४, ३६, ९, १ ये अंक हैं। इन अंकों का योग ५१२ है। अतः नवम प्रस्तार में यही स्वरूप-(न्यास) संख्या है।

तृतीय प्रकार

प्रस्तारों के स्वरूपों (न्यासों) की संख्या के ज्ञान का तृतीय प्रकार सूचीमूलक है। जितने अक्षर वाले प्रस्तार में उसके स्वरूपों (न्यासों) की संख्या मालूम करनी है उतने अवयव वाली सूची लिखनी चाहिए। पूर्व पूर्व की अपेक्षा द्विगुणित अंकों का लेखन सूची कहलाता है। सूची के अंकों के योग में १ संख्या का अधिक योग कर देने पर निष्पन्न संख्या उतने अक्षरवाले प्रस्तार में स्वरूपसंख्या कहलाती है। जैसे षडक्षर प्रस्तार में १, २, ४, ८, १६, ३२, इन अंकों वाली सूची होती है। इन अंकों

का योग ६३ है। १ संख्या का और योग कर देने पर ६४ संख्या होती है। यही षडक्षर प्रस्तार की संख्या है।

अथवा सूची में आदि का १ अंक द्विगुणित नहीं है। अतः उसका परित्याग कर शेष २, ४, ८, १६, ३२, ६४, इन ६ सूच्यङ्कों में अन्तिम छठा सूच्यङ्क ६४ है। यही षडक्षर प्रस्तार की स्वरुपसंख्या है। इसी प्रकार पताका से निर्मित स्थानों की समष्टि उस प्रस्तार में स्वरूपसंख्या होती है। जैसे पताका में निर्मित स्थान १, ६, १५, २०, १५, ६, १ ये सात स्थान हैं। इन स्थान वाले अंकों की समष्टि ६४ है। यही षडक्षर प्रस्तार में स्वरूपसंख्या है।

अथवा पताका की अन्तिम श्रेणिका अंक उस प्रस्तार में स्वरूपसंख्या होती है जैसे १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ इस सप्तश्रेणिरूपा पताका की अन्तिम श्रेणि का अंक ६४ है। यही षडक्षर प्रस्तार की स्वरूपसंख्या है।

वृत्तसंख्यान

संख्यान के प्रसङ्ग से वृत्तसंख्यान का निरूपण किया जा रहा है। वृत्त-सम, अर्धसम तथा विषम भेद से तीन प्रकार का है। उनमें समवृत्त की संख्या का निरूपण किया जा चुका है। समवृत्तसंख्या का समवृत्तसंख्या से गुणन करने पर अशुद्ध अर्धसमवृत्तसंख्या होती है। उस अशुद्ध अर्धसमवृत्तसंख्या से मूलसमवृत्तसंख्या कम कर देने पर शुद्ध अर्धसमवृत्तसंख्या हो जाती है। इसी प्रकार से अर्धसमवृत्तसंख्या का अर्धसमवृत्तसंख्या से गुणन करने पर अशुद्ध विषमवृत्तसंख्या हो जाती है। और उसमें से मूल अर्धसमवृत्तसंख्या कम करने पर शुद्ध विषमवृत्तसंख्या सिद्ध हो जाती है। जिस अंक का अपने समान अंक से गुणन किया जाता है वह उसकी मूलराशि कहलाती है। जैसे एकाक्षर छन्द की समवृत्तसंखया द्वित्व (२) संख्या है। यह एकाक्षर समवृत्त की मूलराशि है। इस द्वित्वरूप समवृत्तसंख्या का द्वित्व (दो) संख्या से गुणन करने पर चार अंक सिद्ध होते हैं। यही अशुद्ध अर्धसमवृत्त की संख्या है। इस अशुद्ध अर्धसमवृत्तसंखया से मूलराशि द्वित्वसंख्या कम कर देने पर द्वित्वसंखया शुद्ध अर्धसमवृत्तसंख्या सिद्ध होती है। चतुरङ्करूप अशुद्ध अर्धसमवृत्तसंख्या का तत्समान चतुरङ्करूप संख्या से गुणन करने पर निष्पन्न १६ अङ्क रूप संखया अशुद्ध विषमवृत्तसंख्या होती है। उसमें से मूलराशि अशुद्ध अर्धसमवृत्त संख्या ४ अंक का परित्याग कर देने पर अवशिष्ट द्वादशाङ्करूप (१२) संख्या शुद्ध विषमवृत्त संख्या होती है। इस तरह अशुद्ध विषमवृत्त में १६ वृत्तों के सिद्ध होने पर भी इस विषमवृत्तसंख्या में गुरुचरण व लघुचरणरूप दो वृत्तों का समवृत्त में तथा गुरुलघुरूप व लघुगुरुरूप दो वृत्तों का अर्धसमवृत्त में अन्तर्भाव हो जाने से केवल १२ वृत्तसंख्या शुद्ध विषमवृत्त की होती है। यही स्थिति अन्यत्र भी है।

जैसे षडक्षर प्रस्तार में समवृत्त संख्या ६४ है। ६४ संख्या का ६४ संख्या से गुणन करने पर ४०९६ संख्या अशुद्ध अर्धसमवृत्तों की होती है। इसमें मूलराशि

६४ संख्या का परित्याग कर देने पर ४०३२ शुद्ध अर्धसमवृत्तों की संख्या सिद्ध होती है। इसी अशुद्ध अर्धसमवृत्तसंख्या ४०९६ का ४०९६ से गुणन करने पर (१. ६७. ७७. २. १६) संख्या अशुद्ध विषमवृत्तों की होती है। इसमें मूलराशि (४०९६) संख्या को कम कर देने पर (१, ६७, ७३, १, २०) संख्या शुद्ध विषमवृत्तों की होती है।

अध्वयोग

द्विगुणित प्रस्तारसंख्या में १ संख्या कम देने पर अवशिष्ट संख्या उस प्रस्तार का अध्वा कहलाता है। गुरुलघु अक्षरों की श्रेणि उत्तराधरभाव से लिखने पर जितने प्रदेश को व्याप्त करती है उस अक्षरव्याप्तिभूमि को व्यवहार के लिए अंगुलशब्द से कहा गया है। अक्षर जितने प्रदेश को व्याप्त करते हैं उतना ही प्रदेश उत्तराधरभाव से व्यवस्थित अक्षरों के मध्य में अवकाश के लिए रहता है। इस तरह १ संख्या कम द्विगुणित प्रस्तारसंख्यान उस प्रस्तार का अध्वा होता है। जैसे षडक्षर प्रस्तार-संख्या ६४ है। उसका दुगुना १२८ है। उसमें से १ संख्या कम करने पर १२७ संख्यारूप प्रदेश षडक्षर प्रस्तार का अध्वा है।

अतः १२७ अङ्गुल का प्रदेश षडक्षर वाले प्रस्तार का आधार है। इसलिए षडक्षर प्रस्तार को दिखलाने की इच्छा वाले पुरुष को १२७ अंगुल का प्रदेश ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार नष्ट, उद्दिष्ट, संख्यान, अध्वयोग इन चार प्रत्ययों का प्रस्तार के सम्बन्ध से कथन किया।

शलाकाप्रत्ययनिरूपण

अब मेरुसम्बन्ध से प्रत्ययों का निरूपण किया जा रहा है। उनमें प्रथम तीन प्रकार के शलाकाप्रत्ययों का निरूपण कर रहे हैं।

जिस क्रिया के द्वारा मेरुस्थित एक एक प्रस्तारों की स्वतन्त्रतया सिद्धि की जाती है उसे शलाका कहते हैं। शलाका लगक्रिया लघुक्रिया एकावली, मेरुक्रिया ये समानार्थक शब्द हैं। जितने अक्षर वाले प्रस्तार में लगक्रिया को करना है उससे एक अधिक संख्या वाले एकाङ्क लिखने चाहिए। तदनन्तर पूर्व पूर्व अंकों के योग से निष्पन्न उत्तर उत्तर अंकों को बदल कर अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर लिखना चाहिए। पुनः इसी प्रकार आदि से इस क्रिया की आवृत्ति करनी चाहिए। प्रत्येक क्रिया में एक एक अङ्क का अन्त में परित्याग कर देना चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार में लगक्रिया करनी है तो एक अङ्क बढ़ाकर सात एकाङ्क लिखने चाहिएँ। पश्चात् प्रथम एकाङ्क का द्वितीय एकाङ्क से योग कर निष्पन्न २ अंक को द्वितीय स्थान में लिखना चाहिए। तत्पश्चात् तृतीय स्थानवर्ती एकाङ्क का पहिले के दो अंकों के योग से निष्पन्न ४ अङ्क चतुर्थ स्थान में लिखे। इसी क्रम से पूर्व पूर्व अंकों के योग से निष्पन्न ५, ६ अंकों को पञ्चम स्थान व षष्ठ स्थान में लिखें। पश्चात् इसी क्रिया की आवृत्ति करते हुए प्रथमस्थानवर्ती एकाङ्क का द्वितीयस्थानवर्ती द्व्यङ्क के साथ योग से निष्पन्न ३ अंक का ३ पंक्ति के द्वितीय स्थान में, द्वितीय पंक्ति

के नीचे के दो स्थानों के अंकों का तृतीय स्थानस्थ ३ अंक के योग से निष्पन्न ६ अंक का तृतीय पंक्ति के तृतीय स्थान में, द्वितीय पंक्ति के नीचे के ३ स्थानों का चतुर्थस्थानवर्ती ४ अंक के साथ योग के निष्पन्न १० अंक का तृतीय पंक्ति के चतुर्थस्थान में, द्वितीय पंक्ति के चारों स्थानों के अंकों का पञ्चम-स्थानवर्ती ५ अंक के योग से निष्पन्न १५ अंक का तृतीय पंक्ति के पञ्चम-स्थान में लिखें, पश्चात् षष्ठस्थानवर्ती ६ अंक का परित्याग कर दें। इसी प्रकार पुनः इस क्रिया की आवृत्ति करते हुए तृतीय पंक्ति के नीचे के दो स्थानों के १ व ३ अंक के योग से निष्पन्न ४ अंक को चतुर्थ पंक्ति के द्वितीय स्थान में लिखे। पश्चात् तृतीय पंक्ति के नीचे के तीनों स्थानों के अंकों का चतुर्थस्थानवर्ती १० अंक के योग से सिद्ध २० अंक का चतुर्थ पंक्ति के पाँचवें स्थान में लिखें। पश्चात् पञ्चम-स्थानवर्ती १५ अंक का परित्याग कर दे। इस प्रकार पूर्व पूर्व पंक्ति के स्थानों के अंकों के योग से पञ्चम व षष्ठ पंक्ति का निर्माण करें।

इस प्रकार लघुक्रिया द्वारा १,६,१५,२०,१५,६,१ ये अंक सिद्ध होते हैं। ये अङ्क षडक्षर प्रस्तार में क्रमशः निर्गुरुक, एकगुरुक, द्विगुरुक, त्रिगुरुक, चतुर्गुरुक, पञ्चगुरुक, षड्गुरुक भेदों के प्रतिपादक हैं।

शलाका का द्वितीय प्रकार

एक अंक से प्रारम्भ कर इष्टाङ्क तक अङ्क विपरीत रूप से अर्थात् ५, ४, ३, २, १ इस प्रकार लिखें। पश्चात् उन अङ्कों के नीचे इष्टाङ्क तक क्रमिक अंक सीधे क्रम से लिखें। ऊपर के विपरीत अंकों में नीचे के क्रमिक अंकों का भाग दें। भाग द्वारा प्राप्त अंकों से उत्तरोत्तर विपरीत अंकों का गुणा करें। तदनन्तर नीचे क्रम-स्थित अंकों का ऊपर के गुणित अंकों में भाग दें। इस तरह भाग द्वारा प्राप्त अंकों से प्रस्तार के एकगुरुक, द्विगुरुक आदि भेदों का ज्ञान हो जायगा। जैसे पाँच अक्षरों वाले प्रस्तार में पाँच अंक विपरीत क्रम से अर्थात्—५,४,३,२,१ इस रूप से लिखें। इन विपरीत क्रम से लिखे हुए अंकों के नीचे क्रम से अर्थात् १,२,३,४,५ इस रूप से पाँचों अङ्क लिखें। इसके बाद ऊपर के पाँच अंक में नीचे के एक अंक का भाग देने पर ५ अङ्क प्राप्त होगा। उस ५ अंक से ऊपर विपरीत क्रम में स्थित ४ अंक के साथ गुणा करने पर २० की संख्या प्राप्त होती है। उस २० संख्या में क्रमस्थित नीचे के दो अंक का भाग देने पर १० अंक प्राप्त होता है। इसी प्रकार १० संख्या का विपरीत क्रम वाले ऊपर के तीन अंक के साथ गुणा करने पर ३० अंक प्राप्त होते हैं। उस ३० अंक में क्रमशः स्थित नीचे की ३ संख्या का भाग देने पर १० अंक प्राप्त होते हैं। उस १० अंक का विपरीत क्रम वाले उपरिस्थित २ अंक से गुणा करने पर २० अंक प्राप्त होते हैं। उसमें नीचे के ४ अङ्क का भाग देने पर ५ संख्या प्राप्त होती है। इस ५ संख्या में अधः स्थित ५ अंक का भाग देने पर १ संख्या प्राप्त होती है। इस तरह अन्त में भाग द्वारा लब्ध संख्यायें क्रमशः ५, १०, १०, ५, १ प्राप्त होती हैं। ये संख्यायें पञ्चाक्षर प्रस्तार में क्रमशः एकगुरुक, द्विगुरुक, त्रिगुरुक, चतुर्गुरुक व पञ्चगुरुक भेदों को बतलाती हैं। इसी प्रकार ये ही पाँचों संख्यायें क्रमशः पञ्चाक्षर प्रस्तार में एकलघुक पाँच भेद, द्विलघुक

दस भेद, त्रिलघुक १० भेद, चतुर्लघुक ५ भेद तथा पञ्चलघुक १ भेद हैं इसका भी बोधन करती हैं। इसी तथ्य का अधोलिखित न्यास में स्पष्टीकरण है—

पंक्ति					
१	५	२०	३०	२०	५
२	५	४	३	२	१
३	१	२	३	४	५
४	५	१०	१०	५	१

इनमें दूसरी पंक्ति विपरीत क्रम से लिखित पाँच अङ्कों की है। तीसरी पंक्ति क्रम से लिखित ५ अंकों की है।

प्रथम पंक्ति के पाँचों अङ्क द्वितीयपंक्तिस्थ विपरीत क्रम से लिखित अंकों में क्रमशः तृतीयपंक्तिस्थ अंकों का भाग देकर भागलब्ध अंकों का द्वितीयपंक्तिस्थ अंकों में क्रमशः गुणन से प्राप्त हैं। तथा प्रथमपंक्तिस्थ अंकों में क्रमशः तृतीय पंक्तिस्थ अंकों को भाग देने से प्राप्त अंकों का चतुर्थपंक्ति में उल्लेख है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंकों से निर्मित पञ्चाङ्कवल्ली ही क्रमशः एकगुरुक, द्विगुरुक, त्रिगुरुक, चतुर्गुरुक, पञ्चगुरुक अक्षरों की बोधक है। अर्थात् पञ्चाक्षर प्रस्तार में एकगुरुक ५ न्यास, द्विगुरुक १० न्यास, त्रिगुरुक १० न्यास, चतुर्गुरुक ५ न्यास तथा पञ्चगुरुक १ न्यास है। इस प्रकार गुरु अक्षर वाले ३१ न्यास हैं। और निर्गुरुक १ न्यास है। इस प्रकार पञ्चाक्षर प्रस्तारों में ३२ न्यास हें। शलाका के इस प्रकार में गुरु अक्षर वाले न्यासों की ही संख्या बतलाई है। गुरु अक्षर वाले न्यासों की संख्या बतला देने पर शेष निर्गुरुक १ न्यास है यह अर्थात् ज्ञात हो जाता है।

पताकादेशीय तृतीय शलाकाप्रकार

व्यक्ति, पत्ति, मुख, गुल्म, गण, अनीक, पार्तन, चमू, अनीकिनी इन ९ व्यूहों की तीन बार आवृत्ति करने से २७ व्यूह हो जाते हैं। इनमें पूर्व पूर्व व्यूह अगले व्यूह का अङ्ग होता है। ये व्यूह छन्दोवेदपताका में एक एक श्रेणिरूप हैं। व्यक्ति, पत्ति आदि नवसंख्याक व्यूहों के पृथक् पृथक् ज्ञान के लिए क्रमशः मण्डल, स्वस्तिक, वज्र, चक्र, शूल, अङ्कुश, धनुष, मत्स्यपुच्छ और ध्वजा इन चिह्नों की कल्पना करनी चाहिए। अथवा इनके स्पष्ट ज्ञान के लिए बिन्दुरेखाओं से इच्छानुसार विभागों की कल्पना कर लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि व्यवहारसौकर्य के लिए अनेक श्रेणीबद्ध अङ्कसमूहों की यह व्यूहकल्पना है।

अपेक्षित अक्षर वाले प्रस्तार में अवान्तर भेदों के स्थान का ज्ञान पताका प्रत्यय से होता है उतने अक्षरवाले प्रस्तार से सम्बन्धित अङ्कसूची के अवयवों के समान पताका में अङ्कश्रेणियाँ बनानी चाहिएँ। वे ही श्रेणियाँ व्यक्तिव्यूह, पत्तिव्यूह, मुखव्यूहादि शब्दों से व्यवहृत हैं। उत्तर उत्तर की श्रेणियों का शरीर पूर्व पूर्व श्रेणियों से कल्पित होता है। अतः उत्तरोत्तर श्रेणियों में पूर्व पूर्व की श्रेणियों का अनुसन्धान करना चाहिए। अर्थात् उत्तरोत्तर श्रेणियों में पूर्व पूर्व श्रेणियों का अनुसन्धान अपेक्षित है। किन्तु उत्तरोत्तर श्रेणियाँ पूर्वश्रेणि के एकाङ्ग से हीन होती हैं।

जैसे षडक्षरप्रस्तार में सात स्थानों वाली सूची (पूर्व पूर्व अंक से द्विगुणित अङ्क विन्यास) होती हैं अतः सूच्यङ्कानुसार सप्त स्थानों से सम्बद्ध सात ही श्रेणियों का निवेश होता है। वे सात श्रेणिनिवेश क्रमशः व्यक्तिव्यूह, पत्तिव्यूह, मुखव्यूह, गुल्मव्यूह, गणव्यूह, अनीकव्यूह व पार्तनव्यूह रूप हैं। इन व्यूहों में व्यक्तिव्यूह में अनेक अङ्ग नहीं हैं।

द्वितीयश्रेणीनिवेशरूप पत्ति, मुख, गुल्म आदि व्यूहों का शरीर क्रमशः ६, ५, ४, ३, २, १ इन पूर्व पूर्व व्यूहों से निर्मित होता है। व्यक्तियों के द्वारा षडङ्ग पत्तिव्यूह से द्वितीय श्रेणी, पत्तियों के द्वारा पञ्चाङ्गयुक्त मुखव्यूह से तृतीय श्रेणि, मुखों के द्वारा चतुरङ्ग गुल्मव्यूह से चतुर्थ श्रेणी, गुल्मों के द्वारा तीन अङ्ग वाले गणव्यूह से ५वीं श्रेणि, गणों के द्वारा द्वयङ्ग अनीक व्यूह से षष्ठ श्रेणी, अनीक के एक होने से एकाङ्ग पार्तन व्यूह से सातवीं श्रेणी निष्पन्न होती है।

इस प्रकार ये व्यूह उत्तरोत्तर पूर्व व्यूह की अपेक्षा एकाङ्ग से हीन होते हैं वैसे ही आभ्यन्तर में भी उत्तरोत्तर व्यूह पूर्व व्यूह की अपेक्षा एकाङ्गहीन ही अङ्गप्रत्यङ्ग से युक्त बनाने चाहिएँ।

जिस प्रकार से व्यूह उत्तरोत्तर एकाङ्गहीन से बने हैं वैसे ही बिना किसी विशेष अन्तर के इनके आन्तरिक अङ्ग भी उत्तरोत्तर पूर्वँ पूर्वँ एकाङ्गहीन अङ्ग-प्रत्यगों से युक्त होंगे। जैसे द्वितीय श्रेणी पत्ति में छ व्यक्ति अङ्ग हैं, तदनन्तर तृतीय श्रेणी मुख में (एक अंग कम होंने से) पाँच पत्तियाँ अङ्ग हैं, उन पाँच पत्तियों के अन्दर भी प्रथम में पाँच द्वितीय में चार, तृतीय में तीन, चतुर्थ में दो और पञ्चम में एक, इस प्रकार उत्तरोत्तर एकाङ्कहीन होता जाता है। इसी प्रकार चतुर्थ श्रेणी गुल्म में जो चार मुख हैं उनमें भी आन्तरिक अवयवों में प्रथम में चार तीन दो एक व्यक्ति से अंग बनते हैं द्वितीय में तीन दो एक से, तृतीय में दो एक से तथा चतुर्थ में एक से निर्मित एक ही अंग है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक कम होती हुई पत्तियाँ इनमें रहती हैं। इसी प्रकार पञ्चम श्रेणी गण में जो तीन गुल्म हैं उनके आन्तरिक भागों में प्रथम गुल्म में तीन दो एक इस प्रकार तीन पत्तियों का योग है इसी भाँति दूसरे तीसरे भागों में क्रमशः दो एक, और एक पत्ति हैं। इस प्रकार मुख

अपेक्षित श्रेणी	१	२	३	४	५	६	७
व्यूह नाम	व्यक्ति	पत्ति	मुख	गुल्म	गण	अनीक	पार्तन
व्यूहावयव	७	६	५	४	३	२	१
प्रत्येक श्रेणी के अंग प्रत्यंग	१	६	५	४	३	२	१
			४	३	२	१	०
			३	२	१	०	–
			२	१	०	१	–
			१	०	२	०	–
			०	३	१	०	–
				२	०	१	–
				१	१	–	–
				०	०	०	–
				२	–	–	–
				१	२	१	–
				०	१	०	–
				१	०	०	
				०	१	०	
				०	०	०	
					१		
					०		
					०		
	१	६	१५	२०	१५	६	१
	सर्वगुरुक	५ गुरुक	४ गु.	३ गु.	२ гु.	१ गु.	निर्गुरुक

उत्तरोत्तर एक हीन आभ्यन्तर अंगों वाला होगा । इसी भाँति षष्ठ श्रेणी अनीक में जो दो गण हैं उनमें प्रथम में दो एक व्यक्ति के क्रम से निर्मित अंगों वाली दो पत्तियों से तथा एक व्यक्तिक्रमनिर्मिताङ्ग एकावायव एक पत्ति द्वारा विहित अंगों वाले जो दो मुख हैं उनसे तथा एक व्यक्ति क्रम विहिताँग एक पत्ति द्वारा किया गया जो मुख उससे निर्मित अंगों वाले दो गुल्म हैं । द्वितीय गुल्म में एक व्यक्ति क्रम से कृताङ्ग एक पत्ति से किये हुए अंग वाला जो एक मुख है उससे गुल्म किया गया है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक एक अंगहीन गुल्म बनते हैं । इसी प्रकार अन्तिम ब्यूह 'पार्तन' में जो एक अनीक है वह आभ्यन्तर में भी एकाङ्गरूपी एक प्रत्यङ्ग है जो क्रिया के क्रम से सिद्ध है, अतः उस में भी एक ही अङ्क का उल्लेख है । पताका साधन न्यास पृष्ठ ४७ पर दिये अनुसार बनता है ।

यहाँ सातश्रेणी के न्यास में एक व्यक्ति रूप प्रथम श्रेणी से एक अंक प्राप्त होता है । षड् व्यक्ति रूप द्वितीय श्रेणी से ६ का अंक प्राप्त होता है । पन्द्रह व्यक्तियों (रूपों) वाली तृतीय श्रेणी से पन्द्रह का अंक, बीस व्यक्ति वाली चतुर्थ श्रेणी से बीस का अंक, पन्द्रह व्यक्ति रूप पञ्चम श्रेणी से पन्द्रह का अंक, षड् व्यक्ति वाली चष्ठ श्रेणी से ६ का अङ्क, एक व्यक्ति वाली सप्तम श्रेणी से एक अंक प्राप्त होता है । इस प्रकार साधित अङ्कों से षडक्षर प्रस्तार में लगक्रिया के १, ६, १५, २०, १५, ६, १, अंक प्राप्त होते हैं ।

पताकानिरूपण

मेरु तथा शलाका के द्वारा प्रस्तार के जिन अवान्तर भेदों की संख्या का ज्ञान होता है, उन भेदों के स्थान का ज्ञान पताका के द्वारा होता है । अर्थात् किस भेद का कौनसा स्थान है ? यह ज्ञान पताका प्रत्यय के द्वारा होता है । इस प्रत्यय का पताका के आकार से उल्लेख होने के कारण इसको पताका कहा जाता है ।

प्रारम्भ में प्रस्तार में मेरु के द्वारा सिद्ध अंकों के प्रमाण वाले स्थानों से उतनी ही पंक्तियां बनानी चाहिएँ । उन पंक्तियों के प्रथम प्रथम स्थानों में क्रमशः सूच्यङ्क लिखने चाहिएँ । उनमें पूर्व पंक्तियों के अंक के साथ उन पंक्तियों के शीर्षस्थ अंकों के योग से द्वितीय तृतीय आदि पंक्तियों की पूर्ति करनी चाहिए । सबसे अन्तिम प्रस्ताराङ्क का किसी से योग नहीं होता । क्योंकि अन्तिम प्रस्ताराङ्क के योग से सिद्ध संख्या उस प्रस्तार में नहीं होती । जैसे षडक्षर प्रस्तार में मेरु द्वारा सिद्ध अंक १, ६, १५, २०, १५, ६, १, ये ७ हैं । इतने ही अंकस्थानों वाली सात पंक्तियां पताका में बनती हैं । अर्थात् प्रथम पंक्ति १ अंक वाली, दूसरी पंक्ति ६ अङ्कों वाली, तृतीय पंक्ति १५ अंकों वाली, चतुर्थ पंक्ति २० अंकों वाली, पंचम पंक्ति १५ अंकों वाली षष्ठ पंक्ति ६ अंकों वाली तथा सप्तम पंक्ति १ अंक वाली होती है । इन सातों पंक्तियों के प्रथम स्थान में १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ ये सूच्यङ्क लिखे जाते हैं । तदनन्तर पूर्वपंक्तिस्थ १ अंक का क्रमशः २, ४, ८, १६, ३२ इन सूच्यङ्कों के

योग से निष्पन्न ३, ५, ९, १७, ३३ अंकों को द्वितीय पंक्ति में २ अंक के नीचे लिखना चाहिए। इस प्रकार ६ अवयवों वाली द्वितीय पंक्ति सिद्ध हो जाती है।

इसके बाद द्वितीय पंक्ति के २ अंक का ४, ८, १६, ३२ इन सूच्यंकों के योग से निष्पन्न ६, १०, १८, ३४ अंकों को तृतीय पंक्ति के ४ अंक के बाद क्रमशः लिखें। इसी प्रकार द्वितीय पंक्ति के ३ अंक का ४, ८, १६, ३२ इन सूच्यंकों के योग से निष्पन्न ७, ११, १९, ३५ अंकों को तृतीय पंक्ति के ३४ के अंक के नीचे क्रमशः लिखें। पश्चात् द्वितीय पंक्ति के ५ अंक का ८, १६, ३२ इन सूच्यंकों के योग से निष्पन्न १३, २१, ३७ अंकों को तृतीय पंक्ति के ३५ अंक के नीचे क्रमशः लिखें। यद्यपि द्वितीय पंक्ति के २ अंक का सूच्यंक २ के साथ योग करने से ४ अंक तथा द्वितीय पंक्ति के ३ अंक का क्रमशः सूच्यंक २ व ४ के साथ योग करने से ५ अंक व ७ अंक और सिद्ध होते हैं तथापि वे अंक पहिले, द्वितीय व तृतीय पंक्ति में आ चुके हैं अतः उनको पुनः नहीं लिखा गया है। इसी प्रकार द्वितीय पंक्ति के ५ अंक का सूच्यंक २ व ४ के योग से ७ व ९ अंक और सिद्ध होते हैं उनको भी तृतीय पंक्ति व द्वितीय पंक्ति में पहिले उल्लेख होने से दुबारा नहीं लिखा गया है।

इसके बाद द्वितीय पंक्तिस्थ ९ अंक का १६,३२ इन सूच्यंकों के योग से निष्पन्न २५, ४१, इन अंकों को तृतीय पंक्ति में ही ३७ अंक के बाद लिखा जाता है। अन्त में द्वितीय पंक्तिस्थ १७ अंक का ३२ सूच्यंक के साथ योग करने से निष्पन्न ४९ अंक को तृतीय पंक्ति में ४१ अंक के बाद लिखा जाता है। इस प्रकार १५ अवयवों वाली तृतीय पंक्ति बन जाती है। यहाँ भी द्वितीय पंक्तिस्थ ९ अंक का सूच्यंक २, ४, ८, के योग से ११, १३, १७ अंक और सिद्ध होते हैं किन्तु तृतीय पंक्ति में व द्वितीय पंक्ति में पहिले इन का उल्लेख हो चुका है, अतः पुनः उल्लेख नहीं किया गया। इसी प्रकार द्वितीयपंक्तिस्थ १७ अंक का २, ४, ८, १६ इन सूच्यंकों के योग से१९, २१, २५, ३५ अंक और सिद्ध होते हैं किन्तु ये भी पहिले आ चुके हैं अतः नहीं लिखे गये हैं।

इसके बाद तृतीय पंक्तिस्थ ४ अंक का इससे आगे वर्तमान ८, १६, ३२ इन सूच्यङ्कों के योग से निष्पन्न १२, २०, ३६ इन अंकों को चतुर्थ पंक्ति में ८ अङ्क के नीचे लिखा जाता है। पश्चात् तृतीय पंक्तिस्थ ६ अंक का ८, १६, ३२ इन सूच्यंकों के योग से निष्पन्न १४, २२, ३८ इन अंकों को चतुर्थ पंक्ति में ही ३६ अंक के नीचे लिखा जाता है। एवं तृतीय पंक्तिस्थ १० अंक का १६, ३२ इन सूच्यंको के योग से निष्पन्न २६, ४२ इन अंकों को चतुर्थ पंक्ति में ही ३८ अंक के बाद लिखा जाता है। और तृतीय पंक्तिस्थ १८ अंक का सूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न ५० अंक को चतुर्थ पंक्ति में ही ४२ अंक के बाद लिखा जाता है। पश्चात् तृतीय पंक्तिस्थ ७ अंक का ८, १६, ३२ इस सूच्यंकों के योग से निष्पन्न १५, २३, ३९ अंकों को चतुर्थ पंक्ति में ५० अंक के बाद लिखा जाता है। पश्चात् तृतीय पंक्तिस्थ ११

अंक का १६, ३२ इन सूच्यङ्कों के साथ योग से निष्पन्न २७, ४३ अंकों को चतुर्थ पंक्ति में ही अंक ३९ के बाद में लिखा जाता है। तत्पश्चत् तृतीयपंक्तिस्थ १९ अंक का सूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न ५१ अंक को ४३ अंक के नीचे लिखा जाता है। तदनन्तर तृतीय पंक्तिस्थ १३ अंक का १६, ३२ इन सूच्यङ्कों के योग से निष्पन्न अंक २९ व ४५ को चतुर्थ पंक्ति में ही अंक ५१ के बाद लिखा जाता है। पश्चात् तृतीयपंक्तिस्थ २१ अंक का सूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न ५३ अंक का चतुर्थ-पंक्ति में ही ४५ अंक के नीचे लिखा जाता है। इसके बाद तृतीयपंक्तिस्थ २५ अंक का सूच्यङ्क ३२ अंक के साथ योग से निष्पन्न ५७ अंक को चतुर्थपंक्ति में ही ५३ अंक के नीचे लिखा जाता है। इस प्रकार २० अवयवों वाली चतुर्थपंक्ति का निर्माण हो जाता है।

चतुर्थपंक्तिस्थ ८ अंक का इससे आगे वर्तमान १६ व ३२ सूच्यङ्कों के योग से क्रमशः निष्पन्न २४, ४०, अंकों को पञ्चमपंक्ति में १६ अंक के नीचे लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक १२ का १६, ३२ सूच्यङ्कों के साथ योग से निष्पन्न २८, ४४ अंकों को पाँचवीं पंक्ति में ही अंक ४० के बाद लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक २० का सूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न ५२ अंक को पंचम पंक्ति में ही अंक ४४ के बाद लिखा जाता है।

चतुर्थपंक्तिस्थ अंक १४ का सूच्यङ्क १६ व ३२ के योग से क्रमशः निष्पन्न ३० व ४६ अंकों को पंचम पंक्ति में ही ५२ अंक के नीचे लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक ३८ का सूच्यङ्क १६ के योग से निष्पन्न ५४ अंक को पंचम पंक्ति में ही अंक ४६ के नीचे लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक ४२ का सूच्यङ्क १६ के साथ योग से निष्पन्न अंक ५८ को पंचम पंक्ति में ही ५४ अंक के नीचे लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक १५ का सूच्यङ्क १६ के साथ योग से निष्पन्न अंक ३१ को पंचम पंक्ति में ५८ अंक के बाद लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक १५ का ही सूच्यङ्क ३२ के योग से निष्पन्न ४७ अंक को पंचम पंक्ति में ही अंक ३१ के बाद लिखा जाता है। चतुर्थ पंक्तिस्थ ३९ अंक का सूच्यङ्क १६ के योग से निष्पन्न अंक ५५ को पंचमपंक्ति में ही अंक ४७ के नीचे लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ ४३ अंक का सूच्यङ्क १६ के साथ योग से निष्पन्न अंक ५९ को पंचमपंक्ति में ही ५५ अंक के नीचे लिखा जाता है। चतुर्थपंक्तिस्थ अंक ४५ का सूच्यङ्क १६ के योग से निष्पन्न ६१ अंक को पंचमपंक्ति में ही ५९ अंक के नीचे लिखा जाता है। इस प्रकार पंचदशावयवा पंचमपंक्ति सिद्ध हो जाती है।

पंचमपंक्तिस्थ १६ अंक का सूच्यङ्क ३२ अंक के साथ योग से निष्पन्न ४८ को षष्ठपंक्ति में १६ अंक के नीचे लिखा जाता है। पंचमपंक्तिस्थ २४ अंक का सूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न ५६ अंक को षष्ठपंक्ति में ४८ अंक के नीचे लिखा जाता है। पंचमपंक्तिस्थ २८ अंक का सूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न

६० अंक को षष्ठपंक्ति में ही अंक ५६ के नीचे लिखा जाता है। पंचम पंक्तिस्थ अंक ३० का सूच्यङ्क ३२ अंक के साथ योग से निष्पन्न ६२ अंक को षष्ठ पंक्ति के ही अंक ६० के नीचे लिखा गया है। पंचमपंक्तिस्थ ३१ अंक का मूच्यङ्क ३२ के साथ योग से निष्पन्न ६३ अंक को षष्ठपंक्ति में ही ६२ अंक के नीचे लिखा जाता है। इस प्रकार षडवयवा षष्ठपंक्ति बन जाती है। सप्तम पंक्ति एकावयवा सूच्यङ्क ६४ से निष्पन्न हो जाती है। ६४ सूच्यङ्क का किसी अन्य से योग नहीं हो सकता क्योंकि षडक्षर प्रस्तार में ६४ से अधिक अक्षर वाले प्रस्तारभेद की सम्भावना ही नहीं हो सकती। इस प्रकार मेरुसिद्ध अङ्कों के प्रमाण वाले स्थानों से प्रस्तारस्वरूपभेदों के स्थानों का ज्ञान हो जाता है।

व्युत्क्रमसाधन पताका का द्वितीय प्रकार

सूच्यङ्कों का विन्यास कर देने पर क्रमशः पृष्ठाङ्कों से रहित अग्रिम श्रेणी के अङ्कों को पूर्व-पूर्व श्रेणी में लिखना चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार के १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ इन सूच्यङ्कों का क्रमशः विन्यास कर देने पर सबसे अन्तिम अर्थात् सप्तमश्रेणी के अङ्क ६४ में से सूच्यङ्क के छठे अङ्क ३२ को कम कर देने पर ३२ अङ्क बचते हैं। किन्तु उसका उल्लेख हो चुका है। और एक बार उल्लिखित अङ्क का पुनः उल्लेख नहीं होना चाहिए। अतः उसका उल्लेख नहीं किया गया। पश्चात् अन्तिम (सप्तम) श्रेणी के अंक ६४ में से क्रमशः १६, ८, ४, २, १ अंकों को कम कर देने पर ४८, ५६, ६०, ६२, ६३ अङ्क शेष रहते हैं। इन अङ्कों को षष्ठश्रेणी में ३२ अङ्क के नीचे क्रमशः लिखा जाता है। पश्चात् षष्ठ श्रेणी के ३२, ४८, ५६, ६० ६२, ६३ इन अङ्कों में प्रत्येक में से सूच्यङ्क १६, ८, ४, २, १ को कम करके उससे लब्ध अङ्कों को पंचम श्रेणी में लिखा जाता है। जैसे ३२ में से सूच्यङ्क १६ को कम कर देने पर १६ अङ्क बचता है। किन्तु उसका उल्लेख हो चुका है। अतः उसे पुनः नहीं लिखा गया है। ४८ में से सूच्यङ्क १६ अङ्क को कम कर देने पर ३२ अङ्क बचता है उसका भी उल्लेख षष्ठ श्रेणी में होने से पंचम श्रेणी में १६ अंक के नीचे नहीं किया गया है। षष्ठ श्रेणीस्थ ४८ अंक में से ही १६ ब ८ सूच्यंक को कम कर देने पर २४ अंक बचता है उसका पंचम श्रेणीस्थ १६ अंक के नीचे लिखा गया है। इसी प्रकार ५६ में से सूच्यङ्क १६ के कम कर देने पर ४० अङ्क बचता है उसको पंचमश्रेणीस्थ २४ अङ्क के नीचे लिखा गया है। षष्ठश्रेणीस्थ ५६ अङ्क में से ही १६, ८, ४, सूच्यङ्कों के कम करने से २८ अङ्क बचता है जो पंचम श्रेणीस्थ ४० अङ्क के नीचे लिखा गया है। षष्ठश्रेणीस्थ ६० अङ्क में से १६ सूच्यङ्क के कम कर देने पर ४४ अङ्क बचता है उसे पंचमश्रेणी में २८ के अङ्क के नीचे लिखा गया है। ६० में से सूच्यङ्क ८ को कम कर देने पर ५२ अङ्क बचता है जिसे पंचमश्रेणीस्थ ४४ अङ्क के नीचे लिखा गया है। ६० अङ्क में से सूच्यङ्कों १६, ८, ४, २ को कम करने से ३० अङ्क सिद्ध होता है जिसे ५२ अङ्क के नीचे लिखा गया है। षष्ठश्रेणीस्थ ६२ अङ्क में से सूच्यङ्क

१६ के कम करने पर ४६ अङ्क सिद्ध होता है जिसे अङ्क ३० के नीचे लिखा है। ६२ में ही ८ सूच्यङ्क को कम करने पर ५४ अङ्क निष्पन्न होता है जिसे पंचमश्रेणी में ही ४६ अङ्क से नीचे लिखा गया है। ६२ अङ्क में से ही सूच्यङ्क ४ के कम करने से निष्पन्न ५८ अङ्क को अङ्क ५४ के नीचे, तथा ६२ अङ्क में से ही १६, ८, ४, २,१ इन सूच्यङ्कों के कम करने पर ३१ अङ्क बचता है जिसे ५८ अङ्क के नीचे लिखा है। षष्ठश्रेणीस्थ ६३ अङ्क में से क्रमशः १६, ८, ४, २, सूच्यङ्कों के कम कर देने पर ४७, ५५, ५९, ६१, अंक निष्पन्न होते हैं जिन्हें क्रमशः ३१अंक के नीचे पंचमश्रेणी में लिखा गया है। इस प्रकार १५ अंकों वाली पंचमश्रेणी सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार पंचमश्रेणी के १५ अंकों में प्रत्येक में से पृष्ठाङ्क ८, ४, २, १ से कम कर उनसे निष्पन्न अंकों को चतुर्थश्रेणी में उत्तरोत्तर नीचे लिखा जाता है। जैसे पंचमश्रेणीस्थ १६ अंक में पृष्ठाङ्क ८ अंक की न्यूनता कर देने पर सिद्ध ८ अंक, पृष्ठाङ्क ४ अंक की न्यूनता से निष्पन्न १२ अंक, पंचमश्रेणीस्थ २४ अंक में से पृष्ठाङ्क ४ अंक की न्यूनता से सिद्ध २० अंक, पंचमश्रेणीस्थ ४० अंक में से पृष्ठाङ्क ४ अंक की न्यूनता से निष्पन्न ३६ अंक चतुर्थश्रेणी में उत्तरोत्तर नीचे लिखा गया है। पंचम-श्रेणीस्थ २८ अंक में से पृष्ठाङ्क ८, ४, २ अंकों की कमी करने से निष्पन्न १४ अंक चतुर्थ श्रेणी में ३६ अंक के नीचे लिखा गया है। पंचमश्रेणीस्थ २८ अंक में से पृष्ठाङ्क ४, २ की कमी करने से २२ अंक चतुर्थश्रेणी के १४ अंक के नीचे, पंचमश्रेणी के ४४ अंक में से ४, २ की कमी से सिद्ध ३८ अंक चतुर्थश्रेणी में २२ अंक के नीचे लिखा गया है। इसी प्रकार पंचमश्रेणी के अंकों में से पृष्ठाङ्क ८, ४, २, १, की यथासम्भव कमी करने से २० अंकों की चतुर्थश्रेणी निष्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार चतुर्थश्रेणीस्थ अंकों में उनके पृष्ठाङ्क ४, २, १ की न्यूनता करने से निष्पन्न अंकों से १५ अंकों वाली तृतीय श्रेणी का निर्माण होता है। जैसे चतुर्थश्रेणीस्थ ८ अंक में से पृष्ठाङ्क ४ की कमी से तृतीय श्रेणी का ४ अंक, २ पृष्ठाङ्क की कमी से ६ अंक चतुर्थश्रेणी के १२ अंक में से २ पृष्ठाङ्क की कमी से तृतीयश्रेणी के १० अंक, चतुर्थश्रेणी के २० अंक में से २ पृष्ठाङ्क की कमी से तृतीयश्रेणी का १८ अंक, चतुर्थश्रेणी के ३६ अंक में से पृष्ठाङ्क २ की कमी से तृतीयश्रेणी का ३४ अंक तथा चतुर्थ श्रेणी के १४ में से १, २ पृष्ठांक की कमी से ११ अंक, चतुर्थश्रेणी के १४ अंक में से पृष्ठाङ्क १, २, ४ की कमी से तृतीयश्रेणी का ७ अंक, चतुर्थश्रेणी के २२ अंक में से पृष्ठाङ्क १, २ की कमी से तृतीयश्रेणी का १९ अंक निष्पन्न होता है। इसी प्रकार तृतीयश्रेणी के आगे के अंक सिद्ध होते हैं।

तृतीयश्रेणी के अंकों में पृष्ठाङ्क २,१ की कमी से निष्पन्न अंकों द्वारा षडवथवा द्वितीयश्रेणी सिद्ध हो जाती है। जैसे तृतीयश्रेणीस्थ ४ अंक में से उसके पृष्ठांक २ अंक की न्यूनता से निष्पन्न २ अंक, उसी तृतीयश्रेणीस्थ ४ अंक में से १ पृष्ठांक की कमी से सिद्ध ३ अंक तथा तृतीयश्रेणीस्थ अंक ६ में से पृष्ठांक १ अंक की कमी से

निष्पन्न ५ अंक, तृतीय श्रेणी के अंक १० में पृष्ठांक १ की कमी से निष्पन्न ९ अंक, तृतीयश्रेणी के १८ अंक में पृष्ठांक १ की कमी से सिद्ध १७ अंक तथा तृतीयश्रेणीस्थ ३४ अंक में से पृष्ठांक १ की कमी से निष्पन्न ३३ अंक द्वितीयपंक्ति में उत्तरोत्तर नीचे लिखे गये हैं। इन्हीं अंकों से षडङ्का (षडवयवा) द्वितीय श्रेणी सिद्ध हो जाती है। इन द्वितीयश्रेणीस्थ अंकों में भी प्रत्येक में पृष्ठांक १ अंक की कमी से क्रमशः २, ४ ८, १६, ३२ ये अंक निष्पन्न होते हैं तथापि इनका प्रथम श्रेणी में उल्लेख नहीं होता क्योंकि इन सबका पहिले उल्लेख हो चुका है और एक बार उल्लिखित का पुनः उल्लेख नहीं होता, अतः अन्त में प्रथमश्रेणी में १ अंक ही बच जाता है। इस प्रकार व्युत्क्रम से भी एकांका षडंका, पंचदशांका विंशत्यंका पंचदशांका षडंका व एकांका इन सात श्रेणियों का निर्माण हो जाता है। यही व्युत्क्रमसाधनरूप प्रकार पताका का द्वितीय प्रकार है।

प्रथम साध्यक्रम साधन, पताका का तृतीय प्रकार

(अर्थात् सूची के प्रथम अंक का क्रमशः एक-एक सूच्यङ्कों, दो-दो सूच्यङ्कों, तीन-तीन प्रभृति सूच्यङ्कों के योग से निष्पन्न पताका श्रेणियों का प्रकार)—

जैसे षडक्षर प्रस्तार में १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ इस रूप से सूच्यङ्क का विन्यास करने पर सभी अंकों में सबसे प्रथम १ अंक का ही क्रमशः आगे वर्तमान १, २, ४, ८, १६, ३२ इन सूच्यङ्कों के योग से निष्पन्न २, ३, ५, ९, १७, ३३ अंकों के द्वारा पताका की द्वितीय श्रेणी का निर्माण हो जाता है। सर्वादिभूत १ अंक का ही सूच्यंकों में दो-दो अंकों के (द्वयङ्कक्रम) से

१—२, १—४, १....८, १—१६, १—३२
२—४, २—८, २—१६, २—३२
४—८, ४—१६, ४—३२
८—१६, ८—३२

१६—३२ इस क्रम से योग करने पर निष्पन्न अंकों को तृतीय श्रेणी में क्रमशः नीचे लिखना चाहिए। जैसे सभी अंकों में आदिभूत १ अंक का दो सूच्यङ्क १,२ से मिला देने पर ४ अंक का, सर्वादिभूत १ अंक का ही १,४ सूच्यङ्कों के योग से निष्पन्न ६ अंक का, सर्वादिभूत १ अंक का ही दो सूच्यङ्कों १,८ के योग कर देने पर निष्पन्न १० अंक का, सर्वादिभूत १ अंक का ही दो सूच्यङ्कों १, १६ से योग कर देने पर निष्पन्न १८ अंक का, सर्वादिभूत १ अंक का ही १, १६ सूच्यङ्कों से योग करने पर निष्पन्न ३४ अंक का तृतीय श्रेणी में उत्तरोत्तर नीचे उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार सर्वादिभूत १ अंक का अन्य दो-दो सूच्यङ्कों के साथ योग करने पर तृतीय श्रेणीस्थ अन्य अंक भी बन जाते हैं और उनको क्रम से नीचे-नीचे लिखने पर तृतीय श्रेणी की सिद्धि हो जाती है। जैसे सर्वादिभूत १ अंक का क्रमशः २—४, २—८, २—१६,

२—३२ सूच्यंकों से योग करने पर ७, ११, १९, ३५ अंकों की सिद्धि होती है। सर्वादिभूत १ अंक का ही क्रमशः ४—८, ४—१६, ४—३२ इन सूच्यंकों से योग करने पर १३, २१, ३७ अकों की निष्पत्ति होती है। सर्वादिभूत १ अंक का ही क्रमशः ८—१६, ८—३२ सूच्यंकों से योग करने पर २५ व ४१ अक की सिद्धि होती है। सर्वादिभूत १ अंक का ही १६—३२ इन सूच्यंकों के योग से ४९ अंक सिद्ध होता है। इन सब अंकों को क्रम से उत्तरोत्तर नीचे लिखने पर पताका की तृतीय श्रेणी बन जाती है।

इसी रीति से सर्वादिभूत १ अंक का ३-३ सूच्यंकों के योग से निष्पन्न अंकों से २० अंकों वाली चतुर्थ श्रेणि बन जाती है। जैसे सर्वादिभूत १ अंक का तीन सूच्यंकों १, २, ४ के योग से चतुर्थ श्रेणि का ८ अंक, सर्वादिभूत १ अंक का तीन सूच्यंकों १, २, ८ अंकों के योग से चतुर्थ श्रेणि का १२ अंक सिद्ध हो जाता है। इसी क्रम से सर्वादिभूत १ अंक का भिन्न भिन्न तीन सूच्यंकों के योग से चतुर्थ श्रेणि के अन्य २० आदि अंकों की भी निष्पत्ति हो जाती है।

इसी तरह सर्वादिभूत १ अंक का ४, ४ सूच्यंकों के योग से पञ्चम श्रेणि के अंक सिद्ध हो जाते हैं। जैसे सर्वादिभूत १ अंक का चार सूच्यंकों १, २, ४, ८ के योग से पञ्चम श्रेणी के १६ अंक, सर्वादिभूत १ अंक का ही चार सूच्यंकों १, २, ४, १६ के योग से २४ अंक, इसी तरह पञ्चम श्रेणि के अन्य अंक भी बन जाते हैं तथा उन्हें उत्तरोत्तर अधोऽधः रखने से पञ्चदशाङ्का पञ्चमश्रेणि बन जाती है।

इसी प्रकार से सर्वादिभूत १ अंक का ५-५ सूच्यंकों के योग से षष्ठश्रेणि सिद्ध हो जाती है। जैसे सर्वादिभूत १ अंक का पाँच सूच्यंकों १, २, ४, ८, १६ के साथ योग कर देने से षष्ठ श्रेणि के ३२ अंक की तथा सर्वादिभूत १ अंक का ही पाँच सूच्यंकों १, २, ४, ८, ३२ के योग से षष्ठ श्रेणि के ४८ अंक की निष्पत्ति हो जाती है। इसी क्रम को जारी रखने पर षष्ठ श्रेणि के अन्य अंक भी सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार षडवयवा षष्ठ श्रेणि बन जाती है। इसी तरह सर्वादिभूत १ अंक का ६ सूच्यंकों १, २, ४, ८, १६, ३२ के योग से ६४ अंक वाली सप्तम श्रेणि बन जाती है। यही पताका का तृतीय प्रकार है।

चरमसाध्य व्युत्क्रमसाधन पताका का चतुर्थ प्रकार

सूच्यंकों में अन्तिम सूच्यंक में से एक एक पृष्ठाङ्क कम कर देने पर उपान्त्य षष्ठ श्रेणि का निर्माण हो जाता है। जैसे षडक्षर प्रस्तार में अन्तिम सूच्यङ्क ६४ हैं। इस में एक पृष्ठाङ्क ३२ की न्यूनता से षष्ठ श्रेणि का प्रथम अंक ३२ सिद्ध हो जाता है। ६४ में ही पृष्ठाङ्क १६ अंक कम कर देने पर ४८ अंक षष्ठ श्रेणि का बन जाता है। उसी ६४ सूच्यंक से पृष्ठाङ्क ८ कम करने पर षष्ठ श्रेणि का ५६ अंक बन जाता है। ६४ रूप सूच्यंक से पृष्ठाङ्क ४ की कमी से षष्ठ श्रेणि का ६० अंक सिद्ध हो जाता है। ६४ सूच्यंक में ही पृष्ठाङ्क २ की

कमी कर देने पर षष्ठ श्रेणि का ६२ अंक बन जाता है। ६४ में से ही पृष्ठाङ्क १ अंक की न्यूनता से षष्ठ श्रेणि का ६३ अंक निष्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ३२, ४८, ५६, ६०, ६२, ६३ इन ६ अंकों वाली षष्ठ श्रेणि का निर्माण हो जाता है।

सूच्यङ्क ६४ में दो दो पृष्ठाङ्कों की कमी से पञ्चम श्रेणि का निर्माण होता है। जैसे अन्तिम सूच्यंक ६४ में दो पृष्ठाङ्क ३२ व १६ की कमी से पञ्चम श्रेणी का १६ अंक, ६४ में से ही पृष्ठाङ्क ३२ व ८ की कमी कर देने पर पञ्चम श्रेणि का २४ अंक, ६४ में ही पृष्ठाङ्क १६ व ८ के कम कर देने पर पञ्चम श्रेणि का ४० अंक, ६४ में ही पृष्ठाङ्क ३२ व ४ के कम करने से पच्चम श्रेणि का २८ अंक, ६४ में ही पृष्ठाङ्क १६ व ४ को कम करने पर पञ्चम श्रेणि का ४४ अंक, ६४ में से ही पृष्ठाङ्क ८ व ४ की कमी से पञ्चम श्रेणि का ५२ अंक, ६४ में से ही ३२ व २ इन पृष्ठाङ्कों की कमी से पञ्चम श्रेणि का ३० अंक, ६४ में ही पृष्ठाङ्क १६ व २ पृष्ठाङ्क की न्यूनता से पञ्चम श्रेणि का ४६ अंक, ६४ में से ही पृष्ठाङ्क ८ व २ की न्यूनता से पञ्चम श्रेणी का ५४ अंक, ६४ में से ही पृष्ठाङ्क ४ व २ की कमी से पञ्चम श्रेणि का ५८ अंक, ६४ में से ही पृष्ठाङ्क ३२ व २ को कम कर देने पर पञ्चम श्रेणि का ३० अंक, ६४ में से ही पृष्ठाङ्क १६ व १ की कमी से पञ्चम श्रेणि का ४७ अंक ६४ में से ही पृष्ठाङ्क ८ व १ की न्यूनता से पञ्चम श्रेणि का ५५ अङ्क, ६४ में ही पृष्ठांक ४ व १ की कमी से पञ्चम श्रेणि का ५९ अंक तथा ६४ में ही पृष्ठाङ्क २ व १ को कम कर देने पर पञ्चम श्रेणि का ६१ अंक सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार १५ अंकों या अवयवों वाली पञ्चम श्रेणि सिद्ध हो जाती है।

अन्तिम सूच्यङ्क ६४ में से ३-३ पृष्ठांकों की कमी करने से षडक्षर प्रस्तार की २० अवयवों वाली चतुर्थ श्रेणि सिद्ध हो जाती है। जैसे ६४ में से ३२, १६ व ८ इन तीन पृष्ठाङ्कों को हटा देने पर तृतीय श्रेणि का ८ अंक, ६४ में ही ३२, १६, ४ इन पृष्ठाङ्कों की कमी से तृतीय श्रेणी का १२ अंक सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार आगे भी ६४ में से तीन तीन पृष्ठाङ्कों को कम कर देने पर चतुर्थ श्रेणि के २०, ३६, १४ अंकों की निष्पत्ति हो जाती है।

अन्तिम सूच्यङ्क ६४ में ४-४ पृष्ठाङ्क की कमी से तृतीय श्रेणि सिद्ध हो जाती है। जैसे ६४ में से ३२, १६, ८, ४ इन चार पृष्ठाङ्कों के न्यून कर देने पर तृतीय श्रेणि का ४ अंक, तथा ३२, १६, ८ व २ इन चार पृष्ठाङ्कों को कम करने से तृतीय श्रेणि के ६ अंक की निष्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार आगे भी ६४ में से ४-४ पृष्ठांकों को कम कर देने पर तृतीय श्रेणि के १०, १८ आदि अंकों की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार पञ्चदशावयवा तृतीय श्रेणि बन जाती है।

अन्तिम सूच्यंक ६४ में से ही ५-५ पृष्ठाङ्कों को कम कर देने पर षडवयवा द्वितीय श्रेणि सिद्ध हो जाती है। जैसे ६४ में से ३२, १६, ८, ४, २ इन पृष्ठाङ्कों की न्यूनता कर देने पर द्वितीय श्रेणि का २ अंक, ६४ में से ही ३२, १६, ८, ४, १

इन पृष्ठांकों की कमी से द्वितीय श्रेणि का ३ अंक सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार आगे भी ५-५ पृष्ठाङ्कों की कमी से द्वितीय श्रेणि के अन्य अंकों की सिद्धि हो जाती है।

अन्तिम सूच्यंक ६४ में ही ३२, १६, ८, ४, २, १ इन ६ पृष्ठाङ्कों की कमी से प्रथप पंक्ति का १ अंक सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः एकाङ्का, षडङ्का, पञ्चदशाङ्का, विंशत्यङ्का, पञ्चदशाङ्का, षडङ्का व एकाङ्का इन ७ श्रेणियों की सिद्धि षडक्षर प्रस्तार में हो जाती है।

यह पताका का चतुर्थ प्रकार है।

इस रीति से चार प्रकार की पताका का वर्णन हो चुका। इस पताका के द्वारा षड्गुरुक या सर्वगुरुक, पञ्चगुरुक आदि प्रस्तारस्वरूपभेदों अर्थात् न्यासों के स्थान का निर्णय हो जाता है। जैसे षडक्षर प्रस्तार में षडक्षर प्रस्तार वाली पताका के प्रथम श्रेणिस्थ १ अंक से षड्गुरुक न्यास का प्रथम स्थान है। तथा पञ्चगुरुक अक्षर वाले प्रस्तार के भेदों (न्यासों) के स्थान का षडङ्क वाली पंक्ति में निर्दिष्ट २, ३, ५, ९, १७, ३३ इन अंकों से सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार चतुर्गुरुक अक्षर वाले १५ न्यासों का स्थान तृतीय श्रेणिस्थ ४, ६, १०, १८ आदि अकों के द्वारा, त्रिगुरुक अक्षर वाले २० न्यासों का स्थान चतुर्थ श्रेणिस्थ ८, १२, २०, ३६ आदि अङ्कों के द्वारा, द्विगुरुक अक्षर वाले १५ न्यासों का स्थान पञ्चमश्रेणिस्थ १६, २४, ४०, ४८ आदि अंकों के द्वारा, एकगुरुक अक्षर वाले ६ न्यासों का स्थान षष्ठ श्रेणिस्थ ३२, ४८, ५६ आदि अंकों के द्वारा तथा निर्गुरुक एक न्यास का स्थान सप्तम श्रेणिस्थ ६४ अंक के द्वारा सिद्ध हो जाता है, अर्थात् ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार विपरीत क्रम से युक्त सप्तम, षष्ठ, पञ्चम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, एक श्रेणि के द्वारा क्रमशः निर्गुरुक अर्थात् षड्लघुक, पञ्चलघुक, चतुर्लघुक, त्रिलघुक, द्विलघुक एकलघुक तथा निर्लघुक न्यासों के स्थानों का ज्ञान हो जाता है।

अब मर्कटी सम्बन्ध से भी दिखलाने योग्य प्रत्ययों का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। ये प्रत्यय-सूची, पाताल, मात्रा तथा पिण्ड नामक चार प्रत्यय हैं।

सूची प्रत्यय

जहाँ १ अङ्क से आरम्भ कर उत्तरोत्तर द्विगुणित अङ्क १, २, ४, ८, १६ इत्यादि रूप से लिखे जाते हैं उसे सूची कहते हैं। उन द्विगुणित अङ्कों में अन्तिम अङ्क से प्रस्तारसंख्या का ज्ञान होता है। उपान्त्य (अन्त्य के समीप) अंक से गुर्वादि, लघ्वादि, गुर्वन्त व लघ्वन्त इन चार भेदों की संख्या का ज्ञान होता है। अर्थात् गुर्वादि भेद, लघ्वादि भेद, गुर्वन्तभेद व लघ्वन्त भेद कितने हैं यह ज्ञात होता है उपान्त्य से पूर्व अंक से गुर्वादिलघ्वन्त, लघ्वादिगुर्वन्त, गुर्वादिगुर्वन्त, लघ्वादिलघ्वन्त इन चार प्रकार के भेद कितने हैं इसका ज्ञान होता है? जैसे चतुरक्षर प्रस्तार में प्रस्तार के न्यासों की संख्या १६ है यह सूची के अन्तिम अंक १६ से ज्ञात होता है

और गुर्वादिभेद लघ्वादिभेद, तथा गुर्वन्तभेद व लघ्वन्तभेद ८-८ हैं यह सूची के उपान्त्य अंक ८ से ज्ञात होता है। इसी प्रकार गुर्वादिलघ्वन्तभेद, लघ्वादिगुर्वन्तभेद, गुर्वादिगुर्वन्तभेद, तथा लघ्वादिलघ्वन्तभेद चार चार हैं। यह ज्ञान सूची के उपान्त्य से पूर्व के ४ अंक से होता है।

पाताल प्रत्यय

जितने अक्षरों का प्रस्तार अभिप्रेत है उसे इष्टाक्षराङ्क कहते हैं। इष्टाक्षराङ्क से गुणित गुर्वन्तभेदों या लघ्वन्तभेदों को जो जो संख्या १, ४, ८, १२, ३२, ८० इत्यादि हैं उनकी उल्लेखपरम्परा पाताल प्रत्यय कहलाती है। उससे सर्वगुर्वक्षर-संख्या तथा सर्वलघु-अक्षरसंख्या का ज्ञान होता है। जैसे चतुरक्षरप्रस्तार में गुर्वन्त-भेद ८ हैं इनका इष्टाक्षराङ्क ४ से गुणा करने पर ३२ संख्या होती है। इसलिए चतुरक्षरप्रस्तार में ३२ ही गुरुअक्षर तथा ३२ ही लघुअक्षर हैं। यह पाताल प्रत्यय से ज्ञात हो जाता है।

मात्राप्रत्यय

गुरु (ऽ) अक्षर की दो मात्रा तथा लघु (।) की एक मात्रा होती है। अतः गुरु (ऽ) मात्रा को द्विगुणित कर लघु (।) मात्रासंख्या का उसमें योग करने से मात्राओं की पूर्ण संख्या का ज्ञान हो जाता है। जैसे चतुरक्षरप्रस्तार में ३२ गुरु (ऽ) मात्रा हैं। इनको द्विगुणित कर ३२ लघु (।) मात्राओं को योग करने पर ९६ मात्रायें चतुरक्षर प्रस्तार में हैं यह सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चतुरक्षर-प्रस्तार की मात्रासमष्टि ९६ हैं यह ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार पञ्चाक्षरादि-प्रस्तारों में मात्रासमष्टि का ज्ञान करना चाहिए।

पिण्डप्रत्यय

जिस प्रकार प्रस्तार में मात्राओं के संकलन में सभी गुरुलघुमात्राओं का लघु-मात्रा में परिवर्तन कर मात्राओं की गणना है उसी प्रकार सभी गुरुलघुमात्राओं का गुरुमात्रा रूप में परिवर्तन कर उनका लेखन पिण्ड प्रत्यय कहलाता है। इसीलिए नियम से मात्रासंख्या की अर्धसंख्या पिण्ड कहलाती है। जैसे चतुरक्षरप्रस्तार में मात्रा संख्या ९६ है। इसकी अर्धीकृत संख्या ४८ पिण्ड कहलाती है। अथवा गुरुमात्रासंख्या का डेढा करने पर पिण्ड संख्या हो जाती है। जैसे एकाक्षरप्रस्तार गुरुमात्रासंख्या १ है। इसका डेढा कर ऊर्ध्वाधःकृत अर्थात् ऊपर नीचे लिखे हुए दो एकाङ्कों से पिण्ड संख्या होती है। इस तरह सूची पाताल, मात्रा तथा पिण्ड अवयवों वाली मर्कटी है यह पहिले बतलाया जा चुका है।

मर्कटी शाव (लघुमर्कटी)

जगन्नाथसूत्र में मर्कटीशाव नामक एक लघुमर्कटी और मानी है। उसके द्वारा सब वर्णों की, गुरुलघुवर्णों की तथा मात्राओं की संख्या सिद्ध की गई है। वहाँ

इष्टाक्षराङ्क से गुणित न्याससंख्या के अङ्क से प्रस्तार के सर्व वर्णों का, सब वर्णों की संख्या का, अर्धीकरण करने पर गुरुलघु वर्णों (अक्षरों) का, प्रस्तारगत सब वर्णों की संख्या में उस संख्या की अर्धसंख्या और मिलाने पर प्रस्तारगत सब मात्राओं का ज्ञान हो जाता है। जैसे चतुरक्षर प्रस्तार में न्याससंख्या १६ का इष्टाक्षराङ्क ४ संख्या से गुणा करने पर ६४ संख्या चतुरक्षर प्रस्तार की संख्या है। इतने ही चतुरक्षर प्रस्तार में सारे वर्ण हैं। सर्ववर्णसंख्या का अर्धीकृत ३२ संख्या सारे गुरुवर्णों की वा सारे लघुवर्णों की है। ६४ संख्या को डेढा कर देने पर जो ९६ सख्या होती है उतनी ही चतुरक्षर प्रस्तार में सब मात्रायें हैं।

इस तरह प्राचीन छन्दःशास्त्रज्ञों द्वारा उल्लिखित अनेक प्रकारों से प्रस्तार नष्ट उद्दिष्ट संख्यान, अध्वयोग, मेरु, शलाका, पताका, मर्कटी आदि १३ प्रत्ययों द्वारा विस्तार से निरूपित शास्त्रजालनामक प्रकरण समाप्त हुआ।

अब बालकों के अभ्यास के लिए उपर्युक्त प्रत्ययों की सुखसारणी का निरूपण किया जा रहा है। संख्यान, अध्वयोग, प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, मेरु, शलाका, पताका, मर्कटीजाल नामक प्रत्ययों की वर्णसूची ही केवल एक ध्रुवा है। वर्णसूचीरूप ध्रुवा के आधार से ही इन सब प्रत्ययों का ज्ञान सम्भव है। अतः क्रम से वर्ण-सूचीरूप ध्रुवा से इन प्रत्ययों का कथन किया जा रहा है। यह वर्णसूची सौत्रसूची तथा असौत्रसूची भेद से दो प्रकार की है। हार सौत्रसूची है तथा तार असौत्रसूची है। शून्य जिसके आदि में है ऐसे पार से अनुलक्षित हार सौत्रभूचीक्रम है। पार से अनुलक्षित तार असौत्रसूचीक्रम है। प्रारम्भ के एक (१) अङ्क को रखकर पश्चात् उत्तरोत्तर (आगे से आगे) द्विगुणित अङ्कों का विन्यास हार कहलाता है। प्रारम्भ में १ अङ्क का उल्लेख न कर केवल द्विगुणित अङ्कों का ही विन्यास तार कहलाता है। तथा १, २, ३, ४ इत्यादि रूप से क्रमिक अङ्कों का विन्यास पार कहलाता है। पार हार और तार में जिस अङ्क से प्रयोजन हैं वह अङ्क इष्ट कहलाता है और जितने अक्षर वाले प्रस्तार में जिस अर्थ को बतलाने की इच्छा है वह पारस्थ अङ्क इष्टाक्षर है। इष्टाक्षर से अनुलक्षित तार संख्यानाङ्क कहलाता है, वह इष्टाक्षर वाले प्रस्तार की अपेक्षा से है।

पार	०	१	२	३	४	५	६	७	८	सौत्रसूचीक्रम
हार	१	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	
पार		१	२	३	४	५	६	७	८	असौत्रसूचीक्रम
तार		२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	

संख्यान

उपर्युक्त रीति से अङ्कविन्यास करने पर इष्ट पार से अनुलक्षित तार से इष्ट अक्षर वाले प्रस्तार में गुरुलघुभेदभिन्न प्रस्तारस्वरूपभेद होते हैं। यह प्रथम संख्यान-प्रत्यय है। जैसे इष्ट अङ्क ४ है। तथा चतुरक्षरप्रस्तार में ४ संख्यारूप पारस्थ अङ्क इष्टाक्षर है। चतुरक्षरप्रस्तार में चतु:संख्यारूप पारस्थ ४ अंक से अनुलक्षित तारस्थ १६ अङ्क से गुरुलघुभेदभिन्न १६ प्रस्तारस्वरूपभेद (न्यासभेद) हैं यह ज्ञात हो जाता है।

अध्वयोग

गुरु (ऽ) या लघु (।) अक्षर लिखने पर जितने प्रदेश को व्याप्त करता है उतना प्रदेश अङ्गुल कहलाता है। संख्यान से द्विगुणित अंक के प्रमाण वाले अंगुल प्रदेश में एक अंगुल कम कर देने पर उस प्रस्तार का आधारभूत अध्वा होता है उतने अंगुल वाले प्रदेश का ग्रहण कर उस प्रस्तार का उल्लेख करना चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार का संख्यानाङ्क ६४ है। ६४ संख्या को द्विगुणित करने पर १२८ अंगुल वाला प्रदेश होता है। उसमें एक अंगुल प्रदेश को कम कर १२७ अंगुल वाला प्रदेश षडक्षर प्रस्तार का आधारभूत अध्वा है। अत: षडक्षर प्रस्तार के उल्लेख के लिए १२७ अंगुल का प्रदेश ग्रहण करना चाहिए।

प्रस्तार

इष्टाक्षर से अनुलक्षित निम्ननिर्दिष्ट हार प्रमाण वाले ऊर्ध्वाधर स्थानों में उससे पूर्व अङ्कों के क्रम से गुरु (ऽ) लघु (।) अक्षर लिखे जाते हैं उसे प्रस्तार कहते हैं। जैसे त्र्यक्षर बनाने की इच्छा हो तो ३ अङ्क के नीचे के हाराङ्क के प्रमाण वाले ऊर्ध्वाधरभूत आठ स्थानों में ८ अङ्क के पूर्व के १, २,४, इन तीन हाराङ्कों के अनुसार गुरु (ऽ) लघु (।) वर्णों को लिखना चाहिए। आदि में १ गुरु १ लघु इस प्रकार आठों स्थानों में गुरुलघु वर्णों को लिखे। पश्चात् २ गुरु २ लघु इस क्रम से आठों स्थानों में गुरुलघुवर्णों को लिखे। तथा अन्त में चार गुरु और चार लघु इस क्रम से आठों स्थानों में गुरुलघुवर्णों का उल्लेख करें। इस प्रकार गुरुलघुवर्णों का उल्लेख करने पर त्र्यक्षर प्रस्तार सिद्ध हो जाता है। इसी तरह चतुरक्षरप्रस्तार में इष्टाङ्क ४ के नीचे निर्दिष्ट हार प्रमाण वाले ऊर्ध्वाधरभूत १६ स्थानों में १६ हाराङ्क से पूर्व के १, २, ४, ८ इन चार अङ्कों से अनुलक्षित गुरुलघुवर्णों का विन्यास करे आदि में अर्थात् प्रथम पंक्ति में १६ स्थानों में एक गुरु एक लघु इस प्रकार गुरुवर्ण व लघुवर्ण लिखें। पश्चात् द्वितीय पक्ति में १६ स्थानों में २ गुरु २ लघु इस रूप से गुरुलघुवर्णों को लिखें। तदनन्तर तृतीय पंक्ति में ४ गुरु ४ लघु इस प्रकार से १६ स्थानों में गुरुलघुवर्णों का उल्लेख करें और अन्त में अर्थात् चतुर्थपंक्ति में ८ गुरु और ८ लघु इस प्रकार से ऊर्ध्वाधरभूत १६ स्थानों में गुरुलघुवर्णों का विन्यास करे। इस रीति से गुरुलघुवर्णों का विन्यास करने से चतुरक्षर प्रस्तार की सिद्धि हो जाती है। अन्य प्रस्तारों की सिद्धि भी इसी प्रकार करनी चाहिए।

नष्टप्रत्यय

संख्यानाङ्क में से जिज्ञासित अङ्क कम कर देने पर अवशिष्ट संख्यानाङ्क संख्यानाङ्क से पूर्ववर्ती हाराङ्कों में जहां जहाँ उद्धृत (उपलब्ध) होता है वहाँ गुरु (ऽ) अक्षर तथा अन्यत्र लघु (।) अक्षर लिखा जाता है उसे नष्टविज्ञान कहते हैं। जैसे चतुरक्षर प्रस्तार में संख्यानाङ्क १६ हैं, इसमें जिज्ञासित अङ्क ९ हैं, क्योंकि नवम प्रस्तारस्वरूप को मालूम करना है। उस ९ अङ्क के कम कर देने पर ७ अङ्क शेष रहता है। यह ७ अंक संख्यानाङ्क से पूर्ववर्ती १,२,४,८ इन चार हाराङ्कों में से प्रथम-द्वितीय-तृतीय स्थानवर्ती १,२,४ इन तीन हाराङ्कों में उद्धृत उपलब्ध हो जाता है। अतः इन तीन स्थानों में गुरु (ऽ) अक्षर तथा अवशिष्ट में लघु (।) अक्षर लिखा जाता है। इस प्रकार ऽऽऽ। ऐसा स्वरूप नवम प्रस्तार का है।

इसी प्रकार चतुरक्षर प्रस्तार में संख्यानाङ्क १६ में से जिज्ञासित अङ्क ७ को कम कर देने पर अवशिष्ट ९ अंक है वह संख्यानाङ्क से पूर्ववर्ती हाराङ्कों १,२,४,८ में से प्रथम-चतुर्थ-स्थानवर्ती हाराङ्क अर्थात् १ तथा ८ अङ्कों में उपलब्ध हो जाता है। अतः प्रथम व चतुर्थ स्थानों में गुरु तथा द्वितीय तृतीय स्थानों में लघु वर्ण का उल्लेख होने से चतुरक्षर प्रस्तार का सातवां रूप भगण व गुरु अक्षरात्मक (ऽ।। ऽ) सिद्ध होता है। इसी प्रकार चतुरक्षर प्रस्तार के तथा अन्य प्रस्तारों के अन्य स्थानीय स्वरूपों को मालूम करना चाहिए।

उद्दिष्ट

उद्दिष्ट क्रिया में उद्दिष्ट प्रस्तारस्वरूप के द्वारा उसके स्थान को मालूम किया जाता है। इसके लिए उद्दिष्ट स्वरूप के ऊपर संख्यानाङ्क से पूर्ववर्ती हाराङ्कों का विन्यास करने पर गुर्वङ्कों को संख्यानाङ्क से कम करने से जो अवशिष्ट संख्या शेष
१ २ ४ ८
रहती है वही उद्दिष्टस्वरूप की स्थानसंख्या होगी। जैसे (ऽ । ऽ ।) इस उद्दिष्ट स्वरूप के ऊपर संख्यानाङ्क १६ अंक से पूर्ववर्ती हाराङ्कों १,२,४,८ का विन्यास कर देने पर उद्दिष्ट स्वरूप के गुरुवर्णों के उपर के हाराङ्क १ व ४ को कम कर देने पर ११ संख्या बचती है यह ११ संख्या उद्दिष्ट स्वरूप की स्थानसंख्या सिद्ध होती है। इसी
१ २ ४ ८
प्रकार (। ऽ । ऽ) इसी उद्दिष्टस्वरूप पर संख्यानाङ्क १६ से पूर्ववर्ती १,२,४,८ इन हाराङ्कों का विन्यास करने पर उद्दिष्टस्वरूप के गुरु अङ्कों २,८ को संख्यानाङ्क से निकाल देने पर अवशिष्ट संख्या ६ शेष रहती है। अतः यह ६ संख्या ही अर्थात् छठा स्थान ही उद्दिष्ट स्वरूप की स्थानसंख्या है।

मेरु

अब मेरु की प्रक्रिया बता रहे हैं। ऊपर से नीचे की ओर जाने वाला हार जिसमें ऊपर एक अंक से प्रारम्भ कर संख्यानाङ्क तक उत्तरोत्तर नीचे अङ्क लिखे जाते हैं, ऐसे हार में संख्यानाङ्क से ऊर्ध्वांकों के प्रमाण का जिसमें एक अंक पूर्व में है,

उल्लेख कर पूर्व गणना की आवृत्ति करने पर एक एक अङ्क का परित्याग करते हुए उल्लिखिताङ्कपरिमित आवृत्तियाँ पुन: पुन: करते हुए संख्यानाङ्क से उत्तरोत्तर एकाङ्क से ऊर्ध्वांक (ऊपर की ओर के अङ्कों) के प्रमाणवाली आवत्ति करे। यह आवृत्ति अभीष्टप्राप्तिकर होगी। जैसे—

पार	हार							
०	१							
१	२	१	१					
२	४	१	२	१				
३	८	१	३	३	१			
४	१६	१	४	६	४	१		
५	३२	१	५	१०	१०	५	१	
६	६४	१	६	१६	२०	१५	६	१

इस उपरिलिखित मेरु में ६४ संख्यारूप संख्यानाङ्क से ऊपर ३२ से १ तक के सभी अंकों की एक बार आवृत्ति करने पर ६ अंक सिद्ध होते हैं, अत: उसका उल्लेख नीचे की सातवीं पंक्ति में किया गया है। संख्यानाङ्क से ऊर्ध्ववर्ती अंकों की एक बार आवृत्ति से षडङ्क की प्राप्ति हुई है। अत: उस षडङ्क में से एक अङ्क को कम कर देने से ५ अङ्क बचे रहते हैं, अत: उस हाररूपी सूची का पाँच बार आवर्तन करे। प्रत्येक आवृत्ति में उत्तरोत्तरवर्ती एक एक सूच्यङ्क का परित्याग कर देना चाहिये। इस परिभाषा के अनुसार प्रथम आवृत्ति में षडङ्क की प्राप्ति हुई है। सूची की प्रत्येक आवृत्ति में एक अङ्क छोड़ने का नियम है। अत: प्रथम आवृत्ति के बाद सूची के एक अङ्क ३२ का परित्याग कर दिया गया है। अब पांच बार आवृत्ति में प्रथम आवृत्ति में जो ३२ अंक है उसको छोड़कर शेष सूची का ही आवर्तन होगा। अत: षोडशादि अङ्कों का आवर्तन होगा। पश्चात् दूसरी बार आवृत्ति करने पर १६ अंक का भी परित्याग होगा। और उसमें अष्टादि अङ्कों की ही आवृत्ति होगी। तीसरी आवृत्ति में ८ का अङ्क को भी छोड़ देना होगा। अब चतुरादि अङ्कों की ही आवृत्ति होगी। चतुर्थ आवृत्ति में ४ अंक का भी परित्याग होने से उसमें दो आदि अङ्कों की ही आवृत्ति होगी। पञ्चम आवृत्ति में 'दो' अंक का भी परित्याग होने से केवल १ अंक की ही आवृत्ति होगी। इस प्रकार षोडशादि अङ्कों की आवृत्ति में षोडशादि, अष्टादि, चतुरादि, द्वयादि तथा एकादि की आवृत्तिरूप पाँच आवृत्तियों में षोडशादि आवृत्ति से १६, ८, ४, २, १, इन पाँच अङ्कों की, अष्टादि आवृत्ति में ८, ४, २, १, इन चार अङ्कों की, चतुरादि आवृत्ति में ४, २, १ इन तीन अङ्कों की, द्वयादि आवृत्ति में २, १, इन दो अंकों की, एकादि आवृत्ति में १ अङ्क की प्राप्ति होने से सम्भूय १५ अङ्कों की प्राप्ति हो जाती है। इसका उल्लेख भी नीचे की साँतवी पंक्ति में कर दिया है। सूचीस्थ अङ्कों की पाँच बार आवृत्ति से

१५ अङ्कों प्राप्ति हुई है, अतः १५ में से ५ अंकों के कम कर देने से १० अङ्क बचते हैं। अतः पुनः सूची को १० बार आवृत्ति करें। षडंक की प्राप्ति के लिए तथा १५ अंक की प्राप्ति के लिये दो बार सूची की आवृत्ति हो चुकी और प्रत्येक आवृत्ति में सूची के एक एक अङ्क का परित्याग होने से संख्यानाङ्क से ऊर्ध्ववर्ती सूच्यङ्कों में ३२ व १६ सूच्यंक का परित्याग होने से विंशत्यङ्क की प्राप्ति के लिये आवर्तमान सूची का प्रारम्भ ८ सूच्यंक से होता है और इसमें दस बार आवृत्ति होगी। इसमें भी प्रत्यावृत्ति एक एक सूच्यंक का परित्याग होता है, अतः यहाँ पहले अष्टाद्यङ्क का आवर्तन है। इसमें ८, ४, २, १, इन चार अङ्कों की प्राप्ति, पश्चात् चतुरादि अङ्कों के आवर्तन से ४, २, १, इन तीन अङ्कों की प्राप्ति पुनः द्वयादि आवर्तन से २, १, इन दो अङ्कों की प्राप्ति, पश्चात् एकादि के आवर्तन से १ अङ्क की प्राप्ति, इस प्रकार सम्भूय १० अङ्कों की प्राप्ति हो जाती है। पुनः इस सूची का आवर्तन ८ सूच्यङ्क के परित्याग से चतुरादि अङ्क से होगा। इस आवृत्ति में ४, २, १, अङ्कों को आवृत्ति से तीन अङ्कों की प्राप्ति, पश्चात् द्वयादि के आवर्तन से २, १, इन दो अङ्कों की प्राप्ति, ततः एकादि के आवर्तन से १ अंक की प्राप्ति, इस तरह ६ अङ्कों की प्राप्ति होती है। पुनः सूची की आवृत्ति में प्रत्यावृत्ति एक सूच्यंक के परित्याग का नियम होने से यह आवृत्ति २ अंक से प्रारम्भ होती है। द्वयादि की आवृत्ति से २, १, इन दो अङ्कों की प्राप्ति तथा एकादि के आवर्तन से एक अङ्क की प्राप्ति, पुनः एकाङ्क की आवृत्ति से १ अंक की प्राप्ति, इस तरह १० बार की आवृत्ति से सम्भूय विंशति अङ्कों की प्राप्ति हो जाती है। जिसका उल्लेख भी नीचे की सातवीं पंक्ति में चतुर्थस्थान पर हुआ है।

विंशत्यङ्क की प्राप्ति सूची की दस बार आवृत्ति से हुई है अतः २० में से १० कम कर देने से १० अंक शेष रहते हैं। अतः पुनः सूची की १० बार आवृत्ति होगी। किन्तु सूची की आवृत्ति तीन बार हो चुकी है और प्रत्येक आवृत्ति में एक सूच्यंक के परित्याग से ३२, १६, ८ इन तीन सूच्यङ्कों की न्यूनता से वर्तमान आवृत्ति ४ सूच्यंक से प्रारम्भ होगी। अतः चतुरादि की आवृत्ति से तीन अङ्कों की प्राप्ति, पश्चात् द्वयादि अङ्कों की आवृत्ति से २ अङ्कों की प्राप्त, एकादि के आवर्तन से १ अंक की प्राप्ति, पुनः द्वयादि व एकादि के आवर्तन से क्रमशः २, १, अंक की प्राप्ति, पुनः एकादि की आवृत्ति, इस प्रकार तीन आवर्तों से एक प्रत्यावृत्ति होती है। तदनन्तर दूसरी प्रत्यावृत्ति होती हैं। इसमें द्वयादि का आवर्तन एकादि का आवर्तन इस प्रकार तीन आवर्तों से एक प्रत्यावृत्ति होती है। तदनन्तर दूसरी प्रत्यावृत्ति होती है। इसमें द्वयादि का आवर्तन, एकादिका आवर्तन, पुनः एकादि का आवर्तन। पुनः दूसरी प्रत्यावृत्ति करने से एकादि की आवृत्ति होने पर सम्भूय पञ्चदशाङ्क की सिद्धि होती है। इसका उल्लेख मेरु में सातवीं पंक्ति के पञ्चम स्थान में होता है। यह पञ्चदशाङ्क की प्राप्ति दश वार के आवर्तन से प्राप्त हुई है, अतः १५ में १० अंक कम कर देने पर ५ अङ्क शेष रहते हैं। अतः पाँच बार पुनः

सूची का आवर्तन होता है। यह आवर्तन २ सूच्यङ्क से प्रारम्भ होता है, क्योंकि चतुर्थ आवृत्ति में सूच्यङ्क ४ का भी परित्याग हो चुका है। इसमें द्वयाद्यावर्तन एकाद्यावर्तन पुनः एकाद्यावर्तन, यह एक प्रत्यावृत्ति है, फिर एकादिका आवर्तन यह दूसरी प्रत्यावृत्ति है, यह एक प्रत्यावर्त है। इसके बाद दूसरा प्रत्यावर्त प्रारम्भ होता है इसमें एकादि का आवर्तन है। इस प्रकार षडङ्क की सिद्धि हो जाती है क्योंकि द्वयाद्यावर्तन से २ अङ्कों की फिर चार बार एकाद्यावर्तन से चार अंकों की संभूय ६ अंकों की प्राप्ति सिद्ध हो जाती है। इसका उल्लेख मेरु की ७वीं पंक्ति के षष्ठ स्थान में होता है। इस षडङ्क की प्राप्ति पाँच बार सूची के आवर्तन से हुई है अतः ६ में से पाँच का परित्याग कर देने पर १ अंक बचता है। इसलिये अब एक बार ही सूची की आवृत्ति होने से एकाद्यावर्तन से एक अंक की सिद्धि होती है। इसका उल्लेख मेरु के ७ वीं पंक्ति के सप्तम प्रस्तर में अर्थात् सप्तम स्थान में हुआ है। इस एक अङ्क की प्राप्ति एक बार सूची की आवृत्ति से हुई है, अतः इस एक का परित्याग कर देने पर किसी अंक के शेष न रहने से सूची की आवृत्तिक्रिया की समाप्ति हो जाती है। उपर्युक्त रीति से षडक्षर सम्बन्धी मेरुप्रस्तर की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार आवृत्ति आवर्त प्रत्यावृत्ति प्रत्यावर्त समावृत्ति समावर्त सम्प्रत्यावृत्ति सम्प्रत्यावर्त पर्यावर्तनों का प्रयोग करने पर प्रत्यावृत्ति एक-एक पूर्वांक के परित्याग से अन्य मेरुप्रस्तरों की भी सिद्धि करनी चाहिये। मेरु प्रस्तरके प्रथम अङ्क से सर्वगुरुक भेद (१) द्वितीय अंक से पञ्चगुरुक भेद (६) तृतीय अंक से चतुर्गुरुक भेद (१५) चतुर्थ अङ्क से त्रिगुरुक भेद (२०) पञ्चम अंक से द्विगुरुक भेद (१५) षष्ठ अंक से एकगुरुक भेद (६) तथा सप्तम अंक से निर्गुरुक भेद (१) का ज्ञान होता है।

शलाकाप्रत्यय

बिना मेरुव्यापार के ही जहाँ गुरुलघु की इयत्ता वाले स्वरूपों की संख्या का मालूम करना है उसके लिए शलाका क्रिया है। जितने अक्षर वाले प्रस्तार में शलाका करनी है उसके सूचीविन्यास में दो विभाग करने चाहिएँ। जितने अक्षर वाला प्रस्तार है उतने अक्षरों के प्रमाण वाले अंकों की समष्टि एक भाग है और संख्यानाङ्क दूसरा भाग है। प्रथम भाग से गुरुअक्षर वाले प्रस्तारस्वरूपों का ज्ञान होता है और दूसरे भाग से उस प्रस्तार के निर्गुरुक स्वरूप का ज्ञान होता है। यदि प्रस्तार में सर्वगुरु अक्षर वाले स्वरूप का ज्ञान करना है तो प्रथम भाग के सब अंकों की समष्टि संख्या को जानना चाहिए। सब अंकों की समष्टिसंख्या ही प्रस्तार में सर्वगुरु अक्षर वाले स्वरूप की संख्या है। वह सर्वाङ्कसमष्टिसंख्या सर्वत्र एकांक रूप ही होती है। फिर भिन्न-भिन्न गुरुअक्षर वाले अर्थात् पञ्चगुरुक-चतुर्गुरुक आदि स्वरूपों का ज्ञान करना है तो प्रथम भाग सम्बन्धी उतने उतने अंकों की समष्टियों की गणना करके पञ्चगुरुक-चतुर्गुरुक आदि स्वरूपों की संख्या मालूम करनी चाहिए। जैसे षडक्षर प्रस्तार में सूची सम्बन्धी १,२,४,८,१६,३२ अंकों की

समष्टि एक ही ६३ संख्या होती है अतः षड्गुरुस्वरूप के संख्यांक १ का उल्लेख है। षडक्षर प्रस्तार सूची में सूची के १, २, ४, ८, १६, ३२ अंकों को अस्तव्यस्त रूप से ग्रहण करने पर ५,५ सूच्यंकों की समष्टियाँ ६ होती हैं जैसे १ सूच्यंक से प्रारम्भ १६ वें सूच्यंक तक पाँच अंकों की एक समष्टि, फिर ३२ सूच्यंक से लेकर ३२,१,२, ४,८ इन सूच्यंकों की दूसरी पञ्चाङ्कसमष्टि, पश्चात् १६ सूच्यंक के प्रारम्भ कर १६,३२,१,२,४ इस सूच्यंकों की तीसरी पञ्चाङ्कसमष्टि, तदनन्तर ८,१६,३२,१,२ इन सूच्यंकों की चौथी पञ्चाङ्कसमष्टि, पश्चात् ४ सूच्यंक से प्रारम्भ कर २,४,८, १६,३२,१ इन सूच्यंकों की पाँचवी पञ्चाङ्कसमष्टि तथा २ सूच्यंक से प्रारम्भ कर २,४,८,१६,३२ तक के पञ्चाङ्कों की छठी समष्टि इस प्रकार अस्तव्यस्तस्वरूप से गृहीत ५, ५ अंकों की ६ समष्टियाँ होती हैं। इस प्रकार पञ्चगुरुक प्रस्तारस्वरूप ६ हैं। अस्तव्यस्तरूप से गृहीत ४, ४ सूच्यंकों की समष्टियाँ १५ हैं अतः चतुर्गुरुक स्वरूप षडक्षर प्रस्तार में १५ हैं। अस्तव्यस्तरूप से गृहीत ३, ३ सूच्यंकसमष्टियाँ २० हैं। अतः षड्क्षरप्रस्तार में त्रिगुरुक स्वरूप २० हैं। तथा सूच्यंकों के अस्त-व्यस्तरूप से ग्रहण करने पर दो दो सूच्यंकों की समष्टियाँ १५वें अतः षड्क्षर-प्रस्तार में द्विगुरुक स्वरूप १५ हैं और एक एक अंक सूच्यंकों में ६ हैं अतः षडक्षरप्रस्तार में एक गुरुक स्वरूपों की संख्या ६ हैं इसके अतिरिक्त ६४ रूप संख्या-नाङ्क के एक होने से निर्गुरुक स्वरूप एक है। इस प्रकार १,६,१५,२०,१५,६,१ इस रूप से सात अवयवों वाली षडक्षर शलाका है।

पताकाप्रत्यय

जितने अवयव वाली शलाका होती है। उतनी ही श्रेणियाँ पताका में होती है। पताकाश्रेणियों के ऊर्ध्वभाग में सूच्यवयवाङ्क लिखने चाहिएँ। पताका में संख्यानाङ्क में पूर्व पूर्व सूच्यंकों के एक एक, दो दो, तीन तीन तथा इससे भी अधिक अर्थात् चार चार, पाँच पाँच आदि सूच्यंकों के वियोग से अवशिष्ट अंकपरम्परा से भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बनती हैं। वे श्रेणियाँ सूच्यवयवों के एक एक अङ्क के नीचे क्रम से लिखी जाती है। जैसे त्र्यक्षरसूचीविन्यास कर लेने पर उस सूची का अन्तिम संख्यानाङ्क ८ के नीचे संख्यानाङ्क के समान ८ अङ्क का विन्यास करना चाहिए। उस संख्यानाङ्क से चतुर्थ श्रेणी बनती है। संख्यानाङ्क में पृष्ठस्थ एक सूच्यंक के वियोग से उपान्त्य तृतीय श्रेणी बनती है। जैसे संख्यानाङ्क ८ में पृष्ठस्थ सूच्यंक २ का वियोग करने पर ६ अंक तथा पृष्ठस्थ सूच्यंक १ का वियोग करने पर ७ अंक की सिद्धि होती है। ये दोनों अङ्क क्रम से सूच्यंक ४ के नीचे लिखे जाते हैं। इसी संख्यानाङ्क ८ में पृष्ठ-स्थ दो दो अंकों के वियोग से द्वितीय श्रेणी बनती है। जैसे संख्यानाङ्क ८ में से पृष्ठस्थ दो सूच्यंक ४ और १ का वियोग करने पर ३ अंक की तथा पृष्ठस्थ दो सूच्यंक १ व २ का वियोग करने पर ५ अंक की प्राप्ति होती है। इन दोनों ३ व ५ अंकों को क्रमशः सूच्यंक २ के नीचे लिखने से त्र्यक्षरप्रस्तार में पताका की द्वितीय श्रेणी निष्पन्न होती है। संख्यानाङ्क में तीनों ही पृष्ठाङ्कों का अर्थात् १,२,४ का

वियोग कर देने पर १ अंक बचता है। यही त्र्यक्षरप्रस्तार में पताका की प्रथम श्रेणी है। त्र्यक्षरपताका विन्यास—

१	३	३	१
१	२	४	८
१	२	४	८
	३	६	
	५	७	

इसी प्रकार चतुरक्षर प्रस्तार में चतुरक्षर पताका का विन्यास तथा पञ्चाक्षर प्रस्तार में पञ्चाक्षर पताका का विन्यास करना चाहिए। षडक्षर पताकादि विन्यासों का प्रकार भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

मर्कटीप्रत्यय

मर्कटी में सर्वप्रथम १,२,४,८,१६,३२ आदि क्रमसूची का उल्लेख करना चाहिए। इसमें १,२,३,४ आदि क्रमिकाङ्कों से सूच्यङ्कों का गुणा करके अन्य पंक्ति लिखनी चाहिए। अर्थात् क्रमिकाङ्कों वाली प्रथम पंक्ति, सूच्यंकों वाली द्वितीय पंक्ति तथा क्रमिकाङ्कों का क्रम से सूच्यंकों के साथ गुणन करके तृतीय पंक्ति लिखनी चाहिए। इस पंक्ति से प्रस्तार में गुरुलघु वर्णों की संख्या का ज्ञान होता है। वर्ण-संख्या का अर्धकरण कर निर्मित पंक्ति से प्रस्तार में कितने गुरुवर्ण हैं और कितने लघुवर्ण हैं अर्थात् इनकी संख्या का ज्ञान होता है। वर्णसंख्यावाली तथा गुरुलघुवर्णसंख्या वाली पंक्तियों के योग से निर्मित पंक्ति से प्रस्तार में मात्रासंख्या का ज्ञान होता है। मात्रासंख्या का अर्धकरण करके निर्मित पंक्ति से प्रस्तार में पिण्डसंख्या का ज्ञान होता है। इस प्रकार प्रस्तार के सम्बन्ध में अन्य प्रत्ययों से अज्ञात, अपेक्षित सभी चीजों का मर्कटीप्रत्यय से ज्ञान हो जाता है। मर्कटी का निरूपण निम्न पदद्य में संक्षेप से किया गया है।

वर्णः पारघ्नहारेण तत्रार्धेन गुरुर्लघुः।
तयोर्योगेन मात्रा स्यात् मात्रार्धं पिण्ड उच्यते।

पाराङ्कों के साथ हाराङ्कों के क्रमिक गुणन से वर्णसंख्या का ज्ञान हो जाता है। पार व हार का पहिले निरूपण किया जा चुका है शून्य से आरम्भ कर क्रमिक अंकों का उल्लेख पार होता है और पूर्व पूर्व अंकों की द्विगुणता से निष्पन्न अंक हार कहलाते हैं। जैसे १,२,४,८,१६,३२ आदि अंक। वर्णसंख्या के अर्धीकरण से गुरुलघुसंख्या का ज्ञान होता है। वर्णसंख्या तथा गुरुलघुसंख्या दोनों के योग से मात्रासंख्या प्राप्त हो जाती है और मात्रासंख्या के अर्धीकरण से पिण्डसंख्या का ज्ञान होता है।

संख्यानादि वर्णप्रत्ययों की सुखसारणी समाप्त।

मात्राप्रत्ययों का निरूपण

संगृहीत अर्थ के बोधक प्रस्तार, मेरु व मर्कटीनामक ३ प्रत्ययों का निरूपण को

बाद समानसंख्याक मात्रा वाले छन्द:पादों के सारे भेदों का ज्ञान पूर्णरूप से जिस प्रकार हो सके उस भेदप्रदर्शनप्रकाररूप मात्राप्रस्तार का निरूपण किया जा रहा है:—

जिसमें सर्व गुरुमात्राएँ है, ऐसा इष्टमात्रावाला प्रथम विकल्प है। उसके नीचे की पंक्ति में प्रथम गुरुमात्रा के अवयवों के विश्लेषण से सिद्ध दो लघु मात्राएँ लिखनी चाहियें। दो लघुमात्राओं के बाद उसी पंक्ति में ऊपर की पंक्ति के समान ही मात्रायें लिखें। वह द्वितीय भेद होता है। तदनन्तर तृतीय पंक्ति में द्वितीयपंक्तिस्थ गुरुमात्राओं में प्रथम गुरुमात्रा के विभाग से सिद्ध दो लघु मात्राओं का उल्लेख प्राप्त है तथापि वहाँ एक लघुमात्रा का विन्यास करना चाहिये क्योंकि द्वितीय गुरुमात्रा के विश्लेष से सिद्ध एक लघु के उससे पूर्व लघु से युक्त होकर गुरु बन जाने से प्रथम लघुमात्रा के स्थान में गुरुमात्रा ही लिखी जाती है। इसके बाद आगे तृतीय पंक्ति में भी सब कुछ द्वितीय पंक्ति के समान ही लिखा जाता है। इस तरह जब तक सभी गुरुमात्रायें लघु बनकर सर्वलघुमात्राक भेद न बन जावें तब तक इस प्रक्रिया को चालू रखना चाहिये। इसी अर्थ का प्रतिपादन निम्न सूत्र में किया है—

निर्दिष्टविकल्पस्य प्रथमगुरुविश्लेषसिद्धलघुद्वयमध्यादेकेन पूर्वान् लघून् यथासम्भवं संश्लेष्य विकल्पमुत्तरं कुर्यादिति।

अर्थात् निर्दिष्ट विकल्प (भेद) के प्रथम गुरुमात्रा के विभाग से सिद्ध दो लघु मात्राओं में से एक लघुमात्रा अर्थात् प्रथम लघुमात्रा को यथासम्भव पूर्वलघुमात्रा के साथ मिलाकर उत्तरमात्राक विकल्प को बनाना चाहिये। द्विमात्राक प्रस्तार से प्रारम्भ कर षण्मात्राक प्रस्तारों की क्रमशः ण ढ ड ठ और ट ये संज्ञायें हैं। मतान्तर में इन्हीं को क्रमशः द त च प ष संज्ञाओं से व्यवहृत किया गया है। इन्हीं छः प्रस्तारों को नीचे प्रदर्शित किया जा रहा है—

२	३	४	५	६
द	त	च	प	ष
N	।N	NN	।NN	NNN
।।	N।	।।N	N।N	।।NN
ण	।।।	।N।	।।।N	।N।N
२	ढ	N।।	NN।	N।।N
	३	।।।।	।।N।	।।।।N
		ड	।N।।	।NN।
		५	N।।।	N।N।
			।।।।।	।।।N।
			ठ	NN।।
			८	।।N।।
				।N।।।
				N।।।।
				।।।।।।
				ट
				१३

यहाँ सम्पृक्त (मिली हुई) रेखा (N) से गुरुमात्रा, असम्पृक्त रेखा (।) से लघुमात्रा समझनी चाहिये।

ऊपर के परिलेख का दोमात्रा वाले प्रस्तार से लेकर ६ मात्रा वाले प्रस्तार तक का उल्लेख है। द्विमात्राक प्रस्तार के २ भेद, त्रिमात्राक प्रस्तार से तीन भेद, चतुर्मात्राक प्रस्तार के ५ भेद, पञ्चमात्राक प्रस्तार के ८ भेद तथा षण्मात्राक प्रस्तार के १३ भेद होते हैं। आगे सप्तमात्राक आदि प्रस्तारों के भेद इसी प्रकार समझने चाहिएँ। यह क्रियामूलक प्रथम प्रस्तारोल्लेख का प्रकार है।

मात्रा प्रस्तार का द्वितीय प्रकार

एक मात्रा प्रस्तार का प्रकारभेद नहीं हो सकता। अतः वहाँ संकेतरूप से एक सरल (सीधी) (।) रेखा ही प्रस्तारन्यास है। दो मात्राएँ होने पर द्विमात्राक प्रस्तार न्यास के भी दो भेद हो जाते हैं अर्थात् दो प्रकार हो जाते हैं। एक प्रकार न्यास दोनों मात्राओं को मिलाकर पिण्डरूप से अवस्थानरूप तथा दूसरा प्रकार न्यास उन दोनों मात्राओं का विशकलित रूप से अवस्थान (।) पिण्ड में संकेतित एक टेढी रेखा (N) द्विमात्राप्रस्तार में प्रथम न्यास का स्वरूप है तथा दो सरल रेखाएँ (।।) द्विमात्राप्रस्तार में द्वितीय न्यास का स्वरूप हैं। इन्हीं दोनों न्यासस्वरूपों को क्रमशः गुर्वन्त व लघ्वन्त करने से त्रिमात्राप्रस्तार बन जाता है। त्रिमात्राप्रस्तार में प्रथम एकमात्राक न्यास का विन्यास करना चाहिये। तदनन्तर उस न्यास के नीचे द्विमात्राक प्रस्तार के दोनों न्यासों को लिखना चाहिये। इसके बाद एकमात्राक न्यास के अन्त में गुरुमात्रा तथा द्विमात्राक प्रस्तार के दोनों न्यासों के अन्त में लघुमात्राएँ लिखनी चाहियें। इस प्रकार त्रिमात्राक प्रस्तार में तीन न्यास सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व के दो प्रस्तारों को ऊर्ध्वाधर क्रम से लिखकर प्रथम प्रस्तार के न्यासों को गुर्वन्त तथा द्वितीय प्रस्तार के न्यासों को लघ्वन्त कर देने पर क्रमशः पौर्षयुगीय अंक के योग से सिद्ध संख्यानकस्वरूप से घटित (निर्मित) चतुर्थ पञ्चमादि प्रस्तार सिद्ध हो जाते हैं। यह मात्रा-प्रस्तार का प्रस्तारमूलक द्वितीय प्रकार है।

मात्रा प्रस्तार का नवीन प्रकार

इस प्रकार के अनुसार पहले एकाङ्क का विन्यास करना चाहिये। पश्चात् उस एक अङ्क को एक अंक से मिलाकर २ अंक की, पश्चात् एक अंक और दो अंक के योग से निष्पन्न ३ अङ्क की, तदनन्तर दो अंक व तीन अङ्क के योग से निष्पन्न ५ अंक की स्थापना करनी चाहिये। इसी प्रकार ३ अंक व ५ अंक के योग से निष्पन्न ८ अंक का, तदनन्तर ५ अंक तथा ८ अंक के योग से निष्पन्न १३ अङ्क का विन्यास करना चाहिये। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के दो अंकों के योग से निष्पन्न उत्तरोत्तर अंकों का विन्यास करने पर मात्रा-सूत्री बन जाती है। इस मात्रासूची

के उपर क्रमशः १, २, ३ आदि क्रमिक अङ्कों की स्थापना करनी चाहिये। जैसे—

क्रमिकाङ्क	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०……
सूची	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	५५	८९……

यहाँ क्रमिक अंक वाले मात्राप्रस्तार में क्रमाङ्कों के नीचे लिखे अंकों के प्रमाण (संख्या) वाले प्रस्तारस्वरूप (न्यास) भेद हैं इसका ज्ञान हो जाता है। जैसे त्रिमात्राक प्रस्तार में ३ न्यास, चतुर्मात्राक प्रस्तार में ५ न्यास, अष्टमात्राक प्रस्तार में ३४ न्यास होते हैं।

जितनी मात्रावाला प्रस्तार बनाना है वहाँ उसके नीचे को पौर्वयुगीय अंकों को लिखना चाहिये। और वह मात्रासूचो में उससे पूर्ववर्ती दो अंकों के योग से बना है। अतः उसके नीचे उन दो अंकों को लिखना चाहिये। वे दोनों अंक भी मात्रा-सूची में उनसे पूर्ववर्ती दो अंकों के योग से बने हैं, अतः उनके नीचे, जिनके योग से वे अंक बने हैं, उन अंकों को लिखना चाहिये। वे अंक भी दो अंकों के योग से बने हैं। अतः उनके नीचे उन दो अंकों को लिखना चाहिये। इस प्रकार उत्तरोत्तर नीचे-नीचे दो अंकों का उल्लेख करते हुए ३ अंक जब आता है वह भी १ व २ अंकों के योग से बना है। अतः ३ अंक के नीचे उन दोनों अंनों का उल्लेख होगा। उसके बाद १ अंक शून्य व एक के योग से बना है अतः एक अंक के नीचे शून्य व १ का उल्लेख होगा। मात्रासूचीगत १ अङ्क वर्णसूचीगत १ अंक की तरह अयोगसिद्ध या दो शून्यों के योग से निष्पन्न नहीं है क्योंकि यहाँ शून्य से प्रारम्भ कर क्रमिकाङ्कों का उल्लेख नहीं है। इसलिए मात्रासूचीगत १ अंक अवश्य संख्यारूप है और शून्य तथा निरवयव १ अंक के योग से सिद्ध है। अतः मात्रा-सूचीगत १ अंक का शून्य व नित्य निरवयव एकाङ्क में विशकलन कर उनका एक अंक के नीचे उल्लेख करना चाहिये। इस तरह दो अंक का विशकलन करने पर दो अंक के नीचे जो १-१ अंक लिखे जाते हैं, उन दो एकांकों में प्रथम १ अंक द्वितीय १ अंक की अपेक्षा ह्रस्व है। अतः वह नित्य निरवयवस्वरूप है, उसके योगसिद्ध न होने से उसका विशकलन नहीं होता और विशकलन क्रिया की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु द्वितीय १ अंक शून्य तथा निरवयव १ अंक के योग से निष्पन्न है तथा संख्यारूप है, अतः उसका शून्य तथा निरवयव १ अंक के रूप में विशकलन कर उनका द्वितीय एकांक के नीचे उल्लेख होगा। इसके बाद ही विशकलन क्रिया की निवृत्ति होती है।

योगसिद्ध अंकों का यह विशकलन व्यापार 'सूचीविवृत्ति' शब्द से व्ययदिष्ट होता है क्योंकि यहाँ सूच्यङ्कों का ही विशकलन होता है न कि क्रमिकाङ्कों का। उदाहरण के लिये त्रिमात्रा प्रस्तार में सूची विवृति न्यास देखिए—

३
१———————— ————२
०———— ————×१ ×१———— ————१
०————×१

इसी भाँति चतुर्मात्रा प्रस्तार में सूचीविवृति न्यास को निम्नलिखित परिलेख में देखिये और इसे समझिये—

४ मात्रा प्रस्तार

५
२ ———————————— ३
×१———— ————१ १———— ————२
०———— ————×१ ०————×१ १————१
०————×१

इस चतुर्मात्रा प्रस्तार में क्रमिकाङ्क ४ के नीचे के सूच्यंक ५ को पहले लिखा गया है। इस ५ संख्या के स्वयं उससे पूर्ववर्ती २ व ३ अंकों के योग से निष्पन्न होने के कारण इस ५ अंक के नीचे २ तथा ३ (२——३) अंकों को लिखा गया है। इनमें २ अंक भी दो एकाङ्कों के योग से निष्पन्न हैं, अतः ये दोनों एकाङ्क २ अंक के नीचे (१——१) रूप में लिखे गये हैं। इनमें प्रथम १ अंक नित्य निरवयव (अवयवशून्य) है, अतः उसका विशकलन नहीं हो सकता है। फलस्वरूप उसमें विशकलन क्रिया की निवृत्ति हो गयी है जिसका सूचक × चिह्न उसके पूर्व रखा गया है। द्वितीय एकाङ्क निरवयव नहीं है प्रत्युत शून्य और निरवयव एक अंक के योग से निष्पन्न है। उसके विशकलन को नीचे शून्य व एकाङ्क को (०——१) लिखकर इस रूप में बताया गया है। इसी प्रकार ५ के दूसरे घटक ३ अंक के नीचे १——२ के न्यास द्वारा उस ३ अंक का भी विशकलनभाव बताया गया है। इसमें १ अंक का विभाग शून्याङ्क व नित्यैकाङ्क में होता है। जिसे १ अंक के नीचे (०——× १) इस रूप से दर्शाया गया है। इसमें नित्यैकाङ्क के निरवपव होने से विशकलन क्रिया की निवृति हो गई है। इसी प्रकार ३ के घटक २ अक के भी विशकलन भाव को १——१ के रूप में बताया गया है। यहाँ भी प्रथम १ अंक नित्य निरवयव है उसका विभाग संभव नहीं तथा द्वितीय १ अंक योगसिद्ध है, अतः इस द्वितीय १ अंक का पुनः विशकलन ०——×१ के रूप से बताया गया, इस नित्य निरवयव १ अंक का शिवकलन न होने से विशकलन क्रिया की निवृत्ति का सूचक × चिह्न लगाया गया है।

अब इनके न्यास प्रकार को नींचे लिखे न्यासों को दृष्टि में रखकर समझा जा सकता है। जैसे—

विशकलनसिद्ध दो अंकों में प्रथम अंक की संख्या वाला (ऽ) ऊपर नीचे क्रम से गुरु ऊपर लिखना चाहिये। द्वितीय अंक की संख्या वाला लघु उनके नीचे लिखना चाहिये। उनका विन्यास वाम भाग की ओर होता है। सूची विवरण की प्रथम

संस्था से प्रथम पंक्ति का तथा द्वितीय संस्था से द्वितीय पंक्ति का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार सूची विवरण संस्था के अनुसार ऊपर नीचे क्रम से विन्यस्त गुरुलघुपंक्तियों को वाम भाग की ओर लिखना चाहिए। ऐसा करने से प्रस्तार सिद्ध हो जाता है।

जैसे त्रिमात्रा प्रस्तार बनाने के लिए क्रमिकाङ्क ३ के अधोनिर्दिष्ट सूच्यङ्क ३ के, सूची में पूर्ववर्ती १ तथा २ अंक के योग से निष्पन्न होने के कारण उसका १ तथा २ अङ्कों में विशकलन किया जाता है। इनमें विशकलनसिद्ध १ अंक की संख्या वाला १ गुरु (ऽ) लिखा जाता है। विशकलनसिद्ध दो अंक के प्रमाण वाले २ लघुओं को क्रमशः उस गुरु के नीचे लिखा जाता है। अतः (१——२) अंक वाली इस प्रथम संस्था से तीन अवयवों वाली पंक्ति ऽ । । इस रूप में बनती है। प्रथम संस्था के इन (१——२) अंकों का भी विशकलन किया जाता है, इनमें १ अंक का विशकलन शून्य और नित्य निरवयव १ अंक में (०——१) इस रूप में होता है। इनमें प्रथम अंक के शून्याङ्क होने से उस प्रथमपंक्ति के वाम भाग में गुरु (ऽ) का विन्यास नहीं होगा, द्वितीय भाग निरवयव १ अंक के प्रमाण से एक लघु (।) लिखा जाता है, चूँकि इस लघु पर कोई गुरु अंक नहीं है अतः वह नीचे न लिखा जाकर प्रथम स्थान में लिखा जाता है। प्रथम पंक्ति में गुरु मात्रा के नीचे दो लघु मात्रायें तीन अंक के विशकलन से सिद्ध २ अंक से बनी थी। इस २ अङ्क का भी विशकलन (१——१) रूप से दो एकाङ्कों में हो जाता है। इनमें प्रथम १ अंक से एक संख्या वाला गुरु अर्थात् एक गुरु लिखा जाता है (ऽ) इस रूप में, तथा द्वितीय एक अंक के प्रमाण वाला लघु (।) लिखा जाता है। इस प्रकार । ऽ । स्वरूप वाली द्वितीय पंक्ति तीन अवयवों वाली बन जाती है। द्वितीय पंक्ति में ऊपर का लघु अंक (।) निरवयव १ अंक से बना है, अतः उसका विशकलन सम्भव न होने से उसके वाम भाग में कोई भी गुरु या लघु मात्रा नहीं लिखी जाती है। द्वितीय पंक्ति में गुरु अंक (ऽ) भी २ अङ्क के निरवयव १ अंक तथा संख्यारूप १ अंक के योग से सिद्ध होने के कारण उसका विशकलन नित्य निरवयव १ अंक तथा संख्यारूप १ अंक के रूप में होगा। उनमें भी नित्य निरवयब प्रथम १ अंक का विशकलन न होने के कारण इसके वाम भाग में भी किसी लघु गुरु मात्रा का विन्यास नहीं हो सकता। द्वितीय संस्थारूप एक अङ्क के शून्याङ्क व निरवयव एकाङ्क के रूप में विशकलन होने से प्रथम शून्यॉंक के कारण तो किसी गुरु (ऽ) मात्रा का विन्यास नहीं हो सकता। द्वितीय निरवयव एकांक के कारण वाम भाग में एक लघु (।) का विन्यास हो जाता है। इस प्रकार एकावयवा तृतीय पंक्ति सिद्ध हो जाती है। नीचे इस त्रिमात्राक प्रस्तार का परिलेख द्रष्टव्य है। इसी

प्रकार चतुर्मात्राक पञ्चमात्राक आदि प्रस्तारों में यही क्रम समझना चाहिए। इनके परिलेख देखकर स्वरूप ज्ञात करें—

त्रिमात्रा प्रस्तार न्यास

मात्रांक प्रस्तार	मात्रा चिह्न-गुरुलघु-प्रस्तार
× १ १——३	। ऽ — ३
× १ २	ऽ ।
१	। । ।
× १	

चतुर्मात्रा प्रस्तार न्यास
सूच्यङ्क ५

मात्रांक प्रस्तार न्यास	लघु गुरु प्रस्तार न्यास
× १ २ ५	ऽ ऽ ५
× १ १ ३	। । ऽ
× १ १	। ऽ ।
× १ २	ऽ । ।
× १ १	। । । ।

पञ्चमात्रा प्रस्तार न्यास
सूच्यंक ८

मात्रांक प्रस्तार	लघु गुरु प्रस्तार
× १ १ ३ — ८	। ऽ ऽ ८
× १ २	ऽ । ऽ
× १ १ २ ५	। । । ऽ
× १ ३	ऽ ऽ ।
× १ १	। । ऽ ।
× १ १	। ऽ । ।
× १ २	ऽ । । ।
× १ १	। । । । ।

जैसे त्रिमात्रा प्रस्तार में तीन पंक्ति रूप तीन प्रस्तार होते हैं वैसे ही चतुर्मात्राक प्रस्तार में चारपंक्तिरूप ४ प्रस्तार होते हैं। उसका निर्माण-प्रकार निम्नलिखित है। चतुर्मात्रा प्रस्तार में सूच्यंक ५ हैं। यह अंक (५) अपने पूर्ववर्ती अंक २ व ३ सूच्यंक के योग से बना है। अत: इसके विशकलन से सिद्ध अंक २ व ३ होते हैं। इन विशकलित अंकों में प्रथम अंक दो के प्रमाण से दो गुरु (ऽ) लिखे जावेंगे तथा तीन के प्रमाण से तीन लघु लिखे जावेंगे। इस प्रकार २ गुरु व ३ लघुओं के

ऽ
ऽ
ऊर्ध्वाधररूप से लिखित । पञ्चावयवा प्रथम पंक्ति सिद्ध होती है। पश्चात् २ अंक
।
।

का विशकलन दो एकांकों में होने से प्रथम नित्यैकांक के प्रमाणवाला एक गुरु (ऽ) और दूसरे संख्यैकांक के प्रमाण वाला एक लघु (।) ऊर्ध्वाधरक्रम से लिखा जाता है तथा ३ अंक का १ व २ अंकों में विशकलन होने से प्रथम १ अंक के प्रमाण वाला १

ऽ
।
गुरु (ऽ) तथा २ अंक के प्रमाण वाले दो लघु लिखे गये हैं। इस प्रकार ऽ इस रूप
।
।

वाली पञ्चावयवा द्वितीय पंक्ति बन जाती है। ये सभी अंक प्रथमपंक्ति के वाम भाग में उत्तराधरक्रम से लिखे गये हैं। पश्चात् गुरुप्रापक नित्यैकाङ्क का विशकलन संभव न होने से उसके वाम भाग में कोई गुरुलघुमात्रा नहीं लिखी गई है। द्वितीय संख्यैकाङ्क का शून्याङ्क तथा नित्यैकाङ्क रूप से विशकलन होने पर. प्रथम भाग के शून्याङ्क होने से द्वितीय पंक्तिस्थ गुरु के वाम भाग में कोई गुरु नहीं लिखा जाता है। किन्तु नित्यैकाङ्क के द्वितीय भाग होने से उससे प्रमित एक लघु (।) मात्रा वाम भाग में लिखी जाती है। पश्चात् ३ अंक के विशकलन से सिद्ध १ व २ अंकों में से प्रथम १ अंक का शून्याङ्क व नित्यैकाङ्क में विशकलन होने पर प्रथम भाग शून्याङ्क के शून्य होने से उसके वाम भाग किसी गुरुलघुमात्रा का विन्यास नहीं होता किन्तु द्वितीय भाग नित्यैकाङ्क से प्रमित १ लघु (।) मात्रा का विन्यास होता है। तदनन्तर ३ अंक के विशकलन से सिद्ध २ अङ्क का भी नित्यैकाङ्क व संख्यैकाङ्क में विशकलन से प्रथम भाग नित्यैकाङ्क से प्रमित एक गुरु (ऽ) मात्रा का विन्यास द्वितीय पंक्ति के वाम भाग में होता है। तथा द्वितीय भाग संख्यैकाङ्क से प्रमित एक लघु (।) मात्रा का विन्यास वाम भाग में गुरुमात्रा के नीचे

।
होता है। इस प्रकार (।) इस चतुरवयवा तृतीय पंक्ति का निर्माल चतुर्मात्रा-
ऽ
।

प्रस्तार में होता है। तदनन्तर नित्यैकांक के निरवयव होने से उसके वाम भाग

में कोई गुरु या लघु मात्रा नहीं लिखी जाती है। किन्तु संख्यैकांक के योगसिद्ध होने से उसके विशकलन से सिद्ध शून्यांक रूप प्रथम भाग से भी वाम भाग में किसी गुरु लघुका का विन्यास नहीं होता किन्तु नित्यैकांकरूप द्वितीय भाग से एक लघु मात्रा (।) की सिद्धि हो जाती है। यही लघुमात्रा चतुर्मात्राप्रस्तार की चतुर्थ पंक्ति है इस प्रकार चतुर्मात्राप्रस्तार की सिद्धि हो जाती है।

त्रिमात्राप्रस्तार चतुर्मात्राप्रस्तार व पंचमात्राप्रस्तार का नीचे के परिलेखों में कोष्ठबन्ध से प्रदर्शन किया गया है। इस तरह षण्मात्राप्रस्तार सप्तमात्राप्रस्तार आदि के न्यासों को भी मालूम करना चाहिए। प्रस्तारोल्लेख का यह संख्यान-मूलक तृतीय प्रकार है।

उपर्युक्त रीति से मात्राप्रस्तारोल्लेख इस प्रकार से त्रिविध है। इनके पुनः लघुक्रिय व गुरुक्रिय भेद से दो-दो भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार कुल छः भेद हो जाते हैं। इनके पुनः वामावर्त व दक्षिणावर्त भेद से दो-दो भेद हो जाते हैं, अतः मात्राप्रस्तारोल्लेख के इस प्रकार १२ भेद बन जाते हैं।

कोष्ठबन्धरूप से इन सूची-विवृतियों का निदर्शन
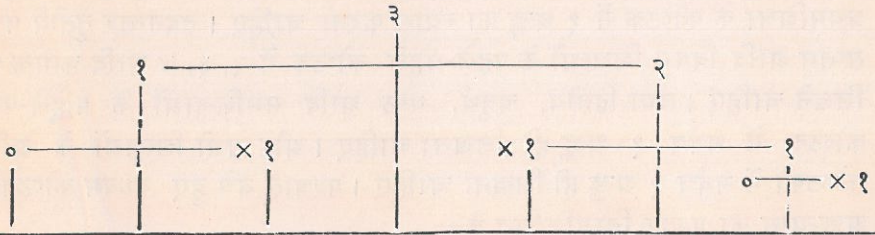
त्रिमात्रा-प्रस्तार
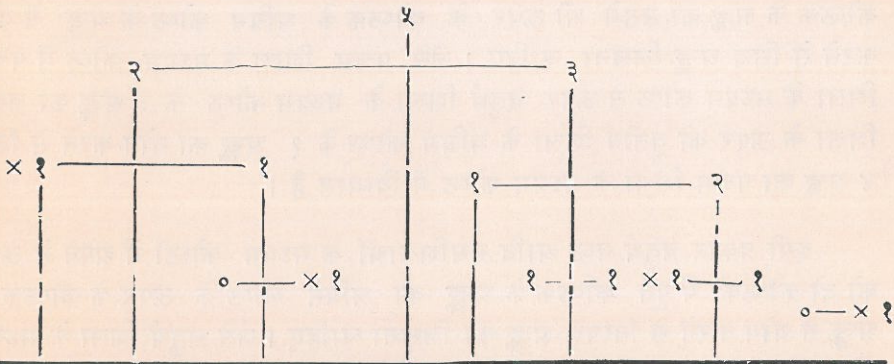
प्रस्तारचक्र समाप्त

मात्रामेरुप्रत्यय

भिन्न-भिन्न प्रस्तार सम्बन्धी विकल्पों (भेदों) में कितने भेद गुरुमात्रा वाले तथा कितने भेद लघुमात्रा वाले हैं इसका निर्धारण करने के लिए जहाँ अङ्कों का न्यास किया जाता है उसे मेरु कहते हैं। शिलासमूह के आकार वाला होने से इसको मेरु कहा गया है।

इसमें प्रथम एक कोष्ठकवाली शिला स्थापित करनी चाहिए। वही मेरु की प्रथम शिला कहलाती है। उसके नीचे दो कोष्ठकों वाली दो शिलायें उत्तराधर-क्रम से इस प्रकार स्थापित करनी चाहिएँ, जिससे इन शिलाओं के प्रथम, द्वितीय कोष्ठकों का आधा-आधा भाग प्रथम शिला के नीचे रहे और शेष आधा-आधा भाग दोनों शिलाओं के दोनों ओर रहे। पश्चात् उन दो कोष्ठकों वाली शिलाओं के नीचे तीन कोष्ठक वाली दो शिलायें बनानी चाहिएँ। तथा उन्हें इस रूप से स्थापित करना चाहिए जिससे प्रथम तृतीय कोष्ठकों का आधा-आधा भाग तृतीय शिला के दोनों ओर फैला रहे। इस प्रकार नीचे-नीचे उत्तराधरभाव से चार कोष्ठकों वाली, पाँच कोष्ठकों वाली आदि दो-दो शिलाओं की स्थापना करनी चाहिए।

उपर्युक्त शिलाकोष्ठकों में अङ्कन्यास निम्न रीति से करना चाहिए— प्रथमशिला के कोष्ठक में १ अङ्क का न्यास करना चाहिए। तदनन्तर तृतीय पंचम, सप्तम आदि विषम शिलाओं के पहले-पहले कोष्ठक में २, ३, ४ आदि क्रमिक अङ्क लिखने चाहिएँ। तथा द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ आदि समशिलाओं के पहिले-पहिले कोष्ठक में सर्वत्र १ अङ्क ही लिखना चाहिए। और सभी शिलाओं के अन्तिम कोष्ठकों में सर्वत्र १ अङ्क ही लिखना चाहिए। पश्चात् बचे हुए मध्यम कोष्ठकों में अङ्कन्यास का प्रकार निम्नलिखित है—

तृतीय पंचम आदि विषम शिलाओं के मध्यम कोष्ठों में उसके ऊपर के कोष्ठक के अङ्क का उससे भी ऊपर के कोष्ठक के अग्रिम कोष्ठ के अङ्क से योग करने से सिद्ध अङ्क लिखना चाहिए। जैसे पंचम शिला के मध्यम कोष्ठ में पंचम शिला के मध्यम कोष्ठ से ऊपर चतुर्थ शिला के मध्यम कोष्ठ के ३ अङ्क का चतुर्थ शिला के ऊपर की तृतीय शिला के अग्रिम कोष्ठ के १ अङ्क का योग करने से सिद्ध ४ अङ्क का पंचम शिला के मध्यम कोष्ठ में विन्यास है।

इसी प्रकार चतुर्थ षष्ठ आदि समशिलाओं के मध्यम कोष्ठों में अपने से ऊपर को दो कोष्ठकों में पूर्व कोष्ठक के अङ्क का अग्रिम कोष्ठ के ऊपर के कोष्ठक के अङ्क से योग करने से निष्पन्न अङ्क को लिखना चाहिए। जैसे चतुर्थ शिला के मध्यम कोष्ठ में उससे ऊपर के दो कोष्ठों में पूर्व कोष्ठक के २ अङ्क का उसके अग्रिम कोष्ठ के ऊपर के द्वितीय शिला के कोष्ठक के १ अङ्क से योग करने से निष्पन्न ३

अङ्क चतुर्थ शिला के मध्यम कोष्ठ में लिखा गया है। इस तरह अङ्कन्यास करने पर मात्रामेरु की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार अङ्कन्यास से निष्पन्न मात्रामेरुप्रत्यय से भिन्न-भिन्न मात्रा वाले प्रस्तारों में कितने विकल्प गुरुमात्रा वाले व कितने विकल्प लघुमात्रा वाले हैं यह ज्ञात हो जाता है। मात्रामेरुप्रत्यय की प्रत्येक शिला का क्रमशः एक मात्राप्रस्तार, द्विमात्राप्रस्तार आदि से समतुलन है। अतः मेरुप्रत्यय की जो शिला है उस के कोष्ठों में विन्यस्त अङ्कों द्वारा उसी मात्राप्रस्तार वाली गुरु लघु मात्राओं का ज्ञान हो जाता है। जैसे मात्रामेरु की चतुर्थ शिला के कोष्ठकों में विन्यस्त अङ्कों द्वारा चतुर्मात्रा प्रस्तार के गुरुलघुमात्रा वाले विकल्पों का ज्ञान हो जाता है। जैसे मेरु की चतुर्थ शिला के कोष्ठों में क्रमशः १, ३, १ अङ्क हैं। इनसे यह ज्ञात हो जाता है कि चतुर्मात्राप्रस्तार में दो गुरु मात्राओं वाला विकल्प एक, एक गुरुमात्रा वाले विकल्प तीन तथा निर्गुरुक अर्थात् लघु मात्रा वाला विकल्प एक है। अथवा चार लघुमात्रा वाला विकल्प एक, दो लघुमात्रा वाले विकल्प तीन तथा निर्लघुक विकल्प एक है। इसी प्रकार पंचमात्राप्रस्तार में गुरुमात्रा वाले विकल्प तीन, एक गुरुमात्रा वाले विकल्प चार तथा निर्गुरुक विकल्प एक है क्योंकि मात्रामेरु की पंचम शिला में क्रमशः ३, ४, १ अङ्क हैं। अथवा पंचमात्राप्रस्तार में एक लघुमात्रा वाले विकल्प ३, तीन लघु मात्रा वाले विकल्प ४, पाँच लघुमात्रा वाला विकल्प १ है। मेरुप्रत्यय के भिन्न-भिन्न शिलांकों की समष्टि भिन्न-भिन्न प्रस्तारों में उसके विकल्पों की संख्या है यह भी इससे ज्ञात हो जाता है। मूल ग्रन्थ के ६० पृष्ठ में इस मात्रामेरु का परिलेख द्रष्टव्य है।

खण्डमेरु

मात्रामेरु ही जब वाम या दक्षिण भाग में नत हो जाता है तो उसे खण्डमेरु कहते हैं। वह दक्षिणनत व वामनत भेद से दो प्रकार का है। इसका निर्माण-प्रकार निम्नलिखित है—इसमें एक कोष्ठक वाली शिला की स्थापना करनी चाहिए। यही प्रथम शिला कहलाती है। उस प्रथम शिला के नीचे दो कोष्ठकों वाली दो शिलाएँ उत्तराधर क्रम से इस प्रकार स्थापित करनी चाहिएँ जिससे उन शिलाओं का पहला-पहला कोष्ठक प्रथम शिला के सर्वथा नीचे रहे। और उनका दूसरा कोष्ठक प्रथम शिला के नीचे न रहे। फिर उन शिलाओं के नीचे तीन कोष्ठकों वाली दो शिलाएँ इस प्रकार से स्थापित करनी चाहिएँ। जिससे इन शिलाओं का प्रथम कोष्ठक प्रथम शिला के नीचे रहे तथा इनका द्वितीय कोष्ठक तृतीय शिला के द्वितीय कोष्ठक के नीचे रहे। इस प्रकार नीचे-नीचे उत्तराधर क्रम से चार कोष्ठकों व पाँच कोष्ठकों वाली आदि दो-दो शिलाओं की स्थापना करके खण्डमेरु का निर्माण हो जाता है। इन शिलाओं में अङ्कन्यास का प्रकार निम्नरीति से करना चाहिए—

इन शिलाकोष्ठकों में अङ्कन्यास निम्नलिखित प्रकार से करें—मेरु की भाँति यहाँ भी प्रथम कोष्ठकों में क्रमशः विषमसंख्यक शिलाओं में क्रमशः १, २, ३, ४ आदि क्रमिक अङ्क रखें, समसंख्यक शिलाओं के प्रथम कोष्ठकों में भी १, १ अङ्क ही रखें। समविषम सभी शिलाओं के अन्तिम कोष्ठों में सर्वत्र १, १, १, अङ्क ही रखें। यह अङ्कन्यास ऊपर से नीचे के क्रम में होगा। इस प्रकार आद्यन्त कोष्ठकों की पूर्ति हो जाने पर मध्यवर्ती कोष्ठकों की पूर्ति करनी चाहिए। इसमें सम-विषम-संख्यक शिलाओं की प्रक्रिया में उसी प्रकार अन्तर है जैसे मेरु में था। विषमसंख्यक शिलाओं के मध्यम कोष्ठकों की पूर्ति सम्बन्धित कोष्ठ से ठीक ऊपर वाली दो शिलाओं के उपरिस्थित दो कोष्ठकों के अंकों से होगी। जैसे पंचम पंक्ति के दूसरे कोष्ठक की पूर्ति करनी है तो इस कोष्ठक से ऊपर के चतुर्थ तृतीय शिलाकोष्ठकों के अंकों से होगी। जैसे पंचम शिला के मध्यम कोष्ठ के अंक की पूर्ति उस पञ्चम-शिलाकोष्ठक के ऊपर विद्यमान चतुर्थ तृतीय शिलाकोष्ठकों के अंक ३ व १ के योग से सिद्ध ४ अंक से की गई है। सभी विषम शिलाओं के मध्यम कोष्ठों के अंक की पूर्ति इसी प्रकार से होगी।

चतुर्थ षष्ठ आदि सम शिलाओं के मध्यम कोष्ठ की पूर्ति अपने से ऊपर के कोष्ठ के चारों दिशाओं में स्थित चारों कोष्ठकों में जो अग्रिम कोष्ठ है उससे भिन्न दो कोष्ठकों के अंकों से निष्पन्न अंक द्वारा करनी चाहिए। जैसे अष्टम शिला प्रथम मध्यम कोष्ठ की पूर्ति उस मध्यम कोष्ठ के ऊपर के १० अंक वाले कोष्ठ के चारों दिशाओं में वर्तमान कोष्ठों में अग्रिम कोष्ठवर्ती १ अंक के कोष्ठ को छोड़कर उससे भिन्न दो दिशाओं में स्थित कोष्ठों के ४ व ६ अंक के योग से निष्पन्न १० अंक द्वारा की गई है। इसी प्रकार अष्टमशिला के द्वितीय मध्यम कोष्ठ की पूर्ति इस मध्यम अंक वाले कोष्ठ के ऊपर के कोष्ठक के चारों दिशाओं में वर्तमान चार कोष्ठकों में अग्रिम कोष्ठ को छोड़कर उससे भिन्न दो कोष्ठकों के १० व ५ अंक के योग से निष्पन्न १५ अंक द्वारा की गई है। इसी तरह अष्टमशिला के तृतीय मध्यम कोष्ठ की पूर्ति इस तृतीय मध्यम शिला के ऊपर वर्तमान एकाङ्किक कोष्ठ के चारों दिशाओं में स्थित कोष्ठकों में से अग्रिम कोष्ठक से भिन्न दो कोष्ठकों के ६ तथा १ अङ्क के योग से निष्पन्न ७ अङ्क से की गई है। यहाँ पूरणीय कोष्ठक के ऊपर के कोष्ठक के चारों दिशाओं में स्थित कोष्ठकों में अग्रिम कोष्ठक को छोड़ दिया जाता है तथा एक कोष्ठक पूरणीय है। अतः शेष पूर्व व उत्तर के दो ही रहते हैं। उन्हीं पूर्व व उत्तर के कोष्ठकों के अङ्कों के योग से ही उस पूरणीय कोष्ठक के अङ्क की पूर्ति होती है। इस प्रकार सम विषम शिलाओं के कोष्ठों में अङ्कविन्यास करने पर खण्डमेरु की सिद्धि होती है।

इस प्रकार समविषमशिलाओं के कोष्ठकों में अङ्कन्यास करने से ज्ञातव्य विषय निम्नलिखित हैं—जैसे षष्ठ शिला के कोष्ठकों में क्रमशः १, ६, ५, १ अङ्कों

का विन्यास है । अतः षष्ठमात्राप्रस्तार के भेदों में ३ गुरु मात्रा वाला १ विकल्प, दो गुरुमात्रा वाले ६ विकल्प, एक गुरुमात्रा वाले ५ विकल्प तथा निर्गुरुक (गुरु-रहित मात्रा वाला) १ विकल्प हैं । संभूय षण्मात्राप्रस्तार में १३ विकल्प हैं । इसी प्रकार १२वीं शिला के कोष्ठकों में क्रमशः १, २१, ७०, ८४, ४५, ११, १ अङ्क हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि द्वादशमात्राप्रस्तार के विकल्पों में छः गुरुमात्रा वाला १ विकल्प, पांच गुरुमात्रा वाले २१ विकल्प, चार गुरुमात्रा वाले ७० विकल्प, तीन गुरुमात्रा वाले ८४ विकल्प, दो गुरुमात्रा वाले ४५ विकल्प, एक गुरुमात्रा वाले ११ विकल्प तथा निर्गुरुक (गुरुमात्रारहित) १ विकल्प है । संभूय द्वादश मात्राप्रस्तार में २३३ विकल्प हैं ।

मात्रा मर्कटी विज्ञान

इसमें एक जगह पर एकल, द्विकल, त्रिकल आदि मात्रावृत्तों का, प्रस्तारभेदों की संख्या का, सकल विकल्पों को मात्रासमष्टि का, सकल विकल्पों की लघुमात्रासमष्टि का, सकल विकल्पों की गुरुमात्रासमष्टि का, सकल विकल्पों की वर्णसमष्टि का ज्ञान इस मात्रा मर्कटी विज्ञान से हो जाता है । मकड़ी के जाले की तरह इसका गुम्फन होने से इसका मर्कटीजाल नाम रखा गया है । संक्षेप से इसे मर्कटीसूत्र, मर्कटीजाल तथा मर्कटी नाम से भी व्यवहृत करते हैं । जितनी मात्रा वाले प्रस्तार के पदार्थों का ज्ञान करना है उतने ही कोष्ठक वाली ६ पंक्तियाँ इसमें बनानी चाहिएँ । प्रथम पंक्ति के कोष्ठों में १, २, ३, ४, ५ आदि क्रमिक अङ्क लिखने चाहिएँ । द्वितीय पंक्ति के कोष्ठकों में १, २, ३, ५ आदि प्राग्वलित अङ्क अर्थात् पौर्वयुगीय (पूर्व दो अङ्कों के योग से निष्पन्न) अङ्क लिखने चाहिएँ । तृतीय पंक्ति के कोष्ठकों में प्रथम पंक्ति में लिखित क्रमिक अङ्कों के साथ द्वितीय पंक्ति के कोष्ठकों में स्थित प्राग्वलित अङ्कों के गुणन से सिद्ध अङ्क लिखने चाहिएँ । चतुर्थ पंक्ति के कोष्ठकों में प्रथम कोष्ठ में १ अङ्क, द्वितीय कोष्ठ में २ अंक लिखकर तृतीयादि कोष्ठकों में निम्न रीति से अंक-पूर्ति करनी चाहिए । अर्थात् पूरणीय कोष्ठक से प्राग्वर्ती दो कोष्ठकों के अङ्कों के साथ ऊर्ध्व भाग से उपलक्षित द्वितीय पंक्तिस्थ प्राग्वलित अङ्क का योग कर सिद्ध अङ्क में से क्रमशः १, २, ३, ५ आदि अङ्कों को कम करके लिखना चाहिए । इस प्रकार प्राग्वलित अङ्क का क्रमशः परित्याग कर पूरणीय कोष्ठक के ऊपर के प्राग्-वलित अङ्क तथा पूरणीय कोष्ठक से पूर्ववर्ती दो कोष्ठकों के अङ्कों का योग कर सिद्ध अङ्क लिखकर चतुर्थ पंक्ति की पूर्ति करनी चाहिए । पञ्चम पंक्ति के प्रकोष्ठों में से प्रथम कोष्ठ में किसी भी अंक को न लिखकर द्वितीयादि कोष्ठों में क्रम से चतुर्थ पंक्ति के अंक आदि लिखने चाहिएँ । षष्ठ पंक्ति के कोष्ठकों में चतुर्थ व पञ्चम पंक्ति के दोनों अंकों के योग से सिद्ध अङ्क लिखने चाहिएँ ।

मर्कटी न्यास का स्वरूप

मात्रा जाति की संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१२
प्रस्तार भेद	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	५५	८९	१४४	२३३	३७७
कुल मात्रा योग	१	४	९	२०	४०	७८	१४७	२७२	४९५	८९०	१५८४	२०९६	४९१८
लघुसमष्टि	१	२	५	१०	२०	३८	७१	१३०	२३५	४२०	७४४	१३०८	२२८५
गुरुसमष्टि	—	१	२	५	१०	२०	३८	७१	१३०	२३५	४२०	७४४	१३०८
वर्णसमष्टि	१	३	७	१५	३०	५८	१०९	२०१	३६५	६५५	११६४	२०५२	३५९३

मात्रानष्ट प्रत्यय

प्रस्तारगत विकल्पों के संख्याविशेषज्ञानद्वारा स्वरूप का ज्ञान कराना मात्रानष्ट प्रत्यय है। नष्टप्रत्ययविषयक सूत्र है—इष्टाङ्कोनितः सूचीशेषाङ्को यत्कलाविलुप्तः परसंहितया गुरुरिति मात्रानष्टप्रत्ययः इति।

अर्थात्—सूच्यङ्कों में इष्टाङ्क का लोप कर देने पर सूची का शेषाङ्क जिस कला से विलुप्त होता है उस कला को परकला के साथ संयुक्त कर देने से वह गुरु-मात्रा बन जाती है। समानमात्रा वाले जितने भेद हैं वे विकल्प कहलाते हैं। जिस विकल्प के स्वरूप का ज्ञान करना है उस विकल्प की जितनी मात्रायें विवक्षित हैं उतने ही प्राग्वलिताङ्क (सूच्यंक) लिखने चाहिएँ। आदि में १ अंक का तदनन्तर २ अंक का विन्यास करें। पश्चात् उन दोनों अंकों के योग से सिद्ध ३ अंक का, पश्चात् २ तथा ३ अंकों के योग से सिद्ध ५ अंक का, इसके बाद ३ तथा ५ अंक के योग से सिद्ध ८ अंक का उल्लेख करें। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के दो अंकों से निष्पन्न होने वाले अंक प्राग्वलिताङ्क या सूच्यंक कहलाते हैं। सूच्यकों का उल्लेख ही पौर्वयुगीय अंकन्यास कहलाता है। क्योंकि ये सूच्यंक पूर्व पूर्व के दो अंकों के योग से निष्पन्न होते हैं। इन सूच्यंकों में अन्तिम कलाङ्क शेषाङ्क कहलाता है। जिज्ञास्य अंक (इष्टाङ्क) के कम कर देने पर अवशिष्ट सूचीशेषाङ्क सिद्धाङ्क शब्द से व्यवहृत होता है। वह सिद्धाङ्क स्वरूप से या खण्डरूप से जिस कला का अंक है वह कला परवर्ती कला से मिलकर दो कला (मात्रा) वाले गुरु (ऽ) की कल्पना कर देती है। इस गुरु मात्रा को छोड़कर शेष कलायें अपने स्वरूप में रहती हुई एककल लघुमात्राओं की प्रतिपादिका हैं। अर्थात् एक कला वाली लघु मात्रा कहलाती है। इस तरह गुरुलघुमात्राओं वाले उस विकल्प का ज्ञान हो जाता है।

अथवा नष्टक्रिया का बोधक दूसरा सूत्र है—"पृष्टाङ्कन्यूनितसंख्यावशिष्टाङ्को यतो यतो विघटेत सा कला तत्परकला च मिश्रिते गुरुरन्यत्र लघुरिति नष्टप्रत्ययः" अर्थात् पृष्टाङ्क की न्यूनता करने पर अवशिष्ट संख्याङ्क जिस जिस कला स्थान से न्यून होता है वह कला (मात्रा) उसकी परवर्ती कला से मिलकर गुरु (ऽ) मात्रा होती है तथा अन्य लघु (।) मात्रायें होती हैं, यही मात्रानष्टप्रत्यय है। जैसे गुरुसाध्य षण्मात्राप्रस्तार में आठवाँ विकल्प (भेद) कौन-सा है यह जिज्ञासा होने पर षण्मात्राप्रस्तार में ६ कलायें (मात्रायें) स्थापित करनी चाहिएँ। उन ६ मात्राओं पर क्रमशः १, २, ३, ५, ८, १३ ये सूच्यङ्क लिखने चाहियें। अन्तिम १३वें अङ्क में जिज्ञास्य अष्टम अङ्क का लोप कर दें। आठवें अङ्क का लोप कर देने पर १३ में से ५ अङ्क बचते हैं। इस ५ अङ्क के नीचे की चतुर्थमात्रा परमात्रा से मिलकर गुरु हो जाती है। जैसे ६ मात्रा वाले प्रस्तार का स्वरूप इस प्रकार है—

१	२	३	५	८	१३
।	।	।	।	।	।

इस प्रस्तार में पृष्टांक ८ अङ्क का लोप कर देने पर अन्तिम १३ अङ्क ५ संख्यामात्र

शेष रहता है वह ५ अङ्क षणमात्रा प्रस्तार की चतुर्थ मात्रा पर है। अतः वह चतुर्थ मात्रा पाँचवीं मात्रा से युक्त होकर गुरु (ऽ) मात्रा बन जाती है। अतः षण्मात्रा-प्रस्तार के अष्टम विकल्प का स्वरूप लघु (।।।ऽ।) ऐसा सिद्ध होता है।

मात्रा उद्दिष्ट प्रत्यय

मात्रा विशेष वाले प्रस्तार में विकल्प का स्वरूप तो ज्ञात है किन्तु उस प्रस्तार में उसकी संख्या (स्थान) ज्ञात नहीं है कि वह कौन-सा विकल्प है तो उसका बतलाने वाला प्रकार मात्रोद्दिष्टप्रत्यय कहलाता है। इस प्रत्यय का सूत्र निम्नलिखित है—'गुरुप्रथमाङ्कोनितः सूचीशेषाङ्कः स्वरूपस्य स्थानसंख्या' इति मात्रोद्दिष्टप्रत्ययः। अर्थात् प्रारम्भ में उद्दिष्ट स्वरूप (जिस स्वरूप की स्थान संख्या मालूम करनी है वह स्वरूप) लिखें और उसकी कलाओं पर नष्टक्रम की तरह पूर्व-पूर्व दो अङ्कों के योग से सिद्ध अङ्कों को उत्तरोत्तर लिखें। गुरु मात्रा दो कलाओं वाली होती है। अतः गुरुमात्रा पर दो अंक लिखे जायेंगे। उनमें प्रथम कला का अङ्क गुरुमात्रा के ऊपर तथा द्वितीय कला का अङ्क गुरु मात्रा के नीचे लिखें। पश्चात् गुरुमात्रा के शीर्षस्थ अङ्कों का अन्तिम अङ्क में से लोप कर दें। अन्त में जो संख्या अवशिष्ट रहती है वही उस स्वरूप की स्थानसंख्या है।

जैसे षण्मात्राप्रस्तार में उद्दिष्ट स्वरूप (।।।ऽ।) है। इसमें कलाओं पर क्रमशः

१ २ ३ ५ १३

१, २, ३, ५, ८, १३ सूच्यंक लिखने पर सन्निवेशक्रम (। । । ऽ ।) इस रूप में

८

बनता है क्योंकि गुरु के द्विकलात्मक होने से प्रथम कला ८ से सम्बद्ध ५ अंक गुरु मात्रा (ऽ) के ऊपर तथा द्वितीय कला से सम्बद्ध ८ अङ्क गुरुमात्रा (ऽ) नीचे लिखा है। इन सूच्यङ्कों में गुरुमात्रा से सम्बद्ध शीर्षस्थ अङ्क ५ को सूचीशेषाङ्क १३ में से कम कर देने पर ८ संख्या शेष रहती है। यही उपर्युक्त स्वरूप की स्थानसंख्या है, अर्थात् षण्मात्राप्रस्तार में (।।।ऽ।) स्वरूप का ८वाँ क्रमस्थान है यह ज्ञात हो जाता है।

इसी प्रकार षण्मात्रा प्रस्तार के ही (।ऽ।ऽ) स्वरूप की क्रमसंख्या ज्ञात करने

१ २ ५ ८

हेतु इस पर सूच्यङ्कों का सन्निवेश करने पर उसका रूप । ऽ । ऽ बना। गुरु-

३ – १३

मात्राओं पर नियमानुसार ऊपर व नीचे दो-दो अङ्क हैं। जैसा कि प्रथम गुरु पर २ अंक शीर्ष पर और ३ अंक नीचे तथा द्वितीय गुरु पर ८ अंक शीर्ष पर तथा १३ अंक नीचे लिखा गया है। इसमें गुरुमात्राओं के शीर्षस्थ अंक २ व ८ को शेषांक १३ में से घटाने पर ३ बचते हैं। अतः इस प्रस्तारविकल्प का तीसरा क्रमस्थान है अर्थात् षण्मात्राप्रस्तार में (।ऽ।ऽ) यह तीसरा रूप है।

इसी प्रकार अन्य स्वरूपों की स्थानसंख्या का ज्ञान करना चाहिये। निम्न-

लिखित उद्दिष्ट स्वरूप (। । । । । ।) में सूच्यंक विन्यस्त करते हैं तो उद्दिष्टस्वरूप
१ २ ३ ५ ८ १३
(। । । । । ।) में एक भी गुरुमात्रा न होने से शेषांक में से किसी भी अंक का लोप नहीं किया जाता है फलतः शेषांक १३ ही इस प्रस्तार का स्थानक्रम है।

१३. षण्मात्राप्रस्तार की अन्तिम संख्या है अतः यह सिद्ध होता है कि यह इस प्रस्तारश्रृंखला का अन्तिम रूप है इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सर्वलघुप्रस्तार प्रस्तारमाला का अन्तिम रूप होता है तथा उसका अन्तिम अङ्क प्रस्तारों की कुल इयत्ता का सूचक है। ऐसे ही सर्वगुरुप्रस्तारस्वरूप प्रथम भेद
१ ३ ८
होता है जो ऽ ऽ ऽ के रूप में १+३+८ को १३ में से कम कर देने पर बचे
२ ५ १३
१ अंक से स्पष्ट है।

इसी प्रकार षण्मात्राप्रस्तार में ५वें विकल्प का स्वरूप जानना हो तो १३ में से ५ अंक का लोप कर देने पर शेषांक ८ रहता है। यह अंक षण्मात्राप्रस्तार के उपर्युल्लिखित सूचीस्वरूप में ५वें क्रम पर है अतः इसे इसके बाद वाली मात्रा के साथ मिलाने से वह गुरु (ऽ) मात्रा बन गई। शेष प्रथम चार मात्रायें स्वस्वरूप में अर्थात् लघुमात्रा रूप में रहीं। अतः ५वें विकल्प का स्वरूप । । । । ऽ ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार इसी षण्मात्राप्रस्तार में छठे विकल्प के स्वरूप को जानना हो तो १३ में से पृष्टांक ६ को कम करने पर शेषांक ७ बचते हैं। यह ७ संख्या सूची के २ व ५ कलाओं में विभक्त रूप से दृष्ट है जिनका क्रम द्वितीय व चतुर्थ हैं, अतः दूसरी व तीसरी कला मिल कर एक गुरु (ऽ) मात्रा तथा पाँचवीं व आठवीं कला मिलकर एक गुरु (ऽ) मात्रा बनती है। क्योंकि द्वितीय तथा पञ्चम कला का लोप हुआ है। वे दोनों कलायें पर कला से मिलकर गुरु (ऽ) मात्रायें बन जाती हैं। शेष एक और छठी मात्रायें यथावत् लघु ही रहती हैं अतः (। ऽ ऽ ।) यह स्वरूप षष्ठ विकल्प का सिद्ध होता है। इन तीन उदाहरणों की भाँति हो सर्वत्र नष्टक्रिया होगी तथा किसी भी संख्या वाले प्रस्तार में अभीष्ट क्रम वाले विकल्प का ज्ञान होगा।

संख्या विज्ञान

भिन्न भिन्न मात्राओं वाले प्रस्तार में इतने-इतने विकल्प होते हैं इस विकल्प संख्या का निर्धारण 'संख्या विज्ञान' प्रत्यय से होता है। इसका सूत्र निम्न-लिखित है—

'यावन्मात्राकप्रस्तारे संख्याजिज्ञासा तावतिथेन प्राग्वलिताङ्केन संख्या-प्रत्ययः'। अर्थात् जितनी मात्रा वाले प्रस्तार में प्रस्तार-विकल्पों की संख्या का ज्ञान करना है उतनी ही संख्या वाले प्राग्वलित अंक से प्रस्तारगत विकल्पों की संख्या का ज्ञान हो जाता है।

जितनी मात्रा वाले मात्रा प्रस्तार में कुल विकल्पों की संख्या का ज्ञान करना है उतनी ही कलाएँ स्थापित करनी चाहियें। उन कलाओं पर १. २. ३. ५. ८. १३. आदि क्रम से प्राग्वलित अङ्कों—अर्थात् पूर्ववर्ती दो अङ्कों के योग से निष्पन्न अंकों—की स्थापना करें। अन्तिम कला पर जो अङ्क होता है उसे शेषांक कहते हैं। उस शेषांक की संख्या वाले विकल्प उस मात्राप्रस्तार में होते हैं।

जैसे षण्मात्राप्रस्तार में छः कलाओं का न्यास करके प्रत्येक कला पर प्राग्वलित अङ्क (१ २ ३ ५ ८ १३ / । । । । । ।) रखने पर अन्तिम कला पर जो १३ अङ्क शेषांक है वह प्रस्तार के कुल विकल्पों की संख्या है, सप्तमात्राप्रस्तार में यह संख्या २१ होगी, अष्टमात्राप्रस्तार में कुल विकल्प ३४ होंगे। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। इसे निम्नलिखित परिलेख से स्पष्टता से जाना जा सकता है—

प्राग्वलितांक	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	५५	८९	१४४	२३३
कला	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
कला-संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

मात्रा-अध्वयोग-प्रत्यय

वर्णाध्वयोग के समान ही मात्राध्वयोग है। जैसे षडक्षर प्रस्तार में ६४ वर्ण हैं। उस ६४ को द्विगुणित कर १ संख्या के कम कर देने पर १२७ अंगुल षडक्षर-प्रस्तार में अपेक्षित हैं। इसी प्रकार मात्राप्रस्तार में प्रस्तारगत मात्राओं की जितनी संख्या है उसे द्विगुणित कर एक संख्या कम करने पर जो संख्या होती है उतना ही प्रदेश उस मात्रा वाले प्रस्तार के लिए अपेक्षित है। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में १३ कलायें हैं उनको द्विगुणित कर १ संख्या कम कर देने पर २५ संख्या होती है। यह २५ अंगुलात्मक प्रदेश षण्मात्राप्रस्तार का आधार है। इसलिए षण्मात्राप्रस्तार को दिखलाने के लिए २५ अंगुलात्मक प्रदेश ग्रहण करना चाहिए।

अब मेरुसम्बन्ध से मात्राशलाकाप्रत्यय व मात्रापताकाप्रत्यय का निरूपण किया जा रहा है। इनमें मात्राशलाकाप्रत्यय का निरूपण आगे सुखसारणी प्रकरण में किया जायगा। अतः यहाँ मात्रापताकाप्रत्यय का ही निरूपण किया जा रहा है।

मात्रापताका प्रत्यय

पूर्व में मेरुशलाका क्रिया द्वारा निर्गुरुक, एकगुरुक, द्विगुरुक, त्रिगुरुक आदि मात्राविकल्पों का, संख्या से निर्धारण कर दिया गया है। अर्थात् इतने विकल्प दो गुरु मात्रा वाले, इतने एक गुरुमात्रा वाले हैं इत्यादि का निर्धारण कर दिया गया है। किन्तु उन विकल्पों का स्थान कौन-सा है अर्थात् उन विकल्पों की स्थानसंख्या क्या है? इसका निर्धारण नहीं हुआ। इसके निर्धारण के लिए मात्रापताका प्रत्यय की प्रवृत्ति है। इस प्रत्यय के पताकाकार का होने से मात्राप्रत्यय को पताका कहा जाता है। इस मात्रापताका में जितने मेरुसिद्ध शिलाङ्क हैं उतने ही कोष्ठक लिखने चाहिएं और पताकादण्ड पर मात्रासूच्यङ्कों का उल्लेख करना चाहिए। उन मात्रासूच्यङ्कों के (अनुसार) पताका में अङ्कन्यास होता है। मात्रापताका की अन्तिम पंक्ति एक कोष्ठ वाली है। अतः उस में मात्राप्रस्तारसंख्यारूप, मात्रासूची के अन्तिम अंक का उल्लेख करना चाहिए। उस सूचीशेषाङ्क अर्थात् मात्रसूची के अन्तिम अङ्क में अन्तिम सूच्यङ्क से भिन्न एक एक सूच्यङ्क के यथासम्भव विलोप से अवशिष्ट अङ्कों को उपान्त्य पंक्ति में क्रमशः लिखें। पश्चात् उस शेषाङ्क में उससे (शेषांक से) भिन्न दो दो सूच्यंकों का यथासम्भव विलोप करके उससे अवशिष्ट अंकों को उपान्त्य पंक्ति की पार्श्व पंक्ति में लिखें। इसी प्रकार शेषाङ्क में शेषाङ्क से भिन्न तीन तीन या चार चार करके यथा-सम्भव सूच्यंकों का विलोप कर शेष अंकों को उत्तरोत्तर क्रम से लिखें। विलोप से सिद्ध अंक का यदि एक बार पहिले उल्लेख हो चुका है तो उसको दूसरी बार न लिखें। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में मेरुशिलाङ्क में १, ६, ५, १ ये चार अंक हैं। अतः इस षण्मात्राप्रस्तार में चार अंकों का ही न्यास है इसलिए षण्मात्राप्रस्तारपताका में चार पंक्तियाँ ही होती हैं। इससे प्रथम पंक्ति एक कोष्ठक वाली, द्वितीय पंक्ति ६ कोष्ठों वाली तृतीय पंक्ति ५ कोष्ठों वाली तथा चतुर्थ पंक्ति एक कोष्ठ वाली होगी।

इस प्रकार मेरुशिला के अंङ्कों के आधार पर पताकाकोष्ठों के निष्पन्न होने पर षण्मात्रावाली सूची के अंकों के आधार पर पताका में अङ्कन्यास करना चाहिए। षण्मात्राप्रस्तार में सूच्यंक १, २, ३, ५, ८, १३ हैं और सूचीशेषाङ्क त्रयोदश संख्या है। पताका की चतुर्थ पंक्ति के कोष्ठ में सूचीशेषाङ्क १३ लिखना चाहिए। तदनन्तर १३ अंक में ८ अङ्क के विलोप से अवशिष्ट ५ अंक को तृतीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में, ५ अंक के लोप से अवशिष्ट ८ अंक को तृतीय पंक्ति के द्वितीय कोष्ठ में, ३ अंक के विलोप से अवशिष्ट १० अंक को तृतीय पंक्ति के तृतीय कोष्ठ में, २ अंक के विलोप से अवशिष्ट ११ अंक को तृतीय पंक्ति के चतुर्थ कोष्ठक में, १ अंक के विलोप से अवशिष्ट १२ अंक को तृतीय पंक्ति के पञ्चम कोष्ठ में लिखें। इसके बाद १३ शेषाङ्क में से इससे पूर्ववर्ती दो दो सूच्यंकों का विलोप प्रारम्भ कर ५, ८ सूच्यंकों का विलोप करने पर कोई अंक अवशिष्ट नहीं रहता। अतः उसके लिखने का कोई प्रश्न नहीं है। ३ व ८ सूच्यंकों का विलोप करने से

अवशिष्ट २ अङ्क को द्वितीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में, २ व ८ सूच्यंकों का विलोप करने पर अवशिष्ट ३ अङ्क को द्वितीय पंक्ति के द्वितीय कोष्ठ में, १ व ८ सूच्यंकों के विलोप से अवशिष्ट ४ अंक को द्वितीय पंक्ति के तृतीय कोष्ठ में, ५ व २ अंकों के विलोप से अवशिष्ट ६ अंक को चतुर्थ कोष्ठ में, ५ व १ सूच्यंकों के विलोप से अवशिष्ट ७ अंक को पञ्चम कोष्ठ में, ३ व १ अंकों के विलोप से अवशिष्ट ९ अंक को द्वितीय पंक्ति के षष्ठ कोष्ठक में लिखें। इस प्रकार पताका की द्वितीय पंक्ति की भी पूर्ति हो जाती है। ५ तथा ३ अंकों के एवं २, ३ अंकों के विलोप से क्रमशः अवशिष्ट ५ अंक व ८ अंक का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है क्योंकि उनका उल्लेख पहिले तृतीय पंक्ति के प्रथम व द्वितीय कोष्ठ में हो चुका है। शेषाङ्क में से ३, ३ अंकों के विलोपक्रम में ८, ३, १ इन ३ सूच्यंकों के विलोप से अवशिष्ट १ अंक ही बचता है जिसका उल्लेख पताका की प्रथम पंक्ति में किया गया है। अन्य तीन सूच्यंकों के विलोप से अवशिष्ट अंकों का पहिले उल्लेख हो चुका है। अतः उनका पुनः उल्लेख नहीं किया गया है। जैसे १, २, ३ इन तीन सूच्यंकों के विलोप से अवशिष्ट ७ अंक द्वितीय पंक्ति के पञ्चम कोष्ठ में, २, ३, ५ सूच्यंकों के विलोप से अवशिष्ट ३ अंक का द्वितीय पंक्ति के द्वितीय कोष्ठ में उल्लेख हो चुका है। अतः उनका पुनः उल्लेख नहीं किया जा रहा है। इस तरह षण्मात्राप्रस्तार में पताकांकन्यास निष्पन्न हो जाता है।

षण्मात्रा-पताकाङ्कन्यास

१	२	३	५	८	१३
१	६	५	१		
१	२	५	१३		
	३	८			
	४	१०			
	६	११			
	७	१२			
	९				

उपर्युक्त पताकाङ्कन्यास से ज्ञातव्य तथ्यों का निरूपण निम्नलिखित है—

षष्ठ मेरुशिला में क्रमशः १, ६, ५, १ अंक है। इससे यह तो निश्चित हो गया कि त्रिगुरुकमात्राविकल्प एक है किन्तु उसके स्थान का निश्चय नहीं हुआ

है। अतः उसके स्थान का निश्चय पताका से होता है। पताका के प्रथम कोष्ठ में १ अंक का उल्लेख है इससे यह ज्ञात हो जाता है कि त्रिगुरुमात्राक एक विकल्प का स्थान प्रथम है। अर्थात् षण्मात्राप्रस्तार में त्रिगुरुमात्राक विकल्प प्रथम-स्थानीय है। इसी प्रकार द्विगुरुमात्राक विकल्प ६ हैं। यह तो षष्ठ शिला के द्वितीय कोष्ठ में उल्लेखित ६ अंक के द्वारा ज्ञात हो गया है किन्तु उन द्विगुरु-मात्रा वाले विकल्पों का षण्मात्राप्रस्तार में कौन कौन-सा स्थान है इसका निर्धारण पताका की द्वितीय पंक्ति से होता है। अर्थात् पताका की द्वितीय पंक्ति के कोष्ठों में निर्दिष्ट अंकों द्वारा होता है। इन अंकों से यह निश्चित हो जाता है कि षण्मात्रा-प्रस्तार में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, नवम स्थान द्विगुरुक विकल्पों के हैं। इसी तरह मेरु की षष्ठशिला के तृतीय कोष्ठ में उल्लेखित ५ अंक के द्वारा षण्मात्रा-प्रस्तार में एकगुरुमात्राक ५ विकल्प हैं यह ज्ञात हो जाने पर भी उन विकल्पों के स्थान का ज्ञान पताका की तृतीय पंक्ति में निर्दिष्ट अंकों द्वारा होता है। इसी तरह सप्तमात्रापताका का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उपर्युक्त रीति से मेरुसम्बन्ध से मात्राशलाका व मात्रापताका का निरूपण किया गया है।

इसके बाद मर्कटीसम्बन्ध से सूची, पाताल, मात्रा व पिण्ड प्रत्ययों का क्रम से निरूपण है।

सूची

पौर्वयुगीय अर्थात् पूर्व दो सूच्यंकों के योग से निष्पन्न अंकपरम्परा सूची कहलाती है जैसे १, २, ३, ५, ८, १३ आदि अंकपरम्परा। इन प्राग्वलिताङ्करूप सूच्यंकों में अन्तिम अंक से प्रस्तार के भेदों की संख्या का ज्ञान होता है। उपान्त्य सूच्यंक से लघ्वादि व लघ्वन्त भेदों की संख्या ज्ञात होती है। उपान्त्य से पूर्व सूच्यंक से गुर्वादि गुर्वन्त तथा लघ्वादि लघ्वन्त भेदों की संख्या का ज्ञान तथा उससे भी पूर्व सूच्यंक से गुर्वादि लघ्वन्त तथा लघ्वादि गुर्वन्त भेदों का ज्ञान होता है। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में प्रस्तारभेदों की संख्या १३ है। यह अन्तिम सूच्यंक शेषाङ्क से ज्ञात होता है। लघ्वादि तथा लघ्वन्त भेद षण्मात्राप्रस्तार में ८, ८ हैं। यह उपान्त्य सूच्यंक से ज्ञात होता है। उपान्त्यपूर्व सूच्यंक ५ से गुर्वादि, गुर्वन्त तथा लघ्वादि लघ्वन्त भेद ५-५ हैं यह ज्ञात होता है। इससे भी पूर्व सूच्यंक से गुर्वादिलघ्वन्त तथा लघ्वादिगुर्वन्त भेद ३-३ हैं यह ज्ञात होता है। उससे भी पूर्व सूच्यंक २ से गुर्वादि व गुर्वन्त भेद दो हैं यह ज्ञात होता है। मूल पुस्तक के पृष्ठ ६८ के अभिलेख से इसको सम्यक् समझिए।

पाताल प्रत्यय

अभीष्टमात्रा के समान कोष्ठों वाली तीन पंक्तियाँ लिखनी चाहिएं। उनमें प्रथम पंक्ति में इष्टांक, द्वितीय पंक्ति में प्राग्वलितांक (सूच्यंक) तथा तृतीय पंक्ति के प्रथम

कोष्ठ में १ अंक द्वितीय कोष्ठक में २ अंक लिखकर उसके उत्तरवर्ती कोष्ठों में अपने अव्यवहित पूर्ववर्ती दो कोष्ठकों के अंकों तथा अपने से अव्यवहित पूर्ववर्ती कोष्ठ के शीर्षस्थ अंक का योग कर सिद्ध अंक को लिखें। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में ६ अंक तक क्रमिकांक प्रथम पंक्ति में तथा १, २, ३, ५. ८, १३ ये पौर्वयुगीय (प्राग्वलित) अंक द्वितीय पंक्ति में लिखें। तृतीय पंक्ति में प्रथम कोष्ठ में १ अंक तथा द्वितीय कोष्ठ में २ अंक लिखकर आगे के कोष्ठों में कोष्ठत्रय के अंकों (पूरणीय कोष्ठक से अव्यवहित पूर्ववर्ती दो कोष्ठों के अंकों का तथा पूरणीय कोष्ठक से अव्यवहित पूर्ववर्ती कोष्ठक के शीर्षस्थ कोष्ठक के अंक का) योग कर निष्पन्न अंक को लिखें। जैसे तृतीय पंक्ति के तृतीय कोष्ठक में उससे अव्यवहित पूर्ववर्ती प्रथम द्वितीय कोष्ठकों के १ व २ अंक का तृतीय कोष्ठक से अव्यवहित पूर्ववर्ती द्वितीय कोष्ठक के शीर्षस्थ २ अंक से योग कर उससे निष्पन्न ५ अंक लिखा गया है। इसी प्रकार से आगे के कोष्ठकों में १०, २० आदि अंकों को निष्पन्न कर लिखना चाहिए।

इससे षण्मात्राप्रस्तार में ३८ लघु मात्राएँ तथा २० गुरुमात्रायें हैं यह तृतीय पंक्ति के अन्तिम तथा उपान्त्य कोष्ठकों से ज्ञात हो जाता है।

मात्राप्रत्यय

गुरुमात्राओं की संख्या को द्विगुणित कर उसमें लघुमात्राओं की संख्या का योग करने पर भिन्न-भिन्न प्रस्तारों में मात्राओं की संख्या का ज्ञान हो जाता है। जैसे षट्कल (षण्मात्रा) प्रस्तार में गुरुमात्राओं की २० संख्या को द्विगुणित कर उसमें ३८ लघुमात्राओं की संख्या का योग करने पर ७८ मात्रायें हैं यह ज्ञात हो जाता है। अर्थात् षण्मात्राप्रस्तार के मात्रासमष्टि की संख्या ७८ है यह सिद्ध हो जाता है।

पिण्डप्रत्यय

मात्रासंख्या को आधा करने पर पिण्डसंख्या का ज्ञान हो जाता है। जैसे— षट्कल प्रस्तार में मात्रासमष्टिसंख्या ७८ है। उसको आधा करने पर ३९ पिण्ड-संख्या है यह ज्ञात हो जाता है। इसी तरह अन्य मात्रा प्रस्तारों में भी पिण्डसंख्या को मालूम करना चाहिए। इस प्रकार १३ मात्राप्रत्ययों के द्वारा मात्राग्रन्थ में शास्त्रजालनामक प्रकरण समाप्त हो गया है।

अब बालकों के अभ्यास के लिए मात्राप्रत्ययों की सुखसारणी का निरूपण किया जा रहा है। संख्यान, अध्वयोग, प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, मेरु, शलाका, पताका, मर्कटीजाल इन मात्राप्रत्ययों की सूची ही एक ध्रुवा है। उसी के आधार से इन मात्रा-प्रत्ययों का ज्ञान संभव है। जिस सूची से उपर्युक्त मात्राप्रत्ययों का ज्ञान होता है वह मात्रासूची सौत्रसूची असौत्रसूची भेद से दो प्रकार की है। आदि में शून्य तथा नित्यैकाङ्क की स्थापना कर उन दोनों के योग से सिद्ध संख्यैकाङ्क की स्थापना

करें। पश्चात् नित्यैकाङ्क व संख्यैकाङ्क के योग से सिद्ध २ अङ्क को, तदनन्तर संख्यैकाङ्क तथा २ अङ्क के योग से सिद्ध ३ अङ्क को लिखें। इस प्रकार दो-दो के योग से सिद्ध ५, ८ आदि अङ्कों को उत्तरोत्तर लिखें। इन्हीं अङ्कों से मात्रासौत्र-सूची निष्पन्न होती है। तथा आदि में शून्य तथा नित्यैकाङ्क का परित्याग कर संख्यै-काङ्क, द्वयङ्क, त्र्यंक, पञ्चाङ्क आदि पौर्वयुगीय (पूर्व-पूर्व दो अङ्कों) के योग से सिद्ध तार नामक अङ्कों का विन्यास असौत्रसूची कहलती है। जैसे--

पार—	०	१	२	३	४	५	६	७	८	सौत्रसूची
तार—	१	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	

पार—	१	२	३	४	५	६	७	८	असौत्रसूत्री
तार—	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	

मात्रासंख्यानप्रत्यय

यहां क्रमिकाङ्कों से सूचित मात्राप्रस्तार में क्रमिकाङ्क से नीचे के पौर्वयुगीय (पूर्व के दो अङ्कों के योग से निष्पन्न) अङ्क के प्रमाण वाले मात्रा तथा पिण्ड-मात्राओं के भेद से भिन्न प्रस्तारस्वरूपभेद हो जाते हैं यही संख्याविज्ञान है। जैसे ५ क्रमिकाङ्क से सूचित प्रस्तार में अर्थात् पञ्चमात्राप्रस्तार में उस ५ अङ्क के नीचे विद्यमान पौर्वयुगीय ८ अङ्क के प्रमाण वाले ८ प्रस्तारभेद हैं अर्थात् पञ्चमात्रा-प्रस्तार में प्रस्तारभेदों की संख्या ८ है इस प्रकार प्रस्तारभेदों की संख्या का ज्ञान हो जाता है यही संख्यानप्रत्यय या संख्यानविज्ञान है।

मात्राध्वयोगप्रत्यय

गुरु या लघु मात्रा लिखने पर जितने प्रदेश को व्याप्त करती है उतना प्रदेश अंगुल कहलाता है। संख्यान से द्विगुणित अङ्क के प्रमाण वाले अंगुल एक अंगुल से न्यून होने पर मात्राध्वयोग है। अतः उतने प्रदेश को मात्राप्रस्तारोल्लेख के लिए ग्रहण करना चाहिए।

मात्राप्रस्तार

जितनी मात्रा वाले प्रस्तार का निर्माण करना है उस प्रस्तार के बोधक क्रमिक अङ्क के नीचे पौर्वयुगीय (पूर्व के दो अङ्कों के योग से निष्पन्न) अङ्क तक की सौत्र-सूची की स्थापना करनी चाहिए। तदनन्तर संख्यानाङ्क के प्रमाण वाले ऊर्ध्वाधर-भाव (ऊपर नीचे के क्रम) से विद्यमान स्थानों में उससे पूर्व अङ्क के क्रम से गुरुलघु-मात्राओं का उल्लेख करना चाहिए। उसका प्रकार यह है कि संख्यानांक पूर्ववर्ती

जिन दो अङ्कों के संयोग से बना है उन अङ्कों के प्रमाण वाली गुरु व लघु मात्रायें ऊर्ध्वाधरभाव से अर्थात् ऊपर नीचे के क्रम से लिखनी चाहिएँ । वह प्रस्तार की अन्तिम पंक्ति होती है । पश्चात् संख्यानाङ्क का निर्माण करने वाले दोनों अङ्क जिन दो अङ्कों के योग से निर्मित हैं उन दोनों अङ्कों के प्रमाण वाली गुरु व लघु मात्रायें लिखनी चाहिएँ । इससे प्रस्तार की उपान्त्य पंक्ति का निर्माण होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर अङ्कों के जनक पूर्व-पूर्व दो अङ्कों के विन्यास से उपान्त्य पूर्व की पंक्तियों का निर्माण करना चाहिए ।

जैसे षण्मात्राक प्रस्तार में संख्यानाङ्क १३ है । इसका निर्माण ५ व ८ अङ्कों के योग से हुआ है । अतः प्रथम भाग ५ अंक के प्रमाणवाली ५ गुरुमात्राओं को तथा द्वितीय भाग ८ अङ्क के प्रमाणवाली ८ लघुमात्राओं को ऊर्ध्वाधरक्रम से लिखना चाहिए । इससे षण्मात्राप्रस्तार की षष्ठ पंक्ति बन जाती है । पश्चात् गुरुमात्रा का जनक ५ अङ्क भी २ व ३ अङ्क के योग से बना है । अतः उसका २ व ३ अङ्क में विशकलन करने पर प्रथम भाग २ अङ्क के प्रमाण वाली दो गुरुमात्रायें तथा द्वितीय भाग ३ अङ्क के प्रमाण वाली तीन लघुमात्रायें उर्ध्वाधरक्रम से लिखनी चाहिएँ । तथा लघुमात्राजनक ८ अङ्क के ३ व ५ अङ्क के योग से निष्पन्न होने से उस ८ अङ्क का ३ व ५ अङ्क में विशकलन करने पर उसके प्रथमभाग ३ अङ्क के प्रमाणवाली तीन गुरु मात्राएँ तथा द्वितीय भाग ५ अंक के प्रमाणवाली पांच लघुमात्रायें ऊर्ध्वाधर क्रम से लिखें । इस प्रकार दो गुरुमात्राएँ, तीन लघुमात्रायें, तीन गुरुमात्राएँ व पाँच लघुमात्राएँ, इनको वामभाग की ओर ऊर्ध्वाधरक्रम से लिखने पर षण्मात्राप्रस्तार की पञ्चम पंक्ति बन जाती है ।

पश्चात् गुरुमात्राजनक २ अङ्क भी नित्यैकाङ्क व संख्यैकाङ्क के योग से निर्मित है । अतः उसका नित्यैकाङ्क व संख्यैकाङ्क में विशकलन होता है । अतः प्रथमभाग नित्यैकाङ्क के प्रमाण से १ गुरुमात्रा का तथा द्वितीय भाग संख्यैकाङ्क प्रमाण से १ लघुमात्रा का विन्यास होता है ।

गुरुमात्रासम्बन्धी ३ अङ्क का भी संख्यैकाङ्क में व द्वयङ्क में विशकलन होता है । इनमें प्रथम भाग संख्यैकाङ्क से प्रमित एक गुरुमात्रा का तथा द्वितीय भाग द्व्यङ्क से प्रमित दो लघुमात्राओं का विन्यास है । लघुमात्रासम्बन्धी ५ अङ्क का भी दो व तीन अङ्कों में विशकलन होता है । इनमें प्रथमभाग २ अङ्क से प्रमित २ गुरुमात्राओं का तथा द्वितीय भाग ३ अङ्क से प्रमित ३ लघुमात्राओं का विन्यास है । ये सब मात्रायें ऊर्ध्वाधरक्रम से वाम भाग में लिखी जाती हैं । इस प्रकार प्रस्तार की चतुर्थ पंक्ति का निर्माण होता है ।

गुरुमात्रासम्बन्धी दो अङ्क का नित्यैकाङ्क व संख्यैकांक में विशकलन होता है । उनमें नित्यैकाङ्क के नित्य होने से उसका विशकलन नहीं हो सकता । अतः उसके समकक्ष रूप से वामभाग में किसी गुरु या लघुमात्रा का विन्यास नहीं होता

किन्तु लघुमात्रासम्बन्धी संख्यैकाङ्क का शून्य तथा नित्यैकाङ्क में विशकलन होता है। शून्यरूप प्रथम भाग के शून्य होने से किसी गुरुमात्रा की प्राप्ति नहीं होती किन्तु द्वितीय भाग के नित्यैकाङ्करूप होने से उससे प्रमित एक लघु मात्रा का विन्यास वामभाग में होता है। पहिले गुरुसम्बन्धी ३ अङ्क का संख्यैकाङ्क व द्व्यङ्क में विभाग बतलाया था। उनमें प्रथम संख्यैकाङ्क का शून्य व नित्यैकाङ्क में विशकलन होने पर प्रथम भाग के शून्य होने से किसी गुरुमात्रा की प्राप्ति नहीं है। किन्तु द्वितीय भाग नित्यैकाङ्क से प्रमित एक लघुमात्रा का विन्यास संख्यैकाङ्क के समकक्ष में होता है। पश्चात् दो अंक का नित्यैकांक व संख्यैकांक में विशकलन होने से नित्यैकांक से प्रमित एक गुरुमात्रा तथा द्वितीयभाग संख्यैकांक से प्रमित एक लघुमात्रा का विन्यास होता है। पश्चात् नित्यैकांक के अयोगज होने से उस प्रथम भाग का विशकलन न होने से उससे पूर्व वामभाग में किसी गुरु व लघुमात्रा का विन्यास नहीं होता। किन्तु संख्यैकांक का शून्य व नित्यैकांक में विशकलन होने से शून्य से पूर्व वामभाग में किसी भी गुरुलघुमात्रा का विन्यास नहीं होता किन्तु द्वितीयभाग नित्यैकांक से प्रमित १ लघुमात्रा का विन्यास होता है। इस तरह अन्य अंकों के विशकलन से गुरु लघु मात्राओं का वामभाग में विन्याम करने पर प्रस्तार की तृतीय, द्वितीय व प्रथम पंक्तियों का निर्माण हो जाता है।

नष्टक्रिया

संख्यानांक में जिज्ञासित अंक के कम कर देने पर शेष संख्यानांक जिन पौर्वयुगीय (पूर्व दो अङ्कों के योग से बने हुए) अंक स्वरूप से या खण्डखण्ड रूप से जिन-जिन सूच्यंकों में उपलब्ध होता है वह मात्रा परमात्रा से मिलकर पिण्डभूत हो जाने से गुरुमात्रा बन जाती है तथा अन्य लघुमात्रायें रहती हैं इसे नष्टक्रिया या नष्टविज्ञान कहते हैं।

जैसे षण्मात्राक प्रस्तार में संख्यानांङ्क १३ है। उसमें जिज्ञासित १२ अंक कम कर देने पर १ अंक रूप संख्यानाङ्क शेष रहता है। अतः वह एकाङ्क के नीचे की प्रथम मात्रा दो अंक के नीचे की परवर्ती कला से मिल जाने से उनके स्थान में गुरु (ऽ) मात्रा बन जाती है और शेष कलाएँ यथावत् लघुमात्रायें ही रहती हैं। इस प्रकार भघात्मक (ऽ।।।।) जो स्वरूप निष्पन्न होता है वही षण्मात्राप्रस्तार में १२वें प्रस्तारविकल्प का स्वरूप है। भघात्मक स्वरूप का तात्पर्य भगण तथा दो लघुमात्राएँ हैं। क्योंकि 'घ' वर्ण दो लघुमात्राओं का बोधक है। इसी प्रकार षण्मात्राप्रस्तार में १०वें प्रस्तारविकल्प का स्वरूप मालूम करना है तो संख्यानाङ्क में १० अंक कम कर देने पर ३ अंक रूप संख्यानाङ्क शेष रहता है। अतः ३ सूच्यंक वाली कला परवर्ती ५ सूच्यंकवाली कला के साथ मिलकर एक हो जाने से दोनों कलाओं के स्थान में गुरु (ऽ) मात्रा की निष्पत्ति हो जाती है और शेष कलायें यथावत् लघु रहती हैं। इस प्रकार (।।ऽ।।) इत्याकारक

सघात्मक अर्थात् सगण व दो लघु कलात्मक स्वरूप निष्पन्न होता है। यही स्वरूप षण्मात्राप्रस्तार में दशम प्रस्तारविकल्प का है यह ज्ञात हो जाता है। इसी रीति से षण्मात्राप्रस्तार में ८वें प्रस्तारविकल्प का स्वरूप मालूम करना है तो संख्यानाङ्क १३ में से ८ अंक के कम कर देने पर ५ अंकरूप संख्यानाङ्क शेष रहता है। अतः ५ सूच्यंक स्थान वाली कला ८ सूच्यंक स्थानीय कला से मिलकर पिण्डीभूत हो जाने से उनके स्थान में गुरुमात्रा हो जाती है। शेष मात्रायें यथावत् लघु ही रहती हैं। इस तरह जो स्वरूप बनता है वह लसलात्मक (।।।ऽ।) बनता है यही स्वरूप षण्मात्राप्रस्तार में अष्टम प्रस्तारविकल्प का है। लसलात्मक का तात्पर्य लघु, सगण व लघु है। क्योंकि 'ल' शब्द लघु (।) मात्रा का बोधक है। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में संख्यानाङ्क में से जिज्ञासित अंक की कमी कर देने पर शेष संख्यानाङ्क सूच्यंकों में स्वरूपतः उपलब्ध होता है। इसी प्रकार संख्यानाङ्क में जिज्ञासित अंक के कम कर देने पर शेष संख्यानाङ्क की जहाँ खण्ड-खण्ड रूप से उपलब्धि होती है उसका उदाहरण निम्नलिखित है। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में जिज्ञासित ६ अंक कम कर देने पर अवशिष्ट ७ अंकरूप संख्यानाङ्क की सूच्यंकों में स्वरूपतः उपलब्धि न होने पर भी २ रूप सूच्यंक तथा ५ रूप सूच्यंकों में खण्ड-खण्ड रूप से उपलब्धि होती है। अतः द्वितीय कला परवर्ती तृतीय कला से तथा पञ्चममात्रा परवर्ती अष्टम-स्थानीय कला से मिलकर गुरु (ऽ) मात्रायें बन जाती हैं। शेष कलायें लघु (।) रहती हैं। इस प्रकार षण्मात्राप्रस्तार का षष्ठ स्वरूप (।ऽऽ।) ऐसा है। अतः द्वितीय स्थानीय कला परवर्ती तृतीय स्थानीय कला से तथा पञ्चमस्थानीय कला परवर्ती अष्टम स्थानीय कला से मिलने के कारण पिण्डीभूत होकर वे कलायें गुरु (ऽ) कला बन जाती हैं। शेष कलायें यथावत् लघु (।) ही रहती हैं। इस प्रकार लक्षलात्मक (।ऽऽ।) जो स्वरूप बनता है वही षण्मात्राप्रस्तार के षष्ठ विकल्प का है। लक्षलात्मक का तात्पर्य एक लघुमात्रा दो गुरु मात्रा तथा अन्त में पुनः एक लघुमात्रा अर्थ है क्योंकि 'ल' वर्ण लघुमात्रा का तथा 'क्ष' वर्ण दो गुरु-मात्राओं का बोधक है।

उद्दिष्ट क्रिया

उद्दिष्टस्वरूप के ऊपर पौर्वयुगीय सूच्यंकों को लिखना चाहिये। किन्तु गुरु (ऽ) मात्रा के ऊपर व नीचे दो सूच्यंकों का तथा लघुमात्रा के ऊपर एक सूच्यंक का विन्यास कर गुरुमात्रा के ऊपर विन्यस्त अंकों को संख्यानाङ्क से हटा देने पर (कम कर देने पर) अवशिष्ट अंक से उद्दिष्टस्वरूप के स्थान का ज्ञान उद्दिष्ट क्रिया कहलाती हैं। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में (।ऽऽ।) इस उद्दिष्टस्वरूप में गुरु-

१ २ ५ १३
मात्राओं के ऊपर (। ऽ ऽ ।) इस रूप से विन्यस्त दो व पाँच अंकों को
३ ८

संख्वानाङ्क से हटा देने पर, कम कर देने पर ६ अंक रूप संख्यानाङ्क बचता है।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि षण्मात्राप्रस्तार में उपर्युक्त उद्दिष्टस्वरूप का स्थान षष्ठ है। इसी प्रकार अन्य उद्दिष्टस्वरूपों का स्थान भी इसी रूप से ज्ञात किया जा सकता है।

६ मात्रा मेरु प्रत्यय

ऊपर नीचे क्रम से असौत्रसूची (एकाङ्क से आरम्भ कर अभीष्टमात्राप्रसार से सम्बद्ध अङ्क पर्यन्त) लिखकर लेख्य पंक्ति के समकक्षाङ्क से प्रारम्भ कर ऊपर की ओर क्रमशः अंकों को गिनकर उन अङ्कों के अनुसार वाम भाग की ओर अङ्कों को लिखने पर मात्रा मेरु प्रत्यय बनता है।

सूचीस्थ अङ्कों की एक स्थान में भी समष्टि न करके व्यष्टिभूत सूचीस्थ अंकों के द्वारा की जानेवाली गणनावृत्ति एक ही होती है। इसलिये वहाँ एक अङ्क लिखा जाता है। वह एक अङ्क ही निर्गुरुक प्रस्तारस्वरूप का प्रमाण होता है। तदनन्तर उन सूच्यंकों में एक स्थान में अव्यवहित किन्हीं दो सूच्यंकों की पिण्डरूप से ऐक्यभावना कर गणना करने पर जितनी गणनाऽऽवृत्तियाँ होती हैं उस अङ्क को १ अङ्क के वामभाग की ओर लिखें। वही अंक एकगुरुकमात्रा स्वरूप का प्रमाण होगा अर्थात् उतने ही एकगुरु मात्रा वाले प्रस्तारस्वरूप होंगे। तत्पश्चात् उन सूच्यंकों में पहिले की तरह अव्यवहित दो अङ्कों के मिश्रण से ऐक्यभावना दो स्थानों में करने पर जितनी गणनाऽऽवृत्तियाँ होती हैं उस अंक को पहले वाले अङ्क के वाम भाग में लिखें। यह अङ्क द्विगुरुमात्राक स्वरूप का प्रमाण होगा अर्थात् उतने ही द्विगुरुमात्राक स्वरूप होंगे। सूच्यंकों में अव्यवहित दो अंकों के मिश्रण से तीन स्थानों में ऐक्यभावना कर गिनने पर जितनी गणनावृत्तियाँ होती हैं उन्हें पहिलेवाले अंक के वामभाग में लिखें। वह त्रिगुरुमात्राक स्वरूप का प्रमाण होगा। अर्थात् उतने ही त्रिगुरुमात्राक प्रस्तार होंगे।

मात्रा मेरु परिलेख

	त्रिगुरुक	द्विगुरुक	एकगुरुक	निर्गुरुक	तार	असौत्रसूची पार
				१	१	१
			१	१	२	२
			२	१	३	३
		१	३	१	५	४
		३	४	१	८	५
	१	६	५	१	१३	६
	४	१०	६	१	२१	७
१	१०	१५	७	१	३४	८

यहाँ पार के अङ्क मात्रा संख्या सूचक हैं। जैसे एकमात्राक प्रस्तार, द्विमात्राक प्रस्तार त्रिमात्राक प्रस्तार आदि। तार के अङ्क उस मात्रा के कुल प्रस्तारों की संख्या बताते हैं। जैसे ६ (पार) मात्राक प्रस्तार के १३ (तार) कुल भेद हैं। इसके बाद निष्पन्न अङ्कों में प्रथम श्रेणीस्थ एकांक निर्गुरुक भेद को बताता है। द्वितीय पंक्ति का ५ अङ्क एकगुरुकस्वरूप भेदों को, तृतीय पंक्तिस्थ ६ अङ्क द्विगुरुकस्वरूप भेदों को तथा चतुर्थ पंक्ति का १ अङ्क त्रिगुरुक स्वरूप भेद को बतलाता है। इसी प्रकार अन्य मात्रा वाले प्रस्तारों के स्वरूपभेद जानने चाहियें।

मात्रा शलाका प्रत्यय

जिस प्रकार से मेरुसाधन बतलाया है उसी प्रकार से प्रातिस्विक (व्यष्टि) रूप से की जाने वाली क्रिया मात्राशलाका होती है। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में यदि शलाका क्रिया करनी है तो ६ ही सूच्यंक लिखने चाहियें।

। १ २ ३ ५ ८ १३ ।

इस षण्मात्राप्रस्तार में व्यष्टिरूप में सूच्यंकों की गणना करने पर गणना की आवृत्ति एक ही होती है। अतः वहाँ एक अंक का उल्लेख होता है। (१) दो सूच्यंकों के योग से उनकी समष्टि कर दो-दो अंकों की एंकैक समष्टि के भेद से गणनावृत्तियाँ ५ (पाँच) होती हैं। जैसे—

१ २ ३ ५ ८ — १३

१ २ ३ ५ — ८ १३

१ २ ३ — ५ ८ १३

१ २ — ३ ५ ८ १३

१ — २ ३ ५ ८ १३

इसलिए पूर्वनिर्दिष्ट एक अंक के वामभाग की ओर (५/१) इस रूप से ५ अंक लिखा जाता है। पश्चात् दो मात्रासूच्यंकों के योग से होने वाली दो-दो समष्टियाँ मानकर गणना करने से गणनावृत्तियाँ ६ हो जाती हैं। जैसे—

१ २ ३ — ५ ८ — १३

१ २ — ३ ५ ८ — १३

१ — २ ३ ५ ८ — १३

१   २ — ३   ५ — ८   १३

१ — २   ३   ५ — ८   १३

१ — २   ३ — ५   ८   १३

इसलिए पूर्वनिर्दिष्ट ५ अंक के वामभाग में ६ अंक का उल्लेख है। जैसे (६/५/१)। इसके बाद तीन मात्रासूच्यंकों के योग से होने वाली ३ समष्टियाँ मानकर की जाने वाली गणनावृत्ति एक ही होती है। जैसे—

१ — २   ३ — ५   ८ — १३

इसलिए १ अंक को पूर्व निर्दिष्ट ६ अंक के वामभाग में (१।६।५।१) इस रूप से रखा जाता है। ३ से अधिक समष्टियाँ षण्मात्राप्रस्तार में सम्भव नहीं हैं। इसलिए षण्मात्राप्रस्तार में (१।६।५।१) इन अंकों वाली शलाका सिद्ध हो जाती है, इसमें त्रिगुरुक स्वरूपभेद एक है। द्विगुरुक स्वरूपभेद ६ हैं। एकगुरुक स्वरूपभेद ५ हैं तथा निर्गुरुक स्वरूपभेद १ है।

पञ्चमात्राप्रस्तार में व्यष्टिकृत गणनावृत्ति एक है। जैसे १ २ ३ ५ ८। तथा दो सूच्यंकों की एक समष्टि के अन्तर्भाव वाली गणनावृत्तियाँ चार होती हैं। जैसे—

१   २   ३   ५ — ८

१   २   ३ — ५   ८

१   २ — ३   ५   ८

१ — २   ३   ५   ८

दो समष्टियों के अन्तर्भाव वाली गणनावृत्तियाँ तीन हैं। जैसे—

१   २ — ३   ५ — ८

१ — २   ३   ५ — ८

१ — २   ३ — ५   ८

पञ्चमात्राप्रस्तार में समष्टित्रयकृत गणना संभव नहीं हैं। अतः इस प्रस्तार में (३।४।१) इस तरह की शलाका सिद्ध होती है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि पञ्चमात्राप्रस्तार में द्विगुरुक स्वरूपभेद ३ हैं। एकगुरुक स्वरूपभेद ४ है तथा निर्गुरुक स्वरूपभेद १ है।

पताकाक्रिया

इसमें सौत्रसूची लिखनी चाहिए। उसमें शेषाङ्क (संख्यानाङ्क) से आरम्भ होने वाले अंकों में एक एक अंक को छोड़कर शेष अंकों के शीर्ष पर शलाकाङ्क क्रम से लिखने चाहिएँ। तदनन्तर शेषाङ्क के नीचे शेषाङ्क स्वस्वरूप में ही लिखना चाहिए। क्योंकि सर्वप्रथम पताका क्रिया का अनुवर्तन होने से पूर्वावस्था में निर्विकारस्वरूप शेषाङ्क ही उपलब्ध होता है। तदन्तर शेषाङ्क में उससे प्राग्वर्ती एक एक अंकों का अपनयन कर देने से सिद्ध अङ्कों को शलाका के उपान्त्य अंक से उपलक्षित अंक से नीचे लिखें। ये अङ्क एकगुरुकप्रस्तारस्वरूप के स्थान के बोधक होते हैं। पश्चात् शेषाङ्क में उससे पूर्ववर्ती दो दो अंकों के परिहार से सिद्ध अंक शलाकाङ्क से उपलक्षित पूर्वाङ्क के नीचे क्रम से लिखने चाहिएँ। ये अङ्क द्विगुरुक स्वरूपस्थान के बोधक हैं। इस प्रकार अधिकाधिक अर्थात् तीन तीन चार चार अंकों को शेषाङ्क से कम कर देने पर सिद्ध अंकों का पूर्व पूर्व पंक्तियों में विन्यास करें। ये अंक तीन गुरु-मात्रास्वरूप व चार गुरुमात्रास्वरूप के स्थान के बोधक होते हैं। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में विन्यस्त सूची के१३ अंक के नीचे १३ अंक का उल्लेख है। पश्चात् सूच्यंक ८ को छोड़कर ५ अंक के नीचे शेषाङ्क १३ से पूर्ववर्ती सूच्यंकों में एक सूच्यंक ८ के अपहार से ५ अंक, ५ सूच्यंक के अपनयन से ८ अङ्क, ३ सूच्यंक के परिहार से १० अंक, २ सूच्यंक के परिहार ११ अंक तथा एक सूच्यंक के अपनयन से १२ अंक सिद्ध होते हैं; इनका सूच्यंक ५ के नीचे उल्लेख हुआ है।

तदनन्तर सूच्यङ्क ३ को छोड़कर सूच्यङ्क २ के नीचे शेषाङ्क १३ में से दो सूच्यङ्क ८ व ३ को कम कर देने पर २ अङ्क, दो सूच्यङ्क ८ व २ का अपहार कर देने पर ३ अंक, दो सूच्यङ्क ८ व १ का अपहार कर देने पर ४ अंक, दो सूच्यङ्क ५ व २ को कम कर देने पर ६ अंक, दो सूच्यङ्क ५ व १ का परिहार कर देने पर ७ अंक, दो सूच्यङ्क ३ व १ का परिहार कर देने पर ९ अंक सिद्ध होते हैं। इनका शलाकाङ्क ६ से उपलक्षित २ सूच्यङ्क के नीचे क्रमशः उल्लेख किया गया है। अन्त में शलाका के १ अंक से उपलक्षित सूच्यङ्क १ अंक के नीचे १ अंक को लिखा गया है। इस प्रकार अङ्कन्यास करने पर षण्मात्राप्रस्तार में पताका बनती है। इसी तरह पञ्चमात्राप्रस्तार में शेषाङ्क ८ के नीचे ८ अङ्क को लिखा जाता है। फिर एक सूच्यङ्क ५ को छोड़कर शेषाङ्क ८ में से सूच्यङ्क ५ का परिहार करने पर ३ अंक, सूच्यङ्क ३ का परिहार करने पर ५ अंक, सूच्यङ्क २ का परिहार करने पर ६ अंक, सूच्यङ्क १ का अपहार करने पर ७ अंक सिद्ध होते हैं। इनका शलाका के ४ अंक से उपक्षित सूच्यङ्क ३ के नीचे क्रमशः विन्यास हुआ है। पश्चात् दो सूच्यङ्क को छोड़कर शेषाङ्क ८ में से दो सूच्यङ्क ५ व २ के परिहार से सिद्ध १ अंक का, दो सूच्यङ्क ५ व १ अंक के परिहार से सिद्ध २ अङ्क का, दो सूच्यङ्क ३ व १ अंक के अपनयन से सिद्ध ४ अंक का, शिलाङ्क ३ से उपलक्षित १ सूच्यङ्क के नीचे उल्लेख हुआ है। इसी रीति से सप्तमात्राप्रस्तार आदि में भी पताका बनानी चाहिए।

मर्कटीजालप्रक्रिया

यहाँ सौत्रसूची का विन्यास करना चाहिए। तदनन्तर क्रमिकाङ्कों का संख्यानाङ्क से गुणन कर उससे सिद्ध अंकों को लिखना चाहिए। यही उस प्रस्तार में मात्रासमष्टिसंख्या होगी। जैसे चतुर्मात्राप्रस्तार में क्रमिकाङ्क ४ का संख्यानाङ्क ५ से गुणित करने पर सिद्ध २० अङ्क (संख्या) मात्रासमष्टिसंख्या है। अर्थात् चतुर्मात्राप्रस्तार में सारी २० मात्रायें हैं। संभव होने पर संख्यानाङ्क को साध्य कोष्ठ से पूर्ववर्ती कोष्ठद्वय के अंक से संकलित कर और उसमें से साध्य अंक से पूर्ववर्ती तृतीय कोष्ठ के अंक को कम कर देने पर निष्पन्न अंक उस प्रस्तार में लघुमात्रा समष्टि होगी। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में संख्यानाङ्क १३ का साध्य कोष्ठ षष्ठ से पूर्ववर्ती दो कोष्ठों ५ व ४ कोष्ठों के अङ्कों २० तथा १० अंक से मिलाने पर ४३ अंक होते हैं। उनमें साध्य अंक ३८ से पूर्ववर्ती तृतीय कोष्ठ के अंक ५ को कम कर देने पर ३८ संख्या बचती है। यही षण्मात्राप्रस्तार में लघुमात्रासमष्टिसंख्या है। लघुमात्रा-समष्टि के अंक से अव्यवहितपूर्ववर्ती कोष्ठ का अंक उस प्रस्तार में गुरुमात्रासमष्टि संख्या होगी। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में लघुमात्रासमष्टि के अंक ३८ से अव्यवहित-पूर्ववर्ती कोष्ठ ५ का अंक २० गुरुमात्रासमष्टिसंख्या होगी। अथवा मात्रासमष्टि में लघुमात्रासमष्टि के कम कर देने पर अवशिष्ट मात्रासमष्टि के अर्धकरण से सिद्ध अंक गुरुमात्रासमष्टि की संख्या होगी। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में मात्रासमष्टिसंख्या ७८ है उसमें से लघुमात्रासमष्टि ३८ संख्या को कम कर देने पर शेष मात्रासमास ४० को आधा कर देने पर बची हुई २० संख्या गुरुमात्रासमष्टिसंख्या है। तथा लघु-मात्रासमष्टिसंख्या और गुरुमात्रासमष्टिसंख्या का योग उस प्रस्तार में वर्णसमष्टि होती है। जैसे षण्मात्राप्रस्तार में लघुमात्रासमष्टि संख्या ३८ है तथा गुरुमात्रासमष्टि संख्या २० है। इन दोनों संख्याओं का योग ५८ संख्या षण्मात्राप्रस्तार में वर्णसमष्टि संख्या है।

मर्कटी जाल विन्यास

	०	१	२	३	४	५	६	७	८
	१	१	२	३	५	८	१३	२१	३४
मात्रासमास	०	१	४	९	२०	४०	७८	१४७	२७२
लघुमात्रासमास	०	१	२	५	१०	२०	३८	७१	१३०
गुरुमात्रासमास	०	०	१	२	५	१०	२०	३८	७१
वर्णसमास	०	१	३	७	१५	३०	५८	१०९	२०१

इस प्रकार संख्यानादि ९ मात्राप्रत्ययों की सुखसारणी पूर्ण हुई।
तथा प्रत्ययनिरूपणरूप प्रकरण समाप्त

छन्दः प्रक्लृप्ति

इस प्रकरण में छन्दों का निर्माण बतलाया है। ग क्ष क ख इन वर्णों के द्वारा जिनके पाद (चरण) बने हैं वे छन्द उसी नाम से व्यवहृत हैं जैसे गच्छन्द, क्षच्छन्द,
S SS
कच्छन्द खच्छन्द
IS SI

इस प्रकार से एक संख्या से प्रारम्भ कर आठ तक संख्या वाले मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण नगण इन गणों से तथा जिन के कि अन्त में गुरु, क्ष (दो गुरु), क (IS) हैं ऐसे मगण आदि से जिन छन्दों के चरण निर्मित हैं ऐसे छन्द इन्हीं संज्ञाओं से व्यवहृत होते हैं। जैसे—

एक मच्छन्द SSS
गैक मच्छन्द SSS S
क्षैक मच्छन्द SSS SS
कैक मच्छन्द SSS IS

इसी प्रकार द्विमच्छन्द, त्रिमच्छन्द, चतुर्मच्छन्द, पञ्चमच्छन्द, सप्तमच्छन्द, अष्टमच्छन्द तथा इन सब के अन्त में ग क्ष, क अर्थात् एकगुरु, द्विगुरु, लघुगुरु के योग से बनने वाले छन्दों का उल्लेख है। इस तरह मगणादि अन्यगणों से निर्मित छन्दों का तथा जिनके अन्त में ग, क्ष, क (S SS IS) हों ऐसे मगणादि छन्दों का यहाँ कथन किया गया है। मगण से निर्मित छन्द क्षाणुयति तथा माणुयति भेद से दो प्रकार के हैं। जिसके अन्त में क्ष (SS) हैं ऐसे दो मगण वाले छन्द में दो क्ष अर्थात् चार गुरु वर्णों पर यति होती है। चार क्ष अर्थात् ८ गुरु वर्णों पर होने वाली यति अणुयति कहलाती है। चार मगण तथा उनके अन्त में क (IS) अर्थात् SSSSSSSSSSSS।S (S) पर होने वाली यति मयति कहलाती है। ६ क्षवर्णों (SS SS SS SS SS SS) से बनने वाली यति अणुयति तथा ६ मगण (SSS SSS SSS SSS SSS SSS) से होने वाली मयति कहलाती है। इस प्रकार आगे भी गति की सिद्धि के लिए यतिविभाग की कल्पना करनी चाहिये। उपर्युक्त रीति से निष्पन्न होने वाले छन्दों का उदाहरणार्थ आगे उल्लेख किया गया है।

छन्दोनिरुक्ति

छन्दःशास्त्र के उपयोगी पदार्थ छन्द पद अवष्टम्भ गण आदि का तथा प्रस्तारादिभेद से १३ प्रकार के वर्णप्रत्ययों व १३ प्रकार के मात्राप्रत्ययों का निरूपण किया जा चुका है, साथ ही विशुद्ध गणच्छन्दों की गणना भी की जा चुकी है। अब इस छन्दःशास्त्र का आरम्भ करना चाहिये या नहीं इस प्रश्न का समाधान करना है।

पूर्व पक्ष यह है कि निरर्थक होने से छन्दोविज्ञानशास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसी शास्त्र के आरम्भ करने के चार ही प्रयोजन होते हैं—

(१) अविज्ञात अर्थ (वस्तु, विषय) को बताना, (२) हेय वस्तु का निराकरण करना, (३) सामर्थ्यविशेष के आधिक्य का बोधन करना तथा (४) अन्य शास्त्रों का उपकार करना।

इनमें प्रथम प्रयोजन—अविज्ञात अर्थ का ज्ञापनरूप नहीं हो सकता है क्योंकि छन्दसम्बन्धी अविज्ञात अर्थ जिसका कि छन्दशास्त्र बोधन करे वह छन्दस्वरूप अर्थात् छन्द का स्वरूप है या छन्दोनाम है या छन्दों के प्रयोग का नियम है या छन्दोविज्ञानमात्र से अभ्युदय की प्राप्ति है। इनमें ऋग्वेदादि ग्रन्थों में जिन वैदिक छन्दों का प्रयोग हुआ है उन वैदिक छन्दों के स्वरूप का ज्ञान ऋङ्मन्त्रादिपाठ से हो जाता है तथा काव्यादि में जिन लौकिक छन्दों का प्रयोग हुआ है उनका ज्ञान काव्यादिपाठ से हो जाता है। ऋग्वेदादि में जिन (वैदिक) छन्दों का प्रयोग नहीं हुआ है उनका यहाँ छन्दोविज्ञानशास्त्र में निरूपण ही नहीं है। और काव्यादि में अप्रयुक्त सकल लौकिक छन्दों का स्वरूपज्ञान छन्द-शास्त्र से सम्भव नहीं है उनके अनन्त होने के कारण। इसीलिये पिंगलाचार्य 'शेषे प्रचितः' 'अत्रानुक्तं गाथा' इन सूत्रों के द्वारा बता दिया कि सारे छन्दों का निरूपण नहीं किया जा सकता है। भगवान् वेद ने भी—

'कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य निचिकाय क्वस्वित्॥

ऋ. १०।११४।९

कहते हुए साकल्येन छन्दोयोगविज्ञान के निरूपण की अशक्यता का प्रति-पादन किया है।

छन्दों के नाम बतलाना भी छन्दःशास्त्र का प्रयोजन नहीं हो सकता है। क्योंकि छन्दों का नाम बताने से छन्दस्वरूप में कोई विशेषता नहीं आती है अतः नाम द्वारा छन्दःस्वरूप का ज्ञान कराना, इस इच्छा के कारण इस तुच्छ फल के लिये इतने महान् शास्त्र का निर्माण अनावश्यक है।

अवसरविशेष पर इसी छन्द का प्रयोग करना चाहिये दूसरे छन्द का नहीं ऐसा कोई विधान छन्दशास्त्र में नहीं किया गया है, अतः यह तृतीय प्रयोजन भी छन्दशास्त्र का नहीं हो सकता है।

छन्दज्ञानमात्र से अभ्युदय की प्राप्तिरूप कल्पना में कोई कारण नहीं, अतः अभ्युदयप्राप्तिरूप चतुर्थ प्रयोजन भी सम्भव नहीं। इस प्रकार अविज्ञातार्थबोधन के लिये छन्दशास्त्र का आरम्भ नहीं माना जा सकता है।

हेयार्थ का निराकरण करने के लिये भी छन्दशास्त्र का आरम्भ अनुपयुक्त है। जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र ने साधु होने से 'गौः' शब्द की प्रयोगयोग्यता का विधान करते हुए असाधु शब्दों गावी गोणी गोता गोपोतलिका आदि की हेयता बताई है वैसे छन्दशास्त्र ने साधुता असाधुता द्वारा छन्दोविशेषों की हेयता व उपादेयता की

व्यवस्था नहीं की है तथा न कोई हेय छन्द प्रसिद्ध ही है जो प्रस्तार के बहिर्भूत हो। 'ट ण ठं डु ढः' से जहाँ छन्द की सिद्धि होती है यदि प्रमाद से भी वहाँ एक ड वर्ण अधिक आ जावे तो 'ट ण ठं डु डा ढः' ऐसा प्रयोग हो जाने पर दूसरा छन्द सिद्ध हो जाता है। पूर्व छन्द में एक डकार की अधिकता से दूसरा छन्द मानने पर छन्दशास्त्र का विरोध भी नहीं दिखाई देता है। अतः छन्दसिद्धि में हेयोपादेयता की व्यवस्था के अभाव से छन्दशास्त्र का आरम्भ निरर्थक है।

छन्दशास्त्र का अध्ययन करने वाले पुरुष में इस अध्ययन के कारण किसी प्रकार का सामर्थ्यविशेष भी नहीं देखा गया है। हेय के निरासपूर्वक उपादेय वस्तु का ग्रहण करने वाला व्यवहारकुशल पुरुष अनिष्टकारी प्रत्यवाय से वियुक्त या विमुक्त हो तथा अच्छे अभ्युदय से युक्त हो तो तज्जन्य सामर्थ्य प्रकट रूप से ज्ञात होना चाहिये। किन्तु छन्दशास्त्र में जब हेयोपादेयताव्यवस्था का ही अभाव है तो इस शास्त्र के अध्ययन से कहीं किसी प्रकार का सामर्थ्य उस अध्येता पुरुष में अनुभूत होना कैसे सम्भव है?

इतर शास्त्रोपकारकता भी छन्दशास्त्र में सम्भव नहीं है। जैसे नाट्यशास्त्र का उपकारक नृत्यशास्त्र है, नृत्यशास्त्र का उपकारक वाद्यशास्त्र है, वाद्यशास्त्र का उपकारक गेयशास्त्र है, तथा जैसे वाक्शास्त्र, अङ्कशास्त्र, क्रियाशास्त्र सब शास्त्रों के उपकारक माने जाते हैं, उस प्रकार ऐसा कोई शास्त्र दिखाई नहीं देता है जो छन्दशास्त्र के बिना अपर्याप्त प्रतीत होता है।

यदि कहा जाय कि यज्ञशास्त्र छन्दशास्त्र के बिना अपर्याप्त है, क्योंकि 'गवामयन सत्र' में पूर्वपक्ष में १४१ संख्यावाले २४ 'आभिप्लविक स्वरसाम' नामक दिनों में ब्रह्मसामरूप अभीवर्त के एक होने पर भी प्रतिदिन भिन्न-भिन्न प्रगाथों का प्रयोग किया जाता है प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाले वे स्तोत्रीय प्रगाथ कौनसे हैं यह आकांक्षा होने पर "पञ्चसु मा:सु बार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते। तेष्वाप्तेषु छन्दसी संयुज्यैतव्यम्। चतुरुत्तरैरेव छन्दोभिरेतव्यय्। तदाहुरनवक्लृप्तानि वा एतानि छन्दांसि माध्यन्दिने बृहत्या चैव त्रिष्टुभा चैतव्यम्" इस ताण्डिश्रुति में दाशतयी (ऋग्वेद) में कथित २८०० संख्यावाले प्रगाथों के तीन ऋचा वाले समुदाय से उतने अहों में प्रगाथ की प्राप्ति सिद्ध होने पर भी उससे अतिरिक्त १३ अहों में प्रगाथ की प्राप्ति के लिये तीन पक्षों का विधान किया गया है। उन प्रगाथों का निश्चय छन्दशास्त्र के बिना नहीं हो सकता है और प्रगाथ के प्रयोग के बिना ज्योतिष्टोम यज्ञ की पूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रत्येक यज्ञ में एकान्ततः छन्दोविज्ञान की अपेक्षा है। इसीलिए कहा है कि "जो पुरुष ऋषि छन्द देवता ब्राह्मण के ज्ञान से रहित मन्त्र द्वारा यज्ञ कराता है तथा मन्त्र पढाता है वह स्थाणु (ठूँठ) बन जाता है, गर्त में गिरता है या मर जाता है और पापी होता है। अतः प्रत्येक मन्त्र में ऋषि छन्द आदि का ज्ञान करना चाहिये" ऐसा श्रुति बताती है। इसलिये देवता छन्द निरुक्त ब्राह्मण ऋषि तथा कृत् व तद्धित प्रत्ययों के ज्ञान

के बिना यज्ञ करने वाले 'यागकण्टक' होते हैं, अर्थात् यज्ञ के शत्रु, यज्ञ के विघातक होते हैं। निम्न स्मृतिवचन भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—

अविदित्वा ऋषिच्छन्दोदैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद् जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः ॥१॥
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥२॥

भगवान् कात्यायन ने भी कहा है कि गायत्री आदि छन्दों के ज्ञान के बिना जो अध्ययन करता है अनुवचन व जप करता है हवन करता है यज्ञ कराता है उसका ब्रह्म (ज्ञान) निर्वीर्य व बासी हो जाता है। वह शीघ्र ही पतन के गर्त में गिरता है स्थाणुत्व को प्राप्त होता है अथवा पापी होता है। और जो ऋषि छन्द देवता आदि को जानकर मन्त्रों का अध्ययन करता है उसका ब्रह्म (ज्ञान) बलवान् हो जाता है और जो मन्त्रों के अर्थ को भी जानता है उसका वीर्य बलवत्तर हो जाता है। वह जप हवन व यज्ञ के फल से युक्त होता है। इस प्रकार छन्दशास्त्र के बहुत से प्रयोजन हैं। छन्दशास्त्र के ज्ञान बिना यज्ञवेद वीर्यरहित पर्युषित (बासी) हो जाता है। इस प्रकार छन्दशास्त्र यज्ञशास्त्र का उपकारक है यह सिद्ध है।

और दृष्टान्त के द्वारा नाटचशास्त्र नृत्यशास्त्र वाद्यशास्त्र व गेयशास्त्र में उत्तर उत्तर शास्त्र को पूर्व पूर्व शास्त्र का उपकारी बतलाया गया है, इस दृष्टान्त से भी यही कहा गया है कि छन्दोवेद ही सब शास्त्रों का उपकारक है, क्योंकि गेय-शास्त्र छन्दशास्त्र से भिन्न नहीं है अर्थात् गेयशास्त्र छन्दशास्त्र ही है। अतः यही सिद्ध होता है कि छन्दशास्त्र वाद्य-नृत्य-नाटच-शास्त्रों का उपकारक है।

अधिक क्या कहें जिस शिल्पविद्या को अधिक फलवतो बतलाया गया है वह शिल्पविद्या 'अर्थच्छन्दशास्त्र' से उपजीवित है, अथवा शिल्प अर्थच्छन्दोविद्या से अभिन्न है। क्योंकि 'शिल्पं छन्दः' यह श्रुति शिल्प को छन्द ही बता रही है। जो यह सम्पूर्ण चर व अचर जगत् दिखाई दे रहा है वह विश्वकर्मा का शिल्प है। सारे विद्यानिबन्ध रचनावैलक्षण्यरूप किसी न किसी शिल्प से ही सम्बद्ध हैं, इसलिये शिल्पविद्यारूप से भी यह छन्दशास्त्र सभी शास्त्रों का उपकारक है।

जो कि पूर्वपक्षी का कथन है कि छन्दशास्त्र का अध्ययन करने वाले पुरुष में छन्दशास्त्र के अध्ययन से कोई सामर्थ्यविशेष नहीं दिखाई देता है, इसका भगवान् कात्यायन के निम्न वचन से खण्डन हो जाता है 'अविदित्वा योऽधीते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं स पापीयान् भवति। अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य ब्रह्म वीर्यवत्, स जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते" इति। कात्यायन की उक्ति से स्पष्ट होता है कि छन्दोविज्ञान यज्ञशास्त्रसाध्य सभी फलों का प्रदाता है। छन्दोज्ञान की अभ्युदय-साधकता को श्रुतियाँ भी बता रही हैं। ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि 'लोम त्वक् मांस कण्डरा आदि क्रमशः उष्णिक् गायत्री त्रिष्टुप् अनुष्टुप् रूप हैं और यह

पुरुष (आत्मा) छन्दों से आच्छादित है, छन्दों से आच्छादित होने के कारण ही उसे छन्दःस्वरूप कहा गया है। गायत्री आदि छन्द इस पुरुष को आच्छादित कर पापकर्म से उसका निवारण करते हैं । आच्छादक होने से ही इन्हें छन्द कहा जाता है ।

इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में भी अग्निचयन में चीयमान अग्नि के सन्ताप का छादक होने से इनका छन्दस्त्व बताया गया है । छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कि 'देवता अपमृत्यु से भयभीत हो गये उन्होंने गायत्र्यादि छन्दों से अपने को आच्छादित कर अपमृत्यु का वारण किया, अतः छन्द का अपमृत्युवारणात्मक प्रयोजन भी है ।

"प्राचीनकाल में असुरों से पराजित देवताओं ने गायत्री आदि से अपने शरीर को आच्छादित कर असुरों पर विजय प्राप्त की, यही छन्दों का छन्दस्त्व है ।" वृद्धपराशर के इस वचन से भी सिद्ध होता है कि छन्दों से आच्छादित शरीर वाला व्यक्ति शत्रुओं का पराभव कर विजयी होता है, यह शत्रुपराभवजन्य विजय प्राप्ति भी छन्दों का प्रयोजन है । इसी तथ्य का निरूपण 'अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरुपाधावन्' इस सर्वानुक्रमणी सूत्र में भगवान् कात्यायन ने तथा उसकी व्याख्या में षड्गुरुशिष्य ने भी किया है । एतद्विषयक अन्य वचन भी इस स्थल पर उद्धृत किये गये हैं जो ग्रन्थ विस्तर भय से यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं । मूल भाग में द्रष्टव्य हैं ।

छन्दशास्त्र हेयोपादेयव्यवस्था का भी प्रयोजक है, क्योंकि सभी विधिवाक्य सावधारण होते हैं और अवधारण इतरनिवृत्ति के बिना अनुपपन्न है । यह छन्दःशास्त्र छन्दोविधायक होने से इतरनिवारक है । अतः यह हेयोपादेयव्यवस्था का कारण है । छन्दशास्त्र तीन प्रकार की हेयोपादेय व्यवस्था का प्रतिपादन करता है । जैसे छन्द जानने योग्य ही हैं, न जानने योग्य नहीं । छन्दों का ज्ञान प्राप्त करके ही जप होम यज्ञ आदि में प्रवृत्त होना चाहिये, बिना जाने नहीं । इस प्रकार भाव और अभाव दोनों के महत्व की प्रधानता वाली प्रथम व्यवस्था । 'अनुष्टुभा यजति बृहत्या गायति गायत्र्या स्तौति' (अनुष्टुप् से यजन करता है बृहती से [साम] गायन करता है, गायत्री से अप्रगीत स्तुति करता है) ऐसी श्रुति है, 'अनुष्टुप् से ही यजन करे न बृहती से न गायत्री से, बृहती से ही गान करे अन्य (अनुष्टुप् गायत्री आदि किसी छन्द) से नहीं, इसी प्रकार गायत्री से ही स्तुति करे किसी अन्य से से नहीं, ऐसी दो विजातीय भावों के अतिरेक की प्रधानता वाली व्यवस्था इस उपर्युक्त श्रुति में मिलती है, यह दूसरी विधि प्रधान व्यवस्था है । निषेधप्रधान तीसरी व्यवस्था 'पादस्यानुष्टुब् वक्त्रम्, न प्रथमात् स्नौ, द्वितीयचतुर्थयोरश्चेति सूत्रों से वक्त्र (छन्द भेदों) में, तथा 'स्वरा अर्द्धमार्यार्दर्धम् । अत्रायुङ् नज्, पष्ठोजिति' सूत्रों से आर्या (जाति के भेदों) में मिलती है ।

स्पष्ट है कि यह छन्द:शास्त्र यदि न हो तो ऐसे प्रसंगों में स्वेच्छाचारिता होगी, फलस्वरूप अनर्थ की प्राप्ति होगी। अतएव कारुणिक पूज्य आचार्यवर्यों ने हेय को त्यागने तथा उपादेय को ग्रहण कर के लिए शास्त्र का प्रवचन किया।

छन्द:शास्त्र अज्ञात अर्थ का कथन नहीं करता है यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि छन्द:शास्त्र के अभाव से 'अनुष्टुभा यजति बृहत्या गायति गायत्र्या स्तौति' इस श्रुति में कथित अनुष्टुप् बृहती व गायत्री छन्द के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। इन छन्दों के स्वरूपज्ञान के अभाव में यागादि में प्रवृत्त पापी हो जावेगा। जहाँ कहीं सतोबृहती महाबृहती महासतोबृहती आदि का नाम आता है निश्चय ही छन्दोज्ञानशून्य व्यक्ति इन बृहतीभेदों को नहीं जान सकेगा। छन्दोज्ञाता तो पादविशेष की व्यवस्था के आधार पर पंक्ति का विकार सतोबृहती, त्रिष्टुप् का विकार महाबृहती तथा जगती का विकार महासतोबृहती है इस बात को निश्चयात्मक रूप से समझ लेगा तथा ठीक ढंग से यज्ञ में प्रवृत्त होगा। इससे भिन्न रूप से अर्थात् यथावत् छन्दों की जानकारी के बिना प्रवृत्त व्यक्ति के लिए ये छन्द यातयाम साररहित होकर सर्वथा निष्फल हो जायेंगे। अत: अवश्य ही इन सबके स्वरूपज्ञान के लिए शास्त्रारम्भ अत्यावश्यक है।

(इसी भाँति भिन्न-भिन्न श्रुतिवचनों से शास्त्रीय युक्तियों से बड़े विस्तार के साथ शास्त्रारम्भ की अवश्यकरणीयता पर अत्यन्त गम्भीर विचार ९० से ९५ पृष्ठ तक दो से बीस क्रमांक के प्रघट्टकों में किया गया है, इन समस्त उद्धरणप्रधान प्रघट्टकों का अनुवाद विस्तार से बचते हुए छोड़ दिया गया है, मूल को देखकर उसे समझा जा सकता है।)

छन्द:शास्त्रारम्भ के प्रयोजन के प्रतिपादन में उद्धृत श्रुतियों में वैदिक छन्द गायत्री आदि के विधानशास्त्र का बाहुल्य है तथा विषयविवेचन भी वैदिक विवेचना व प्रमाणों वाला ही है, वह सब कुछ देखकर यह सन्देह नहीं होना चाहिये कि छन्द:शास्त्र की आवश्यकता केवल वैदिक छन्दों के ज्ञान के लिये ही है न कि लौकिक छन्दों के स्वरूपज्ञान के लिये। प्रसिद्ध है कि घट प्रत्यक्ष के लिए खुले हुए नेत्र तदरिक्त अन्य वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करते ही हैं, उसी प्रकार वैदिक छन्दों के ज्ञान के लिये अपेक्षित छन्द:शास्त्र लौकिक छन्दोविषयक ज्ञातव्य ज्ञान प्रस्तुत करता ही है। और भी देखिए—

> काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

काव्य प्रकाश के इस पद्य में बोधित काव्यप्रयोजनों में सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन रसोद्बोध बतलाया गया है। यह साधुच्छन्द से अभिनेय काव्य से ही होता है। अपच्छन्दोयुक्त काव्य तो रस का विघातक ही है। (क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक तथा

औचित्य विचार चर्चा जैसे ग्रन्थों में इस विषय पर विभिन्न पहलुओं से अच्छा विचार किया गया है) अतः लौकिक छन्दों के स्वरूपज्ञान के लिए भी छन्दःशास्त्रारम्भ आवश्यक है।

छन्दोवेदसार्थकवाद पूर्ण

पञ्चाङ्गतावाद

पञ्चाङ्गतावाद में यह प्रश्न उठाया गया है कि पद्यच्छन्दोवेद के शिक्षा गणित निरुक्ति व्याकरण व कल्प ये पाँच अंग बताये गये हैं किन्तु छन्दरूप छठे अंग के होने से इसे षडङ्गात्मक मानना चाहिये। संसार की यावन्मात्र वस्तुएँ मर्यादाबन्धरूप छन्द से बद्ध हैं, सभी वस्तुओं में छन्द अनुस्यूत हैं, अतः स्वयं छन्द भी छन्द से अनुस्यूत या अनुगत हैं। यदि छन्द को छन्दोबद्ध न माना जाय तो इस प्रतिज्ञा की हानि होती है कि छन्द सब वस्तुओं में अनुगत हैं।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि इसे ब्रह्मव्यापकता की भाँति समझ लेना चाहिये। निर्गुण निराकार ब्रह्म सर्वव्यापक होने पर भी ब्रह्म में नहीं रहता है। यदि ब्रह्म का आधार किसी दूसरे ब्रह्म को मानें तो ब्रह्म अद्वैत है इस सिद्धान्त का भङ्ग होता है। यदि अद्वैतरूप इस सिद्धान्त की रक्षा के लिये ही यह मानें कि ब्रह्म में ब्रह्म नहीं रहता है तो ब्रह्म की सर्वव्यापकता का भङ्ग होता है। अतः मानना होता है कि ब्रह्म स्वप्रतिष्ठ है, उसकी प्रतिष्ठा के लिए किसी अन्य ब्रह्म की आवश्यकता नहीं है। जैसे तेज सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है किन्तु तेज के स्वप्रकाश होने से उसे प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य तेज की आवश्यकता नहीं है। जैसे प्रमाण सभी प्रमेय वस्तुओं के ज्ञान का साधन है, किन्तु प्रमाण के ज्ञान के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है वह स्वतःप्रमाण है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की मर्यादाबद्धता के लिये मर्यादाबन्धरूप छन्द की आवश्यकता है किन्तु छन्द की मर्यादाबद्धता के लिए अन्य मर्यादाबन्धरूप छन्द की आवश्यकता नहीं है, छन्द स्वस्वरूप से ही मर्यादारूप छन्द से बद्ध है।

दूसरे विद्वान् कहते हैं कि छन्द का छन्द अर्थात् छन्द को मर्यादा में बांधने वाला अध्वपरिच्छेद है। जैसे छन्दोलिपि को मर्यादा में बांधने वाला लिपि का अध्वपरिच्छेद है। वह अध्वपरिच्छेद आयतनरूप है। सभी वस्तुओं का कोई न कोई मार्ग होता है। उस मार्ग से प्रारम्भ होने वाली वस्तु में सौन्दर्य व सुकरता की अनुभूति है। आपने मार्ग से प्रच्युत होने वाली वस्तु में क्लिष्टता व कुरूपता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए छन्दों को मर्यादा में रखने वाला अध्वयोग है। यद्यपि ऐसा मानने पर पद्यच्छन्दोवेद में षडङ्गता की प्राप्ति हो जाती है, तथापि जैसे

वेद-शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्यौतिष इन ६ अङ्गों से युक्त है वैसे ही पद्यच्छन्दोवेद भी वेद है। अतः षडङ्ग ही है तथापि छन्द का विषय अल्प होने से इसकी अलग गणना नहीं की है।

छन्दस्तत्त्ववाद

इस छन्द में क्या वस्तु है अर्थात् छन्द का क्या लक्षण है इस बात का निरूपण किया जा रहा है। प्रथम तो छन्द क्या है इस प्रश्न में ही तीन विकल्प हो जाते हैं—प्रश्न (१) लक्ष्य की दृष्टि से है या (२) लक्षण्य की दृष्टि से है या (३) लक्षण की दृष्टि से है। इन तीनों विकल्पों की दृष्टि से प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि लक्ष्य की दृष्टि से—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

यह मन्त्र छन्द है। क्योंकि यह मन्त्र लक्ष्य (परिभाष्य) है। गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् बृहती पंक्ति त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्दोजातियाँ हैं, ये ही लक्षण्य हैं अर्थात् लक्षणयोग्य हैं। अतः ये सात छन्दोजातियाँ लक्षण्य की दृष्टि से छन्द हैं। लक्षण की दृष्टि से "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः" "मात्राक्षरसंख्यानियता वाक् छन्दः" (अक्षरों का परिमाण छन्द है, मात्रासंख्या तथा अक्षरसंख्या से नियत वाक् छन्द है) छन्द के लक्षण हैं।

इस पर आगे प्रश्न किया गया है कि उपर्युक्त समाधान संगत नहीं है। क्योंकि 'पृथिवी गायत्री' 'अग्निर्गायत्रः' 'ब्रह्मवर्चसं वै गायत्रम्' 'ब्रह्म गायत्रम्', 'ब्राह्मणो गायत्रः', 'चतुर्विंशत्यक्षरा वाग् गायत्री' इन श्रुतिवचनों में पृथिवी, अग्नि, ब्रह्मवर्चस, ब्रह्म, ब्राह्मण तथा २४ अक्षरों वाली वाक् को गायत्री बतलाया गया है। अतः पृथिव्यादि सभी वस्तुएँ गायत्रीरूप होने से लक्षण्य अर्थात् लक्षणयोग्य हैं, किन्तु इन सब में उपर्युक्त अक्षरपरिमाणरूप लक्षण घटित नहीं होता है। निश्चय ही पृथिव्यादिरूप गायत्रियाँ अक्षरपरिमाणरूप नहीं हैं। अतः छन्द का अक्षरपरिमाणरूप लक्षण व्यभिचारी है और व्यभिचारदोषदूषित लक्षण लक्षण नहीं हो सकता है। अतः किसी ऐसे धर्म को छन्द का लक्षण मानना चाहिये जो पृथिवी अग्नि ब्रह्मतेज आदि सब में रहता हो। फलतः प्रश्न बना ही रहता है कि छन्द क्या है?

लक्षण्य की दृष्टि से भी गायत्री आदि सात छन्दोजातियों को छन्द बतलाना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि छन्दोजातियों के गायत्री आदि नाम बतलाये गये हैं ये नाम न यदृच्छाशब्द हैं न रूढ हैं न योगरूढ हैं न यौगिक हैं और न यौगिकरूढ ही हैं। उदाहरणरूप में—'गायतो मुखादुदपतत्' 'गायन्तं त्रायते' इत्यादि में गायत्री का निर्वचन उपलब्ध होता है जो अवयवार्थ द्वारा किया गया है। अतः इन्हें डित्थ डवित्थ आदि की भाँति यदृच्छाशब्द (स्वेच्छाकल्पित शब्द) नहीं माना जा सकता

है। न इन्हें रूढ़ ही माना जा सकता है, क्योंकि 'यदन्यानि छन्दांसि वर्षीयांसि भूयोऽक्षरतराणि, अथ कस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते' (जबकि अन्य छन्द पंक्ति त्रिष्टुप् आदि बृहती की अपेक्षा बड़े अर्थात् बहुत अधिक अक्षरों वाले हैं तो इसे (बृहती को) बृहती क्यों कहा जाता है?) ऐसा प्रश्न कर समाधान दिया गया है कि ३६ अक्षरात्मक बृहती छन्द के द्वारा देवताओं ने पृथिव्यादि लोकों को व्याप्त कर लिया, देवताओं ने इसके १० अक्षरों द्वारा पृथिवी लोक को, १० अक्षरों द्वारा अन्तरिक्ष लोक को, दस अक्षरों द्वारा द्युलोक को, चार अक्षरों द्वारा चार दिशाओं को व्याप्त कर लिया तथा शेष दो अक्षरों से इस लोक में प्रतिष्ठित हो गये। सभी लोकों व दिशाओं में व्याप्ति तथा लोकप्रतिष्ठा का साधक होना ही बृहती का बृहतीत्व है, यह सिद्ध किया गया है। ऐसी स्थिति में अवयवार्थ की स्पष्टता के विद्यमान रहते हुए गायत्र्यादि नाम रूढ कैसे हो सकते हैं?

न इन्हें योगरूढ माना जा सकता है, क्योंकि 'सप्तधा वै वागवदत्, त्र्यक्षरेण मिमते सप्त वाणीः', आदि श्रुतियों से सिद्ध वाग्विच्छित्तिविशेषों में ही गायत्र्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है और उन वाग्विच्छित्तिविशेषों से अवयवार्थ का स्वरसतः सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसी कारण से गायत्र्यादि शब्दों को यौगिक भी नहीं माना जा सकता है। अपि च साध्यदेवादि में, द्रविण आदि में, गायत्र्यादि शब्दों का प्रयोग वेद में हुआ है तथा वाग्विशेषों में भी। अतः किन पदार्थों में गायत्री आदि का प्रयोग मुख्य है और किन में गौण है? इसका निश्चय नहीं। किञ्च आच्छादक होने से गायत्र्यादि छन्द, छन्द कहलाते हैं, यह भी श्रुतियों में मिलता है। और आच्छादकत्व को छन्द मान लेने पर साध्यदेवादि व द्रविणादि में क्या आच्छादकत्व है यह प्रश्न बनता है, इस प्रकार छन्द क्या है? यह प्रश्न बना ही रहता है।

इसी प्रकार वेद में अनेक ऐसी भी श्रुतियाँ मिलती हैं जहाँ आच्छादकत्व न होने पर भी गायत्र्यादि छन्दों का प्रयोग है। जैसे—

(१) अग्नि उषा अश्विनीकुमार आदि प्रातःकालिक देवता हैं। वे सात-सात छन्दों के साथ आते हैं। ये अग्न्यादि प्रातःकालिक देवता छन्दों के साथ कैसे आते हैं? वे छन्द कौन-से हैं जिनके साथ ये देवता आते हैं?

(२) देवता विजयप्राप्ति के लिए असुरों से युद्ध करने को गये। अग्नि साथ जाने को तैयार नहीं हुआ। देवताओं ने अग्नि को कहा आप हमारे साथ चलिये, आप हमारे में ही एक हैं। तब अग्नि त्रिश्रेणी व त्र्यनीक बनकर युद्धार्थ चल दिया। यहाँ बताया गया कि अग्नि ने छन्दों को श्रेणी तथा सवनों को अनीक बनाया। यहाँ यह ज्ञात नहीं होता है कि छन्द श्रेणी कैसे बने?

(३) सभी छन्द ऐतशप्रलाप है। एतश नाम सूर्याश्व का है। जैसा कि—

'उदु त्यद् दर्शतं वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे।
यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्॥'

आदि मन्त्रों के व्याख्यान में बताया गया है। प्रश्न है ऐसे स्थलों में छन्द ऐतश प्रलाप कैसे हैं और वहाँ छन्द कौन है ?

बहुत सारे उदाहरण प्रस्तुत करने से क्या लाभ ? स्पष्ट है कि छन्दों के विषय में इस प्रकार के नाना प्रवाद श्रुतियों में हैं। सो यह ज्ञात नहीं होता है कि इन वादों की उपपत्ति क्या है तथा छन्द क्या है ? क्या इन सभी का छन्दस्त्व एक ही है अथवा प्रत्येक विषय के साथ छन्दस्त्व भिन्न-भिन्न प्रकार का है इसलिये प्रश्न है कि छन्द क्या वस्तु है ?

ऊपर लक्ष्य की दृष्टि से 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' आदि मन्त्र को जो छन्द कहा गया है वह भी संगत नहीं है। क्योंकि ऋग्वेद संहिता में मन्त्रसंख्या १०५८० है और गायत्री आदि छन्द कुल सात ही हैं। अतः विषयभेद होने से 'अग्निमीडे' आदि मन्त्र छन्द के लक्ष्य नहीं हो सकते हैं। मन्त्र में श्रूयमाण वर्णों को भी छन्द नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्रूयमाण वर्णों का उत्तरोत्तर व्यभिचार होता रहता है तथा छन्दस्त्व उन वर्णों का व्यभिचार (अभाव, आदि) होने पर भी रहता ही है। वर्णों के पौर्वापर्यरूप क्रम को भी छन्द नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वर्णों का पौर्वापर्यरूप क्रम वर्णस्वरूप के साथ ही बन सकता है, वर्णस्वरूप के अभाव में नहीं। वर्णों को साथ लेकर उनके पौर्वापर्यरूप क्रम को छन्द माना जायगा तो वर्णों का व्यभिचार होने पर उनके पौर्वापर्यरूप क्रम का व्यभिचार होगा और छन्दस्त्व वर्णक्रम के व्यभिचार में भी अनुवर्तमान है। मन्त्रप्रतिपादन-विद्या भी छन्द नहीं है क्योंकि विद्या (ज्ञान) अर्थविषयक होती है और छन्द शब्द-विषयक होता है। अर्थात् ज्ञान का विषय ज्ञेय अर्थ होता है और छन्द का विषय शब्द होता है। अतः विषयभेद है। इस प्रकार छन्द का कोई भी निश्चित निर्दोष लक्ष्य नहीं है। अतः लक्ष्य की दृष्टि से भी छन्दस्वरूप संगत नहीं है। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना हुआ है।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि अवच्छेद अर्थात् सीमा या मर्यादा ही छन्द है। तात्पर्य यह है कि मान के द्वारा प्रतिष्ठा के द्वारा या सादृश्य के द्वारा किया जाने वाला वस्तुस्वरूप का मर्यादा-बन्ध ही छन्द है।

यद्यपि 'स च्छन्दोभिश्छन्नः, यश्छन्दोभिश्छन्नस्तस्माच्छन्दांसीत्याचक्षते, ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन्, यदेभिराच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्, छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्', इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित निर्वचनों से आच्छादक छन्द कहलाता है अवच्छेद को छन्द कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि अवच्छेदरूप सीमा वस्तु का आच्छादन नहीं करती है। और मान (नाप) प्रतिष्ठा तुलितक (तुलना) में आच्छादकत्व की अप्रसिद्धि है। अतः उपर्युक्त 'मानेन वा प्रतिष्ठया वा तुलितकेन वा क्रियमाणवस्तुस्वरूपमर्यादाबन्धश्छन्दः' यह लक्षण नहीं बन सकता है। तथापि लौकिकों को मान प्रतिष्ठा व तुलितक में आच्छादकत्व की प्रतिपत्ति

नहीं है मात्र इतने से ही प्रमाणान्तरसिद्ध धर्म का अपलाप नहीं किया जा सकता और न प्रमाणान्तर से असिद्ध अर्थ को लौकिकों (साधारणजनों) की प्रतिपत्तिमात्र से स्वीकार ही किया जा सकता है। व्यवहारसिद्धि में प्रवृत्त लौकिकों को व्यवहार के लिए वस्तुसत्ता की अपेक्षा नहीं होती। वस्तु की सत्ता न होने पर भी शब्दज्ञानमात्ररूप विकल्पवृत्ति से व्यवहार करने वाले लौकिकों को अर्थ-सत्ता के बिना भी अर्थ-ज्ञान देखा जाता है। इसीलिये नीरूप (रूपशून्य) होने पर भी शृङ्गार-रस, कीर्ति आदि में शुक्लत्व की, प्रेम, अनुराग, वीर-रस आदि में रक्तत्व की, क्रोध, अपकीर्ति आदि में कृष्णत्व की प्रतिपत्ति व्यवहार द्वारा होती है। इसी प्रकार—

'अग्ने नक्षत्रमजरमासूर्यं रोहयो दिवि, दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः' ॥१॥
'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो दिविश्रे।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश ॥२॥'
'सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'

इत्यादि श्रुति प्रमाणों से सूर्य के स्थिर व अविचाली तथा पृथ्वी के चल होने पर भी लोक में सूर्य को चल व पृथिवी को अचल (स्थिर) व्यवहारमात्र के द्वारा माना जाता है। इसी प्रकार—

'स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्य्यस्यते। रात्रीमेवावस्तात् कुरुते अहः परस्तात्। ....स वा एष न कदाचन निम्लोचति'।

इस ऐतरेय श्रुति से स्पष्ट ही अहोरात्र में पृथ्वी की गति को कारण बतलाने पर भी लौकिक पुरुष व्यवहार द्वारा सूर्यगति को कारण मानते हैं इसी भाँति कभी भी सूर्य के अस्त न होने का उल्लेख होते हुए भी सूर्यास्त बताते हैं। क्योंकि व्यवहार में वस्तुसत्ता की अपेक्षा नहीं होती है। साथ ही छन्द में छादकत्व की स्वरूपतः भी अप्रसिद्धि नहीं है क्योंकि छन्द शब्द का शब्दार्थ छादक है, और मान प्रमा तुलितक में यह छादकत्व है। इसमें 'मा छन्दः, प्रमा छन्दः' प्रतिभा छन्दः, (यजु.) यह श्रुतिवचन प्रमाण है। यहाँ मा शब्द का अर्थ संख्या परिच्छेद, प्रमा का अर्थ वस्तु की आयतनरूपा वस्तुप्रतिष्ठा तथा प्रतिमा शब्द का अर्थ तुलितक (सादृश्य) है। अपि च 'यदेभिराच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' इत्यादि श्रुतिवचन छादकत्व को छन्द शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बताते हुए छन्दः-पदवाच्य मा, प्रमा, प्रतिमारूप अवच्छेदों में छादकत्व सिद्ध कर रहे हैं।

फिर एक प्रश्न उठाया गया है कि आच्छादन का अर्थ लोक में छिपा देना प्रसिद्ध है, इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिसके होने से वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होता अपितु वस्तुस्वरूप तिरोहित हो जाता है ऐसे तिरोधान प्रधान संवरण अर्थात् अन्तर्धान में आच्छादन शब्द लोक में देखा जाता है जैसे

घटाच्छादितः प्रदीपः, वस्त्राच्छादितं द्रव्यम्, रजसाच्छादिते भानौ, स्तनयुग-परिणाहाच्छादिना वल्कलेन आदि में। और अवच्छेद (सीमा या मर्यादा) किसी वस्तु का तिरोधान नहीं करता है अतः अवच्छेद को आच्छादक नहीं माना जा सकता है। अतः छन्द का अर्थ अवच्छेद नहीं है। किन्तु यह प्रश्न निरर्थक है केवल तिरोधान-छिपाना-ही आच्छादन का एकमात्र अर्थ नहीं है अपितु आच्छादन के अनेक अर्थ हैं। जैसा कि—(१) अन्नाच्छादनभागयम् (अन्न वस्त्र का पात्र यह) आच्छाद्य, चार्हयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् (श्रुति एवं शील से सम्पन्न के लिए ओढा पहना कर और पूज कर) आदि में उपसंख्यान (२) आभूषणाच्छादिताङ्गी, छदयति सुरलोकं यो गुणैर्यं च युद्धे सुरयुवतिविमुक्ताश्छादयन्ति स्रजश्च, आदि में पर्याधान (लपेटना या पहनना) (३) चन्दनच्छन्नगात्र, तैलाच्छन्नकलेवरः, घृताच्छन्नं व्यञ्जनम्, आदि में चुपड़ना या लेप करना, (४) मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्, कण्टकच्छन्नमार्गेषु, आदि में अवरोध या रुकावट, (५) ईशावास्यमिदं सर्वम्, आच्छाद्यते त्वद्यशसा समस्तम्, आदि में व्याप्ति, (६) छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः। (सुश्रुत) जैसे प्रसङ्गों में दूषित करना, (७) दौकूलेन नवेन तु समन्ततश्छादितं शुक्लम् (वृहत्संहिता) आदि में स्वरूपनिर्माण, (८) अग्निमन्तश्छादयसि, अन्नं छादयेदाज्येन, इत्यादि में, शक्तिसम्पन्न बनाना, (९) छन्ने स्थाने समासीनः, आदि में एकान्त, (१०) गायत्रेण च्छन्दसा त्वा छादयामि आदि में छिपाना आदि अनेक अर्थ छादन के हैं। इनमें छाद्य का अन्तर्धान अर्थ कहीं भी नहीं है किन्तु आच्छादन शब्द प्रयुक्त है। इस प्रकार इस शब्द की अनेकार्थता सिद्ध होने पर यदि यहाँ गोपन अर्थ में आच्छादन है और गोपन का रक्षा अभिप्राय है तो यह निश्चित अवच्छेदकानुगत है, अवच्छेद से अवच्छिन्न, मर्यादा से मर्यादित या सीमा से सीमित—का स्वरूप से च्युत न होने के कारण सुगुप्त होना सिद्ध ही है।

अन्य व्यक्ति द्वारा दूसरे प्रकार से भी अवच्छेद के आच्छादक न होने में प्रश्न उपस्थित किया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि आच्छादन को उपर्युक्त रीति से अनेकार्थक मानना ठीक नहीं लगता है क्योंकि जो अर्थ प्रकरण द्वारा प्राप्त हैं उनमें शब्द की शक्ति मानना अनावश्यक है। ऊपर आच्छादन के विभिन्नार्थक जो उदाहरण दिये गये हैं वे प्रकरण से ज्ञात हो जाते हैं अतः आच्छादन का शक्यार्थ तो संवरण ही है उपर्युक्त अर्थ नहीं। छदि धातु का अर्थ अपवारण (आच्छादन) है और अपवारण दो प्रकार का है एकदिग्वर्ती तथा अनेकदिग्वर्ती। एकदिग्वर्ती अपवारण आवरण कहलाता है तथा अनेकदिग्वर्ती अपवारण संवरण कहलाता है। वस्तुस्वरूप से असम्बद्ध भी यह संवरण पृथग्दृष्ट और अपृथग्दृष्ट भेद से द्विविध है। पृथग्दृष्ट संवरण वस्तु से पृथग् दिखाई देता है तथा अपृथग्दृष्ट वस्तु से पृथक् दिखाई नहीं देता है। पृथग्दृष्ट संवरण की आवरकरूप से प्रतीति होती है। जैसे मेघ से आच्छादित भित्ति आदि में संवरक मेघ की प्रतीति भित्ति से भिन्न होती है अतः

इसका आवरकरूप से ज्ञान होता है। किन्तु अन्त:पट से आवृत घटादि की संवरक अन्त:पट से पृथक् प्रतीति नहीं होती है। इसका ज्ञान संवरकत्वेन ही होता है। इसी प्रकार वस्तु से बहि:स्थित वस्तु को व्याप्त कर रहने वाले दिक्, देश, काल, संख्या आदि भी वस्तु से पृथक् दिखाई नहीं देते हैं। अत: इन दिग्देशकालादि का भी संवरकरूप से ही ज्ञान होता है। अनेकदिग्वर्ती संवरण भी एकदिग्वर्ती आच्छादन से भिन्न नहीं है। अत: अनेकदिग्वर्ती संवरण में आवरणशब्द का प्रयोग हो सकता है। आवरण और संवरण इन दोनों आच्छादनों में वस्तु से दृष्टि के सम्बन्ध का प्रतिबन्ध ही आच्छादनशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् अर्थ है। यह प्रतिबन्ध दृष्टि व दृश्य वस्तु के मध्य में रहने वाला तत्त्व है। इसे व्यवधान भी कहा जाता है। 'मेघच्छन्नेऽह्नि' में अह: शब्द से दिन के प्रवर्तक सूर्य व सूर्य-किरणों की विवक्षा है। अत: सूर्य व सूर्यकिरणें मेघावरण के कारण दिखाई नहीं देती हैं। यह मेघ ही दृष्टि व दृश्य सूर्य और सूर्यकिरणों का अन्तरालवर्ती प्रतिबन्धक है। 'ईशावास्य-मिदं सर्वम्' में वस् धातु का आच्छादन अर्थ नहीं अपितु निवास अर्थ है। अत: 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किञ्चन' इन श्रुतियों की 'ईशावास्यम्०' इत्यादि श्रुति के साथ एकवाक्यता होने से ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है इस अर्थ में 'ईशावास्यम्०' श्रुति का तात्पर्य है। अथवा 'ईशावास्यम्' श्रुति में वस् धातु का आच्छादन अर्थ मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि तात्त्विक दृष्टिसम्पन्न महर्षि की जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़ती है वहाँ-वहाँ उसे परमेश्वर से भिन्न कुछ नहीं दिखाई देता है। अत: वह एक (अद्वैत) ईश्वर सर्व प्रकार की द्वैत दृष्टि का आच्छादन करने वाला है, इसी अर्थ में श्रुति का तात्पर्य होने से आच्छादन अर्थ उपपन्न हो जाता है। 'गूढालङ्कारवाक्य में अर्थ प्रच्छन्न रहता है' जैसे वाक्यों में भी अनुभवात्मक दृष्टि के आच्छादन से ही गूढार्थ की प्रच्छन्नता उपपन्न हो जाती है। अर्थात् अनुभवात्मक दृष्टि का आच्छादन हो गया है अत: वहाँ गूढ अर्थ प्रच्छन्न होता है। इस प्रकार ऊपर आच्छादन की अनेकार्थता के जितने उदाहरण दिये हैं छत्राच्छादित आदि शब्दों को प्रतिबद्धदर्शनार्थक मानने पर आच्छादन शब्द में अनेकार्थकता नहीं रहती है और इस प्रकार अवच्छेद, मान, प्रतिष्ठा आदि अनवरुद्ध दर्शन के बोधक सिद्ध होते हैं अत: अवच्छेदों के अवच्छादक न होने से अवच्छेद को छन्द नहीं माना जा सकता है।

इस प्रश्न के समाधान में कहा है कि आच्छादकत्व का दृष्टि का प्रतिबन्ध या अवरोध अर्थ एकान्तत: नहीं माना जा सकता क्योंकि एकान्त में बैठे हुए व्यक्तियों को 'हम प्रच्छन्न स्थान में बैठे हैं' यह ज्ञान होता है। यहाँ दृष्टि का अवरोध न होने से आच्छादन का अर्थ दृष्टि का अवरोध नहीं है। जिसका शरीर छाते से आच्छादित है उसे वर्षा तथा धूप से कोई कष्ट नहीं होता है, ऐसे स्थलों में सब ओर से दिखाई देते हुए पुरुष के विषय में 'छत्रछन्नत्वं' का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। इस प्रकार दृष्टिप्रतिबन्ध के न होने पर भी केवल वर्षा धूप ओस आदि

को रोकने वाले घर की छत व चन्द्रातप (चन्दोवा) आदि आच्छादक हैं ऐसा लाक्षणिक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। इसीलिये 'काच से आच्छादित दीपक में वायु को प्रवेश का अवसर नहीं' जैसे व्यवहार भी उपपन्न हो जाते हैं। यहाँ भी काच को दृष्टि का प्रतिबन्धक न होने पर भी दीपक का आच्छादक बताया गया है। अतः आच्छादकत्व का अर्थ दृष्टि प्रतिबन्धकत्व न होकर इतर वस्तु के सम्बन्ध को हटा देना ही है। विशेषधर्मावाच्छिन्न दृष्टिप्रतिबन्ध में आच्छादन शब्द की शक्ति स्वीकार कर 'छन्ने स्थाने तिष्ठामः' इत्यादि में एकान्तादिरूप विशेषार्थान्तरों में लाक्षणिक प्रयोग की कल्पना की अपेक्षा सामान्यधर्मावच्छिन्न इतरसम्बन्धा-पवारकत्व अर्थ में आच्छादक शब्द की शक्ति मानना उचित है। इतरसम्वन्धा-पवारकत्व में इतर शब्द से कहीं दृष्टि का और कहीं नाष्ट्रा (इस नाम से प्रसिद्ध विघातक) पदार्थों का ग्रहण है।

इस प्रकार इतरसम्बन्धापसारणरूप एक ही अर्थ में आच्छादन शब्द की शक्ति मानने पर भी मानादिरूप अवच्छेदों में उपर्युक्त रीति से छन्द शब्द के अर्थ आच्छादकत्व की उपपत्ति हो जाती है। अतः अवच्छेदों में वस्तुस्वरूप का आच्छादकत्व रूप छन्दस्त्व सिद्ध हो जाता है।

एकदिग्वर्ती आवरण तथा अनेकदिग्वर्ती संवरण दोनों में ही आच्छादकता के समान होने पर भी एकदिग्वर्ती आवरण में छन्द शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु अनेक दिग्वर्ती संवरण में ही छन्द शब्द का प्रयोग होता है। क्योंकि छन्द शब्द के निष्पादक छदि धातु का संवरण अर्थ ही है न कि आवरण। अनेकदिग्वर्ती संवरण में भी व्याप्यवर्ती अपृथग्दृष्ट भेद ही प्रायः छन्द का विषय है न कि पृथग्-दृष्टभेद। इसीलिए वासुदेव ! सर्वच्छन्दक। हरिहय ! हरिमेध ! महायज्ञ ! इस महाभारतप्रयोग में सर्वच्छन्दक शब्द का प्रयोग संगत है क्योंकि 'छन्दयति अर्थात् संवृणोति अर्थात् रक्षति इति छन्दकः अर्थात् रक्षकः' इस व्युत्पत्ति से सर्वरक्षक होने से परमात्मा का नाम सर्वच्छन्दक है वही सब की रक्षा करता है।

जिन अवच्छेदों को छन्द बताया गया है वे अवच्छेदक कौनसे हैं इसका विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। गुणों के समवाय को वस्तु कहते हैं। गुण, धर्म व भाव एकार्थक शब्द हैं। इन गुणों या धर्मों की एकात्मभाव से एकरूप से स्थिति ही समवाय है, लोक व्यवहार में समष्टि के प्रधान होने से उसके अन्दर प्रतिष्ठित अर्थों को गुण कहते हैं। इन गुणों को धर्म इसलिए कहते हैं कि ये गुण समष्टि में धृत हैं या इन गुणों ने समष्टि को धारण कर रक्खा है। इन गुणों या धर्मों की सत्ता से ही वह गुणसमवायरूप वस्तु अन्य वस्तुओं से विलक्षण (भिन्न) बनती है। अतः इन गुणों या धर्मों को भाव कहते हैं। ये वस्तुधर्म पाँच प्रकार से विभक्त होकर गृहीत होते हैं, अर्थात् ये वस्तुधर्म पञ्चधा विभक्त हैं। वे हैं—(१) आश्रय भाव (२) प्रयोजक भाव (३) स्थायी भाव (४) व्यंजक भाव तथा (५) संचारिभाव। इन सब धर्मों में कोई एक धर्म दूसरे धर्मों का आश्रय होकर रहता है वह धर्म

आश्रय भाव कहलाता है। अन्य धर्म उसके उपकारक अर्थात् अङ्गवत् बनकर उस (धर्म) में रहते हैं, अतः अङ्गभाव से रहने वाले धर्म आश्रित हैं तथा यह आश्रय भाव है। अन्नसम्मित वस्तु में अग्नि, जलसम्मित वस्तु में सोम, वायुसम्मित वस्तु में इन्द्र, तेजःसम्मित वस्तु में आदित्य आलम्बन है। अतः उन-उन वस्तुओं में वह-वह (आलम्बन) आश्रय भाव है।

'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा धृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्' इस मन्त्र के अनुरोध को मानने वालों के मत में अग्नि ही सबका आश्रय भाव है। अथवा विप्रकीर्ण होने के कारण यह आश्रयभाव तत्तत् प्रसंगों में बदल जाता है।

'अथ सवित्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा, त्वष्ट्रा रूपैः, पूष्णा पशुभिः, इन्द्रेणास्मे, बृहस्पतिना ब्रह्मणा, वरुणेनौजसा, अग्निना तेजसा, सोमेन राज्ञा, विष्णुना दशम्या, देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि'

इत्यादि मन्त्रों से बोधित शरीरगत भिन्न-भिन्न कर्मों के अधिकार में नियुक्त सविता आदि देवता ही प्रयोजक भाव हैं।

"सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि, अग्नेस्तेजसा, सूर्यस्य, वर्चसा, इन्द्रस्येन्द्रियेण, मित्रावरुणयोर्वीर्येण, मरुतामोजसा" इति, इत्यादि तैत्तिरीयसंहिता के मन्त्रों से सोमादि अधिदेवता अध्यात्म में द्युम्नादि धर्मरूप से परिणत हो जाना ही इन देवताओं का द्युम्नादिधर्मप्रयोजकत्व हैं। ये देवताप्रयुक्त धर्म उस आत्मा का स्वभाव कहलाते हैं बाह्य कारण की अपेक्षा न रखने वाला धर्म स्वभाव कहलाता है। यह स्वभाव निसर्ग तथा स्वभाव भेद से दो प्रकार का है। दृढ़ अभ्यास से जन्य संस्कार को निसर्ग कहते हैं तथा किसी भी कारण से अजन्य स्वतःसिद्ध संस्कार स्वभाव कहलाता है। निसर्गात्मक स्वभाव की सिद्धि के लिए अध्ययन तपश्चर्या व योगाभ्यासादि कर्मों का उपयोग होता है।

उपादान द्रव्यों को स्थायी भाव कहते हैं, जैसे घट का उपादान द्रव्य मृत्तिका है पटका तन्तु है। अतः मृत्तिका व तन्तु ही घट पट आदि के स्थायिभाव हैं। आश्रय भाव प्रयोजक भाव तथा स्थायिभाव तीनों ही आत्मभाव कहलाते हैं। इनमें आश्रयभाव जीवात्मा है देवतारूप प्रयोजक भाव अन्तरात्मा है तथा स्थायी भाव भूतात्मा है। शेष व्यंजकभाव तथा संचारिभाव अनात्मभूत भाव हैं। अनात्मभूत होने पर भी इनमें जो भाव वस्तु से पृथक् नहीं रहते तथा विशेषरूप से वस्तु से व्यभिचरित होने पर भी सामान्य रूप से वस्तु से नित्यसम्बद्ध बाह्यार्थ वे अवच्छेदक व्यंजक भाव हैं। ये भाव दिग्देशकालसंख्या परिमाण आदि हैं। इन अवच्छेदक भावों से अवच्छिन्न होने पर ही वस्तु की अभिव्यक्ति होती है इनमें अवयवों के सन्निवेश से वस्तु में उत्पन्न होने वाले अणुत्व महत्त्व ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि धर्मों को परिमाण कहते हैं। समान द्रव्य गुण व कर्मों का होना ही साधर्म्य कहलाता है। दिग्देशकालादि व्यंजक भावों के बिना वस्तु का स्वरूप नहीं बनता। इसलिए वस्तुस्वरूप

की स्थिति के नियामक इन अवच्छेदकों को उस वस्तु का छन्द माना जाता है। वस्तु-स्वरूपस्थिति के नियामक प्राणमात्रारूप व्यंजक भावों से अतिरिक्त सभी व्यभिचारी वस्तुधर्म संचारिभाव कहलाते हैं। जैसे आर्द्रत्व उष्णत्व वेशभूषादि सांयोगिक (संयोग से प्राप्त अतएव वस्तु से संयुक्त) धर्म। ये धर्म भी वस्तु के अनात्मभूत ही हैं। इनके होने न होने से वस्तुस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। ये वस्तुस्वरूप से तटस्थ ही रहते हैं। इस प्रकार प्रतिवस्तु में पाँच प्रकार के धर्म हैं। इनमें चतुर्थ प्रकरण के धर्म या भाव अर्थात् व्यंजक भाव अवच्छेद हैं।

दिक् देश काल संवित् तथा संख्या की प्रधानता से गृहीत अवच्छेद या अन्यगुण उस वस्तु की व्यक्ति हैं। अर्थात् वस्तु के व्यंजक हैं इन भेदक धर्मों के भेद से ही वस्तुभेद होता है। अणुत्व महत्त्व ह्रस्वत्व दीर्घत्व रूप परिमाण की प्रधानता से गृहीत अवच्छेद ही वस्तु की आकृति होते हैं। क्योंकि अणुत्वादि परिमाण ही वस्तु को आकृति हैं। साधर्म्य (द्रव्यगुणकर्मों की समानता) के प्राधान्य से गृहीत अवच्छेद वस्तु की जाति कहलाते हैं। यहाँ साधर्म्य समानयोनिप्रकारक ही अर्थात् समान योनि का होना ही विवक्षित है। अतः मृद्गवक (मिट्टी की गाय) में अवयवों व आकृति को लेकर गो (प्राणी) से समानता होने पर भी उसके प्रसव (उत्पादक योनि) की समानता न होने से गोत्व जाति नहीं रहती। क्योंकि मृद्गवक की योनि मृत्तिका है तथा गोप्राणी की योनि गाय है। जाति रुढ शब्द है।

कुछ विद्वानों का जाति को अखण्डोपाधि मानना केवल कल्पना है। उपर्युक्त व्यक्ति, आकृति व जाति का एकात्मभाव से अवस्थान ही पदार्थ कहलाता है जैसाकि महर्षि कणाद का 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' यह पारमार्ष सूत्र है।

इस प्रकार व्यक्ति आकृति जाति के आश्रयभूत पदार्थ में अनेक धर्मों के रहने पर भी जिस किसी एक अर्थ (धर्म) को ग्रहण कर उसके सम्बन्ध से गुणी वस्तु का ज्ञान कराने के लिए उस अर्थ में पदों का संकेत किया जाता है। जैसे— मदीयः श्वेतः कृष्णकर्णो महारवस्तुरगः सुलक्षणः' इस वाक्य में मत्सम्बन्ध श्वेतवर्णरूप कृष्णकर्णत्व महारवत्व (शब्दमहत्त्व) त्वरागति तथा शुभलक्षणसम्बन्ध इन भिन्न-भिन्न विप्रकीर्ण अर्थों को निमित्त बनाकर प्रवृत्त भिन्न-भिन्न शब्दों की आकांक्षा के कारण एकाश्रयता प्रतीत होती है अर्थात् ये शब्द एक ही वस्तु को बतलाते हैं। इसी प्रकार एक ही अर्थ को लेकर प्रवृत्त छन्दःशब्द तथा छादक शब्द आकांक्षाविशेष के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में स्वरूपरक्षा तथा स्वरूपतिरोभाव अर्थ को बतलाते हैं। अतः ये शब्द आकांक्षाविशेष से भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न अर्थ को बतलाते हैं। इस प्रकार पदार्थों की मर्यादा विविध होती है विभिन्न होती है।

उपर्युक्त रीति के अनुसार व्यक्तिभावप्रधान दिग्देशकालसंवित्संख्यारूप अवच्छेद, जिसके कि परिच्छेद सीमा मर्यादा अभिविधि नियति नीति रीति व्यवस्था मिति मान ये पर्यायवाची शब्द हैं, का मान अर्थ को बताने वाले या शब्द से, आकृतिभावप्रधान अणुत्व महत्त्व ह्रस्वत्व दीर्घत्व के नियामक सन्निवेशरूप

अवच्छेद, जिसके कि प्रतिष्ठा आयतन आशय परिमाण और प्रमाण पर्यायवाची शब्द हैं, का प्रमाण वाचक प्रमाशब्द से तथा जातिभावप्रधान समान द्रव्य गुण कर्म रूप अवच्छेद, जिसके कि साधर्म्य सामान्य सादृश्य सारूप्य तुलितक प्रतिमिति और प्रतिमान ये पर्यायवाची शब्द हैं का प्रतिमानवाचक प्रतिमा शब्द से उल्लेख कर उन अवच्छेदों में छन्दस्त्व का विधान किया है। अर्थात् ये तीनों अवच्छेद छन्द हैं, जैसाकि 'माच्छन्दः प्रमाच्छन्दः प्रतिमाच्छन्दः' यह श्रुति बता रही है। इसी प्रकार

"अस्तभ्नाद् द्यामृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥"

"गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण मिमते सप्त वाणी॥"

इत्यादि मन्त्रों में दैशिक तथा सांख्यानिक मर्यादा के अभिप्राय से 'अमिमीत' इत्यादि पदों के द्वारा मा शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रथम मन्त्र में दैशिक अभिप्राय से तथा द्वितीय मन्त्र में सांख्यानिक अभिप्राय से मा शब्द का प्रयोग हुआ है।

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

इत्यादि मन्त्रों में प्रतिष्ठा के अभिप्राय से प्रमा शब्द का प्रयोग हुआ है।

"संवत्सरप्रतिमा वै द्वादश रात्रयः॥"
"द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा॥"

इत्यादि श्रुतियों में तुलितक (सादृश्य) के अभिप्राय से प्रतिमा शब्द का प्रयोग है। इसलिए मा प्रमा प्रतिमा शब्दों से उल्लिखित क्रमशः व्यक्तिभावप्रधान, आकृतिभावप्रधान व जातिभावप्रधान तीनों प्रकार के अवच्छेद, जो कि वस्तुस्वरूप का संवरक (रक्षक) है, का छन्दस्त्व श्रुतिवचनों से सिद्ध है।

यद्यपि मा प्रमा प्रतिमा को छन्द मानने पर

"कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद् देवा देवमयजन्त विश्वे॥ ऋ॰ १०.१०३, ३

इस ऋङ्मन्त्र में छन्द शब्द से ही प्रमा प्रतिमा का ग्रहण हो जाने पर भी पृथक् रूप से प्रमा प्रतिमा शब्द के उपादान से पुनरुक्ति दोष उपस्थित होता है, तथापि-विशेष का उपादान कर देने पर सामान्यशब्दगृहीत विशेषों से भिन्न विशेष का बोधक होता है—इस न्याय के अनुसार प्रमा व प्रतिमा इन विशेष शब्दों का उपादान करने पर प्रयुक्त सामान्य छन्दः शब्द का तात्पर्य प्रमा प्रतिमारूप विशेष अवच्छेदों से भिन्न मा रूप अवच्छेदों के बोधन में है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। वास्तव में तो छन्दस्त्व, मानत्वरूप से, प्रतिष्ठात्वरूप से या तुलितकत्वरूप से नहीं है

अपितु स्वरूपसंरक्षकत्वरूप से है। अतः पदावच्छेदकभेद का होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

इसी तरह यद्यपि 'माच्छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दः, इयं वै मा, अन्तरिक्षं प्रमा, असौ प्रतिमा, इमानेव लोकानुपधत्ते' इस अग्निचिति के मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि मा प्रमा प्रतिमा शब्द पृथिव्यादि तीनों लोकों के वाचक हैं अतः उनसे मानादि अवच्छेदों का ग्रहण अनुचित है तथापि जैसे चैत्र और मैत्र राजा के हाथ हैं—इस वाक्य में चैत्र और मैत्र में राजा के हस्त का प्रयोग गौणी लक्षणा से गौण प्रयोग है, उसी प्रकार पृथिव्यादि लोकों में मा प्रमा प्रतिमा शब्द गौणरूप से प्रयुक्त हुए हैं। मा आदि शब्दों का प्रयोग लोकों के लिये मुख्यरूप से नहीं है। अन्यथा—'अथ जूहूम्, अथोपभृतः, अथ ध्रुवाम्। असौ वै जूहूः, अन्तरिक्षमुपभृत् पृथिवी ध्रुवा। इमे वै लोकाः स्रुचः', इस तैत्तिरीय श्रुति से स्रुगादि शब्दों का लोकों में प्रयोग करने से वे लोक अर्थ के वाचक हो जावेंगे और उन शब्दों के अपने प्रातिस्विक अर्थ का लोप हो जावेगा। अतः गौणी वृत्ति से मा, प्रमा आदि शब्दों को लोकपरक मानने पर भी उनके अवच्छेदविशेष अर्थ का बाध नहीं होता है।

इस रीति से मा, प्रमा, प्रतिमारूप तीन भेदों से युक्त प्राणावच्छेद या अवच्छिन्न प्राण ही छन्द है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्राण का यह अवच्छेदकत्व अवयवरूप जिन अन्य प्राणों से सिद्ध होता है वे प्राण छन्दपरिभाषा में अक्षरशब्द से कहे जाते हैं। अर्थात् अवयवभूत उन प्राणों को अक्षर कहते हैं। उन प्राणों के प्रातिस्विक अवच्छेद को मात्रा कहते हैं। किसी मात्रा से नियत या अनियत उन अवयवरूप अक्षरों से प्राणरूप अवच्छेद की सिद्धि में उसके अवच्छेदक अक्षरों की संख्या के भेद से छन्द भेद हो जाता है। जैसे आठ अक्षरों का गायत्री छन्द, ११ अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द, १२ अक्षरों का जगती छन्द। वाचिक छन्द में ये अक्षर वाचिक प्राण होते हैं तथा आर्थिक छन्द में ये अक्षर आर्थिक प्राण होते हैं। वाचिक अक्षर वाचिक छन्दों में प्रसिद्ध हैं। आर्थिक अक्षरों का उदाहरण निम्नलिखित शतपथश्रुति में उपलब्ध है। शतपथश्रुति में अग्नि, रयि (सोम) रूप इस पृथिवी तथा पृथिवी के प्राण अग्नि को पृथक् पृथक् गायत्री कहा है। अर्थात् अग्नि व सोम के सम्बन्ध से निर्मित अर्थात् अग्नीषोमात्मक यह मर्त्य-पृथिवी गायत्री है तथा 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' इस श्रुति के अनुसार इस मर्त्य पृथिवी का प्राणरूप अग्नि भी पृथक् गायत्री है, यह (शतपथ ६, १, २, ३६ में) बताया गया है।

वहाँ मर्त्यपृथिवी के अप् फेन मृत् सिकता शर्करा अश्मा अयस् और हिरण्य ये ८ आर्थिक अक्षर व्याख्यात हैं। और आठ अक्षरों का ही चाहे वे वाचिक हों या आर्थिक हों गायत्री छन्द होता है। चूँकि उपर्युक्त अप्, फेन आदि पृथिवी के आठ अक्षर हैं अतः अष्टाक्षरा यह पृथिवी गायत्री है।

इसी प्रकार उषारूप पत्नी में भूतपति संवत्सर द्वारा रेत का आधान करने से वैश्वानरसंज्ञक कुमाराग्नि उत्पन्न होती है। इस कुमाराग्नि के रुद्र (अग्नि), सर्व (आप:) पशुपति (औषधि), उग्र (वायु), अशनि (विद्युत्), भव (पर्जन्य), महान् देव (चन्द्रमा), ईशान (आदित्य) ये आठ रूप हैं। इस रीति से पृथिवीप्राणरूप अग्नि के आठ आर्थिक अक्षर हैं। अतः पृथिवीप्राण के रूप अग्नि भी अष्टाक्षर होने से गायत्री हैं। ये दोनों भूत गायत्री हैं।

इस प्रकार आर्थिक प्राणों को अक्षर मानकर उनके परिच्छेद से अन्य गायत्रियाँ भी बन जाती हैं। महाभारत में भीष्मपर्व में भौमगुणस्थान में चतुर्थ अध्याय में—'द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च' इत्यादि श्लोकों से चतुर्विंशत्यक्षरा लोक-गायत्री का निरूपण किया गया है। जो इस प्रकार है—चरस्थावररूप द्विविध भूतों में चर, जिन्हें त्रस भी कहा गया है, की अण्ड स्वेद और जरायु ये तीन योनियाँ हैं। चरों में जरायुज श्रेष्ठ और जरायुजों में श्रेष्ठ जो पशु और मानव हैं उन्हें ग्रामारण्य रूप से इस प्रकार गिना गया है। सिंह व्याघ्र वराह महिष वारण ऋक्ष और वानर ये सात 'आरण्य' तथा गौ अज अवि मनुष्य अश्व अश्वतर और गर्दभ ये ग्राम्य पशु हैं। वेदोक्त इन्हीं चौदह में यज्ञ प्रतिष्ठित हैं। इन सभी भूतों का पारस्परिक उपजीवन है। स्थावरों की योनि उद्भित् है, उद्भिज्ज कुल पाँच हैं वृक्ष गुल्म लता वल्ली और त्वक्सार। इन १४+५ भूतों में पृथिवी अप् तेज वायु और आकाश ये पाँच महाभूत मिलकर २४ होते हैं। ये ही २४ अक्षर हैं जिनसे 'लोकगायत्री' बनती है। त्रिपदा गायत्री में इन अक्षरों का सन्निवेश इस रूप देखा जा सकता है—

१ धातुपाद में—१ आकाश २ वायु ३ तेज ४ जल और ५ पृथिवी ये पाँच अक्षर। २ मूलपाद में—१ वृक्ष, २ गुल्म ३ लता ४ वल्ली और ५ तृण ये पाँच अक्षर। तृतीय जीवपाद में—१ सिंह २ व्याघ्र ३ वराह ४ महिष ५ वारण ६ ऋक्ष और ७ वानर ये सप्त आरण्य एवम् १ मनुष्य २ अज ३ अवि ४ गौ ५ अश्व ६ अश्वतर और ७ गर्दभ ये सप्त ग्राम्य—कुल १४ अक्षर हैं जिन्हें अचेतन अन्तश्चेतन और चेतन पादों के रूप में त्रिपदा चतुर्विंशत्यक्षरा लोक गायत्री विशद रूप में बतायी गयी है।

अब तक के सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ कि मा, प्रमा-प्रतिमारूप तीन प्रकार के अवच्छेद ही छन्द हैं। किन्तु 'वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो:' 'छन्दांसि वा अग्नेर्वासः। छन्दांस्येव वस्ते। छन्दोभिरेवैनं परिददाति' यह मैत्रायणी श्रुति अग्न्याच्छादनरूप अर्थ को "छन्दांसि वा संवेश उपवेशः" यह तैत्तिरीय श्रुति संवेश तथा उपवेश को तथा "यदेव शिल्पानि आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि-छन्दोमयं वा। एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते" यह ऐतरेय श्रुति शिल्प को छन्द बतला रही है। अतः मा, प्रमा, प्रतिमारूप अवच्छेद को छन्द मानना अपर्याप्त है।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए निरुक्त के दैवतकाण्ड में भगवान् यास्क ने भक्तिसाहचर्यनिरूपण के अवसर पर कहा है 'यत्किञ्चिद् दार्ष्टिविषयकं तत्सर्व-

मग्नेःकर्म', अर्थात् दृष्टि विषयभूत सभी पदार्थ अग्नि का कर्म है। इस प्रकार दृष्टि-विषयभूत स्थान का अवरोध करने वाली सारी वस्तुएँ अग्निप्रधान हैं। अतः वस्तु-स्वरूप के अवच्छेदक छन्दस्त्वेन अभिप्रेत दिग्देशकालसंख्यानरूप जो अनात्मधर्म हैं उन्हीं को आच्छादक बतलाने में उपर्युक्त मैत्रायणीय श्रुति का तात्पर्य है। संवेश तथा उपवेश को छन्द बतलाने वाली तैत्तिरीय श्रुति का तात्पर्य संवेश व उपवेश के अवयव संनिवेशरूप होने से परिमाणरूप अवच्छेद में है। शिल्प दो प्रकार का होता है—अपूर्व कौशल का निर्माण तथा प्रतिरूप कौशल का निर्माण। इनमें 'येभिः शिल्पैः पप्रथानामदृंहत् येभिर्दशामभ्यापिंशत् प्रजापतिः' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध अपूर्व-शिल्पनिर्माण दैशिकावच्छेदरूप या परिमाणावच्छेदरूप है। अतः उस शिल्प को दैशिकावच्छेद रूप मानने पर मा रूप छन्द में तथा परिणामावच्छेदरूप मानने पर प्रमारूप छन्द में अन्तर्भाव है। 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् (शत ३।२।१।५) इस शतपथश्रुति में बोधित अनुकरण शिल्प प्रतिमानावच्छेद से भिन्न नहीं हैं अतः प्रतिमाच्छन्द में उसका अन्तर्भाव है।

पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि परिच्छेद प्रतिष्ठा व तुलितकत्वरूप मा-प्रमा-प्रतिमा से भिन्न अर्थच्छन्द नहीं है यह कथन सर्वथा अनुपपन्न है क्योंकि परिच्छेदादि तीनों अर्थों से भिन्न अर्थ में भी गायत्री आदि छन्दविशेषों का प्रयोग मिलता है। जैसे 'स वा एति च प्रेति चान्वाह। गायत्री मेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति। पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति, अर्वाची मनुष्यानवति, तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह" इस शतपथश्रुति में परिच्छेदादि अर्थों से भिन्न एति प्रेति क्रिया से उपलक्षित देवताओं के लिये यज्ञ वहन व मनुष्यरक्षा अर्थ में गायत्री का प्रयोग बतलाया है। इसी प्रकार 'यद्वेव एति प्रेति चान्वाह। प्रेति वै प्राणः एत्युदानः, प्राणापानावेवैतद्दधाति" इस शतपथ श्रुति में परिच्छेदादि अर्थों से भिन्न एति प्रेति क्रिया से उपलक्षित प्राण व उदान में गायत्री का प्रयोग किया है और गायत्री छन्द है अतः प्राणोदानादि अर्थ भी छन्द हैं यह सिद्ध होता है।

इसी प्रकार "गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयत्" इत्यादि श्रुतियों से परिच्छेदादि अर्थ से भिन्न संस्कार भी छन्दशब्द का अर्थ प्रतीत होता है। क्योकि 'प्रकृति विशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्काराच्च' यह सूत्र संस्कारविशेष को चातुर्वर्ण्य का कारण बतला रहा है। अतः 'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्' इत्यादि श्रुतियों में गायत्र्यादिशब्द संस्कारविशेष के बोधक हैं अतः संस्कार भी छन्द हैं, क्योंकि गायत्री आदि छन्द हैं। इसलिये संस्कार भी छन्द शब्द का अर्थ है।

इसी प्रकार 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। ब्रह्म गायत्री। ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्। जागताः पशवः इषमूर्जं रयिः पुष्टिश्च' इस श्रुति में तेज, ओज आदि अर्थों में गायत्री आदि शब्दों का प्रयोग होने से परिच्छेदादि तीनों अर्थों से भिन्न द्रविण

अर्थ भी छन्द है यह सिद्ध होता है। अतः परिच्छेदादि अर्थों को ही छन्द मानना अपर्याप्त है।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए एति प्रेति क्रियोपलक्षित अर्थों को दो प्रकार से गायत्री कहा है—देवता साहचर्यभक्ति से तथा देवता अहर्भक्ति से। देवताओं के भक्ति-साहचर्य का निरूपण भगवान् यास्क ने निरुक्त के दैवत काण्ड में 'तिस्र एवैता देवता भवन्ति' से प्रारम्भ कर 'यच्चकिञ्चित् प्रवह्लितं तत्सर्वमादित्यस्य कर्म, रसादानं, रश्मिभिश्च रसधारणं' इस प्रघट्टक से किया है। इन्हीं स्थानव्यूहों में ऋतु, छन्द, स्तोम व पृष्ठ में भक्तिशेष की कल्पना करनी चाहिये। जैसे शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, एकविंशस्तोम, वैराज साम इनका पृथिवी आयतन है अर्थात् ये पृथिवी लोक की भक्तियाँ हैं। हेमन्त ऋतु, पंक्ति छन्द, त्रिणव (अर्थात् २७वां) स्तोम, शाक्वर साम इनका आयतन अन्तरिक्ष है अर्थात् ये अन्तरिक्ष लोक की भक्तियाँ हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दस् छन्द, ३३वाँ स्तोम, रैवत साम इनका आयतन द्युलोक है अर्थात् ये द्युलोक की भक्तियाँ हैं। इस प्रकार देवता साहचर्यभक्ति से दृष्टिविषयभूत सकल वस्तुएँ तथा देवागमन देवप्रतिगमनादि सकल कर्म अग्नि की भक्ति हैं जिस प्रकार गायत्री छन्द अग्नि की भक्ति है, यह सिद्ध हो जाता है। अतः एति प्रेति क्रियोपलक्षित सभी अर्थों को अग्निभक्ति होने से गायत्री कहा है न कि छन्द की दृष्टि से। इसी प्रकार देवतासाहचर्यभक्ति का निरूपण करने के बाद देवताओं की भक्ति से ऐतरेय ब्राह्मण में निरूपित दशाहप्रतिपत्ति का इस प्रकरण में निरूपण किया है। इसका निरूपण 'अग्निः प्रथममहर्वहति से प्रारम्भ कर 'श्रीर्दशममहः' तक किया है।

यहाँ यह तक बतलाना है जिस प्रकार त्रिवृत्स्तोम, रथन्तरसाम आदि अर्थ अग्न्यहोरूप होने से अग्नि की भक्ति हैं व गायत्रीछन्दस्क हैं उसी प्रकार एतिप्रेति-क्रियोपलक्षित अर्थ भी अग्निरूप होने से अग्नि की भक्ति हैं और गायत्रीछन्दा हैं अतः अग्निभक्ति होने से एतिप्रेतिक्रियोपलक्षित अर्थों को गायत्री कहा है। इसलिये इनमें अग्निशब्द का प्रयोग गौण है।

प्रश्न ग्रन्थ में परिच्छेदादि भिन्न जिन संस्कारों को छन्द बतलाया गया है उन सब संस्कारों का वर्णन किया है। किसी पुरुष का कर्मविशेष के लिये योग्यता-सम्पादन ही संस्कार कहलाता है। ये संस्कार दोषापनोदन (दोषनिवारण) अतिशयाधान व हीनाङ्गपूर्ति भेद से तीन प्रकार के हैं। दोषापनोदन से पुरुष के दोष का निवारण होकर पुरुष कर्मविशेष सम्पादन के योग्य बन जाता है, जो कर्मविशेष-सम्पादनयोग्यता दोषसत्ताकाल में दोषरूप प्रतिबन्धक के कारण नहीं थी। जैसे दोषापनोदन संस्कार के अभाव में ब्राह्मण में स्वरूपतः ब्राह्मण्य होते हुए भी उसमें अधमता आ जाती है किन्तु ब्राह्मण्य का नाश नहीं होता और उस अधमता के कारण वह कर्मविशेष के सम्पादन के योग्य नहीं रहता।

विशेषाधान संस्कार वह है जिसके अभाव में मनुष्य स्वरूपतः ब्राह्मण है उसमें ब्राह्मण्य का नाश भी नहीं होता किन्तु उसको उत्तमता प्राप्त नहीं होती और उसमें उत्तमब्राह्मणसाध्य कर्मविशेष के सम्पादन की योग्यता नहीं रहती।

तीसरा हीनाङ्गपूर्ति संस्कार वह है जिसके अभाव में मनुष्य में ब्राह्मण्य नहीं रहता और ब्राह्मण्य के नाश से वह ब्राह्मण्यसाध्य कर्मविशेष के सम्पादन के योग्य नहीं रहता है। इस प्रकार तीन प्रकार के संस्कारों के वर्णन के बाद ब्राह्म अर्थात् स्मार्त संस्कारों का तथा दैव अर्थात् श्रौत संस्कारों का वर्णन विभिन्न स्मृतिवचनों का उल्लेख करते हुए किया गया है। इनमें गर्भाधान से प्रारम्भ कर त्रेताग्नि-संग्रह तक १६ ब्राह्म संस्कार हैं। गर्भाधान से लेकर कर्णवेधान्त ९ संस्कार बिना मन्त्र के स्त्रियों के भी होते हैं। विवाह संस्कार स्त्री का भी मन्त्रपूर्वक होता है। शूद्र के ये दसों संस्कार विना मन्त्र के होते हैं। कहीं कहीं शूद्रों के १२ संस्कार भी बतलाये हैं जैसे—

द्विजानां षोडशैव स्युः शूद्राणां द्वादशैव तु।
पञ्च मिश्रकजातीनां संस्काराः कुलधर्मतः॥

वेदव्रतोपनयनमहानाम्नी महाव्रतम्।
विना द्वादश शूद्राणां संस्कारानाममन्त्रतः॥

ब्राह्म संस्कार से संस्कृत पुरुष ऋषियों की समानता व सायुज्य को प्राप्त करता है और दैव संस्कार से संस्कृत पुरुष देवों की समानता, सलोकता व सायुज्य को प्राप्त करता है। उभयविध संस्कारों के निरूपण के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संस्कारों में परिच्छेदादि से भिन्न छन्दस्त्व मानने वाले को क्या सभी सस्कारों में छन्दस्त्व अभीष्ट है या कतिपय संस्कारों में। यदि कतिपय संस्कारों में छन्दस्त्व अभीष्ट है तो अर्धजरतीय न्याय की आपत्ति है। क्योंकि सभी संस्कारों में संस्कारत्व के समान होने पर भी कुछ को छन्द माना जाय और दूसरों को नहीं इस बात में एकतर पक्षपातिनी युक्ति का अभाव है। अतः यह पक्ष युक्त नहीं। यदि सभी संस्कारों को छन्द माना जाये तो शूद्र में कतिपय संस्कारों के होने से वह भी छन्दोयुक्त बन जायगा। दोनों पक्षों में दोष प्रदर्शन कर अन्त में कहा है कि चाहे सभी संस्कारों को छन्द माना जाय या कुछ संस्कारों को इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि जिसके आश्रय से जिसका ज्ञान होता है वह आश्रयभूतपदार्थ उससे ज्ञात होने वाले अर्थों की प्रतिष्ठा होती है। इस नियम के अनुसार ब्राह्म संस्कार साक्षात् या परम्परया ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व व वैश्यत्व की प्रतिष्ठा हैं क्योंकि ब्राह्मण संस्कारों से ब्राह्मणत्वादि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ब्राह्म संस्कार ब्राह्मण-त्वादि की प्रतिष्ठा रूप हैं और प्रतिष्ठा में प्रमाशब्द प्रसिद्ध है। अतः ब्राह्म संस्कारों में जो छन्दस्त्व है वह प्रमा के अन्तर्गत आ जाता है और उसमें प्रमारूप छन्दस्त्व

सिद्ध हो जाता है। अतः मा, प्रमा और प्रतिमा से भिन्नत्व ब्राह्म संस्कारों में नहीं है।

संस्कारयोग्य आत्मा में संस्कारविशेषों के द्वारा ब्रह्म, क्षत्र तथा विट् इन बलों का आधान किया जाता है। इनमें ब्रह्मबल अग्नि देवताक, क्षत्रबल इन्द्रदेवताक तथा विड्बल विश्वेदेवदेवताक है। अग्नि का छन्द अष्टवर्णा गायत्री, इन्द्र का छन्द एकादशवर्णा त्रिष्टुप् तथा विश्वेदेवों का छन्द द्वादशवर्णा जगती है। इसलिये ब्रह्म को गायत्र, क्षत्र को त्रैष्टुभ तथा विट् को जागत कहा जाता है। संस्कारविशेष से जिसमें ब्रह्मबल का आधान किया गया है वह ब्राह्मण कहलाता है जिसमें क्षत्रबल का वह क्षत्रिय और जिसमें विड्बल का वह वैश्य कहलाता है। किन्तु ब्राह्मणादि वर्णों में ब्रह्म, क्षत्र व विड्बलों का आधान क्रमशः अष्टवर्णत्व, एकादशवर्णत्व व द्वादशवर्णत्व के कारण है। अतः यह सिद्ध होता है कि ये ब्राह्मणादि वर्ण वर्णच्छन्दों से अर्थात् गायत्री आदि छन्दों से बद्ध हैं। इसलिए 'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्' ऐसा श्रुतिवचन है। यद्यपि शूद्रवर्ण 'न केनापिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयत्' इस श्रुति के अनुसार किसी भी छन्द से बद्ध नहीं है। अतः इसको वर्ण नहीं मानना चाहिए क्योंकि वर्ण वर्णच्छन्दोबद्ध होता है तथापि शूद्र में वर्णत्व औपचारिक है। शूद्र में, अछन्दस्त्व ही छन्दस्त्वेन विवक्षित है। अर्थात् अछन्द को ही छन्द मान लिया गया है। अतः जैसे वाग्वर्ण गायत्री छन्द, त्रिष्टुप् छन्द, जगती छन्द व विच्छन्द भेद से चार प्रकार का है उसी प्रकार इन वर्णच्छन्दों से बद्ध मनुष्यवर्ण भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र भेद से चार प्रकार का है और ये मनुष्यवर्ण भी वर्णच्छन्दोबद्ध होने के कारण वर्णच्छन्दों के कारण ही छन्दोयुक्त हैं। चेतन अचेतन सभी प्राणी इन वर्णच्छन्दों से बद्ध होने के कारण वर्णच्छन्दों से ही छन्दोयुक्त हैं। इस प्रकार मनुष्यों में संस्कारविशेष करने पर वह मनुष्य संस्कार से युक्त होकर ब्राह्मण गायत्री छन्द वाला, क्षत्रिय त्रिष्टुप् छन्दवाला, वैश्य जगती छन्द वाला तथा शूद्र प्राजापत्य (अनुष्टुप्) छन्दवाला या विच्छन्दा हो जाता है। अतः संस्कारों में छन्दस्त्व का अभाव न होने से छन्दोलक्षण की अव्याप्ति नहीं है। इस प्रकार अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव आदि की भक्ति से सिद्ध ब्रह्म, क्षत्र, विड्बलों के संयोग से ब्राह्मणत्वादि के सम्पादक संस्कारविशेषों में गायत्रीत्व, त्रिष्टुप्त्व, व जगतीत्व की सिद्धि हो जाती है।

यद्यपि 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। ब्रह्मगायत्री। ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्। क्षत्रं त्रिष्टुप्। जागताः पशवः। इषमूर्जं रयिः पुष्टिश्च' इस प्रकार तेज ओज ब्रह्म क्षत्र आदि अर्थों में गायत्री आदि का प्रयोग होने से तेज ओज ब्रह्म आदि भी छन्द हैं, यह सिद्ध होता है। किन्तु द्रविण मानादि अवच्छेदरूप नहीं हैं अतः मानावच्छेदरूपछन्द का लक्षण अपर्याप्त है तथापि 'समिधमातिष्ठ गायत्री त्वा छन्दसामवतु ब्रह्म द्रविणम्' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति में तथा 'प्राचीमारोह, गायत्री त्वावतु ब्रह्म द्रविणम्' इत्यादि माध्यन्दिनीय श्रुति में ब्रह्म, क्षत्र, विट्, बल, वर्चः इन

द्रविणों को अग्नि आदि की भक्तिरूप बताया है। अग्न्यादि देवताओं के छन्द गायत्र्यादि हैं अतः ब्रह्मक्षत्रादि द्रविण अग्न्यादि भक्तिरूप होने से गायत्र्यादि छन्दों से सिद्ध होते हैं। इसलिये ब्रह्मादि द्रविणों में गायत्र्यादिछन्दःसाध्यता के कारण छन्द शब्द का प्रयोग गौण है न कि मुख्य। अतः मानाद्यवच्छेदरूप छन्दोलक्षण की अव्याप्ति इन ब्रह्मादि द्रविणों में नहीं है।

इसी तरह 'अस्रीवयश्छन्दः, पंक्तिश्छन्दः, एवश्छन्दो, वरिवश्छन्द छदिश्छन्दः, दूरोहणं छन्दः, तन्द्रं छन्दः अङ्काङ्कं छन्दः' इस रूप से मा प्रमा प्रतिमा से भिन्न अर्थ भी छन्द हैं और उनमें मानाद्यवच्छेद रूप लक्षण की अव्याप्ति है। इससे अतिरिक्त—

त्रीणिच्छन्दांसि कवयो वियेतिरे पुरुरूपं दर्शतं विचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन्भुवन आर्पितानि ।।

—अथर्व० १८।१।१७

इस आथर्वण श्रुति में अप्, वात ओषधि को भी छन्द बतलाया है और इनसे भी मानादयवच्छेदरूप छन्दलक्षण अपर्याप्त है (अव्याप्त है) किन्तु जिस प्रकार गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि वाचिक छन्दविशेष हैं उसी प्रकार मा, प्रमा, प्रतिमा, अस्रीवि, एव, अङ्काङ्कादि आर्थिक छन्द हैं और ये छन्द भिन्न-भिन्न अर्थों के व्यवस्थापक हैं। इसी में उपर्युक्त श्रुतिवचनों का तात्पर्य है न कि मुख्यवृत्ति से। तत्तदर्थ के व्यवस्थापकत्वरूप मर्यादा के कारण परिच्छेदरूप छन्द के लक्षण की इनमें अव्याप्ति नहीं है।

उपर्युक्त आथर्वण श्रुति में अप् वात, औषधि को, जो छन्दपद से कहा है उसका अभिप्राय यह है कि विश्व के सभी पदार्थों का तीन प्रकार से विभक्त होकर ग्रहण होता है? घनावयवरूप से, तरलावयवरूप से व विरलावयवरूप से। निविडावयव पदार्थों को ओषधिशब्द से, तरलावयव पदार्थों को अप्शब्द से तथा विरलावयव पदार्थों को मन्त्र में वातशब्द से व्यवहृत किया है। ये तीनों भाव एक ही अर्थ में अर्पित हैं क्योंकि सभी पदार्थों का कारणविशेष से तीनों अवस्थाओं में विपरिणाम हो जाता है। इन्हीं तीनों भावों में सारा संसार प्रतिष्ठित है। अतः इन तीनों भावों को विश्वप्रतिष्ठारूप होने से इनमें भी प्रतिष्ठारूप छन्दस्त्व विद्यमान है। अतः मानाद्यवच्छेदरूप छन्द लक्षण की इनमें अव्याप्ति नहीं है। यद्यपि छन्दः शब्द के विष, रहः, रुचि, अभिलाषा, वश्यता, स्वैराचार, निष्प्रतिबन्ध, विरेचन-छाँटना आदि अनेक अर्थ शब्दचन्द्रिका आदि कोषों से तथा नाना प्रयोग व्यवहारों से मिलते हैं जो यहाँ उद्धृत—छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः, सुहृदो विमनीकृताः से लेकर त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋषिषेण सुतोऽभवत्। राज्येनछन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ—तक के वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं तथापि इन्हें मानाद्यवच्छेद से भिन्न मानना उपयुक्त नहीं है अतः छन्दलक्षण की अव्याप्ति नहीं

है क्योंकि नाड़ी मार्गविरोधक होने से विष दैशिकावच्छेदरूप है। छन्दानुवृत्ति की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है प्रथम—छन्द को इच्छा मानकर, तदनुसार 'मित्रों की जैसी इच्छा हो वैसा अनुवर्तन करना चाहिये इस रूप से मित्र वस्तुत: बड़े कष्ट से साधित होते हैं क्योंकि परेच्छानुवर्तन सर्वथा कठिन होता है। द्वितीय छन्दशब्द को परिच्छेद अर्थ में लें तो वाच्य अवाच्य देय अदेय आदि मर्यादानुगत व्यवहार नियम से अनुवर्तन करने के कारण स्पष्ट हैं कि मित्र दु:साध्य होते हैं मित्रता परिच्छेद को सहन नहीं कर सकती।

यहां छन्द का इच्छा अर्थ मानने पर इच्छा मानस छन्द है। अत: वह परिच्छेद रूप ही हैं और छन्द को परिच्छेदपरक मानने पर स्पष्ट ही परिच्छेदरूप हैं। रुचि अभिलाष आदि भी इच्छाविशेषरूप हैं और इच्छा मानस छन्द है जैसा कि 'अभिप्रायश्छन्द आशय:' यह कोष बतला रहा है।

यद्यपि विषयविशेष की ओर मन की प्रवृत्ति (लगाव या रुझान) का नाम ही अभिप्राय है तथापि यह मन की प्रवृत्ति उपचारभेद से दो प्रकार की है—(१) मन से गृहीत विषय तथा (२) विषय पर आरूढ मन। इस विषय में तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? किस अभिप्राय से आये हो ? धन हमारा अभिप्रेत है इत्यादि में मनोगृहीत विषय को लेकर अभिप्राय का प्रयोग है।। धन के अभिप्राय से आया, मेरा अभिप्राय देखना और जानना है,इस विषय में क्या अभिप्राय रखते हो ?आदि में मनोऽभिप्राय अर्थ में प्रयोग है। इस प्रकार दोनों तरह के प्रयोग प्रसिद्ध हैं। मनसे गृहीत विषय के मनोऽवच्छेदक होने से मन की छन्दोरूपता स्पष्ट ही है। विषयरूप अभिप्राय के अनुसार ही मन का स्वरूप होने से वही (विषय में) उसकी प्रतिष्ठा है। अभिप्राय को विषयारूढमन:परक मानने पर विषयसंक्रान्त मन ही मनुष्य का अवच्छेदक होता है। अत: इस (मन) में मनुष्यच्छन्दस्त्व सिद्ध है ही। स्व (विषय) संयुक्त मन के अनुरोध से प्रवर्तमान आत्मा ही मनुष्य है क्योंकि मनुष्य इसी में प्रतिष्ठित होता है। इसलिए जो भी शरीर या सांयौगिक घटादि पदार्थ समुदाय हैं वे सब दीन मन वाले मनुष्य के दीन ही हो जाते हैं तथा उदार मन वाले के उदार हो जाते हैं। नीचमना मनुष्य के ये सब नीच हो जाते हैं तथा महाशय व्यक्ति ये सब महाशयता को प्राप्त हो जाते हैं। अंगुलियां उठे यह अभिप्राय रखनेवाले की अंगुलियां तत्काल उठ जाती है। हाथ उठे ऐसा सोचते ही हाथ उठ जाता है। मैं जाऊँ सोचते ही व्यक्ति चल पड़ता है। बैठूँ यह विचारते ही बैठ जाता है। जहाँ चलता हूँ सोच कर भी नहीं चलता है वहाँ (इतने समय में चल दूँगा इस रूप में कालविशेष विशेषण रूप में विषयी भाव है यह भी स्पष्ट है। न जाऊँ ऐसा विचार करते हुए व्यक्ति का अविनाभाव से सम्बद्ध प्रतिबंधक विचार अथवा) सामर्थ्य का अभाव आदि प्रतिबन्धकभाव हेतुरूप से विद्यमान है। इसीलिये 'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा ···श्रोत्रं विश्वे देवा:' इत्यादि श्रुति से मन को ही सम्पूर्ण व्यवहारों का प्रयोजक बताया गया है। इस अभिप्राय से ही अर्थात् मन के कारण से ही पुरुष

के विषय में मनुष्य, मानुष, मानव, मनुज, इन शब्दों का प्रयोग प्रवृत्त होता है। क्योंकि मनु, मनुष्, मनुज आदि शब्द मन के समानार्थक हैं। इसीलिये—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ।।

इस मन्त्र के अथर्ववेदपाठ में 'पुनन्तु मनवो धियः' रूप संगत होता है। मनस्वी आदि व्यक्तिविशेष में निरूढ शब्दों का, मनःसंयुक्त समस्त अर्थ (विषय) परत्व के अभाव वाले मनुष्य आदि शब्दों का भी पशु, पक्षी आदि में अप्रयोग मनुष्य की प्रशस्तता के अभिप्राय से ही है। आठों वृत्तियों के बीजाङ्कुरयोग्य क्षेत्ररूप इस मनुष्य की प्रशस्तता सम्पूर्णात्मत्वरूपता ही है। इसीलिये इन तिर्यग्योनि वाले पशु-पक्षियों में आठ प्रकार की ये वृत्तियां जन्म नहीं लेती हैं जैसी कि मनुष्य में होती हैं। इन वृत्तियों के उत्पत्तिक्षेत्र मनुष् की उनमें खिलरूप से ही अनुवर्तन होने से कुछ वृत्तियों का ही उससे समुदय होता है। ये आठ वृत्तियाँ अथर्ववेद में निम्नलिखित बतायी गयी हैं—

मनसे चेतसे धिये आकूतये उत चितये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे, विधेम हविषा वयम् ।। इति ।।

इसी मनुष् में प्रयोजकादितादात्म्य के अभिप्राय से कतिपय शब्द प्रवृत्त होते हैं। देखिये मनु के ये पद्य—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ।।
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।

इस मनुष्य मात्र में अपने-अपने बल को पुष्ट करने में समर्थ विशिष्टसंस्कारों की उत्पत्ति में वह भिन्न-भिन्न आचारग्राही हो जाता है तब किसी का ब्राह्मणत्व किसी का क्षत्रियत्व किसी का वैश्यत्व तो किसी का शूद्रत्व प्रवृत्त होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के प्रयोजक चित्तवासनागत तत्तत् संस्कारविशेषों को ब्राह्मणत्वादि छन्दोभाव कहा जाता है। दुराचार द्वारा अनुमान का विषय बने उस प्रकार के संस्कारभ्रंश से भग्नमर्याद ब्राह्मणस्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है अतः इस प्रकार की पतितावस्था के प्रतिबन्ध से यथास्थितिस्वरूप से संरक्षक उस विशिष्ट-संस्कार ब्राह्म आदि बल का ब्राह्मणादिछन्दस्त्व युक्तियुक्त ही है, ब्राह्मणादि के उसी में प्रतिष्ठित होने से।

इस प्रकार आपाततः विभिन्नार्थता होते हुए भी इनमें अन्यार्थ का भाव नहीं है, यह सूक्ष्मेक्षिका से विचारणीय है।

जड़ पदार्थों में भी स्व-स्वप्रवृत्तिप्रयोजक स्व-स्व असाधारण (विशिष्ट) धर्म का स्व-स्व छन्दोभाव है, ही अतः सभी स्वकर्म में स्वच्छन्द होते हैं। अपनी अपेक्षा

बलवान् परधर्मसङ्क्रान्त होने पर (स्वच्छन्दभाव के दुर्बलतावश तिरोहित हो जाने पर) वे परच्छन्द-आवृत्त हो जाते हैं, प्रवृत्ति के अन्याधीन हो जाने के कारण से। जैसे किंवाड़ आदि में समवाय से सम्बद्ध लकड़ी के दो पल्लों (पाटियों) के आलम्बन लौहकील आदि कपाट के छन्द हैं अन्यथा दोनों पल्लों या तख्तों के पृथक् हो जाने से कपाट के स्वरूप की ही हानि हो जावेगी। इसी भाँति दोनों पैरों में बन्धी रस्सी से छन्दित पशु रस्सी के अधीन वृत्ति वाला हो जाने से 'रश्मि-छन्द' है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सभी स्थलों में सभी धर्मी चाहे जड़ हो या चेतन, स्वगतधर्म-विशेष से छन्दित होता हुआ तदधीन वृत्तिवाला हो जाता है, इसीलिये स्वधर्म में प्रतिष्ठित होने से यही उसकी स्वच्छन्दता है। स्वरूप से अननुगत (अर्थात् प्रतिकूल) किसी धर्म से आच्छन्दन होने पर परच्छन्दता हो जाती है, यह विचारना चाहिए। इसी से 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ' आदि प्रयोग भी व्याख्यात हैं। 'राज्येन छन्दयामासुः' आदि में भी व्यावर्तन-अर्थक विरेचन भी संवित्परिच्छेद से कोई भिन्न अर्थ नहीं है। अतः यहाँ भी अर्थान्तर नहीं है। इस प्रकार नाना रूपों में संस्कृत छन्दःप्रतिष्ठातत्त्व बता दिया गया है अब प्राकृत छन्दः-प्रतिष्ठातत्त्व का अनुवर्तन कर रहे हैं।

छन्दःसमीक्षा के परिशिष्ट भाग के रूप में दिये गये छन्दस्तत्त्ववाद के पृष्ठ २७४ में २६वीं पंक्ति में 'अथातः प्राकृतां छन्दःप्रतिष्ठामनुवर्तयामः। अस्ति हि सर्वेषामर्थजातानां काचिदाकारनिबन्धना भूमिः' आदि से प्रारम्भकर पृ. २८४ में अन्तिम पंक्ति तक 'आर्थिकाश्च सर्वे छन्दोव्यवहारा यथायथं प्रवर्तमानाः सन्तीति तत्र तत्रोपेक्ष्यम्' तक समाप्त लगभग १० पृष्ठ का पाठ छन्दस्तत्त्ववाद के इसी स्थल से सम्बद्ध है जैसा कि निर्णयसागर मुद्रणालय से प्रकाशित पिङ्गल छन्दःसूत्र की भूमिकास्थ छन्दस्तत्त्ववाद के पाठ से सूचित है। यह भूमिका पिङ्गल छन्दःसूत्र के सम्पादकद्वय सर्वश्री केदारनाथ, वासुदेवशास्त्री ने स्वगुरुवर्य पूज्य ओझाजी की अनुमति से ही दी है।

छन्दस्तत्त्ववाद के दो पाठ बृहत्पाठ व लघुपाठ के रूप में हैं यद्यपि कतिपय स्थलों में विवेचनपार्थक्य भी है। मूलग्रन्थस्थ यह पाठ बृहत्पाठ है तथा परिशिष्टस्थ लघुपाठ है किन्तु प्रस्तुत १० पृष्ठात्मक पाठ दोनों पाठों में ही है तथा समानप्राय ही है। अतः इसका सारार्थ यहां प्रस्तुत है क्योंकि मूल में 'तदित्थमनेकधा निर्दिष्टं संस्कृतं छन्दःप्रतिष्ठातत्त्वं' के बाद से प्रारम्भ होकर १२७वें पृष्ठ के 'वाचिकेष्वपि छन्दःस्वर्णसामिवाशय' प्रघट्टक के प्रारम्भ के पूर्व तक इसका सन्निवेश है जो पि. छ. सू. की भूमिका से ज्ञात होता है। यहाँ भी इसका प्रथम प्रघट्टक तो है ही, 'सा चेयं छन्दःप्रतिष्ठा' से आरम्भ होकर शेष भाग नहीं है किन्तु 'वाचिकेष्वपि छन्दःस्सु' का आरम्भ इस आर्थिक छन्दस्तत्त्ववाद के इस स्थल की सत्ता का प्रमाण है।

छन्दःप्रतिष्ठा के दो भेद हैं मात्राप्रतिष्ठा तथा वृत्तप्रतिष्ठा। अवयवपिण्ड में परिवर्तनसहत्व मात्राप्रतिष्ठा है तथा अवयवपिण्ड में परिवर्तन का असहत्व वृत्त-प्रतिष्ठा है। इस अव्यक्त प्रतिष्ठा के व्यञ्जक प्रतिष्ठातुलितकरूप से संनिविष्ट

अवयवकूट ही छान्दसिकव्यवहार में अक्षरशब्द से या वर्णशब्द से व्यवहृत होते हैं। जैसा कि "स बृहतीमेवास्पृशत् द्वाभ्यामक्षराभ्यामहोरात्राभ्यामेव·········तत्प्रत्यतिष्ठत्" 'इति' इस श्रुतिवचन से स्पष्ट है कि उसने अहोरात्ररूप दो अक्षरों से बृहती का स्पर्श किया। प्रश्न है कि वह देवाक्षरा कौनसी बृहती है जिसमें वह प्रतिष्ठित हुआ। उत्तर है—१२ पौर्णमासियाँ, १२ अष्टकाएँ, तथा १२ अमावास्याएँ ही वह देवाक्षरा बृहती है जिसपर वह प्रतिष्ठित है। यहाँ पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या और अहोरात्र को छन्दःपरिभाषा में अक्षर बताया गया है। ऐसी ही शतपथ की श्रुति है—'पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः अर्धमासपक्षो वै संवत्सरो भवन्नेति तद्रात्रीराप्नोति।·······तद्वेव संवत्सरमाप्नोति' अर्थात् पक्ष की १५ रात्रियाँ होती हैं, पक्ष-पक्ष रूप से बढ़ता हुआ ही संवत्सर अपनी ३६० रात्रियों को पाता है। १५ गायत्रियों के ३६० अक्षर होते हैं। ये ही संवत्सर के अहः हैं, इन अहों की पूर्णाप्ति ही संवत्सर की प्राप्ति है। इस प्रकार अहोरात्रों से संवत्सर प्राप्ति को बताते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने १५-१५ अंशों से प्रकल्पित शरीरों (पिण्डों) की वैदिकपर्याय में संवत्सर नामक क्रान्तिवृत्तप्रदेशों—जिन्हें अर्धमास कहते हैं तथा छन्दःपरिभाषा में जिन्हें अक्षर नाम से कहा गया है, के २४ संख्यायुक्त होने से संवत्सर को गायत्री कहा है। 'अग्निदूतं वृणीमहे' मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि प्रजापति की दोनों सन्तति देवों व असुरों में स्पर्धा ठन गयी। उनके मध्य गायत्री स्थित थी, वह गायत्री यह पृथिवी ही है। उन्होंने विचारा जिन्हें यह पृथिवी प्राप्त होगी वे ही विजयी होंगे। उन्होंने उसे उपामन्त्रित किया। अग्नि ही देवों का दूत था सहरक्षा असुरों का। उस (पृथ्वी) ने अग्नि का ही अनुवर्तन किया, अर्थात् अग्नि की ओर ही गयी। यहां संवत्सर की भाँति पृथिवी को ही गायत्रीत्व बताया गया है। यहाँ भी ३६० अंशों की व्यवस्थिति से अर्धमास—अर्धमास कर २४ अंशों से संवत्सर की निष्पत्ति बतायी गयी है। इस न्याय से १५-१५ विभाग करने पर २४ अक्षरों की प्राप्ति होती है।

वेद के अन्य मन्त्र भी हैं जैसे 'यत्पर्यपश्यत्······प्रथनं हरामि' तथा 'याभिरदृंहज्जगतः·······शर्कराः सन्तु सर्वाः' इति' एतद्विषयक ब्राह्मणवचन भी है—'आपो वा इदमग्रे·······तच्छर्करायाः शर्करात्वम्' इन मन्त्रों व ब्राह्मणवचन से भी ज्ञात होता है कि अक्षरस्थानीय शर्कराओं से जगत् की प्रतिष्ठा के पूर्ण होने से इसे छन्दःसामान्य का लक्षण ज्ञात हो जाने पर छन्दोविशेष की जिज्ञासा होने पर छन्दोविशेष बताते हुए शतपथ का वचनहै—"स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति ¨ तत् त्रिष्टुभं द्वितीयामकुर्वन्" इति। इस शतपथवचन के अनुसार द्युलोक और अन्तरिक्ष की अपेक्षा से कनिष्ठा पृथिवी का कनिष्ठत्वसाधर्म्य से गायत्रीत्व है तथा सर्वजगत् का आश्रय होने से जगतीत्व है जो तत्तत् प्रकरणों से स्पष्ट है। जिस प्रकार 'इस श्लोक का स्रग्धरा छन्द है' 'यह त्रैष्टुभ पद्य है' इस प्रकार सभेदकथन भेद से कथन है वैसे ही 'गायत्री वै पृथिवी' 'त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्' 'जगती द्यौः' 'आनुष्टुभीर्दिशः' में

मिलता हैं। अर्थात् गायत्री पृथिवी है, अन्तरिक्ष त्रिष्टुप्छन्दस्क है, द्युलोक जगती-छन्दा है और दिशाएँ अनुष्टुप्छन्दस्क हैं, इस रूप से भेदेन कथन मिलता है।

इसी प्रकार गार्हपत्याग्नि से प्रागवस्थित आहवनीय का उद्धार करने हेतु विक्रमाधान किया जाता है वहाँ 'तं वा अष्टासु विक्रमेष्वादधीत अष्टाक्षरा वै गायत्री ...... दिवमुपोत्क्रामति" इस श्रुति से छन्दोनिदानसंख्या से गणना किये हुए विक्रमों छन्द:परिभाषा में अक्षरत्व तथा बताया गया है साथ ही छन्दों का मात्रा-निबन्धनत्व अर्थात् छन्दों का कारण मात्रा है यह स्पष्ट कहा है।

इसी भांति अग्निष्टोम की प्रशंसा में ऐतरेय की 'सा वा एषा गायत्र्येव यदग्निष्टोम:..........स्तुतशस्त्राणि" इस श्रुति से अग्निष्टोम में गायत्रीत्व तथा संवत्सरत्व के आरोप से स्तोत्र व शस्त्रों का अक्षरत्व स्पष्ट ज्ञात होता है। अग्निष्टोम को संवत्सर मानने पर भी जैसे स्तोत्र व शस्त्रों में अर्धमासत्व की अप्रतीति की तरह अक्षरत्व की भी प्रतीति नहीं माननी चाहिए, अप्रतीत है ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि अग्निष्टोम के स्तोत्र व शस्त्रों में अर्धमासत्व की प्रतीति होती है। अन्यथा अग्निष्टोम के स्तोत्रशस्त्रों में अर्धमासत्व की प्रतीति न होने पर तो २४ अर्धमासत्वरूप संवत्सर की अग्निष्टोम में प्रतिष्ठा नहीं होगी। अत: छन्द:प्रतिष्ठा के व्यञ्जक जो भी अवयवकूट हैं वे छन्द:परिभाषा में अक्षर कहे गये हैं, यह सुसिद्ध है। इसीलिए कात्यायन ने सर्वानुक्रमणिका में जो यह कहा है कि अक्षरपरिमाणरूप जो कुछ भी है वह छन्द है, सर्वथा युक्ति युक्त है। अन्यथा वेद में सुबहुव्यवह्लिपमानद्यावापृथिव्याद्यनुगत छन्दस्त्व का और लोक में मात्रा-वृत्ताद्यनुगत छन्दस्त्व का ग्रहण न होने से छन्दोलक्षण की अव्याप्ति होगी और यह अक्षरत्व यही है कि इन सन्निविष्ट अवयवभागों का कभी स्वस्थान से क्षरण नहीं होता है। अतिच्छन्द के निर्वचन को बताती हुई 'छन्दसां यो रसोऽत्यक्षरत् ...... इति छन्दस्त्वम्' यह श्रुति इसी विषय को सूचित करती है। जिस प्रकार यह वर्णमाला ५० अक्षरों वाली होती हैं, वैसे ही यह छन्द भी सब कुछ है।

"सोऽब्रवीत् प्रजापति: छन्दांसि रथो मे भवत ...... एतमध्वानमनुसमचरत्' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति गायत्री आदि छन्दों को सूर्य का रथ बता रही है। इसी प्रकार "पशवो वै देवानां छन्दांसि ... वहन्ति" यह शतपथ श्रुति छन्दों को पशु सिद्ध कर रही है। तथा 'सप्त त्वा हरितो रथे" आदि सभी ऋक्श्रुतियां छन्दों को अश्व बता रही हैं। 'तेऽब्रुवन्नाङ्गिरस आदित्यान्' यह ब्राह्मणश्रुति छन्दों को आदित्य का सदन बता रही है। 'छन्दांसि वै साध्या देवा: ' यह श्रुति छन्दों को साध्यदेव बताती है।

"छन्दांसि खलु वा अग्ने" इत्यादि श्रुति छन्दों को अग्नि का शरीर बता रही है। 'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थान:' यह श्रुति छन्दों को व्रज अर्थात् गोस्थान बता रही है। छन्द को अवच्छेद मानने पर इस अवच्छेदलक्षण का समन्वय रथ, पशु आदि

में कैसे हो सकता है। इसका समाधान करते हुए कहा है कि उपर्युक्त श्रुतिवचनों का आशय निम्नलिखित है।

सूर्य आकाश में भ्रमण करता हुआ ३६६ दिनों में पुनः अपने पूर्वस्थान पर आता हुआ जिस मार्ग का आश्रय लेता है वह ३६० अंशों से अङ्कित अयनवृत्त दक्षिण व उत्तर की ओर एक एक अंश बड़ा है। अयनवृत्त की दक्षिण रेखा से दक्षिण की ओर दो अंशों की दूरी पर एक रेखा दो अंशों से अङ्कित दूसरी रेखा बनानी चाहिए। उस रेखा से भी दक्षिण की ओर एक रेखा तथा उससे भी दक्षिण की ओर पाँच अंशों की दूरी पर एक रेखा और बनानी चाहिए। इसी प्रकार उत्तर की रेखा से उत्तर की ओर भी तीन रेखा बनानी चाहियें। इस प्रकार आठ रेखाओं से सात पर्व वाला सूर्य का मार्ग है जिस पर सूर्य भ्रमण करता है। उस मार्ग में सब से दक्षिणवर्ती पर्व में १५-१५ अंशों से विभाग करने पर २४ विभाग सिद्ध होते हैं। इसलिए इस पर्व वाला छन्द गायत्री २४ अक्षरों वाला है। इस सर्वदक्षिण पर्व से उत्तरवर्ती पर्व पर १२½, १२½ अंशों से २८ विभाग बनते हैं। इस पर्व वाला छन्द उष्णिक् इसी कारण २८ अक्षर वाला है। इससे भी उत्तरवर्ती पर्व पर ११¼, ११¼, अंशों के विभाग से खगोल के ३२ विभाग सिद्ध होते हैं। अतः इस पर्व का छन्द अनुष्टुप् ३२ अक्षरों वाला है। इसके बाद वह पर्व जो मध्यवर्ती है तथा जिस पर सूर्य अवस्थित है, उसके १०-१० अंशों से ३६ विभाग होते हैं। अतः उस पर्व पर स्थित छन्द बृहती के भी ३६ अक्षर हैं। इस मध्यम पर्व से उत्तरवर्ती पर्व पर ९-९ अंशों के विभाग द्वारा ४० विभाग होते हैं, अतः इस पर्व पर रहने वाला पंक्ति छन्द ४० अक्षर वाला है। इस पर्व से उत्तरवर्ती पर्व पर पादोनपाद अर्थात् ४५ विकला से न्यून सपाद एकादश कलात्मक सहित आठ अंशों से विभक्त करने पर ४४ विभाग सिद्ध होते हैं। अतः एतत्पर्वस्थ छन्द त्रिष्टुप् ४४ अक्षरों वाला है। इसके बाद सर्वोत्तरवर्ती पर्व को साढ़े सात अंशों से विभक्त करने पर खगोल के ४८ विभाग होते हैं अतः इस पर्व पर रहने वाला जगती छन्द ४८ अक्षरात्मक है। इनको इस निम्नलिखित न्यास के रूप में समझिए—

न्यास

क्रम	छन्दोनाम	अक्षर	प्रत्यक्षर-अंश	
१.	गायत्री	२४	१५°	
२.	उष्णिक्	२८	$१२^{\circ}, ५२', ३०''$	गायत्री से १२७.३० कला विकला के अपचय पर
३.	अनुष्टुप्	३२	$११^{\circ}, १५'$	उष्णिक् से ९७.३० ,, ,, ,, ,, ,,
४.	बृहती	३६	१०°	अनुष्टुप् से ७५ ,, ,, ,, ,, ,,
५.	पङ्क्ति	४०	९°	बृहती से ९० ,, ,, ,, ,, ,,
६.	त्रिष्टुप्	४४	$८^{\circ}, ११', १५''$	पंक्ति से ४८.४५ ,, ,, ,, ,,
७.	जगती	४८	७.३०	त्रिष्टुप् से ४१.१५ ,, ,, ,, ,, ,,

इस प्रकार मात्राओं के अपचयक्रम में भी तारतम्य होता है।

३०—२२.३०—१५—११—७.३०

साथ ही सूर्यमण्डलपरिलेख मूलग्रन्थ में पृष्ठ २७९ पर देखें जहाँ इन सातों छन्दों को सूर्याश्वगतिपथ के रूप में बताया गया है।

इस पूर्वनिर्दिष्ट संवत्सरचक्र में निर्देशलाघव की दृष्टि से छन्दों का आरम्भ एक ही स्थान से बताया गया है तथापि इनके आरम्भस्थान भिन्न-भिन्न है। खगोल में देवताविशेषों की स्थिति से उन आरम्भस्थानों का ज्ञान होता हैं। जैसे अग्नि के तारा (कृत्तिका) से गायत्री का, सविता से उष्णिक् का, सोम से अनुष्टुप् का, बृहस्पति से बृहतीका, वरुण से पंक्ति का, इन्द्र से त्रिष्टुप् का तथा विश्वेदेवों से जगती का प्रारम्भ होता है। निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र इसी तथ्य को बता रहे हैं।

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥ १०.१३०.४

विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान् देवान् जगत्याविवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥ ५॥

इन मन्त्रों में अग्न्यादि देवताओं का गायत्र्यादि छन्दों के साथ सयुक्त्व (युक्त-भाव, सायुज्य) तथा उन देवताओं में तत्तत् छन्दों का अधिष्ठातृत्व ऋषि बतला रहे हैं।

प्रकृत में बृहती से गति प्रारम्भ करने वाले सूर्यप्रकाशरूप प्रजापति के, बृहती के दोनों तरफ के तीन-तीन अहोरात्ररूप छन्द रथ की तरह सञ्चार के साधन हैं। इसलिए इनको रथ की तरह सूर्य का यान अथवा घोड़ों की तरह वाहन कह दिया गया है। तथा उसी स्थान पर उन अहोरात्ररूप छन्दों के रहने से उन्हें सद्म भी कह दिया है।

और भी "बृहदेनमनुवस्ते पुरस्ताद् रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदम प्रमादम्" ॥१॥

"बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची।
यद्रोहितमजनयन्त देवाः" ॥२॥

इत्यादि श्रुतियों से उत्तर की ओर बृहत्साम वाला तथा दक्षिण की ओर रथन्तर सामवाला विराट् ही सूर्यरथ है यह ज्ञात होता है। इस प्रकार बृहत्साम व रथन्तरसामविशिष्ट सूर्यरथ स्वीकार कर लेने पर सर्वदक्षिण में गायत्री से आरंभ कर सर्वोत्तर में जगती छन्द तक सात छन्दों के होने से छन्दोमर्यादा के अभिप्राय से सूर्यरथ को सप्तचक्र कहा है। और कभी रथपार्श्वत्वसाधर्म्य के कारण दक्षिण में गायत्री व उत्तर में जगती इन दो छन्दों के कारण सूर्यरथ को दो चक्रवाला

कहा है। और कभी कालचक्र के एक-एक होने से कालचक्र के परिवर्तन के अभिप्राय से एक चक्र कहा है। जैसे—

इमं रथमधि ये सप्ततस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्तस्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम। —ऋग्वेद १.१६४.३।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुर्रपितम्। ऋ. १.१६४.१२।

इन श्रुतियों में सूर्यरथ को सात चक्रवाला बताया है।

इसी प्रकार—

'द्वे ते चक्रे सूर्यं ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातम इद्विदुः॥'

'तस्य गायत्री च जगती च पक्षावभवताम्' इन श्रुतियों में द्विचक्रत्व तथा कालचक्र के एक होने से तथा इसके परिवर्तन के अभिप्राय से कभी उस रथ को एक चक्र भी कह दिया गया है। जैसा कि—

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः॥ ऋ. ७.९३.२
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥ १.१९४.२
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ ११
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥ १३
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राह तास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये॥ ४८
एकचक्रं वर्तते एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्द्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव॥

इन श्रुतिमन्त्रों में प्रतिपादित हुआ है।

इसी प्रकार छन्दों को अश्व स्वीकार कर लेने पर गायत्र्यादि ७ छन्दों के अभिप्राय से रथ में सप्ताश्वत्व की उपपत्ति हो जाती है। जैसा कि पूर्वोदाहृत 'इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः' इस ऋक्श्रुति में बताया गया है। बृहती छन्द के अभिप्राय से जो कि उत्तरदिग्वर्ती व दक्षिणदिग्वर्ती सभी छन्दों में व्याप्त है, सूर्यरथ को एकाश्व भी कह दिया गया है जैसाकि पूर्वोदाहृत 'एको अश्वो वहति सप्तनाभा' श्रुति में वर्णित है। फलतः सप्ताश्वत्व, एकाश्वत्व का कल्पनाभेद इस प्रकार सर्वथा युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

"दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यः, देवरथस्य पुरोडाशाः शफाः, अन्तरिक्षमुद्धिः, द्यावा-पृथिवी पक्षसी, ऋतवोऽभीशवः, अन्तर्देशाः किङ्कराः, वाक् परिरथ्यम्, संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थः, विराड् ईषा, अग्नीरथ मुखम्, इन्द्रः सव्यष्ठाः, चन्द्रमा सारथिः" आदि अन्य रथाश्व आदि से सम्बद्ध रूपक मिलते हैं उन्हें अन्यदेवविषयक समझना चाहिए। सूर्य के विषय में तो यथेच्छरूप से कहीं छन्दों का कहीं दिशाओं का अश्वत्व प्रतिपादन 'सिंहो माणवकः' आदि की तरह है जो औपचारिक है। ऐसे प्रसङ्गों में रथ, अश्व आदि शब्दों द्वारा कोई न कोई रथ, अश्व आदि विषयक गुण छन्द में वस्तुभूत है। यही देवता व छन्द का सयुक्त्व है।

इस अभिप्राय से ही "एते वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ, त एते सप्तभिश्छन्दोभिरागच्छन्ति' जैसे श्रौतव्यवहार संगत होते हैं।

इस प्रकार के इस सप्तच्छन्दोमण्डलरूप सूर्यमार्ग के 'साशीति मण्डलशतं ....ग्रामणीसर्प राक्षसैः" इस रूप में विष्णुपुराण आदि में गति की प्रधानता से रथत्व के व्यवहार की भांति ही ऋतसत्यमय होने से अग्निप्रधानता में यज्ञशब्द से, आदित्यप्रधानता में प्रजापतिशब्द से तथा कालप्रधानता में संवत्सरशब्द से प्रचुर-रूप में वैदिक व्यवहार देखे जाते हैं। आगे इसकी पुष्टि के लिए अनेक श्रुतियाँ प्रमाणरूप से उद्धृत की गई हैं। इसीलिए—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यसन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' इस मन्त्र के विवरणप्रक्रम में 'यज्ञेन वै तद्देवा यज्ञमयजन्त यदग्निना अग्निमयजन्त...... ते स्वर्ग-लोकमायन्' इस ऐतरेय वचन में बताया गया है। इसी अभिप्राय से इन छन्दों को अग्नि की और प्रजापति की तनू (शरीर) भी स्थान-स्थान पर औपचारिकरूप से बतलाया गया है।

इस प्रकार तत्तत् छन्दों के भिन्न-भिन्न स्थलों में शिल्प, रथ, अश्व, अग्निशरीर आदि के छन्दःस्वरूपनिर्वचनपरक भिन्न-भिन्न श्रौतवचनों के परिशीलन से चार अर्थ निष्कर्ष रूप से सिद्ध होते हैं।

१. छन्दः स्वरूप के निरूपण के अभिप्राय से यथेष्ट समुदाय के अवयवभूत किसी भी द्रव्य या गुण को छन्दः परिभाषा में अक्षर कहते हैं।

२. (क) इस प्रकार के अक्षरसंज्ञक द्रव्यों या गुणों से २४ संख्या की पूर्ति होने पर २४ संख्यारूप मर्यादा गायत्री, २८ संख्या की पूर्ति होने पर २८ संख्या की मर्यादा उष्णिक्, इस प्रकार उत्तरोत्तर चार-चार अक्षरों की वृद्धि से भिन्न-भिन्न छन्द समझने चाहियें, उत्तरोत्तर एकाक्षर से पादवृद्धि होने के कारण।

(ख) पाद (चरण) की प्रधानता से आठ अक्षरों से की गयी मर्यादा गायत्री, दशाक्षरों से विहित मर्यादा विराट, एकादश अक्षरों की मर्यादा त्रिष्टुप्, द्वादश अक्षरों की मर्यादा जगती है। इसी भाँति—

३. परिच्छेदापरपर्याय व आयतनापरपर्याय तुलितक नामवाली, शिल्प आदि में उपयोगी मिति छन्द है।

४. अन्त में मिति भी मितित्वरूप से छन्द नहीं अपितु कारणापेक्षित स्वरूप-विशेष के जनकरूप से छन्द है।

इस निष्कर्ष का अनुसरण कर लौकिक, वैदिक, वाचिक, और आर्थिक सभी प्रकार के छन्दोव्यवहार प्रवृत्त होते हैं।

इस प्रकार आर्थिक छन्दोव्यवहारों में छन्द:प्रतिष्ठा का रहस्य सुविशद रूप से प्रदर्शित कर दिया गया है।

वाचिक छन्दों में भी जलों के आशय के साम्य से नियत संख्या से अवच्छिन्न वर्णों के संवेश (आकर रुकना) और संवेश (आसन जमाना) से गायत्री आदि भिन्न-भिन्न छन्दों के स्वरूप की उपलब्धि होने से प्रस्तार आदि क्रियाओं से अभिनेय संवेश व उपवेश का अमूर्त आश्रय छन्द:प्रतिष्ठा है। (१) मात्रासंख्याप्रधान (२) वर्णसंख्या-प्रधान और (३) नियतमात्रा-अक्षरस्थानप्रधानरूप से त्रिविध अनिर्वचनीपृथग्भाव-रूपा वह छन्द:प्रतिष्ठा गायत्री आदि शब्दों से लक्षित होती है। अक्षर इस छन्द:-प्रतिष्ठा के धर्म हैं, अक्षरों में यह अनुगत है अत: यह छन्द:प्रतिष्ठा का ब्रह्म है। इस कारण से छन्दस्तत्त्वविज्ञान से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ज्ञात हो जाता है, यह समझ लेना चाहिए।

कतिपय विद्वान् कहते हैं कि 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, स्वरसंस्कारयोश्छन्दांसि नियमः, बहुलं छन्दसि' आदि सूत्रों में, 'युक्तश्छंदास्यधीयीत विप्रो मासार्धं पञ्चमानं' 'कामातमकाश्छन्दसि कर्मयोगा, एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत' इत्यादि स्मृतियों में, आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव' आदि काव्यों में और भी अनेकानेक विविधस्थलों में वेद के अर्थ में छन्द शब्द का प्रयोग हुआ है और वेद अनन्त हैं यह श्रुति प्रसिद्ध है। अतः अनवच्छिन्न (असीम) में अवच्छेदत्व (सोमाभाव) उपपन्न ही नहीं होता है फलस्वरूप छन्द शब्द की अतिरिक्त अर्थात् वेद से भिन्न अर्थ में वृत्ति सिद्ध होती है।

उसका यह उत्तर है—

पद्य, गद्य, गेयरूप तीन प्रकार के वाचिक छन्दों से ही सम्पूर्ण वेद छन्दित हैं, छन्दोभेद से ही वेद के भी भेद हैं, अतः उन (छन्दों) में अवस्थित होने से तदवस्थितता के कारण ही वेद को छन्द कहा जाता है।

अपि च पृथिवी आदि लोकों की, अग्नि आदि देवों की तत्तत् छन्दों से छन्दित होने पर ही स्वरूपोपलब्धि होती है तथा छन्दों से ही (यज्ञादि में) कार्यकारित्व की व्यवस्था है। द्यावापृथिवी के धर्मों का निरूपण करने वाले इस यज्ञवेद में बाहुल्येन छन्दों की बार-बार आवृत्ति से छन्दों की प्रधानता सिद्ध है, इसी प्राधान्य से वेद के

लिए छन्द शब्द का व्यवहार किया गया है। अर्थात् वेद के लिए छन्द शब्द का उपर्युक्त रीति से औपचारिक व्यवहार है।

सभी कार्यकलापों का आधार प्राकृत छन्दब्रह्म है, यह बताया जा चुका है, अतः छन्दों, ब्रह्मानुगत धर्म का प्रतिपादन करने वाला वाचिक ग्रन्थ भी छन्द कहलाता है, यह सर्वथा युक्तियुक्त है। जैसे सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि धर्मों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों को सांख्य, न्याय, आदि ही कहा जाता है। यदि गौणवृत्ति से किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी मुख्यवृत्ति से तो अवच्छेद ही छन्द है, यह भली-भाँति सिद्ध है।

छन्दोविभक्तिवाद

जिस छन्द का अवच्छेदरूप लक्षण छन्दस्तत्त्ववाद-प्रकरण में बतलाया है वह छन्द-अनादिष्टच्छन्द, बृहच्छन्द, अतिच्छन्द, कृतिच्छन्द, प्रचितिच्छन्द भेद से पाँच प्रकार का है। इनमें अनादिष्टछन्द-उक्त, अत्युक्त, मध्य, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा भेद से पाँच प्रकार का है। बृहच्छन्द-गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगतीभेद से सात हैं। अतिच्छन्द-अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति ये सात हैं। कृतिच्छन्द भी सात हैं—कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति व उत्कृति। इनसे आगे प्रचितिछन्द है जिसके भेदों की गणना नहीं की जा सकती। बृहच्छन्द के भेदरूप गायत्री आदि ७ ही छन्द होते हैं यह बाहुल्येन उल्लेख मिलता है। फिर छन्दों का इतना विस्तार कैसे बतलाया जा रहा है। षोडशी प्रक्रम में—

'छन्दसां यो रसोऽत्यक्षरत् सोऽतिच्छन्दसमभ्यक्षरत्। तदतिच्छन्दसोऽतिच्छन्दस्त्वम्। सर्वेभ्यो वा एष छन्दोभ्यः संनिर्मितो यत् षोडशी' इति।

अर्थात् छन्दों का जो रस क्षरित हुआ (प्रवाहित हुआ) वह अतिच्छन्दस् की ओर बहा। यही अतिच्छन्दस् का अतिच्छन्दस्त्व है। यह षोडशी सभी छन्दों से निर्मित हुआ है। छन्दों का जो रस है वह चतुरक्षररूप है। 'चतुरक्षराण्येव छन्दांस्यासन्' यह श्रुति इसी तथ्य को बतला रही है। छन्दों के व्यूहन में गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती को चतुरक्षरा (चार अक्षरों वाली) बतलाया है। उनमें जगती के तीन अक्षरों, त्रिष्टुप् के एक अक्षर को लेकर चतुरक्षरा गायत्री अष्टाक्षरा बन जाती है। ऐसा होने पर गायत्री अष्टाक्षरा, त्रिष्टुप् त्र्यक्षरा और जगती एकाक्षरा सिद्ध होती है। इस प्रकार जगती के तीन अक्षर तथा त्रिष्टुप् का एक अक्षर ग्रहण करने से निष्पन्न अष्टाक्षरा गायत्री जब त्र्यक्षरा त्रिष्टुप् से मिल जाती है तब त्रिष्टुप् एकादशाक्षरा बन जाती है और यह एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् एकाक्षरा जगती से मिलकर जगती को द्वादशाक्षरा बना देती है।

इस प्रकार गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती ये तीन छन्द ही गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् व जगती नामक सात छन्द बन जाते हैं। उन गायत्री आदि ७ छन्दों में गायत्री और जगती, उष्णिक् और त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् तथा पंक्ति इस प्रकार दो-दो छन्द मिलकर दो-दो बृहती-छन्दों का अर्थात् अष्टादशाक्षरों का सम्पादन करते हैं। इस रीति से गायत्री आदि छन्दों के बृहतीरूप होने से गायत्री आदि सातों छन्दों का बृहच्छन्दशब्द से कथन किया गया है। गायत्री आदि की बृहतीरूपता को 'बृहती वा छन्दसां स्वाराज्यमानशे' यह श्रुति बतला रही है। इस प्रकार गायत्री से प्रारम्भ कर जगतीपर्यन्त छन्दों के सिद्ध हो जाने पर चतुरक्षर-रूप छन्दोरस के जगती में अधिक आधान करने पर द्वादशाक्षर षोडशाक्षर बन जाता है। वह षोडशाक्षर ही जगती में चतुरक्षररूप रस के अत्याधान से निष्पन्न हुआ है। अतः षोडशाक्षर वाला छन्द अतिच्छन्द कहलाता है। तदनन्तर पञ्चदशी और सप्तदशी, चतुर्दशी व अष्टादशी, तथा त्रयोदशी और ऊनविंशी इस प्रकार दो-दो संख्याओं के मिलने से दो-दो षोडशियाँ निष्पन्न हो जाती हैं। अतः १३ अक्षरों से प्रारम्भ करके १९ अक्षर वाले छन्द अतिच्छन्दोरूप (षोडशाक्षररूप) से अनुगत होने के कारण अतिच्छन्दशब्द से व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार १९ अक्षर से उत्तर उस १९ अक्षर वाले में पुनः चार अक्षरों का आधान करने पर वह ऊनविंशति अक्षर वाला छन्द २३ अक्षरों वाला बन जाता है। २३ अक्षर वाले छन्द को कृति कहते हैं, क्योंकि यहाँ चतुरक्षराधानरूप क्रिया के बाद पुनः चतुराक्षराधान क्रिया की गई है। कृतिच्छन्दों में भी द्वाविंशी और चतुर्विंशी, एकविंशी व पञ्चविंशी, तथा विंशी और षड्विंशीरूप दो-दो कृतियाँ मिलकर दो दो त्रयोविंशी कृतियों को सम्पन्न करते हैं अतः २० अक्षरों से लेकर २३ अक्षरों तक के छन्द त्रयोविंशत्यक्षरात्मक कृतिछन्दरूप होने से कृतिशब्द से व्यहृत होते हैं। इस प्रकार कृतिछन्दों का अतिघृतिरूप अतिच्छन्द में, अतिछन्दों का जगती में अन्तर्भाव आसानी से हो जाता है। प्रचितिछन्द छन्दों के समुच्चयरूप है, अतः प्रचितिछन्दों को उन छन्दों से पृथक् नहीं माना जा सकता जिनके समुच्चय से प्रचितिछन्द बनते हैं।

उक्त, अनुक्त आदि पाँच अनादिष्टछन्दों का गायत्री में अन्तर्भाव है। (भुरिग् दैवीछन्द में चार अक्षरों की वृद्धि से याजुषी का और स्वराट् में चार अक्षरों की वृद्धि से साम्नी का) उसमें चार अक्षरों की वृद्धि से आर्ची का, उस स्वराट् में चतुरक्षर की वृद्धि से आर्षी का स्वरूपलाभ होता है। जैसाकि 'उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद् गायत्री-त्येव कथ्यते' तथा 'अतिजगत्यादि त्वतिच्छन्दः प्रवर्ण्यते' इति। इस प्रकार अति-जगत्यादि छन्दों का जगती में, तथा उक्तादिच्छन्दों का गायत्री में अन्तर्भाव संभव है। अतः गायत्र्यादि सात ही छन्द हैं ऐसा याज्ञिक मानते हैं। आगे इस छन्द के मात्राछन्द व वृत्तच्छन्दरूप से दो भेद बतलाये हैं। गायत्री आदि को मात्राछन्द तथा गायत्र्यादि के अवान्तर भेदों को वृत्तछन्द बतलाया है।

छन्दोलक्षणवाद

गायत्री आदि सात छन्द बतलाये गये हैं किन्तु इन गायत्री आदि छन्दों में गायत्रीत्वादिक का क्या स्वरूप है? अर्थात् गायत्री आदि छन्दों का लक्षण क्या है? यह जिज्ञासा होती है। ६ अक्षरों का एक चरण मानकर चार चरणों से युक्त अथवा ८ अक्षरों का एक पाद मानकर त्रिपदा गायत्री होती है ये दोनों ही लक्षण परस्पर अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हैं क्योंकि षडक्षरपाद वाले चतुष्पदीत्व लक्षण का अष्टाक्षरपाद वाली त्रिपदा गायत्री में व्यभिचार (अभाव) है और अण्टाक्षरपाद वाली त्रिपदा गायत्री है इस लक्षण का षडक्षरपादा चतुष्पाद गायत्री में अभाव हैं।

यदि इस दोष के परिहार के लिए चतुष्पदी गायत्री का षडक्षरपादत्व अर्थात् जिसके एक पाद में छह अक्षर हों तथा त्रिपाद् गायत्री का अष्टाक्षरपादत्व अर्थात् जिसके एक चरण में आठ अक्षर हों इस प्रकार भिन्न-भिन्न लक्षण भी किया जाए तो गायत्रीसामान्य अर्थात् गायत्री के सभी भेदों में समन्वित होने वाले लक्षण की जिज्ञासा बनी रहती है।

उपर्युक्त दोनों लक्षणों में से किसी एक लक्षण की सत्ता भी गायत्रीसामान्य का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि सात अक्षरों से युक्त वाली पादनिचृद् गायत्री में उपर्युक्त दोनों गायत्रीलक्षणों का अभाव है। इसी प्रकार पाँच अक्षरों से युक्त एक पादवाली पदपंक्ति को भी पञ्चपाद् गायत्री माना है किन्तु इसमें भी उपर्युक्त दोनों गायत्रीलक्षणों का अभाव है।[1] तथा षडक्षरपादत्व जो गायत्री का लक्षण किया है उसमें षडक्षरपादत्व से (छह अक्षर वाले पाद से) भिन्न अक्षर वाले पाद का अभाव यदि विवक्षित है तो ७, ६, ७ इस रूप से सप्ताक्षरपादा अतिनिचृत्गायत्री में, ८, ७, ६ इस प्रकार से अष्टाक्षरपादा व सप्ताक्षरपादा प्रतिष्ठा गायत्री में, ६, ७, ६ इस रूप से सप्ताक्षरपादा ह्रसीयसी गायत्री में तथा ६, ७, ८ इस प्रकार से सप्ताक्षरपादा व अष्टाक्षरपादा वर्धमानगायत्री से षडक्षरपादत्व लक्षण की अव्याप्ति है और इन गायत्रीभेदों में दोषपरिहार के लिए षडक्षरपादत्व का अर्थ यदि षडक्षरपाद-सम्बन्धमात्र लिया जाए तो निम्नाङ्कित कात्यायनसूत्रों के अनुसार 'एकादशिनोः परः षट्कस्तनुशिराः, मध्ये चेत् पिपीलिकामध्या' अर्थात् दो ११ अक्षर वाले पादों से परे यदि ६ अक्षर वाला पाद हो, उसे तनुशिरा उष्णिक् कहते हैं और दो एका-

---

१. यद्यपि आगे गायत्रीभेदों का निरूपण करते हुए पदपंक्तिरूप गायत्री के दो भेद कहे हैं जिनमें एक में ५, ५, ५, ५, ६ इस रूप से पांच पाद हैं तथा दूसरे भेद में ५, ५, ५, ४, ६ इस रूप से पाँच पाद हैं किन्तु पाँचों ही पाद पाँच अक्षरों वाले हों ऐसा कोई भेद नहीं है तथापि दूसरे भेद के अन्तिम पादों में ४ व ६ अक्षर वाले पादों को ५—५ अक्षर वाला मानकर यहाँ पञ्चाक्षरपादा पञ्चपाद् गायत्री पदपंक्ति लिख दिया है।

दशाक्षर वाले पादों के मध्य में यदि ६ अक्षर वाला पाद हो तो उसे पिपीलिका-मध्या उष्णिक् कहते हैं। इन उष्णिक् के भेदों में षडक्षरपाद का सम्बन्ध होने से षडक्षरपादत्वरूप गायत्रीलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इस तरह पादव्यवस्था के अव्यवस्थित होने से पादव्यवस्थाघटित लक्षण गायत्री का नहीं हो सकता।

चतुर्विशत्यक्षरावच्छिन्नत्व अर्थात् २४ अक्षरों के अवच्छेदवाला गायत्री छन्द होता है, यह लक्षण भी निचृत् गायत्री, भुरिक् गायत्री आदि गायत्रीभेदों में अव्याप्त है क्योंकि उन गायत्रीभेदों में २४ से न्यून या २४ से अधिक अक्षर हैं। यदि यह कहा जाय कि एक अक्षर की न्यूनता से निचृत् और एक अक्षर की अधिकता से भुरिक्, दो अक्षरों की न्यूनता से विराट् तथा दो अक्षरों की अधिकता से स्वराट् होता है। इनमें 'पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्' इस सूत्र में कथित व्यूहमर्यादा से अर्थात् सन्ध्यादि से मिले हुए अक्षरों को पृथक्-पृथक् करके गायत्री में न्यून अक्षरों की पूर्ति करने पर निचृदादि गायत्री में चतुर्विशत्यक्षर की पूर्ति हो जाती है। अतः निचृदादि गायत्रियों में एकादशाक्षरावच्छिन्नत्वरूप गायत्री लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। किन्तु ऐसा करने पर भी इस लक्षण की दैवी, आसुरी, प्राजापत्या आदि गायत्रीभेदों में व्यूह द्वारा भी २४ अक्षरों की पूर्ति न होने से इस लक्षण की अव्याप्ति रहती है। यद्यपि इस अव्याप्ति दोष के परिहार के लिये, चतुर्विशत्यक्षरावच्छिन्न आर्षी गायत्री छन्द है। अष्टाक्षरावच्छिन्न प्राजापत्य गायत्री छन्द है। पञ्चदशाक्षरावच्छिन्न आसुरी गायत्री छन्द है, इस प्रकार गायत्री के ८ भेदों का पृथक् पृथक् प्रातिस्विकलक्षण करने से उपर्युक्त दोषों को दूर किया जा सकता है तथापि इस प्रकार से चतुर्विशत्यक्षरावच्छिन्नत्व आदि विभाजकतावच्छेदकों के सिद्ध होने पर भी विभाज्य गायत्री का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। क्योंकि चतुर्विशत्यक्षरावच्छिन्न आदि लक्षण प्राजापत्य गायत्री आदि विशेषभेदों के हैं उनके विभाज्य प्राजापत्यादि गायत्रियाँ सिद्ध होती हैं न कि गायत्रीसामान्य। छन्दस्त्व को विभाज्यतावच्छेदक मानने पर सभी छन्दों के एक हो जाने से सर्ववेदप्रसिद्ध गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दोविभाग नहीं बनेगा। इसलिये गायत्रीसामान्य का कोई भी लक्षण न होने से गायत्री-सामान्य के लक्षण की जिज्ञासा बनी ही रहती है। सब छन्दों से कनिष्ठ (सबसे न्यून अक्षर वाला) छन्द गायत्री है, यह लक्षण भी उक्ता, अनुक्ता, मध्यमा, सुप्रतिष्ठा छन्दों के सभी छन्दों की अपेक्षा कम अक्षर वाले होने से उनमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। गायत्री आदि सात छन्दों के ही प्रसिद्ध होने से उक्ता, अनुक्ता आदि को छन्द न मान कर भी इस अतिव्याप्ति दोष का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'चतुरुत्तरैरेव छन्दोभिरेतव्यम्' यह कहकर 'एकां गायत्रीमेकाह-मुपेयुः' इत्यादि ताण्ड्यश्रुति में चतुरुत्तरा गायत्री आदि छन्दों से अहःसाधनता का कथन किया है। इससे गायत्रीछन्द में चतुरुत्तरता सिद्ध है और गायत्री में यह चतुरुत्तरता २० अक्षर वाले सुप्रतिष्ठा छन्द से ही उपपन्न होती है अतः उक्ता, अनुक्ता

आदि को छन्द मानना पड़ता है। और इनको छन्द मानने पर गायत्री सबसे कनिष्ठ छन्द हैं, इस गायत्रीलक्षण की उक्तादि छन्दों में अतिव्याप्ति है। इसका समाधान यह किया गया है कि उक्तादि भी छन्द है किन्तु वे भी 'उक्तादिपंचकं कैश्चिद् गायत्रीत्येव भण्यते' इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार गायत्री ही हैं। उसमें गायत्री सबसे कनिष्ठ छन्द है, इस लक्षण का समन्वय ही हैं, अतिव्याप्ति नहीं हैं। किन्तु 'सर्व-कनिष्ठच्छन्दस्त्वं गायत्रीत्वम्' में विकल्प का उत्थापन कर पुनः दोष का उपन्यास किया गया है। जैसे 'सर्वकनिष्ठछन्दस्त्वं गायत्रीत्वम्' इस गायत्री के लक्षण में सर्व-शब्द से गायत्र्यादि सातो छन्द अतिजगत्यादि सप्त अतिच्छन्द तथा सप्त कृतिच्छन्द सभी छन्द अभिप्रेत हैं। अथवा गायत्रीत्वादि धर्म की अपेक्षा न करके केवल मात्राक्षरसंख्या से नियत वाक् का ग्रहण है। प्रथम पक्ष में आर्षी गायत्री की अपेक्षा प्राजापत्या उष्णिक् छन्द में स्वल्प अक्षर होने से प्राजापत्या उष्णिक् में गायत्रीलक्षण की अतिव्याप्ति है तथा प्राजापत्या उष्णिक् की अपेक्षा आर्षी गायत्री में अधिक अक्षर होने से उक्त लक्षण के अनुसार वह गायत्री नहीं कहलायेगी अर्थात् आर्षी गायत्री में सर्वकनिष्ठछन्दस्त्वरूप गायत्रीलक्षण की अव्याप्ति होगी। अन्त्य पक्ष भी संगत नहीं है क्योंकि मात्राक्षरसंख्या से नियत वाक् को सर्वछन्दशब्द से ग्रहण करने पर अक्षर वाले छन्दों में सबसे कनिष्ठ उक्ता व दैवी गायत्री होगी। क्योंकि वे दोनों ही नियत अक्षर वाले छन्दों में एकाक्षर पाद वाले छन्द होने से कनिष्ठ छन्द हैं अतः ये दोनों गायत्री छन्द कहलायेंगे और अन्य गायत्री के भेदों में इस लक्षण के प्रभाव से गायत्रीलक्षण की अव्याप्ति होगी। आगे अन्य दो तीन गायत्री के लक्षण बतलाकर व उनमें दोष बतलाकर अन्त में कहा है कि २४ अक्षर वाला छन्द ही गायत्री है, निचृत् गायत्री व भुरिक् गायत्री आदि में इस लक्षण का व्यभिचार (अव्याप्ति) नहीं है। क्योंकि उनमें एक अक्षर की न्यूनता या अधिकता से गायत्री में विकृति होने से प्रकृति (गायत्री) के लक्षण की हानि नहीं है। जैसे प्राणी का लक्षण 'चक्षुष्मत्ता' है इस लक्षण का अन्ध पुरुष में अन्धत्वदोष के कारण अभाव होने से प्राणी के लक्षण चक्षुष्मत्ता का व्याघात नहीं होता। किसी गाय की पूंछ कट जाने या सींगों के टूट जाने से 'सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषणित्व'रूप गाय के लक्षण का व्याघात नहीं होता। अतः चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्व लक्षण का दैवी, आसुरी प्राजापत्यादि गायत्रियों में व्यभिचार होने पर भी वह लक्षण गायत्री का ही रहता है क्योंकि प्राजापत्यादि गायत्रियाँ प्रकृतिभूत आर्षी गायत्री की विकृतियाँ हैं और विकृतियों में प्रकृति के लक्षण का समन्वय न होने से प्रकृतिलक्षण का व्याघात नहीं होता। तथा हि—

'यद् गायत्रे अधिगायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत'
'यद् वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः'

इस मन्त्र से एक छन्द में दूसरे छन्दों का आधान होता है, यह प्रतीत होता है अतः २४ अक्षरों वाली आर्षी गायत्री में एकाक्षरावच्छेद से दैवी गायत्रीत्व,

पञ्चदशाक्षरावच्छेद से आसुरीगायत्रीत्व तथा अष्टाक्षरावच्छेद से प्राजापत्या-गायत्रीत्व इस प्रकार तीन विधायें बन जाती हैं। ये तीनों विधायें गायत्री के विभाग से बनी हैं अतः इनमें गायत्रीशब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, मुख्य नहीं। अपि च छन्दों का पादविभाग दो प्रकार से होता है, एक विरति से दूसरा छन्द के विभाग से। विरतिसिद्ध पद अक्षरों के न्यून व अधिक होने पर भी हो जाता है तथा विभागसिद्ध पद छन्द का चतुर्थ भाग होता है। उसमें २४ अक्षरों वाली गायत्री के विभागजन्य एक पाद की हानि से आर्षी गायत्री दो पादों की कमी से साम्नी गायत्री, तीन पादों की कमी से याजुषी गायत्री, दो पादों की अधिकता से ब्राह्मी गायत्री बनती है। ये गायत्रियाँ भी आर्षी गायत्री की विकृतिरूप हैं। अतः इनमें आर्षी गायत्री की अपेक्षा न्यूनाधिक अक्षर होने पर भी इनमें चतुर्विंशत्यवयवघटितरूप गायत्रीसामान्य का लक्षण है, यह सिद्ध हो जाता है।

समासवाद

कतिपय छान्दसिक मानते हैं कि प्रस्तारसिद्ध स्वरूप में चार भाग होते हैं। प्रत्येक भाग में जहाँ तहाँ गतिसापेक्ष यतिव्यवस्था की भी अनुवृत्ति होती रहती है। दूसरे छान्दसिक ऐसा मानते हैं कि प्रस्तारसिद्ध स्वरूपों में गतिसम्पन्न किन्हीं सजातीय चार स्वरूपों का व्यूह समवृत्त कहलाता है। सजातीय दो स्वरूपों का समुच्चय अर्धसमवृत्त होता है। प्रस्तारसिद्ध एक ही स्वरूप चार भागों की कल्पना से चतुष्पाद् (चार पाद वाला) बन जाता है, वह विषमवृत्त कहलाता है। इस प्रकार प्रस्तारस्वरूपों के समुच्चय व असमुच्चय से समवृत्तादि छन्दभेद बन जाते हैं। तीसरे प्रकार के छान्दसिक सजातीय चार स्वरूपों का व्यूह समवृत्त, विजातीय चार स्वरूपों का व्यूह विषमवृत्त और विजातीय दो स्वरूपों का समुच्चय दो बार प्रयुक्त होने पर अर्धसमवृत्त होता है इस प्रकार सम, विषम व अर्धसम तीनों ही वृत्तों को स्वरूपों के समुच्चय से ही निष्पन्न मानते हैं। कुछ अन्य छान्दसिकों की मान्यता है कि पादव्यवस्था छन्दःसिद्धि में कारण नहीं है किन्तु छन्द के सिद्ध हो जाने पर उसमें इच्छानुसार पादों की कल्पना कर ली जाती है। वहाँ छन्द में छन्द का चतुर्थांश पाद होता है, इस लोक प्रसिद्धि के अनुरोध से सभी श्लोकों में चार-चार पादों की कल्पना कर समादि वृत्तों के लक्षणानुसार सम, अर्धसम व विषमवृत्त की व्यवस्था करते हैं। इसीलिये श्लोकवर्ती चार विश्रामों को ही पादव्यवस्था में कारण मानते हैं। अन्य अनुभूयमान विश्रामों को भी पादव्यवस्था में प्रयोजक नहीं मानते।

वस्तुतः तो संस्कृत पिङ्गलशास्त्र में पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप से दो भागों के रूप में सिद्ध आर्यादि मात्रावृत्तों में जैसे पहले १२ मात्राओं में तत्पश्चात् १८ मात्राओं, तदनन्तर १२ मात्राओं में और अन्त में १५ मात्राओं में इच्छानुसार चार पादों की कल्पना कर प्राकृत पिङ्गलशास्त्र में उन आर्यादि मात्रावृत्तों के चतुष्पादत्व की व्यवस्था की है और जिस प्रकार पूर्वार्द्ध परार्ध भेद से दो भाग वाले दोधावृत्त में

विश्राम के अनुरोध से १३ मात्राओं व ११ मात्राओं को पाद मान कर उसे चतुष्पाद वृत्त मानते हैं उसी प्रकार शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों में ८ पादों की, स्रग्धरा आदि छन्दों में १२ पादों की, त्रिभङ्गी आदि वृत्तों में १६ पादों की व्यवस्था विश्राम के अनुरोध से है। छन्दःशास्त्र में श्लोक का चतुर्थांश पाद होता है, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि मात्रा व वर्णों के न्यून व अधिक होने पर भी पादव्यवहार देखा जाता है किन्तु विश्राम को पद मानकर विश्रामरूप पद से ज्ञात श्लोकखण्ड पाद होता है, ऐसा मानना चाहिये। अतएव इन विश्रामपदों में किसी एक विश्राम-पद में ही गतिस्वभाव के कारण अधिकमात्रत्व का अनुभव होने से तथा उसमें सन्ध्यादि कार्यों के अवरोध से श्लोकों को पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध भेद से दो खण्डों में भी विभक्त किया जाना उचित है। ऐसी स्थिति में स्रग्धरादि श्लोकों में विश्रामपद के अनुसार जितने श्लोकखण्ड बतलाये हैं उन खण्डों को पृथक् पृथक् एक प्रस्तार का स्वरूप जानना चाहिये। इस प्रकार सात अक्षरों के प्रस्तार से सम्बन्धित १७वें, ६४वें व १९वें प्रस्तारस्वरूपों के समुच्चय से स्रग्धराछन्द की सिद्धि होती है तथा १२ अक्षरों के प्रस्तार से सम्बन्धित ८११८००वें स्वरूप के और सप्ताक्षरप्रस्तार-सम्बन्धी ३७वें स्वरूप के समुच्चय से शार्दूलविक्रीडित छन्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार एक एक प्रस्तारस्वरूपों के पद होने से उन भिन्न-भिन्न प्रस्तारस्वरूपों के समुच्चय से भिन्न-भिन्न छन्दों की निष्पत्ति होती है। यदि कोई कहे कि शार्दूल-विक्रीडित छन्द में 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः' इस रूप से विश्राम के कारण मगण, सगण तथा जगण सगण भी षडक्षरप्रस्तारस्वरूपविशेष होने से पद हैं अतः उनके समुच्चय से भी शार्दूलविक्रीडित छन्द की सिद्धि क्यों नहीं मानी जाती? इसका समाधान करते हुए कहा है कि जैसे संघ व टक शब्दों के किसी न किसी प्रकार से पद होने पर भी किसी कारण से उन दोनों शब्दों के समुच्चय से वैयाकरण संघटक शब्द की सिद्धि नहीं मानते हैं, उसी प्रकार मगण, सगण तथा जगण, सगण के किसी प्रकार पद होने पर भी षडक्षरस्वरूपविशेष से शार्दूलविक्रीडित छन्द की सिद्धि नहीं होती तथा जिस प्रकार शकार को द्वित्व करके 'उदकं पश्श्यति वाक्य है' वहाँ जल को देखता है, इस अर्थ को बतलाने के लिए 'उदकं पश्यति' ऐसा पदच्छेद होता है। जैसे जलकम्पन तीक्ष्ण करता है इस अर्थ के बोधन के लिये 'उदकम्पः श्यति' ऐसा पदच्छेद है, उपरिष्टात् दुःख की आलोचना करता है इस अर्थ के बोधन के लिये 'उत्, अकम्, पश्यति' इस प्रकार पदच्छेद होता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न अर्थों के बोधन के लिये ,उदकम्पश्श्यति' वाक्य का भिन्न-भिन्न रूप में पदच्छेद किया जाता है किन्तु उनमें स्वरविशेष के कारण बुद्धिमान् लोग पदविभाग का निश्चय करते हैं उसी प्रकार छन्दःशास्त्र ,में भी गतिविशेष से पदविभाग का निश्चय करते हैं। जहाँ पर कोई गति समाप्त होती है वहाँ पर अवश्य विश्राम होता है। विश्राम न होने पर गति चलती रहती है। अतः गति के मध्य में प्रस्तारविशेष से सम्बद्ध स्वरूप की संभावना मात्र से पद की सिद्धि नहीं होती। इसलिये शार्दूलविक्रीडित छन्द में मगण-सगण व जगण-सगण पर गति के चालू रहने से उसकी समाप्ति नहीं

होती। गति के समाप्त न होने से उन पर विश्राम नहीं होता और विश्राम न होने से मगण सगण में तथा जगण सगण में पदत्व की सिद्धि नहीं होती और उनके पद न होने से षडक्षर प्रस्तारस्वरूप नहीं बनता और न उनके समुच्चय को शार्दूल-विक्रीडित छन्द की सिद्धि में कारण माना जा सकता है।

यह समास (समुच्चय) पांच प्रकार का है। १. नित्यसमास २. विकल्पसमास ३. संकीर्णसमास ४. प्रकीर्णसमास ५. उपपदसमास। इनमें समानप्रस्तार से सम्बन्धित नियतस्वरूपों की द्विरुक्ति वाला समास नित्यसमास है। जैसे वसन्त-तिलका में नित्य समस्वरूप वाले दो चरणों की द्विरुक्ति है। जहाँ समानप्रस्तार-सम्बन्धी अनियत स्वरूपों का समुच्चय होता है उसे विकल्पसमास कहते हैं जैसे पथ्यावक्त्र वृत्त के दोनों चरणों के आठ अक्षर वाले होने पर भी उनका संस्थान भिन्न-भिन्न है अतः वे अनियत स्वरूप हैं। ऐसे अष्टाक्षर वाले होने से समानप्रस्तारों के होने पर भी उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, अतः ऐसे स्वरूपों का समुच्चय पथ्यावक्त्र वृत्त में है, अतः उसे विकल्पसमुच्चय कहते हैं। यदि भिन्नप्रस्तारसम्बन्धी अनियत स्वरूपों का समुच्चय है तो वह संकीर्ण समास होता है जैसे पुष्पिताग्रावृत्त के प्रथम तृतीय चरण में १२ अक्षर तथा द्वितीय चतुर्थ चरण में १३ अक्षर हैं अतः ये प्रस्तार भिन्न हैं तथा इन भिन्नप्रस्तारों से सम्बन्धित जो स्वरूप हैं वे समान भी हैं क्योंकि प्रथम द्वितीय चरण का जैसा स्वरूप है वैसा ही तृतीय व चतुर्थ चरण का स्वरूप है अतः पूर्वार्द्ध व परार्ध का समान स्वरूप होने से ये नियत स्वरूप वाले हैं अतः इनका समुच्चय संकीर्णसमास है। यदि विभिन्नप्रस्तारों से सम्बन्धित अनियत स्वरूपों का समुच्चय होता है तो वह प्रकीर्णसमास कहलाता है। जैसे दोधावृत्त के चरणों में १३ मात्राओं वाले व ११ मात्राओं वाले विभिन्न प्रस्तारों से सम्बन्धित अनियतस्वरूपों में इच्छानुसार किसी एक स्वरूप के संनिवेश से दोधावृत्त की सिद्धि हो जाती है। अतः यह प्रकीर्णसमुच्चय का उदाहरण है। उपपद समास वह कहलाता है जहाँ पदभेद होने पर भी अखण्ड पद की तरह प्रतीति हो। जैसे उदकशब्द में 'उत्' निपात् का 'अञ्चु' धातु से निष्पन्न 'अक' शब्द के साथ समुच्चय होने से उत् और अक के विभिन्न पद होने पर भी अखण्डपद की तरह प्रतीति है। जैसे समुद्रशब्द में क्या सशब्द का मुद्राशब्द से समुच्चय है अथवा 'सम्' व 'उत्' दो निपातों का द्रुधातु से निष्पन्न शब्द से समुच्चय है या 'सम्' इस निपात् का 'उन्दी क्लेदने' धातु से निष्पन्न शब्द के साथ समुच्चय है, या 'सम्' इस निपात का तथा जलार्थक 'उद'शब्द का 'रा-दाने' धातु से निष्पन्न शब्द के साथ समुच्चय है, यह निश्चय नहीं हो रहा है किन्तु 'उदक' यह संज्ञाशब्द अखण्ड की तरह प्रतीत हो रहा है। अभिप्रायविशेष से निरुक्तकार इसमें पदविभाग की कल्पना करते हैं। जैसे आर्यारूप मात्रावृत्त में षष्ठ मात्रागण डकार (।।।।) के आदिभूत लघु से परे नगण (।।।)तीन कलाओं के निपात-रूप होने से उनमें विभिन्न पदत्व हैं तो भी उनकी अखण्ड की तरह प्रतीति होती है।

प्रकारान्तर से यह समास दो प्रकार का है—पादखण्ड और पदखण्ड। समासारम्भक पदों में जहाँ पूर्वपादत्व व उत्तरपादत्व हैं वहाँ पादखण्डरूप समास होता है। अन्यत्र पदखण्ड समास होता है। किन्तु यह विवक्षाधीन है। अतः भक्षभक्ष समास को पादखण्ड मानने पर अक्षरपंक्ति छन्द सम्पन्न हो जाता है और भक्ष-भक्ष समास को पदखण्ड मानने पर चम्पकमाला छन्द सम्पन्न होता है। इनमें पादखण्ड दूसरे समास से गर्भित व अगर्भित दोनों प्रकार का होता है। किन्तु पदखण्ड समासान्तर से अगर्भित ही होता है। नित्यसमास विकल्पसमासादि समासों में किसी एक समास से समस्त दो पादों के प्रयोग से एक श्लोक होता है। किन्तु 'मन्दं-मन्दं' इत्यादि की तरह द्विरुक्ति समास नहीं है। किन्तु वैदिकों के मत में समस्त एकदेश की द्विरुक्ति से भी छन्द की सिद्धि होती है तथा द्विर्वचन के अभाव से और समास के अभाव से भी छन्दःसिद्धि होती है जैसे त्रिपदा. द्विपदा, एकपदा ऋक्।

छन्दोवाद

इस प्रकरण में छन्द को गति, यति, अध्वपरिच्छित्ति से भिन्न सिद्ध किया है। पूर्वपक्ष यह है कि गति, यति, अध्वपरिच्छेद से अतिरिक्त छन्दःस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि गति, यति, अध्वपरिच्छेद व छन्द भिन्न वस्तु नहीं अपितु एक ही वस्तु हैं। अतः ये समानार्थक हैं। यदि यह कहा जाय कि गति, यति, अध्वपरिच्छेद व छन्द एक नहीं हैं क्योंकि गति-वृत्ति, लय व ध्वनिभेद से तीन प्रकार की है अर्थात् गति के वृत्त्यादि तीन भेद हैं। यति के—अवसाय, विच्छेद, विरति यति व अणुयति ये पांच भेद हैं। अध्वयोग के लिप्यध्वपरिच्छित्ति व गत्यध्वपरिच्छित्ति ये दो भेद हैं। छन्द के वर्णच्छन्द, गणच्छन्द व मात्राच्छन्द ये तीन भेद हैं। अतः गत्यादि चारों में अत्यन्त विषमता है। इसलिए गति, यति, अध्वपरिच्छेद से छन्द को अभिन्न कैसे माना जा सकता है। इसका समाधान करते हुए कहा है कि इनमें आपाततः भेद-कल्पना होने पर भी वस्तुतः इनके स्वरूप में कोई भेद नहीं है। क्योंकि वृत्त्यादिभेद से गति के तीन भेदों में वृत्ति और ध्वनि वर्णवेदीय पदार्थ हैं और छन्द के वर्णों से उपलक्षित होने पर भी छन्द वर्णरूप नहीं है। अतः छन्द में वृत्ति व ध्वनिरूप गति का तो प्रवेश ही नहीं है। और लय में यतितारतम्य कारण होता है अतः वह यति से भिन्न नहीं है। इस लयरूप गति का ही गत्यध्वपरिच्छित्ति इस नामान्तर से भी व्यवहार होता है क्योंकि लय में व गत्यध्वपरिच्छित्ति में कोई भेद नहीं है। मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण व गुरु अक्षर का वर्णों से अभिनय करने पर इनका उच्चारण करने वाले पुरुष को उच्चारण में सामञ्जस्य (औचित्य) का अनुभव होता है। किन्तु जगण व सगण के स्थान पर तगण व भगण का संनिवेश करने पर उच्चारण करने वाले मनुष्य को क्लिष्टता का अनुभव होता है। यहाँ द्वितीय सगण अवरोधयुक्त है। द्वितीय सगण पर अवरोध का अनुभव होता ही है। प्रश्न यह है कि द्वितीय सगण का अवरोधीपन (अवष्टम्भित्व) किस रूप से है। क्या दूसरा सगण १२ वां अक्षर है इसलिये वह अवरोधी है। ऐसा मानने पर स्रग्धराछन्द के

घटक मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण, इन गणों में नगणरूप घटक के १२ वां अक्षर वाला होने से वहाँ भी अवष्टम्भ (रुकावट) होने लगेगा। शार्दूलविक्रीडितसम्बन्धित्व को यदि अवष्टम्भ में कारण माना जायेगा तो भी मगण, जगण आदि के भी शार्दूलविक्रीडितसम्बन्धी होने से उनमें भी अवष्टम्भ होगा, किन्तु होता नहीं है। यदि सगणत्वेन सगण को अवष्टम्भी स्वीकार किया जाता है तो शार्दूलविक्रीडित के द्वितीय घटक सगण में भी अवष्टम्भ होगा। यदि शार्दूलविक्रीडित के घटक गणों में चतुर्थसंख्याविशिष्ट सगण को अवष्टम्भ में कारण माना जायेगा तो सगण, जगण, सगण, सगण और अन्त में एक गुरु इनमें चतुर्थ गण के तुरीयत्वविशिष्ट होने से वहाँ भो अवष्टम्भ होना चाहिये। यदि मगणोत्तरत्वविशिष्ट सगणोत्तरत्वविशिष्ट जगणोत्तरत्वविशिष्ट सगणघटितत्वरूप से सगण को अवष्टम्भ में कारण माना जाय तो उन गणों का अवस्थानक्रम इस प्रकार होगा कि मगण सगण से अव्यवहित पूर्ववर्ती होना चाहिये, सगण में मगणोत्तरवर्तित्व व जगणाव्यवहित पूर्ववृत्तित्व होना चाहिये। जगण में सगणद्वयमध्यवर्तित्व तथा दूसरे सगण में जगणोत्तरवर्तित्व तथा तगणपूर्ववर्तित्व होना चाहिये। इस रूप से उन गणों का अवस्थानक्रम सिद्ध होता है। गणों का यह अवस्थानक्रम ही अध्वपरिच्छेद है। इस क्रम की प्रच्युति होने से उन गणों के उच्चारण में क्लिष्टता का अनुभव होता है। और इस प्रकार से गणों का पूर्वापरभाव से उच्चारण ही लयरूप गतिविशेष है। क्योंकि निर्दिष्ट रीति से सगण में अवष्टम्भ की अपेक्षा है। मगण, सगण, जगण, सगण का यह पूर्वापरभाव इन गणों के क्रमिक अवस्थान से अतिरिक्त (भिन्न) नहीं है। इस प्रकार लयगति से अभिन्न अध्वपरिच्छेद है। मगण सगण जगण के उत्तरवर्ती सगणत्वरूप से द्वादशाक्षर पर यति दीखती है। लयगति और अध्वपरिच्छेद यति के व्याप्य हैं। इस रीति से यद्यपि मगणसगणजगणोत्तरवर्तिसगणघटितत्वरूप लयगति व अध्वपरिच्छेद यति से आपाततः भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि अवष्टम्भप्रयोजकत्व व अवष्टम्भाप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्य ही गति है। अतः अवष्टम्भ के होने पर गति का होना तथा अवष्टम्भ का अभाव होने पर गति का न होना इस अन्वयव्यतिरेक से अवष्टम्भ ही गतिस्वरूप का सम्पादक सिद्ध होता है। अतः गति के ग्रहण से अवष्टम्भ का ग्रहण हो जाता है। इस कारण गति, यति व अध्वपरिच्छेद सर्वथा भिन्न अर्थ नहीं है। अतः ये एकार्थक हैं। इसी प्रकार अवष्टम्भप्रयोजकत्व व अवष्टम्भाप्रयोजकत्व से उपलक्षित पूर्वापरभाव से अवस्थित मसजादि गण ही छन्द हैं। इस प्रकार छन्द, गति, यति अध्वपरिच्छेद से आपाततः भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि अवष्टम्भप्रयोजकत्वाप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्य गति है और अवष्टम्भप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्य से अवस्थित मसजादि गण ही छन्द हैं तथापि जैसे 'स राजा संवृत्तः, स पाचको जातः' इत्याकारक विधि, विशेष्यभूत पुरुष में व्यपदिष्ट है और जैसे 'स नेदानीं कुण्डली न दण्डी' यह निषेध भी पुरुष में ही व्यपदिष्ट है। किन्तु ये विधिनिषेध के विशेष्यभूत पुरुष में अनुपपन्न होने के कारण विशेषणमात्र में ही इन विधि-

निषेधों की विश्रान्ति है। इसी प्रकार पौर्वापर्य से अवस्थित मसजसादि गणों में वर्तमान छन्दस्त्व की विश्रान्ति मसजसादि गणों के पौर्वापर्य में ही लाघव के कारण है न कि पौर्वापर्यविशिष्ट मसजसादि गणों में। अतः छन्द अवष्टम्भप्रयोजकत्वाप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्यरूप गत्यादि से भिन्न नहीं है, यह पूर्वपक्ष उपपन्न हो गया है। इसका समाधान निम्ननिर्दिष्ट है। जैसे मसजोत्तरसगण के अन्तिम अवयवोत्तरवर्ती प्रदेश तथा तगणद्वय व गुरु इनसे अव्यवहित पूर्ववती प्रदेश में वर्तमान अवष्टम्भ गति, यति व अध्वपरिच्छित्ति रूप नहीं हो सकता। क्योंकि गत्यादि अवष्टम्भ की तरह देशविशेष में नियत नहीं है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि गति अवष्टम्भरूप नहीं है क्योंकि अवष्टम्भप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्य गति है। इस प्रकार अवष्टम्भ गति में उपलक्षणविधया कारण होने से गतिस्वरूप का सम्पादक तो है किन्तु गतिरूप नहीं है। इसी तरह अध्वपरिच्छेद गति नहीं है क्योंकि गति के अपने मार्ग से प्रच्युत होने पर उसमें क्लिष्टता व कुरूपता अनुभूत होती है। अतः जिस कारण से उसमें सौकर्य व सौन्दर्य सिद्ध होता है उसे अध्वपरिच्छेद कहते हैं। वह अध्वपरिच्छेद गत्यवयवों का सन्निवेशविशेषरूप है। अतः गतिरूप नहीं है। जैसे स्थूलत्व व कृशत्व के साम्य से तथा उच्चत्व नीचत्व से रहित शीर्ष (ऊपर के भाग) पाद (नीचे के भाग) के साम्य से तथा दिक्साम्य से वर्णादि लिपियों में सौन्दर्य तथा पढ़ने में सौकर्य की अनुभूति होती है। तथा स्थूलत्व, कृशत्व, शीर्ष, पाद आदि में साम्य के अभाव से बालकादि की लिपि में कुरूपता तथा वाचन में क्लिष्टता अनुभूत होती है। इसलिये जिस प्रकार लिप्यध्वपरिच्छित्ति लिपि से भिन्न है उसी प्रकार गत्यध्वपरिच्छित्ति गति से भिन्न है तथा गति से छन्द भिन्न है क्योंकि विभिन्न गणों के पौर्वापर्यरूप कारण वाली गति में मात्राव्यवस्थानिबन्धन छन्दस्त्व सम्भव नहीं है। अर्थात् गति में विभिन्न गणों का पूर्वापरभाव कारण होता है और छन्द में मात्राव्यवस्था कारण होती है। अध्वपरिच्छित्ति न अवष्टम्भ हो सकती है और न गति ही। क्योंकि अध्वपरिच्छित्ति को अवष्टम्भ तथा गति से भिन्न सिद्ध किया जा चुका है तथा अध्वपरिच्छित्ति गति के अवयवों का सन्निवेशविशेष है और गति अवष्टम्भप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्यरूप है, अतः वह गति से भिन्न है। गति छन्दरूप भी नहीं है क्योंकि गति विभिन्न गणों का पौर्वापर्य और छन्द मात्राओं की व्यवस्था से सम्पन्न होता है। अध्वपरिच्छित्ति भी छन्द नहीं है क्योंकि अध्वपरिच्छित्ति गति के अवयवों का विशेष प्रकार का सन्निवेश है और छन्द में मात्राव्यवस्था कारण होती है। इसलिये छन्द-गति, यति तथा अध्वपरिच्छित्ति सबसे भिन्न है। अतः गत्यादि में छन्द का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसलिये वृत्तदोष से पृथक् यतिदोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि वृत्त यतिरूप ही है, इस पूर्वपक्ष का उपस्थापन कर वामनाचार्य ने काव्यालङ्कारसूत्रों में 'न लक्षणस्य पृथक्त्वात्' इस सूत्र के द्वारा पूर्वपक्ष का निराकरण किया है कि यति व छन्द का लक्षण भिन्न है। अतः वृत्त यतिरूप नहीं है। इसलिये वृत्तदोष से पृथक् ही यतिदोष को स्वीकारना होता है। कुछ छान्दसिकों का कथन है कि यद्यपि यति, अध्व-

परिच्छित्ति से तो छन्द भिन्न है किन्तु गति से भिन्न नहीं है। अपितु गति और छन्द एक ही हैं। किन्तु उनका यह कथन असंगत है क्योंकि अवष्टम्भप्रयोजकत्व से उपलक्षित पौर्वापर्य के गतिरूप होने से मसजादि गणसम्बन्धी पौर्वापर्यरूप छन्द की गति समान धर्मिकता तो है किन्तु मात्राव्यवस्थित छन्दस्त्व गति में अनुपपन्न है।

।। इति छन्दोवादः ।।

वैदिकान्यत्ववाद

इस प्रकरण में लौकिक छन्दों से भिन्न वैदिक छन्द स्वीकार करने की आवश्यकता सिद्ध की गई है। पूर्वपक्ष यह है कि वैदिक लौकिक भेद से छन्दों के दो प्रकार बताये गये हैं। उनमें गायत्र्यादि ७ छन्द, अतिजगत्यादि ७ अतिच्छन्द तथा ७ कृतिछन्द ये वैदिक छन्द हैं। इन छन्दों को लोक में भी स्वीकार किया गया है किन्तु इन वैदिक छन्दों से अतिरिक्त प्राकृतपिङ्गलशास्त्रोक्त मात्राछन्द भी हैं जिनकी वेद में उपलब्धि नहीं है अतः वैदिक छन्दविद्या से भिन्न लौकिक छन्दविद्या को तो मानना ही पड़ेगा। किन्तु वेद में उपर्युक्त गायत्र्यादि छन्द माने गये हैं उन्हें लोक में भी स्वीकार किया गया है। अतः वे लौकिक छन्दविद्या में अन्तर्भूत हो जाते हैं फिर लौकिक छन्दविद्या से भिन्न वैदिक छन्दविद्या को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि प्रयोगभेद से तीन प्रकार का छन्दोविभाग है—१. मात्राछन्द, २. अक्षरच्छन्द, ३. क्रमच्छन्द। जहाँ किसी भी भेद में मात्रासमष्टिसंख्या में परिवर्तन या हानि नहीं होती किन्तु अक्षर-संख्या का व गुरुलघुसंनिवेशक्रम का उसके भेदों में परिवर्तन हो जाता है उसे मात्राछन्द कहते हैं जैसे औपच्छन्दसिकादि, तथा शिखामालादि में। जहाँ छन्दो-भेदों में अक्षरसंख्या में परिवर्तन नहीं होता किन्तु मात्रासंख्या तथा गुरुलघुसंनिवेश-क्रम में परिवर्तन हो जाता है उन्हें अक्षरछन्द कहते हैं जैसे न्यङ्कुसारिणी, विष्टार-बृहती, विष्टारपंक्ति आदि में। और जहाँ नियतपौर्वापर्य वाले गुरुलघुसंनिवेशक्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता किन्तु सभी पर्यायों में अक्षरसंख्या व मात्रा-संख्या में किसी प्रकार की च्युति नहीं होती उसे क्रमच्छन्द कहते हैं जैसे मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित आदि में। इस प्रकार छन्द तीन प्रकार के हैं, यह सिद्ध हो जाता है। इन तीन प्रकार के छन्दों में मात्रा छन्दों से कोई वैदिक व्यवहार नहीं होता और इन मात्राछन्दों में लौकिक व्यवहार बाहुल्येन सिद्ध होता है। अर्थात् मात्राछन्दों का वेद में सर्वथा अभाव है तथा लोक में उनका पर्याप्त प्रयोग है। अतः मात्राच्छन्द लौकिक हैं। अक्षरच्छन्दों का लोक में प्रयोग नहीं होता[1] किन्तु यज्ञ और वेद में

---

१. अक्षरच्छन्द से तात्पर्य उन छन्दों से है जिनमें गुरुलघुसंनिवेशक्रम नहीं होता और न मात्रा-संख्या होती है। गायत्र्यादि वैदिकछन्द इसी प्रकार के हैं। लौकिक वसन्ततिलकादि सभी छन्दों में अक्षरसंख्या नियत होती है किन्तु गुरुलघुसंनिवेशक्रम भी वहाँ रहता है। अतः अक्षरसंख्या के नियत होने पर भी लघुगुरुसंनिवेशक्रम की अपेक्षा होने से उन्हें यहाँ

प्रातिस्विकरूप से प्रतिपद प्रयोग होता है अतः ये वैदिक छन्द हैं। क्रमच्छन्दों में नियतस्थानवर्ती गुरुलघ्वक्षर कारण होते हैं। अतः ये अक्षर छन्दों से भिन्न नहीं हैं। इसलिये अक्षरनिबन्धनता के कारण वैदिक अक्षरच्छन्दों की समानता से वैदिक-छन्द भी कह सकते हैं। मात्राच्छन्दों की तरह इन क्रमच्छन्दों का केवल लोक में प्रयोग होने से इन्हें लौकिक छन्द भी कहते हैं। इस प्रकार क्रमच्छन्द वैदिकलौकिकोभयसाधारण होने से उभयसाधारण छन्द हैं। इसीलिये पिङ्गलाचार्य आदि से निर्मित वैदिक छन्दों के निरूपणात्मक 'छन्दो विचित्ति' आदि ग्रन्थों में शुद्ध वैदिक छन्दों के अनुशासन के बाद तथा अर्वाचीन छन्दोविद् आचार्यों के द्वारा निर्मित लौकिक छन्द निरूपणपरक छन्दोभाषा प्राकृतपिङ्गलादि ग्रन्थों में शुद्ध लौकिक छन्दों के निरूपण के बाद, दोनों में ही अर्थात् वैदिक छन्दनिरूपणपरक छन्दोविचित्यादि ग्रन्थों में तथा शुद्ध लौकिक छन्द निरूपणपरक प्राकृतपिङ्गलादि ग्रन्थों में क्रमच्छन्दों का विधान किया गया है। यद्यपि मात्राच्छन्द औपच्छन्दसिकादि हैं, मात्रागणच्छन्द आर्या आदि हैं, अक्षरच्छन्द न्यङ्कुसारिणी आदि हैं, अक्षरगणच्छन्द सिंहोद्धता आदि हैं। इस प्रकार से छन्दों का चार प्रकार से विभाग करना ही उचित प्रतीत होता है तथापि यहाँ कौन से छन्द वैदिक हैं, कौन से लौकिक हैं, कौन से साधारण हैं इस बात का विवेचन करना है। अतः अक्षरछन्दस्त्व, मात्राछन्दस्त्व, क्रमच्छन्दस्त्व धर्मों की विवक्षा कर अक्षरच्छन्द, मात्राछन्द व क्रमच्छन्द रूप से ही छन्दों का विभाग किया है। तीन प्रकार से विभक्त छन्दों में अक्षरच्छदों को वैदिक छन्द माना है। किन्तु वैदिक अक्षरच्छन्द अनुष्टुप् के पथ्यावक्त्र, विपुला आदि छन्दों का लोक में वेद से भी अधिक प्रयोग देखा जाता है तथा त्रिष्टुप् व जगती के भेदों का भी रामायण महाभारत, भागवत आदि में आधिक्येन प्रयोग हुआ है। अतः इन अक्षरच्छन्दों को शुद्ध वैदिक छन्द नहीं माना जा सकता तथापि पुराणादि प्रबन्धों को पढने वाले व्यक्तियों की पवित्रतासम्पत्ति के लिये शाखान्तरों में प्रसिद्ध मन्त्रविशेषों का ही वैदिक छाया के अनुवर्तनशील महर्षियों ने अनुवाद करके इन पुराण, इतिहास (रामायण, महाभारत) आदि ग्रन्थों में उपन्यास कर दिया है अतः अनुवादमात्र से ही वे लौकिक नहीं हो सकते। इसी प्रकार अनुष्टुप् के भेद पथ्यावक्त्र व विपुला आदि यद्यपि वैदिक छन्द हैं तथा विषम, सम, अर्धसम भेद से विभक्त लौकिकवैदिकोभयसाधारणत्वेन स्वीकृत छन्दों में ही इनका अन्तर्भाव होने से इनमें लौकिक व्यवहार लाक्षणिक हैं न कि मुख्य।

यद्यपि इस प्रकार से गायत्री आदि छन्दों का भी उभयसाधारणरूप से स्वीकृत विषमभेद में अन्तर्भाव हो जाने पर ये भी लौकिक छन्द कहलायेंगे न कि शुद्ध वैदिक

अक्षरच्छन्द नहीं कहा गया है। जैसे औपच्छन्दसिक तथा उसके भेद वैतालीय व आपातलिका में मात्रासमष्टिसंख्या प्रथम व तृतीय चरणों में १४, १४ तथा द्वितीय व चतुर्थ चरण में १६, १६ है किन्तु अक्षरसंख्या औपच्छन्दीसिक में १० व १२, वैतालीय में ११ व १३ तथा आपातलिका में ११ व १३ हैं।

तथापि छन्दोव्याकृति ग्रन्थ में 'तत्रादौ विषमं व्याख्यास्यामः' से आरम्भ कर 'चतुर्धा वक्त्रं पदचतुरूर्ध्वमुद्गतिकोपस्थितप्रच्युपितं च' इन सूत्रों के द्वारा वक्त्रादि का परिगणन कर देने से वक्त्रादि छन्द (विषम छन्द) ही उभय साधारण हैं अन्य नहीं। अतः इनसे भिन्न विषमछन्दों का वेद में ही प्रयोग मिलने से वे शुद्ध वैदिक छन्द हैं, यह सिद्ध हो जाता है। अतः शुद्ध लौकिक, लौकिकवैदिकोभयसाधारण छन्दों की अपेक्षा गायत्री आदि अक्षर छन्दों में शुद्ध वैदिकता है।

छन्दः पदवाद

यहाँ यह असंगति है—

"सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्याच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः॥"

इस माध्यन्दिनीय (आर्षी) जगती में तथा

"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि।
प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥"

इस माध्यन्दिनीय आर्षी अनुष्टुप् में विच्छेद तो है, विरति नहीं है।

इस प्रकार अर्थात् श्लोकार्ध पर तो विश्राम है किन्तु श्लोक के चतुर्थांश पर नहीं। क्योंकि श्लोकचतुर्थांश सन्धियुक्त होने से वहाँ विरतिरूप विश्राम संभव नहीं है।

"सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" इस माध्यन्दिनीय आर्षी निचृद् अनुष्टुप् में न विच्छेद है और न विरति।

तथा "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥१॥
या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षतः।
श्येनं पतत्रिणं सिंहं सेमं पात्वंहसः॥२॥

क्रमशः इन आर्षी निचृद् अनुष्टुप् और आर्षी उष्णिक् में अव्यवस्थित विच्छेद और विरति है।

इससे ज्ञात होता है कि छन्दःसिद्धित्व के लिये सर्वत्र ही विच्छेद, विरति की अपेक्षा नहीं है। इसके साथ ही—

"क्षत्रस्य योनिरसि, क्षत्रस्य नाभिरसि, मात्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः"

यहाँ विराट् गायत्री (द्वयक्षर न्यून गायत्री) न मानकर द्विपदा विराट् मानते हैं क्योंकि विराड् गायत्री मानने पर विच्छेद नहीं बनता। इससे छन्दःसिद्धि में सर्वत्र विच्छेद की अपेक्षा का पता चलता है।

मैत्रायणीय अनुष्टुप् की सर्वछन्दोरूपता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—इसके अनुष्टुप् होते हुए आठ आठ अक्षरों वाले तीन पद तथा एक सप्ताक्षर पद (८. ८. ८. ७) है (फलत: यह आर्षी निचृद् अनुष्टुप् है) इसका जो सप्ताक्षर पद है उसके चार अक्षर एक पद को तथा तीन अक्षर दूसरे पद को प्राप्त हो जाते हैं। जहाँ चार मिल जाते हैं वह (८+४=१२) जगती हो जाता है, जहाँ तीन मिलते हैं वह (८+३=११) त्रिष्टुप् है। शेष एक अष्टाक्षर पद से गायत्री है। अनुष्टुप् तो है ही। इस मन्त्र से हुत इस यजमान का सभी छन्दों से हुत हो जाता है। यज्ञ छन्द:-प्रतिष्ठ होता है। इस यजमान के इस यज्ञ को छन्दों में प्रतिष्ठित करते हैं।"

८	८	८	७	= ३१ अक्षर निचृद् अनुष्टुप्
८	८	८	–	
०	३	४		
८	११	१२		= ३१ अक्षर
गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती		

इस प्रकार कहने से गायत्री आदि की पादव्यवस्थानिर्भरता का कथन होने से छन्द:सिद्धि में सर्वत्र विरति की अपेक्षा का भी पता चलता है। क्योंकि पाद के अन्त का विश्राम विरति कहलाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यवस्था के देखे जाने से छन्द में विच्छेदादि की अपेक्षा सामञ्जस्यहीन लगती है। यदि कोई कहे कि इसमें कुछ भी असामाञ्जस्य नहीं है। क्योंकि छन्द में छान्दसिक विच्छेद व विरतिरूप विश्राम की कल्पना नियम से है।

पूर्वोदाहृत 'सवितुस्त्वा' तथा 'सुमित्रिया' आदि में अर्थनिष्ठ पद की अप्राप्ति होने पर भी अक्षरगणनासिद्ध छान्दसिक पदत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। जिस स्थलों में अपेक्षित अक्षरगणना पूर्ण नहीं होती है वहाँ भी 'क्षैप्र, संयोग व एकाक्षरीभाव को व्यूहन करे अर्थात् क्षैप्रादि के व्यूहन से अक्षरों को पृथक् कर लें'। इस कात्यायनोक्त प्रकार से उच्चारणसौकर्य की अनुकूलता के आधार पर व्यूहन से गणना (अक्षरों की अपेक्षित संख्यापूर्ति) समझ लेनी चाहिये। जैसे

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु धारय।
रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥

इत्यादि में हि के इकार का अथवा ह्म के अकार का अविद्यमानवद्भाव मानकर आठ अक्षर (अष्टाक्षर) मान लिये जाते हैं। तथा—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

आदि में भाव्यं को 'भावियम्' वः को 'वह' इस रूप से वर्णाभ्युच्चय के साथ उच्चारण करने से अष्टाक्षरता उपपन्न हो जाती है। इस प्रकार वैदिकों के व्यवहार में पादपूर्ति के अनुरोध से तथा अन्य वर्णों के समीपोच्चारण की अनुकूलता व प्रतिकूलता के तारतम्य की अपेक्षा से वर्णाभ्युच्चय व अविद्यमानवद्भाव से व्यूह कर लेना चाहिए, यह छान्दसी परिभाषा है। इस प्रकार उच्चारण में व्यूह वेदपुरुषों के व्यवहार से सिद्ध है। तथा सिद्ध का अन्वाख्यान करने वाला शास्त्र चिरन्तनव्यवहार-सिद्ध अर्थ का अपलाप नहीं कर सकता है। यही कारण है कि पृथ्वी शब्द के पृथिवी, पृथवी रूप से उच्चारित रूप की साधुता में व्याकरण के विधिवचन विद्यमान हैं। जहाँ ऐसे विधिवचन नहीं मिलते हैं तो वह अन्वाख्यानकर्ता का दोष है न कि व्यवहार करने वाले आदिम स्वतन्त्र आचार्यों का और न चिरकाल से व्यवह्रियमाण विषय का ही।

इसी तथ्य को भिन्न प्रकार से बतलाते हैं—

सर्वत्र नियम से आर्थिक विच्छेद व विरति की कल्पना हो ही, ऐसा बिल्कुल नहीं है। यह तथ्य अनुष्टुप् की सर्वछन्दोरूपता को बताने वाली मैत्रायणीय श्रुति में तथा यजुर्मन्त्रों की अनुक्रमणि में प्रोक्त छन्दोव्यवहार में आर्थिकपद की अपेक्षा के विना ही छन्दःस्वरूप की सिद्धि के देखने से सिद्ध हो जाता है। अतः वैदिक व्यवहार सर्वथा युक्तियुक्त है, ऐसा मान लेना भी ठीक नहीं है। क्योंकि छन्दःस्वरूप में अर्थ की सर्वथा अपेक्षाशून्यता स्वीकार कर लेने पर छन्दों में सङ्करतादोष की प्रसक्ति हो जायेगी। जैसे—

एतदगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः।।

इस सत्तर अक्षरों वाली विराट् ब्राह्मी जगती में ग्यारह ग्यारह अक्षरों के चतुष्क से (४४ अक्षरों वाली) आर्षी त्रिष्टुप् के तथा तेरह अक्षरों के युग्म में से दो आसुरी अनुष्टुप् के होने से त्रिष्टुप् व अनुष्टुप् का साङ्कर्य संभव है। यह तो उपलक्षण मात्र है। द्वादशाक्षरों के दो पादों से तथा १२ तथा ११ अक्षर के दो-दो पादों से ४६ अक्षरों की विराट् आर्षी जगती मान लेने पर ७० अक्षरों में शेष २४ अक्षरों से आर्षी गायत्री की सिद्धि हो जाने से विराट् आर्षी जगती व आर्षी गायत्री का सङ्कर स्पष्ट है। महर्षि पिंगल के 'देवतादितश्च' आदि सूत्र के आधार पर देवता द्वारा छन्दोनिर्णय से भी इष्टसिद्धि नहीं होगी। ब्राह्मी जगती में आर्षी जगती आदि हो जाने से जैसा साङ्कर्य तो अभी भी ज्यों का त्यों ही रहेगा। इसलिये गतिसिद्ध विरतियुक्त

आर्थिक पदत्व को लेकर तत्तत् छन्दों के अवयवभूत पदों, जिन्हें पाद भी कहते हैं, की व्यवस्था स्वीकार करनी होगी, तब कोई असमञ्जस-उलझन की स्थिति नहीं रहेगी। अतः छन्दों से पद की सिद्धि होती है, या पदों से छन्द की सिद्धि, यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस विषय में कथन है कि लौकिक छन्दों में तो गतितन्त्र अर्थात् गति छन्द की नियामक है। गतिबल से प्राप्त यति गति के अनुगमन के आधार से ही पाँच प्रकार की हो जाती है—१ अयति २ यति ३ विरति ४ विच्छेद और ५ अवसाय। इनमें जितने भाग से पुनरावृत्ति होती है प्रायः वहीं विरति के दिखाई देने से उसके अनुसार ही द्विदलत्व, चतुष्पदत्व या षट्पदत्व की व्याख्या की जाती है। अतएव वहाँ पाद के अनुरोध से छन्द की सिद्धि नियत होती है। अर्थात् वहाँ छन्द की सिद्धि पाद से ही होती है और पाद विरतियुक्त वह पद है जिसकी पुनरावृत्ति होती है। अतः यतियुक्त पद पाद नहीं कहला सकता क्योंकि यतियुक्त पद की आवृत्ति विरति से व्यवहित है तथा विरतियुक्त पद से भिन्न है। अर्धसम या विषम आदि वृत्तों में पाद-व्यवहार उसी तरह लाक्षणिक है जैसा 'रजकाय वस्त्रं ददाति' में स्वस्वत्वनिवृत्ति-पूर्वक परस्वत्वोत्पादन न होने पर भी केवल देने मात्र को लेकर ददाति का प्रयोग है। पुनरावर्तमानता के अभाव में भी विरतिमत्पदत्व के अनुवर्तन से छन्दस्त्व तो वहाँ है ही। अतः लौकिक छन्दोविदों में पद से छन्दःसिद्धि मानने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। वैदिक छन्दों में भी

> अश्विभ्यां प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम्।
> वैश्वदेव्यं सरस्वत्या तृतीयमासं सवनम्॥

अनुष्टुप् आदि में गति के अभाव में भी छन्दस्त्व होने से अक्षरगणना ही नियामक है गति नहीं। अर्थात् वहाँ अष्टाक्षरता के कारण अनुष्टुप् छन्द है। इसीलिये गतिबलापतित ५ प्रकार की यति की भी वहाँ अपेक्षा नहीं है। वैदिकों की प्रवृत्ति दैविकार्थविज्ञान की अपेक्षा रखती है। अतः उनमें देवरूपसिद्धि के उपयुक्त अक्षरों की गणना का ही औचित्य है, कर्णमनोरमता के उपयुक्त गति का कोई उपयोग नहीं है। अतः अप्राप्तगति यति की चाह नहीं है और प्राप्त का निवारण भी नहीं है। यति की अपेक्षा के अभाव में भी पादव्यवस्था तो अपेक्षित है ही। क्योंकि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यादि मन्त्रों द्वारा देवों में भी पाद-व्यवस्था दृष्ट है। वैदिक छन्दों में पाद छन्द का भागविशेष है। वह भागविशेष स्थलभेद से सम्पूर्ण छन्द भी हो सकता है। तथा द्वितीय पाद, तृतीय पाद, चतुर्थ पञ्चम आदि कोई भी विवक्षानुसार हो सकता है। इसी से गायत्री आदि छन्दों में एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी आदि भेदों से तथा शङ्कुमती, ककुम्मती (ककुप्+मती), यवमध्या, भुरिक् आदि भेदों से अनेकरूपता की सिद्धि बतलाई गई है। अतः पद से छन्दःस्वरूपनिष्पत्ति है या छन्द में विच्छेदादि की अपेक्षा से पदव्यवस्था है, इस विषय में वैदिकों में भी अनुपपत्ति नहीं है।

छन्दःपदसंहितावाद

जैसे छन्दों के विषमपादों (प्रथम तृतीय) के अन्त में दूसरे व चौथे पाद के आदि वर्णों के साथ सन्धिकार्य देखे जाते हैं वैसे समपादों के अन्त में नहीं होते हैं, इसमें क्या हेतु है? इसका समाधान करते हुए कहा है कि—चतुष्पाद होने की समानार्थता से छन्दों को पशुवत् समझना चाहिये। पशुओं के पादों में दो-दो पाद एक दूसरे के सन्निकृष्ट हैं। अर्थात् अत्यधिक निकटता से परस्पर सटे हुए रूप में चलते हैं। अगले जोड़े से पिछला जोड़ा दूर पड़ जाता है। इसी प्रकार पद्यों के पादों में अगले प्रथम दो और पिछले अन्तिम दो पृथक्-पृथक् सन्निहित होते हैं, अतः जोड़े के अनुसार ही संहिताकार्य भी चलता है। समपादों में सन्निकर्ष का अभाव होने से संहिताकार्य की निवृत्ति हो जाती है। संहिता का स्वरूप ही—'परः सन्निकर्षः संहिता' अनुशासन के आधार पर—अतिशय सान्निध्य (जो एक दूसरे को प्रभावित कर सके) हैं। अतः पहले व दूसरे चरण में तथा तीसरे व चौथे चरण में अतिशय सन्निकर्ष के कारण संहितात्व है जो दूसरे तीसरे के मध्य नहीं है।

यदि किसी का आग्रह हो कि यह 'परः सन्निकर्षः संहिता' है ही क्या जिसका छन्दःक्षेत्र में प्रभुत्व हो, यदि स्वारसिक-स्वाभाविक-अर्धमात्राकाल से अधिक काल के व्यवधान का अभाव को ही संहिता माना जाय तो निश्चय ही यहाँ विषमपादों के अन्त में भी संहिताकार्य न हो पावेंगे, यजुःप्रातिशाख्य पञ्चमाध्याय के प्रथम सूत्र 'समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः' इस अनुशासन (सूत्र) से। उसी के अनुरोध से असमस्त दो पदों के मध्य डेढ़ मात्रा काल की यति में दो मात्राकाल की और विरति में तो ढाई मात्राकाल की व्यवच्छेदकता की स्वीकृति से संहिता तो कहीं दूर ही जा पड़ती है। इस आपत्ति का निराकरण करते हैं। अवग्रह के विषय में इस एक-मात्राकालव्यवधान का नियमन नहीं है। उसी स्थल में याज्ञवल्क्य ने 'अवग्रहे तु यः कालस्त्वर्धमात्रा विधीयते' (अवग्रह में जो काल है वह अर्धमात्रामित ही विहित है) सूत्र से अर्धमात्राकाल की व्यवस्था दी है। इस प्रकार कात्यायन के कथन का यह तात्पर्य निकलता है कि अवग्रह में कहीं (न कि सर्वत्र) एक मात्रा से भी व्यवच्छेद होता है। यह बात ठीक भी है। विच्छेद की न्यूनाधिकता के विवक्षाधीन होने से नियम की उपपत्ति सम्भव नही है। इसोलिये ऋक्प्रातिशाख्य में 'संहिता पदप्रकृतिः' कहा गया है। इसी तरह

स्वरान्तरितयोर्मध्यवर्ती व्यञ्जनयोः स्वरः।
विच्छेदकालो मात्रा वा द्वे मात्रे तिस्र एव वा ॥

इत्यादि सात पद्यों द्वारा मूल में कतिपय व्यवच्छेदनियम बताये गये हैं, वे भी औचित्यमात्र की अपेक्षा से व्यवस्थामात्र हैं। वर्णमैत्रीवश या विवक्षावश कहीं-कहीं इनका अतिरेक भी देखा जाता है। जैसे—

'जायन्ते न वसौ तथापि च नव .... षाण्मासिकोऽत्रावधिः'

इस पद्य में प्रथम पाद की यति (१२,७ वर्णों) पर अर्धमात्रात्मक, द्वितीय पाद की (उन्हीं) यतियों पर पौनमात्रात्मक तथा तृतीय पाद की यति पर एकमात्रात्मक व्यवच्छेद प्रतीत होता है, तृतीय पाद के अन्त में तो आधी मात्रा से ही व्यवच्छेद-काल ही सहृदयों को प्रतीत होता है, एकमात्रात्मक व्यवच्छेद काल भी नहीं है।

इस स्थिति में इस अव्यवस्था से कि कहीं विषम पादों के अन्त में जहाँ सन्धि-कार्य होते हैं, विवक्षाधीन होने से नहीं होंगे और समपादान्त में जहाँ नहीं होते हैं हो जावेंगे, बड़ी विषमता की स्थिति आजाने की आशङ्का भी नहीं होनी चाहिये। संहिता दो प्रकार की होती है एक प्राकृत और दूसरी संस्कृत। स्वच्छन्दता से प्रकृति का अनुवर्तन करती हुई जो स्वाभाविक संहिता है वह प्राकृत अथवा स्वतन्त्र कहलाती है। जैसे 'दध्यानय' यहाँ इकार आकार की संहिता। जो स्थलविशेष पर वाचनिकी (सूत्रादि वचनसिद्ध) है वह संस्कृत या प्रगृह्य कहलाती है (यह प्रगृह्य व्याकरण की संज्ञा नहीं है) यह नियम द्वारा ही विशेषरूप से गृहीत होने से विवक्षा-मात्र से अन्यथा नहीं की जा सकती है जैसा कि विषम पादों के अन्त में संहिता को स्वेच्छा से किया जा सकता है। भले ही कोई विलम्ब से भी वर्णों का उच्चारण करे तो भी प्रगृह्य होने से उस संहिता को टाला नहीं जा सकता है। जैसे 'रामेषु' में कोई षु भाग का रामे से पृथक् कर विलम्ब से भी उच्चारण करे तो भी प्रगृह्य होने से पदप्रकृति यह संहिता समाप्त नहीं की जा सकती। अर्थात् 'आदेश प्रत्यययोः' की पकड़ के कारण संहितागत मूर्धन्यभाव अविचलरूप से बना ही रहेगा। यह (संस्कृत या प्रगृह्य) संहिता न तो समपादान्त में की जा सकती है और न विषम-पादान्त में रोकी जा सकती है, अतः विषमता जैसे दोष का अवसर ही कहाँ?

कुछ लोग कहते हैं कि वर्ण, अक्षर, पद, पाद और पद्य आदि में प्रत्येक विषय में रूपभेद से संहिता भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है। वर्णसंहिता बल के तारतम्य से वर्णगुण आदि का परवर्ण में सञ्चार करती है। अक्षरसंहिता किसी वर्ण को किसी अक्षरविशेष का अङ्ग बनाती है। पदसंहिता वर्णों के पारस्परिक सन्निधान में हेतु होती है। अखण्डपदसंहिता की निवृत्ति ही अवग्रह है। संहिता के ये विशेष धर्म हमने 'वर्णसंहिता' के संहितोपनिषत् प्रकरण में बताये हैं। इन संहिताओं में यह पदसंहिता वर्णों के विलम्बित उच्चारण को सहन नहीं करती। सन्धिकार्य की प्रतिपत्ति (ज्ञान) में वर्णसंहिता नियामक है। इसमें वर्णों के अत्यन्त सान्निध्य की अपेक्षा नहीं होती है। 'राघवेण' में ६ मात्राओं के (र् आघ् अ व् ए न् अ—र् के बाद आ—२, घ १/२, अ—१, व्— १/२ तथा ए—२, इस प्रकार ६ मात्रा का अन्तर-रूप) विलम्ब होने पर भी (न् का रेफनिमित्तक णत्वरूप) सन्धि की निवृत्ति नहीं होती है और रघुनाथ जैसे पद में अत्यन्त निकट होने पर भी (जहाँ के अ घ् उ के व्यवधान से केवल २ १/२ मात्राओं का ही बिलम्ब है) सन्धि नहीं होती है। फलतः

विलम्ब अविलम्ब वाले भाव को लेकर विवक्षाधीनता को लेकर सन्धि के करने न करने जैसी विषमता वाली बात युक्त नहीं है। वास्तव में जो—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

के अनुसार जिस प्रकार वैयाकरण एकपद, धातूपसर्गयोग, आदि में संहिता की नित्यता को फलबल से मानते हैं वैसे ही विषमपादों के अन्त में संहिता की नित्यता और समपादों के अन्त में संहिता की अविवक्षितता को फलानुरोध से ही छान्दसिक मानते हैं, इसलिये यह विषय सर्वथा छान्दसिकों के सिद्धान्त से सिद्ध है, इसमें अतिशय छानबीन की आवश्यकता नहीं है।

यतिदोषवाद

विभक्त्यन्त पदों में विभक्ति से पूर्व क्रियमाण यति को दुष्ट बतलाया है किन्तु विभक्तिकांत पदों में विभक्ति से पूर्व यति की दुष्टता में कोई कारण उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि छान्दसिक लोग छन्दोवृत्तों में नियतस्थानों में ही यति बतलाते हैं। और स्थाननियम में वर्ण या मात्रा ही कारण होती है न कि विभक्ति का पौर्वापर्य। अतः यहाँस्थान नियम के न बनने से यति की सम्भावना ही नहीं है। विभक्ति, प्रकृतिप्रत्यय व्याकरणशास्त्र के पदार्थ होने से छन्दशरीर में उनका प्रवेश नहीं है। अतः छन्दस्वरूप की सिद्धि में उनकी अपेक्षा ही नहीं है। १९ अक्षर वाले चरणों से युक्त शार्दूलविक्रीडित में १२ अक्षर पर यति होती है। यदि वह यति १३वें अक्षर पर की जाये तो वह यति दोषयुक्त हो जाती है। १२वें अक्षर पर यति कर शार्दूलविक्रीडित छन्द का स्वरूप सम्पन्न करने में न विभक्तिपूर्वकत्व अप्रयोजक है और न प्रतिबन्धक ही है तथा विभक्त्यन्त पद में विभक्ति से पूर्व यति करने में व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि व्याकरण-शास्त्र ने विभक्ति से पूर्व यति करने में किसी प्रकार का प्रतिषेध नहीं किया है। व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार भी विभक्ति से पूर्व यति करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। व्युत्पत्तिशास्त्र में पदप्रयोज्य (जन्य) पदार्थोपस्थिति के अव्यवहित उत्तरकाल में जायमान शाब्दबोध में यद्यपि पदों में परस्पराकांक्षा व योग्यता की तरह पदों में आसक्ति (सामीप्य) को भी कारण बताया है और यति पदों में आसक्ति की प्रतिवन्धिका है इस पर यति दुष्ट प्रतीत होती है किन्तु यह यति पदों की आसक्ति में प्रतिबन्ध करके शाब्धबोध में प्रतिबन्धक तो हो सकती है किन्तु छन्दःस्वरूप की हानि नहीं कर सकती। छन्दःशास्त्र में तो शार्दूलविक्रीडित में विभक्ति से पूर्व यति छन्दःस्वरूप की साधक होने से इष्ट ही है। अथवा व्युत्पत्ति-शास्त्र में भी विभक्ति से पूर्व यदि पदों की आसक्ति (सामीप्य) की विरोधिनी होते हुए भी एक पद के बाद दूसरे पद के उच्चारण में यतिमात्र समय का विलम्ब होने पर भी शाब्दबोध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। अन्यथा यति वाले

वृत्त से यति द्वारा आसक्ति का बाध होने से कहीं भी अर्थबोध नहीं होता। यदि यह कहा जाये कि नाम व विभक्तिरूप पदों के मध्य में यति करने पर अन्य दोषों का निराकरण हो जाने पर विभक्त्यन्त पदों में विभक्ति से पूर्व यति का प्रयोग नहीं होगा अतः अप्रयुक्तता दोष के कारण विभक्ति से पूर्व यति दुष्ट है, यह कथन भी समीचीन नहीं क्योंकि 'यस्मात् क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां **महानस्य** गर्भे' इत्यादि पद्य में अभियुक्तों ने पुरुषाभ्याम् इस पद में 'भ्याम्' विभक्ति से पूर्व व पुरुष-रूप प्रकृति में यति का प्रयोग किया है। अतः विभक्त्यन्त पद में विभक्ति से पूर्व यति का प्रतिषेध निर्मूल है।

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए छन्दःसमीक्षाकार ने कहा है कि दो प्रकार की पदयति होती है एक अर्थानुरोधिनी और दूसरी छन्दानुरोधिनी। अर्थानुरोधिनी पदयति विभक्ति के अन्त में ही होती है, अतः विभक्ति से पूर्व नहीं होती है किन्तु छन्दोऽनुरोधिनी पदयति छन्दःस्वरूपसिद्धि के लिये विभक्ति से पूर्व भी होती है अतः वह विभक्ति और विभक्तिमान् के मध्य में अनवच्छेद (विच्छेदाभाव) का प्रतिषेध करती है अतः व्युत्पत्तिशास्त्र में अर्थानुरोधिनी पदयति को विभक्ति से पूर्व अनवच्छेद की अपेक्षा है अतः वहाँ तो विभक्ति से पूर्व यति दोषयुक्त ही है। किन्तु छन्दःशास्त्र में छन्दस्वरूपसिद्धि के लिये यति की अपेक्षा है। अतः वहाँ विभक्ति से पूर्व यति दोषयुक्त नहीं है, यही व्यवस्था है।

छन्दोव्याकरण

इस प्रकरण में केवल वेद में दृष्ट, केवल लोक में दृष्ट तथा वेद और लोक दोनों में दृष्ट छन्दों की व्याकृति का निरूपण है। इस प्रकरण में अवान्तर पाँच परिच्छेद है—१–वैदिक, २–विषम, ३–सम, ४–अर्धसम, ५–मात्राजाति। इसमें वैदिक छन्दों की, जो कि छन्द, अतिछन्द, कृतिछन्द रूप में त्रिविध हैं, उनके भेदों के साथ निरूपण किया गया है। यह व्याख्या सापेक्ष नहीं है। साधारण परिच्छेद में छन्दों के विषम, अर्धसम, समभेद से विभाग कर प्रारम्भ में विषमवृत्तों का निरूपण किया है, पश्चात् समवृत्तों व अर्धसमवृत्तों का। इस परिच्छेद में सभी वृत्तों का लक्षण व उनकी संख्या भी दी है। किन्तु इन छन्दों के लक्षण अन्य छन्दग्रन्थों में प्रसिद्ध मगण, नगण, भगण, जगण, सगण, यगण, रगण व तगण इन गणों द्वारा बताया गया है, वैसा यहाँ नहीं है। यहाँ गणों तथा कुछ सांकेतिक अक्षरों के द्वारा लक्षण दिया गया है। अक्षरों में किन-किन लघुगुरुओं में संकेत है, इसका निरूपण प्रारम्भिक छन्दःशिक्षा प्रकरण में दे दिया गया है। किन्तु उन संकेतों के ज्ञान के बिना आगे दिये गये छन्दलक्षणों का अर्थ समझने में नहीं आ सकता। अतः इन संकेतों का यहाँ पुनः स्मरण कराया गया है। मगण, नगण आदि प्रसिद्ध गणों का स्वरूप निम्न पद्य में निरूपित है 'आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्। यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्'॥

क्ष—(ऽऽ) दो गुरु का बोधक है। क—(।ऽ) एक लघु और एक गुरु अक्षर का बोधक है। ख—(ऽ।) एक गुरु व एक लघु का बोधक है, ल—लघु का तथा, ग—गुरु का बोधक है। घ—(।।) दो लघुओं का तथा ह—(।।।।) चार लघुओं का बोधक है। मगणादि गणों के वाचक म, य, र, त, स, ज, भ, न तथा क्ष, क, ख, ह, के आगे उ स्वर लगाने पर दो-दो को, आ स्वर जोड़ने पर तीन-तीन को इ स्वर लगा देने पर चार-चार को बतलाते हैं जैसे मु दो मगणों (ऽऽऽ, ऽऽऽ) को, मा तीन मगणों को (ऽऽऽ, ऽऽऽ, ऽऽऽ) मि चार मगणों को (ऽऽऽ, ऽऽऽ, ऽऽऽ, ऽऽऽ) बोध कराते हैं। इसी प्रकार क्ष, क, ख, घ, ह के आगे भी उ, आ, इ को जोड़ने पर ये शब्द क्रमशः द्विगुणित, त्रिगुणित व चतुर्गुणित अर्थ को बतलाते हैं। जैसे क्षु ऽऽ ऽऽ को, क्षा ऽऽ ऽऽ ऽऽ को, क्षि ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ को बतलाता है। ऐसा ही क, ख, घ, ह में भी समझना चाहिये। म—ऽऽऽ को, य ।ऽऽ, र ऽ।ऽ को, त—ऽऽ। को, स ।।ऽ को, ज ।ऽ। को, भ ऽ।। को तथा न ।।। को बतलाते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा के द्वारा छन्दों का लक्षण इस ग्रन्थ में किया गया है। जैसे पदचतुरूर्ध्ववृत्त में प्रथम पाद में आठ अक्षर होते हैं और फिर प्रत्येकपाद में चार-चार अक्षर बढाये जाते हैं जैसे प्रथम पाद में ८ अक्षर, द्वितीय पाद में १२ अक्षर, तृतीय पाद में १६ अक्षर, तथा चतुर्थपाद में २० अक्षर होते हैं। इसी से इस वृत्त की संज्ञा पदचतुरूर्ध्व है। इसी पद चतुरुर्ध्व के भेद आपीड के पादों में भी उत्तरोत्तर चार अक्षरों की वृद्धि होती है और पदचतुरूर्ध्व के भेद आपीड के चारों पादों में ८, १२, १६ व २० अक्षर होते हैं। उसका लक्षण करते हुए ८, १२, १६, व २० अक्षरों के पादों का निरूपण नुक्षः, नालक्षः, निघक्षः, निनुक्षः किया है। नुक्षः का अर्थ है अष्टाक्षर पाद। क्योंकि ऊपर जो परिभाषा बतलाई गई है, उसके अनुसार 'नु' दो नगणों का तथा 'क्ष' दो गुरु अक्षरों का बोधक है। इस प्रकार जिसके प्रथम पाद में दो नगण अर्थात् ६ लघु वर्ण हों और उसके बाद क्ष अर्थात् दो गुरु अक्षर हों, यह अर्थ 'नुक्षः' का होता है। आपीड वृत्त के प्रथम पाद की यही स्थिति है। इसी प्रकार दूसरा पाद १२ अक्षरों का होता है जिसमें आदि के १० अक्षर लघु और अन्त के दो अक्षर गुरु होते हैं उन अक्षरों का बोध यहाँ 'नालक्ष' पद से किया है। क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'ना' अक्षर ३ नगणों का, ल एक लघु लक्षर का तथा क्ष दो गुरु अक्षरों का बोधक है अतः 'नालक्ष' पद आदि के १० लघु अक्षरों वाले तथा अन्त में दो गुरु अक्षरों वाले आपीड वृत्त के द्वितीय पाद को बतलाता है। आपीड के तृतीय चरण में १६ अक्षर होते हैं, जिनमें आदि के १४ लघु अक्षर तथा अन्त में २ गुरु अक्षर होते हैं। इस तृतीय पाद का बोध प्रकृत ग्रन्थ में 'निघक्षः' पद से करवाया गया है क्योंकि न के बाद इकार स्वर होने से वह चार नगणों का बोधक है। चार नगणों में १२ लघु अक्षर होते हैं घ दो लघु अक्षरों का बोध कराता है, अतः उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'निघ' से १४ लघु अक्षरों का बोध होता है तथा 'क्ष' दो गुरु अक्षरों का बोधक है। इस प्रकार १६ अक्षरों वाले तृतीय पाद का बोध जिनमें आदि के १४

अक्षर लघु होते हैं तथा अन्त के दो अक्षर गुरु है 'निघक्ष' पद से होता है। इसी रीति से आपीडवृत्त के चतुर्थ पाद का बोध यहाँ 'निनुक्षः' पद से किया गया है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'नि' चार नगणों का तथा नु दो नगणों का बोध कराता है। ये दोनों मिल कर ६ नगणों अर्थात् १८ लघु अक्षरों का बोध कराते हैं, अन्त में 'क्ष' से दो गुरु अक्षरों का बोध होता है। आपीड के चतुर्थ पाद में २० अक्षर होते हैं जिनमें आदि के १८ अक्षर लघु और अन्त के दो गुरु अक्षर होते हैं। उपर्युक्त रीति से 'निनुक्ष' पद, 'आपीड' के चतुर्थपाद के अक्षरों का बोध उसी क्रम से करा देता है जिस क्रम से आपीड के चतुर्थ पाद के अक्षर हैं। आपीड के चारों पादों में प्रकृत ग्रन्थ में वर्णित लक्षण का समन्वय करके उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। इसी रीति से सभी छन्दों के लक्षणों का प्रकृत ग्रन्थ में निरूपण किया गया है। एक उदाहरण इस प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिये और प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसे 'उपस्थित प्रचुपित' छन्द का प्रथम चरण १४ अक्षरों का होता है जिनमें क्रमशः मगण, सगण, जगण भगण तथा अन्त में दो गुरु होते हैं। इसका द्वितीय चरण १३ अक्षरों का होता है जिसमें क्रमशः सगण, नगण, जगण, रगण ये चार गण तथा अन्त में एक गुरु होता है। इसका तृतीय चरण ९ अक्षरों का होता है जिसमें क्रमशः दो नगण तथा एक सगण होता है। चतुर्थचरण १५ अक्षरों का होता है जिसमें क्रमशः तीन नगण तथा जगण व यगण ये ५ गण होते हैं। केवल गणों और गुरु अक्षरों के द्वारा उपस्थित प्रचुपित के चारों चरणों का निरूपण वृत्तरत्नाकर में किया है। किन्तु प्रकृत ग्रन्थ में उपस्थित प्रचुपित के चारों चरणों का निरूपण निम्न प्रकार से किया है—प्रथम चरण का निरूपण 'मसजभक्षा' किया है अर्थात् प्रथम चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, भगण व अन्त में दो गुरु अक्षर होते हैं। यहाँ गणों का निरूपण तो वृत्तरत्नाकर के अनुसार ही है किन्तु अन्त में दो गुरु अक्षरों को बतलाने के लिये 'क्ष' वर्ण का प्रयोग किया है जो कि उपर्युक्त परिभाषानुसार २ गुरु अक्षरों का बोधक है। उपस्थित प्रचुपित का द्वितीय चरण १३ अक्षरों का होता है इसका बोध प्रस्तुत ग्रन्थ में "घभसजक्ष" पद से किया है क्योंकि उपर्युक्त परिभाषानुसार 'घ' दो लघु अक्षरों का बोधक है इसके आगे क्रमशः भगण सगण व जगण का उल्लेख है। अन्त के दो गुरु अक्षरों को 'क्ष' वर्ण द्वारा बतलाया है। इसका तृतीय चरण ९ अक्षरों का होता है जिसमें क्रमशः दो नगण और एक सगण होता है, यह वृत्तरत्नाकर में कहा है किन्तु प्रकृत ग्रन्थ में इस नवाक्षर तृतीय चरण का निरूपण 'हुग' पद से किया है। इसमें पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार हु वर्ण आठ लघु अक्षरों का तथा 'ग' वर्ण गुरु अक्षर का बोधक है। इस छन्द का चतुर्थ चरण १५ अक्षरों का होता है जिसमें क्रमशः तीन नगण जगण व यगण ये पांच गण होते हैं। किन्तु प्रकृतग्रन्थ में उसका निरूपण 'घहुभक्ष' पद से किया है। इसमें घ वर्ण २ लघु अक्षरों का, हुवर्ण ८ लघु अक्षरों का, भवर्ण भगण का तथा क्ष वर्ण दो गुरु अक्षरों का बोधक है इस प्रकार न न न
(।।। ।।। ।।।

ज य यह स्वरूप चतुर्थपाद का सिद्ध होता है जो कि वृत्तरत्नाकर के गणों वाला
।ऽ। ।ऽऽ)
ही सिद्ध होता है किन्तु उसे 'घहुभक्ष' पद से बतलाया है ।

इसी प्रकार उपस्थितप्रचुपित का एक भेद शुद्धविराट् ऋषभ भी है। उसके प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ चरण तो उपस्थितप्रचुपित के समान ही होते हैं किन्तु इसके तृतीय चरण में क्रमशः तगण, जगण व रगण होते हैं। इसी तृतीय चरण के स्वरूप का बोध प्रकृत ग्रन्थ में 'तका' पद से किया है । यहां तवर्ण तगण का तथा 'क' वर्ण (।ऽ) का बोधक है क वर्ण के आगे आ स्वर का प्रयोग करके ऊपर बतलाई हुई परिभाषा के अनुसार तीन कवर्णों का बोध कराया गया है । तीन कवर्णों का स्वरूप (।ऽ।ऽ।ऽ) यह होता है और तगण को मिलाकर इसका स्वरूप ऽऽऽ ।ऽ। ऽ।ऽ वृत्तरत्ना-
त ज र
करोक्त तगणजगणरगणात्मक ही सिद्ध होता है । कहने का तात्पर्य है कि इस ग्रन्थ में छन्दों का स्वरूप अन्य छन्दोग्रन्थों की तरह केवल गणों के आधार पर ही नहीं किन्तु उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पारिभाषिक वर्णों के आधार पर भी किया गया है। इन्हीं परिभाषाओं का ध्यान रखने पर पारिभाषिक वर्णों द्वारा जो छन्दों का लक्षण इस ग्रन्थ में दिया गया है, वह स्पष्ट समझ में आ सकेगा ।

प्रकृत ग्रन्थ में छन्दों के लक्षण जिन परिभाषाओं के आधार पर किये हैं वे अतिसंक्षिप्त व अत्युपयोगी हैं । इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये एक दो उदाहरण और प्रस्तुत किये जा रहे हैं । जैसे पृ. १६८ में क्रीडाचन्द्र का लक्षण 'याया क्रीडाचन्द्रः' इस प्रकार किया है इसका अर्थ है कि जिसमें ६ यगण हों उसे क्रीडाचन्द्र कहते हैं। यहाँ छ यगणों का ग्रहण 'या या' इन दो अक्षरों से कर लिया है, क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'य' वर्ण के बाद आकर स्वर का प्रयोग करने पर वह ३ यगणों का बोधक होता है । 'या' की द्विरुक्ति करने पर वह ६ यगणों का बोधक है । अतः यह संक्षिप्त लक्षण है । इसी प्रकार पृष्ठ १६६ में द्वादशाक्षर छन्दों का लक्षण प्रस्तुत करते हुए भुजङ्गप्रयात का लक्षण 'यि' एक अक्षर से कर दिया गया है । क्योंकि इस ग्रन्थ में छन्दों के लक्षण से पूर्व दी गई परिभाषाओं के अनुसार य वर्ण के बाद प्रयुक्त इकार यगण को चतुर्गुण बना देता है । अतः जिस छन्द में चार यगण हो उसे भुजङ्गप्रयात कहते हैं । जबकि अन्यत्र इसी तथ्य को 'भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः' में 'चतुर्भिर्यकारैः' ये ६ अक्षर उसी भाव को व्यक्त या प्रदर्शित करते हैं । इस ग्रन्थ में सम, विषम, अर्धसम सभी छन्दों के लक्षण इसी प्रकार किये गये हैं ।

इसके बाद 'लौकिक परिच्छेद' में लोकमात्रप्रसिद्ध छन्दोजाति का निरूपण किया है । लौकिक छन्द मात्रासंख्याप्रधान हैं । लौकिक छन्द आर्या, औपच्छन्दसिक, सपदिका, कवित्व व प्राकृतभेद से पांच प्रकार का है । यद्यपि लौकिक व प्राकृत शब्द समानार्थक हैं । अतः प्राकृत से भिन्न आर्या, औपच्छन्दसिक आदि लौकिकभेदों का पृथक् कथन उचित नहीं है ।

तथापि प्रधानतया संस्कृतभाषा में रचना करने वाले आर्यों ने प्राकृत से पूर्व ही लोक में जितने मात्रावृत्तों का व्यवहार किया है, उन वृत्तों के लिये आर्याशब्द से व्यवहार किया है और जिन मात्रावृत्तों में वैदिक छन्द की समानधर्मिता है अर्थात् जिन में वैदिक छन्द के समान धर्म येन केन प्रकारेण रहते हैं, उन्हें औपच्छन्दसिक-संज्ञा से व्यहृत किया है। इस प्रकार प्राकृतभाषा में रचना करने वाले आर्यो ने यद्यपि सपदिकाभेदों का मात्रावृत्तरूप से ही प्रयोग किया है किन्तु वैदिक छन्दों की तरह अक्षरसंख्या भी इनमें रहती है। इसीलिये इनमें वर्णगणवृत्त व्यवहार होता है। कवित्व भी वर्णवृत्त है। अतः प्राकृत छन्दों की अपेक्षा सपदिकाछन्दों में व कवित्वछन्द में विशेषता है। अतः इनकी गणना प्राकृत से पृथक् की गई है। यद्यपि सपदिकाभेदों का मात्रावृत्तरूप से प्राकृतभाषा में रचना करने वाले विद्वानों ने प्रयोग किया है औपच्छन्दसिकभेदों में प्राकृत की अपेक्षा वर्णगणवृत्त होने से विशेषता है तो उनमें सपदिकाशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये किन्तु उनमें सपदिका के कतिपय समानगुणों के सम्बन्ध से सपदिका का गौण प्रयोग है। प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार सपादिकाभेद प्राकृत से भिन्न हैं और वे वर्णगणवृत्त हैं तो प्राकृत विद्वानों से प्रयुज्यमान छन्दों में सपदिकाशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये किन्तु उन सपदिकाओं का प्रयोग सूत, मागध, चारण व बन्दी आदि प्राकृत लोगों ने किया है। अतः प्राकृत पुरुषों से प्रयुज्यमान होने से इन सपदिकाओं को प्राकृत कह दिया गया है। इन मात्रावृत्तों में चतुष्कल, अर्थात् चार मात्राओं वाले पांचगण होते हैं जिनके नाम क्ष (ऽऽ) स (।।ऽ) ज (।ऽ।) भ (ऽ।।) ह (।।।) हैं। इन सबमें चार-चार मात्रायें हैं। मात्रावृत्तों में चतुर्मात्र ही गण होते हैं। इन मात्रावृत्तों में आर्या के गाथा, गीति, उपगीति, उद्गीति, व आर्यागीति ये पांच भेद है। जिस वृत्त के अर्ध-भाग में चतुष्कल ७ गण तथा एक गुरु मात्रा होती है उस आर्या को गाथा कहते हैं। गाथा में पूर्वार्द्ध में विषमगण अर्थात् १, ३, ५, ७ इन गणों में जगण नहीं होता और छठा गण जगण (।ऽ।) तथा ह (।।।।) में एक होता है। परार्ध में पष्ठगण एककल (एक मात्रा वाला) होता है। यदि पष्ठगण हकाररूप (।।।।) हो तो द्वितीयाक्षरा-दिभूत प्रथम पद लघु है। यदि हकार सप्तम गण हो तो प्रथमाक्षरादिभूतवर्ण ही पद होता है। परार्ध में यदि पञ्चम गण हकारात्मक हो तो पक्षमाक्षरादिभूत अक्षर ही पद होता है अतः उनमें अणुयति नियम से होती है। इसके आगे गीति, उपगीति, आर्यागीति का लक्षण बतला कर गाथा के पथ्या, मुखविपुला, जघनविपुला, महाविपुला इन चार भेदों का निरूपण कर उनमें प्रत्येक के मुखचपला, जघनचपला, महाचपला भेद बता कर चार अचपला भेदों के साथ १६ भेद आर्यागाथा के बतलाये हैं। इसी प्रकार गीति, उपगीति, उद्गीति व आर्यागीति के भी १६ भेदों का निरूपण किया है तथा उन सब भेदों का परिलेख से प्रदर्शन किया है।

इससे आगे औपच्छन्दसिक अधिकार है जिसमें औपच्छन्दसिक, वैतालीय, आपातलिका, औपच्छन्दसिक उदीच्यवृत्ति, औपच्छन्दसिक प्राच्यवृत्ति, औपच्छन्दसिक

प्रवृत्तक, चारुहासिनी व अपरान्तिका छन्दों का निरूपण है। जिस छन्द के अयुग्म-चरणों (प्रथम व तृतीय) में १४ मात्रायें हों और वे मात्रायें आधिक्येन पिण्डित हों अर्थात् दो लघुमात्राओं के मिलने से वे गुरु अक्षर बन गई हों, युग्मपाद (द्वितीय व चतुर्थ) में १६ मात्रायें हों तथा उन मात्राओं में युग्ममात्रायें परमात्राओं से मिल कर पिण्ड (गुरु) न बनी हों एवं चरणों के अन्त ख वर्ण (ऽ।) रगण (ऽ।ऽ) व गुरु (ऽ) हों उसे औपच्छन्दसिक कहते हैं। जैसे—

ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽऽ
वाक्यैर्मधुरैः प्रतार्य पूर्वं यः पश्चादभिसन्दधाति मित्रम्।
तं दुष्टमतिं विशिष्टगोष्ठ्यामौपच्छन्दसिकं वदन्ति वाह्यम्॥

इस श्लोक में प्रथम व तृतीय चरण में १४, १४ मात्रायें हैं तथा वे मात्रायें पिण्डप्राय हैं अर्थात् पूर्वलघु मात्रा परलघु मात्रा से मिलकर गुरुमात्रा बनी हुई हैं। युग्म (द्वितीय व चतुर्थ) चरणों में १६, १६ मात्रायें हैं। इन मात्राओं में दूसरी, चौथी, छठी, आठवीं आदि मात्रायें तृतीय, पञ्चम व सप्तम मात्राओं से मिल कर गुरु नहीं बनी हैं और अन्त में प्रत्येक चरण में खरग (ऽ।ऽ।ऽऽ) अर्थात् खवर्ण, रगण व गुरु हैं, अतः यह औपच्छन्दसिक है। इसी औपच्छन्दसिक के ही चरणों के अन्त में खरग (ऽ।ऽ।ऽऽ) न होकर खर (ऽ।ऽ।ऽ) हो तो वैतालीय, अन्त में खय (ऽ।।ऽऽ) हो तो आपातलिका छन्द होता है। औपच्छन्दसिक के अयुग्म चरण में द्वितीय, तृतीय मात्राओं का पिण्डीकरण करने पर उदीच्यवृत्ति, युग्मचरणों में चतुर्थ पञ्चम मात्राओं का पिण्डीकरण करने पर प्राच्यवृत्ति, अयुग्मपाद में द्वितीय तृतीय मात्राओं के तथा युग्मपाद में चतुर्थपञ्चममात्राओं के पिण्डीकरण करने पर प्रवृत्तक छन्द होता है। जिसमें चारों चरणों में १४, १४ मात्रायें है तथा तृतीयमात्रा के साथ द्वितीय मात्रा का पिण्डीकरण हो उसे चारुहासिनी एवं जिसके चारों चरण १६ मात्रा वाले हों तथा पञ्च मात्रा के साथ चतुर्थमात्रा का योग (पिण्डीकरण) हो उसे अपरान्तिका कहते हैं। ये दोनों छन्द मात्रासमक हैं। मात्रासमक में नवीं व बारहवीं मात्रा का परमात्राओं के साथ पिण्डीकरण न होने से वे लघुमात्रायें ही रहती हैं उसे वनवासिका छन्द कहते हैं। यदि पञ्चम व अष्टम मात्राओं का परमात्राओं के साथ पिण्डीकरण न होने से उनका लघु स्वरूप ही रहता है उसे विश्लोक छन्द करते हैं। जिस छन्द में पञ्चम अष्टम नवम मात्राओं का परमात्राओं के साथ पिण्डीकरण न होने उनका लघुमात्रास्वरूप बना रहता है उसे चित्रा छन्द कहते हैं। यदि नवममात्रा का परमात्रा से पिण्डीकरण होने पर उसका गुरुमात्रास्वरूप बन जाता है उसे उपचित्रा छन्द कहते हैं। मात्रासमक, वनवासिका, विश्लोक, चित्रा तथा उपचित्रा के एक एक पाद से जिसका स्वरूप निष्पन्न होता है उसे पादाकुलक कहते हैं। जिस छन्द का एक पाद १६ लघुवर्णों से निष्पन्न होता है उसे गीत्यार्या कहते हैं। जिस छन्द का पूर्वार्द्ध ३२ लघुवर्णों से तथा परार्ध १६ गुरु वर्णों से निष्पन्न

होता है उसे ज्योति:शिखा छन्द कहते हैं। पूर्वार्द्ध व परार्ध का विपर्यय करने पर अर्थात् पूर्वार्द्ध में १६ गुरु वर्ण हों तथा परार्ध में ३२ लघुवर्ण हों, उस छन्द को सौम्यशिखा या अनङ्गक्रीडा कहते हैं। जिस छन्द के पूर्वार्द्ध में २७ लघुवर्णों के बाद एक गुरुवर्ण, तथा परार्ध में २९ लघुवर्णों के बाद एक गुरुवर्ण होता है उसे चूलिका छन्द कहते हैं।

औपच्छन्दसिक, वैतालीय, आपातलिका, औपच्छन्दसिक उदीच्यवृत्ति, प्राच्य-वृत्ति और प्रवृत्तक का लक्षण पूर्व में ही बतला दिया गया है तथापि प्रकारान्तर से उनके लक्षण यहाँ बतलाये जा रहे हैं। इन लक्षणों के ज्ञान के लिये कुछ परिभाषिक शब्दों का स्वरूपज्ञान अपेक्षित है। अत: प्रथम उन्हें ही बतलाया जा रहा है। जैसे 'ट' वर्ण (।।। ।।।) छ लघुमात्राओं का, 'ठ' वर्ण (।।। ।।) पांच लघुमात्राओं का, 'ड' वर्ण (।।।।) चारलघुमात्राओं का, 'ढ' वर्ण (।।।) तीन लघुमात्राओं का, 'ण' वर्ण (।।) दो लघु मात्राओं का बोध कराता है। इस परिभाषा को ध्यान में रखकर निम्न लक्षणों का समन्वय करना चाहिये।

'डाद् रय:' 'णडाभ्यां रय:' अर्थात् जिसके अयुग्मपादों 'ड' अर्थात् चार लघुमात्राओं से परे रगण व यगण हों तथा युग्म पादों में ण अर्थात् दो लघुमात्राएँ तथा 'ड' चार लघुमात्राओं से परे रगण व यगण हों, उसे औपच्छन्दसिक कहते हैं। इसी प्रकार जिस छन्द के अयुग्म पादों में 'णडाम्यां रक:' णवर्ण (।।) दो लघुमात्रा डवर्ण (।।।।) चार लघुमात्राओं से परे रगण (ऽ।ऽ) व कवर्ण (।ऽ) हो तथा युग्मपादों में दो ड वर्णों (।।।। ।।।।) से परे रगण (ऽ।ऽ) व कवर्ण (।ऽ) हों, उसे वैतालीय कहते हैं। इसी प्रकार आपातलिका आदि के लक्षण किये गये हैं। यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि ख वर्ण (ऽ।) इस प्रकार क्रमबद्ध गुरु व लघुमात्राओं में परिभाषित है। नीचे का परिलेख देखने से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

सपदिकाधिकार

सपदिका पर्यातक नाम से व्यवहृत छन्द होने से समवृत्तप्रकरण में प्राय: बतला दी गई है तथापि लोक में इनका अधिक प्रचार होने से पृथक् रूप से बताई जा रही हैं। इसमें २७ छन्दों का निरूपण किया गया है किन्तु सपदिका छन्द इससे भी अधिक हैं, जिनमें से कुछ छन्द तो २७ सपदिकाओं में से किसी न किसी सपदिका के समानार्थक हैं। जैसे चन्द्रपदी, मञ्जरी, मुक्तहारा, माधवी ये समानार्थक अर्थात् एकार्थकपरक हैं। इनका बोध मूल ग्रन्थ से तथा परिलेख से स्पष्ट समझ में आ जाता है। अत: इनके हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता नहीं है। यहाँ २२ वर्णवाली, २३ वर्णवाली, २४ वर्णवाली, २५ वर्णवाली व २६ वर्णवाली सपदिकाएं कितनी हैं, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। साथ ही जगण, सगण, भगण, रगण, यगण, तगण, इन गणों से निष्पन्न होने वाली सपदिकायें कितनी कितनी हैं यह स्पष्ट कर दिया गया है।

कवित्वप्रकरण

कवित्व-घनाक्षरी, मनोहर व रूप घनाक्षरी भेद से त्रिविध हैं। इनके लक्षण मूल से स्पष्ट हो जाते हैं तथा नीचे के परिलेख से और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। अतः ये अनुवाद सापेक्ष नहीं हैं

प्राकृतछन्दप्रकरण

प्राकृत छन्दों के—कनिष्ठजाति, मध्यमजाति, बृहज्जाति, विरूपजाति, बहुपद-जाति, लम्बकजाति ये छ भेद बतलाये हैं। ये ही छह भेद निकृष्ट, साधारण, उत्कृष्ट, द्विरूप, उत्तर, दीर्घ, इन शब्दों से भी व्यवहृत होते हैं। इन छह भेदों में, दो तीन मात्रागणों से जिन छन्दों के पादों का निर्माण होता है वे कनिष्ठजाति के छन्द हैं। जिनके पाद ४ व ५ मात्रागणों से निष्पन्न होते हैं वे मध्यम जाति के, जिनके चरण ६, ७ या ८ मात्रा वाले हैं, उन्हें बृहती कहा जाता है। द्विपदी प्रधान, विषम, अर्धसम व समवृत्त बहुपदी कहलाते हैं। जिन छन्दों के पाद ९, १० या अधिक मात्रागणों से सिद्ध होते हैं वे लम्बकशब्द से व्यवहृत होते हैं। इनमें 'मधुभाराधिकार में कनिष्ठ-जातीय चतुष्पदियों का, पादाकुलकाधिकार, वर्णविषमाधिकार व प्लवंगमाधिकार में मध्यमजातीय चतुष्पदियों का, रोलाधिकार, गगनाधिकार, सपदिकाधिकार व शृङ्गाधिकार में उत्कृष्टजातीय चतुष्पदियों का, शिखाधिकार, पेशलाधिकार गाथा-धिकार व औपच्छन्दसिकाधिकार में विरूपजातीय चतुष्पदियों का, उत्कच्छाधिकार व रड्डाधिकार में बहुपदजातीय छन्दों का तथा लक्ष्म्यधिकार में लम्बकजातीय चतुष्पदियों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार प्राकृतभेदों की सभी चतुष्पदी जातियों का निरूपण प्रकृत ग्रन्थ में संक्षेप से किया गया है। परिलेखों से इनके नामों व इनकी गुरुलघुमात्राओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। इनके लक्षण प्रकृत ग्रन्थ में उपरिवर्णित परिभाषाओं के आधार पर ही किये गये हैं।

छन्दोव्याकरण के अन्तर्गत वैदिक छन्दपरिच्छेद में वैदिक छन्दों का, साधारण-परिच्छेद में विषम, सम, अर्धसम छन्दों का तथा लौकिकपरिच्छेद में लोकमात्रप्रसिद्ध आर्या, औपछन्दसिक, सपदिका, कवित्व व प्राकृत इन पांच भेदों में विभक्त छन्दों का तथा इनमें भी प्राकृत छन्दों को कनिष्ठ जाति, मध्यम जाति, बृहज्जाति, विरूप-जाति, बहुपद जाति, लम्बक जाति इन ६ भेदों में विभाजन कर सबका संक्षेप से निरूपण कर छन्दोव्याकरण-अधिकार को समाप्त कर दिया है। इसके आगे छन्दः-कल्प-अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है।

छन्दःकल्प

छन्दों के-शिक्षा, गणित, निरुक्ति और व्याकरण ये चार अंग बता दिये हैं अब छन्दःक्लृप्ति के लिए प्रसंगप्राप्त पञ्चम अङ्ग छन्दःकल्प बता रहे हैं। इस छन्दः-कल्प में अभिनयकर्म, दोष, मर्मचिन्ता कविकर्पटीक रचना तथा छन्दोमाला ये पाँच विषय हैं।

अब अभिनयकर्म समझाया जा रहा है।

लक्षण द्वारा निरूपित छन्दों के सम्यक्ज्ञान के लिये अभिनयकर्म की अपेक्षा है। अर्थविचार के क्लेश को सहन करने में असमर्थ बालकों के अभ्यास के लिये इस अक्षरपरिपाटी का विधान किया जा रहा है। एकजातीय या अनेकजातीय किसी भी ककारादि व्यञ्जन में ह्रस्व, दीर्घ स्वरों के प्रयोग से भिन्न-भिन्न छन्दों का स्वरूप सिद्ध करना चाहिये।

जैसे ककार व्यञ्जन में अ, आ इन स्वरों के प्रयोग से छन्द के प्रथम चरण का, इ ई के प्रयोग से द्वितीय चरण का, उ ऊ के प्रयोग से तृतीय चरण का तथा अं अः के प्रयोग से छन्द के चतुर्थ चरण का अभिनय करना चाहिये, यह परम्परा है। जैसे इन्द्रवज्रा छन्द में ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ क्रम से गुरुलघुस्थान वाले ११ अक्षर हैं। इनके चारों चरणों का अभिनय निम्ननिर्दिष्ट रीति से किया जाना चाहिये—

का का क का का क क का क का का, की की कि की की कि कि की कि की की, कू कू कु कू कू कु कु कू कु कू कू, कं कं क कं कं क क कं क कं कः।

इसी प्रकार शालिनी, प्रहर्षिणी आदि सभी छन्दो का अभिनय किया जा सकता है। इस अभिनयक्रिया से छन्दों के गुरुलघुवर्णों का तथा उनके सन्निवेशक्रम का आसानी से ज्ञान एवम् अभ्यास हो जाता है।

(अभिनय प्रकरण समाप्त)

फलोपयुक्ति

इसमें छन्दों में वर्णशुद्धि व गणशुद्धि का निरूपण किया गया है तथा कौन से वर्ण और गण शुभ हैं और कौन से अशुभ हैं, इसका भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त किन वर्णों व गणों से किन किन फलों की प्राप्ति होती है इसका भी दिग्दर्शन किया है। एक पद्यात्मक काव्य में उसी पद्य के आदि अक्षर से सम्बद्ध वर्णशुद्धि अपेक्षित है अर्थात् उस पद्य का आदि अक्षर शुद्धवर्णों में होना चाहिये और अनेक पद्यात्मक स्तुतिकाव्य में प्रथम पद्य का आदि अक्षर शुद्धवर्णरूप होना चाहिये। स्तवकाव्य में प्रत्येक पद्य के आदि अक्षर का शुद्ध होना अपेक्षित नहीं है। यहाँ भरत तथा भामह के अनुसार वर्णों की शुभाशुभफलप्रदता का निरूपण किया है।

भामह के अनुसार ऋ, ङ, झ, ञ, ट, ड, ठ, ढ, ण, प फ ब भ म र ल, व ष ह ळ इन १९ वर्णों तथा संयुक्ताक्षरों को छोड़कर शेष वर्णों के आदि में प्रयोग का फल शुभ होता है, इसके बाद प्रत्येक वर्ण के शुभाशुभफल का निर्देश 'कः खो गो घश्च' इत्यादि दो पद्यों से किया है।

वर्णशुद्धि के बाद गणशुद्धि का निरूपण है। वर्णशुद्धि की तरह गणशुद्धि में भी प्रथम पद्य के प्रथम गण की ही शुद्धि अभिप्रेत है। मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण ये ८ वर्णगण प्रसिद्ध हैं इन गणों के देवता क्रमशः

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य चन्द्र और यजमान ये शिव की आठ मूर्तियाँ हैं। अतः इन देवताओं के अनुसार ही श्री, वृद्धि, मृत्यु, विदेशगमन, शून्य, रोग, कीर्ति, और सुख ये फल आठों गणों के क्रमशः बतलाये हैं। इनका निर्देश 'मो भूमिः श्रियमातनोति' इत्यादि पद्य से तथा 'मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियं दिशति' इत्यादि पद्य से किया है। इन दोनों पद्यों में तगण और नगण का फलभेद दिखाई देता है। 'मो भूमिः श्रियमातनोति' इस पद्य में तगण का फल शून्य तथा नगण का फल सुख बतलाया है। किन्तु 'मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियं दिशति' इस द्वितीय पद्य में तगण का फल धनापहरण तथा नगण का फल आयु बतलाया है।

प्राकृतपिङ्गल में भी मगण, नगण, यगण, भगण में फलभेद दिखाई देता है। जैसे गाथा तथा दोहा काव्य में मगण का फल स्थिरकार्य व ऋद्धि, नगण का फल ऋद्धि व बुद्धिस्फूर्ति, यगण का फल सुखसम्पत्ति, भगण का फल कुशलप्राप्ति बतलाया है जब कि संस्कृतकाव्यों में इनका फल क्रमशः लक्ष्मीप्राप्ति, सुखप्राप्ति, आयुः-प्राप्ति, वृद्धि, निर्मलयशःप्राप्ति कहा है। इससे आगे गणद्वय का फलादेश बतलाया है उसमें भीष्मादिसंमतफलादेश का भी निरूपण किया है। एक गण का फलादेश बतलाने के बाद गणद्वय का फलादेश कथन मतान्तर है ऐसा प्राचीन छान्दसिक मानते हैं। नव्य छान्दसिकों की मान्यता है कि यदि पूर्वगण दोषयुक्त है तो उस दोष का परिहार करने के लिये उत्तरगण का फलादेश है। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वगण के फल की अपेक्षा उत्तरगण में अधिक फल की जनकता का अतिदेश है। अतः पूर्वविधि से प्राप्त गणदोष परगण की शुद्धि से तिरस्कृत या दूर कर दिया जाता है। इसीलिये कहा है—

यदि दुष्टफलश्चादौ गणो दैववशाद् भवेत्।
तदा तद्दोषशान्त्यर्थं शोध्यः स्यादपरो गणः॥

अतः इनके मत में पूर्वगण के दोष का परिहार करने के लिये गणद्वयसमष्टि कारण नहीं किन्तु द्वितीय गण ही है। अतः गणद्वय के फलादेश की आवश्यकता नहीं है।

मर्मचिन्ता

स्वल्प अन्तर से ही एक छन्द दूसरा छन्द बन जाता है, इसी तथ्य को बतलाने के लिये छन्दोमर्मचिन्ता का विधान है। छन्दोमर्मचिन्ता-वृत्तद्वयमर्मचिन्ता तथा पादद्वयमर्मचिन्ता भेद से द्विविध है। अर्थात् दो वृत्तों की मर्मचिन्ता व दो पदों की मर्मचिन्ता। समवृत्तों में वृत्तद्वयमर्मचिन्ता तथा अर्धसमादि छन्दों में पादद्वयमर्म-चिन्ता है। इसमें छन्दों में जिन स्वल्पभेदों के कारण, एक छन्द दूसरा छन्द बन जाता है उन स्वल्पभेदों के प्रकारों का उल्लेख किया है—१. पदसाम्यप्रकार, २. सामान्यविशेषप्रकार, ३. आदेशप्रकार, ४. द्वैगुण्यप्रकार, ५. यतिप्रकार, ६. विप-र्यासप्रकार, ७. पादवैशेष्यप्रकार। इस प्रकार के ७ प्रकारों का सोदाहरण उल्लेख कर

दिया है। तथा इनसे भिन्न भी प्रकार हो सकते हैं। जैसे स्रग्धरा छन्द के अन्त्य पद रुग (दो रगण) व एक गुरु (ऽ।ऽऽ।ऽऽ) के स्थान में गभक-एक गुरु, भगण व कवर्ण (ऽऽ।।।ऽ) का आदेश कर देने पर स्रग्धरा सुवदना छन्द बन जाता है। यह आदेश-प्रकार का एक उदाहरण है। द्वैगुण्यप्रकार का एक उदाहरण निम्नलिखित है। जैसे प्रमाणीछन्द 'कि' अर्थात् चार कवर्ण वाला है। इस ग्रन्थ के पूर्व में दी हुई परिभाषाओं के अनुसार 'कि' वर्ण चार कवर्ण का बोध कराता है और एक 'क' वर्ण (।ऽ) का बोधक है अतः चार 'क' वर्णों से प्रमाणीछन्द का स्वरूप (।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ) ऐसा बनता है। इसको द्विगुण कर देने पर (।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ) ऐसे स्वरूप वाला नाराच छन्द बन जाता है, जैसा कि इस ग्रन्थ के पृष्ठ २५७ में बतलाया गया है। एक छन्द के दूसरा छन्द बन जाने के कारण पदप्रकारभेदों के निरूपण के बाद अक्षरविनिमयप्रकार को भी एक छन्द के दूसरे छन्द में बदलने का कारण बताया है। जैसे लौकिक छन्द सपदिका के भेद लक्ष्मीछन्द के प्रथम अक्षर का अन्तिम अक्षर में विनिमय कर देने पर भुजङ्गछन्द बन जाता है जैसे लक्ष्मी छन्द में (ऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ) इस रूप से आठ रगण होते हैं। इसमें प्रथम गुरु अक्षर का यदि अन्त में निवेश कर दिया तो (।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ) ऐसा आठ यगण वाला भुजङ्ग छन्द बन जाता है।

इसके अनन्तर एक अक्षर के योग से एक छन्द दूसरे छन्द में परिणत हो जाता है। जैसे सात भगण तथा एक गुरु से (ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ) मदिरा छन्द बनता है वहाँ एक लघु अक्षर का आदि में योग कर देने पर (।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।) इस स्वरूप वाला मल्लिका छन्द बन जाता है। इस प्रकार अक्षर के वियोग से भी एक छन्द दूसरे छन्द में परिणत हो जाता है। जैसे आठ सगणों का दुर्मिला छन्द है जिसका स्वरूप है (।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ) ऐसा है इसमें एक लघु का वियोग कर देने पर सात जगण तथा एक 'क' (।ऽ।) वाला मल्लिका छन्द बन जाता है जिसका स्वरूप ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ) इस प्रकार का है। अक्षर-योगायोग प्रकार के अन्य उदाहरण भी मूल में दिये हैं। इसी तरह दण्डकछन्दों में भी अक्षरयोगायोग प्रकार है।

कविकर्पटीकरचना

इसमें श्लोकरचना के प्रेमी कोमलबुद्धिबालकों के अभ्यास की दृढता के लिये नितान्त उपयोगिनी कविकर्पटीक की रचना शंखोक्त प्रकार से बतायी गयी है। इसमें भिन्न भिन्न छन्दों के भिन्न भिन्न पादों में प्रयुक्त होने वाले त्र्यक्षर, चतुरक्षरादि पदों का उल्लेख है जिनके प्रयोग से मन्दमति पुरुष भी अनायास वृत्तों का निर्माण कर सकता है। इसके बाद वैदिक छन्दों के ज्ञान के लिये छन्दों की अक्षरसंख्या से उनकी विशेष संज्ञाओं का बोध विषयसूची से बतलाया गया है। तदनन्तर वैदिक छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। वैदिक छन्दोमाला के उदाहरण वेद से प्रस्तुत कर साधारणच्छन्दोमाला को प्रस्तुत करते हुए विषम, सम, अर्धसम वृत्तों के

हलायुधद्वारा प्रोक्त उदाहरणों को भी प्रस्तुत किया गया है। विषमवृत्तों के निरूपण के बाद समवृत्तों में ३४ अनादिष्ट छन्दों को सलक्षण प्रस्तुत किया है।

अनादिष्टछन्दों के निरूपण के बाद गायत्री आदि प्रकरणों में षडक्षर छन्द से आरम्भ कर उत्कृत्याधिकारपर्यन्त २६ अक्षरों तक के छन्दों का वर्णन किया गया है। इन सब छन्दों के लक्षण इस ग्रन्थ में पहिले बतलायी हुई परिभाषाओं के आधार पर दिये गये हैं। जैसे विद्युल्लेखा छन्द का लक्षण इस ग्रन्थ में 'मु:' किया गया है। जिसका अर्थ दो मगण जिस छन्द में उसे विद्युल्लेखा कहते हैं। उन दो मगणों को इस ग्रन्थ की पूर्व में बतलायी गई परिभाषा के अनुसार किसी भी वर्ण के बाद उकार स्वर का प्रयोग हो तो उसकी द्विगुणता को बतलाता है। म वर्ण मगण का बोधक है उसके आगे उकार मगण की द्विगुणता अर्थात् दो मगणों का बोधक है। सभी छन्दों के लक्षण इस ग्रन्थ में इसी प्रकार दिये गये हैं।

अथ छन्दःसमीक्षा प्रारभ्यते ॥

(अक्षरसमीक्षा)

मङ्गलाचरणम् ॥

ॐतत् सत्

अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्-सोमो रुद्रेभिरभिरक्षतु त्मना ।
इन्द्रो मरुद्भिर्ऋतुधा कृणोतु-आदित्यैर्नो वरुणः संशिशातु ॥१॥

शं नो देवो वसुभिरग्निः शं सोमस्तनुभीरुद्रियाभिः ।
शमिन्द्रो मरुद्भिर्यज्ञियैः शमादित्यैर्नो वरुणो अजिज्ञपत् ॥२॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्म्मरुद्भीरुद्राः समजानताधि ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमाना विश्वे देवाः समनसो भवन्तु ॥३॥

नमो वाचे । नमो वाचस्पतये । या चोदिता या च नोदिता तस्यै वाचे नमः । नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रविद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः । मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुः, दैवीं वाचमुद्यासं, जुष्टां देवेभ्यः, स्वधावरीं पितृभ्योऽनुमतां मनुष्येभ्यः, तन्मा देवा अवन्तु शोभायैपितरोऽनुमदन्तु ॥

गायत्रीं छन्दः प्रपद्ये, त्रिष्टुभं छन्दः प्रपद्ये, जगतीं छन्दः प्रपद्ये, अनुष्टुभं छन्दः प्रपद्ये, पङ्क्तिं छन्दः प्रपद्ये, छन्दांसि छन्दः प्रपद्ये । तानि नोऽवन्तु, तानि नः पालयन्तु, तानि सा ऋच्छतु यो अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥*

अथातो माधुसूदन्या सरस्वत्या प्रसन्नया ।
समीक्षाचक्रवर्त्तिन्या छन्दस्तत्त्वं समीक्ष्यते १

यच्चैतत् क्वच दृश्यते तदखिलं मित्या परिच्छिद्यते,
सा त्रेधा प्रमितिर्मितिः प्रतिमितिः सर्वं ततश्छन्द्यते ॥
तस्माच्छन्द इति प्रथामुपगतं सर्वार्थसिद्धीश्वरम्,
मूलद्वन्द्वमुपास्महेऽखिलजगत्प्रस्तावि मात्राक्षरम् १

छन्दोबद्धमिदं सर्वं यच्च यावच्च दृश्यते । तस्मात् पदार्थविज्ञाने छन्दोविद्योपयुज्यते २
‡न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ३
तस्माद्यथार्थविज्ञाने वाग्वेद उपयुज्यते । तथार्थच्छन्दसां ज्ञाने वाक्छन्दोवेद इष्यते ४
तत एष समारम्भो वाक्छन्दःप्रतिपत्तये । तत्सिद्धौ दिव्यवेदार्थवेदसिद्धिर्भविष्यति ५

प्राचां छन्दोविदामूर्ध्वं जातोऽसौ पिङ्गलो मुनिः ।
तदुक्तं शिरसा कृत्वा वाक्छन्दोवेद उच्यते ६

शिक्षा-गणित-निरुक्ति-व्याकरणैः-कल्पतश्च पञ्चाङ्गः ।
पद्यच्छन्दोवेदस्तावदयं समुदयं प्राप्तः ॥ ७ ॥

---

* मैयायणीयानां प्रवर्ग्यमन्त्रोऽयम् ।

‡ प्राचां श्लोकोऽयमुपोद्बलकतयाऽत्र निर्दिष्टः ॥

अथ छन्दःशिक्षा-

परिभाषाधिकारः

छन्दः पदमवष्टम्भो वर्णो मात्रा गणो गतिः ॥
समयश्चेति विज्ञेयाश्छन्दःशिक्षाबुभुत्सुभिः ॥ १ ॥

छन्दः, पदम्, अवष्टम्भः, वर्णः, मात्रा, गणः, गतिरिति। एतैर्यथायथं विज्ञातैश्छन्दो विज्ञातं भवति । समयस्तु संकेतः । स च शास्त्रविज्ञानमात्रोपयोगी ॥ तत्र तावच्छन्दो निरूप्यते । यया कया च मात्रया नियतानामवयवविशेषाणां संनिवेशेन कृता मर्य्यादा छन्दः । मात्राभिर्व्यवस्थिताभिः किञ्चिद्वस्तु जायते इति कृत्वा व्यवस्थिता मात्रा प्रकृते जातिः । यद्वा, मात्राव्यवस्थया हि तत्तत्सर्वं वस्तु भिन्नं भिन्नं जायते इति कृत्वा मात्राव्यवस्था प्रकृते जातिः ॥ मात्राभिर्यद्वृत्तं गुरु च लघु च ,तद्व्यवस्थया वा यद्भिन्नं वर्त्तते तद्वृत्तं नाम ॥ ततो जातिवृत्ताख्या मर्य्यादा च्छन्द इत्युच्यते ॥ जातिमर्य्यादायां मात्राव्यवस्थानिबन्धना वस्तुस्थितिः । वृत्तमर्य्यादायां तु नियतस्थानावस्थितमात्रावृत्तगुर्वादिव्यवस्थानिबन्धना वस्तुस्थितिः ॥ यद्यप्युभयत्रापि मात्रानिबन्धनैव वस्तुस्थितिः तथापि स्वरविशेष-समष्टिमात्रानिबन्धना जातिः । स्वरविशेषव्यष्टिमात्रानिबन्धना वृत्तिरित्यन-योर्भेदोऽनुसन्धातव्यः ॥ यद्यपीदं द्वेधा प्रतिपद्यते । आर्थिकं वाचिकं च । अथाप्यार्थिकानां प्रजापत्यग्नीन्द्रादित्यादिसमवेतानां ब्राह्मणक्षत्रियादिप्रतीतानां च च्छन्दसां स्वातन्त्र्येणार्थवेदविषयतया नेह वाग्वेदे तन्निर्वचनायावकाशो लभ्यते । तस्मात् केवलं वाचिकानामेव छन्दसां निरूपणायेदानीमिदं शास्त्रमारभ्यते ॥ इह हि तावदनेकवर्णकृतशरीरायां वाच्यभिनीतायां तेषां वर्णानामाधारभूता कयाचि-न्मर्य्यादया बद्धा भूमिरनुभूयते, यस्यास्तेषां तेषां वर्णानां परिवृत्तावपि न स्वरूपं विहन्यते, तस्या मर्य्यादायाः कथंचिद्व्याघाते तु सा स्वरूपतश्च्यवते, सैषाऽनिर्वचनीया वर्णभूमिका वा मर्य्यादैव वा च्छन्दः स्यात् ।

तत्रेदं छन्दस्त्रेधा—पद्यं गद्यं गेयं च । ततः पद्यकाण्डम्, गद्यकाण्डम्, गेयकाण्डं चेति त्रिकाण्डी छन्दःशास्त्रम् ॥ यद्यपि नैतेषु गद्यजातेषु छन्दोव्यवस्थामिच्छन्ति बहवः । तथापि तत्राच्छन्दस्त्वस्यैव छन्दस्त्वेन प्रतिपत्तेश्छन्दोव्यवहार इष्यते । अतएवाच्छन्दस्केष्वपि शूद्रेषु छन्दोव्यवहारमिच्छन्ति । ऋक्सामातिरिक्तेष्वपि यजुर्मन्त्रेषु च्छन्दोव्यवस्थामुपदर्शयन्ति । तस्मात् तत्राप्यस्त्येव छन्दःसिद्धिरिति स्थितम् ॥

(१) पद्यजातं द्वेधा-वृत्तं जातिश्च। यत्र नियतवर्णव्यवस्थया छन्दःसिद्धिस्तद्वृत्तम्। यत्र तु नियतमात्राव्यवस्थया छन्दःसिद्धिः सा जातिः। तथा चाह नारायणः—

पद्यं चतुःपदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥

हलायुधोऽप्याह—

पद्यं चतुष्पदं तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
एकदेशस्थिता जातिर्वृत्तं लघुगुरुस्थितम्॥

(२) परे तु वृत्तिर्जातिरिति द्वेधा विभज्य तयोरुभयोरेव वृत्तशब्देन छन्दःशब्देन च सामान्यतो व्यपदेशमिच्छन्ति। वर्णवृत्तं वर्णच्छन्दः, मात्रावृत्तं मात्राच्छन्द इति। तथाचैषां मते छन्दोवृत्तशब्दयोः पर्य्यायवाचित्वम्। (३) छन्दःपरिमलकारस्तु तयोः पर्य्यायार्थत्वं प्रत्याख्याय—"मात्राक्षरसंख्यया नियता वाक् छन्दः। गलसमवेतस्वरूपेण नियता वाग् वृत्तम्"—इत्येवं व्यवस्थापयति। तथा च तन्मते—

उक्तात्युक्ता तथा मध्या प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठिका।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुभः॥ १॥
जगती चातिजगती शक्करी चातिशक्वरी।
अष्ट्यत्यष्टी धृतिः सातिः कृतिः प्रकृतिराकृतिः॥ २॥
विकृतिः संकृतिश्चातिकृतिरुत्कृतिदण्डकाः।
एतानि वर्णच्छन्दांसि तद्भेदानां तु वृत्तता॥३॥
एवमेव णढादीनां मात्राच्छन्दस्त्वमिष्यते।
तदवान्तरभेदानां जातित्वमिति सिध्यति॥३॥

(४) अपरे पुनरन्यथा विभज्य व्याचक्षते। तथाहि पद्यच्छन्दस्तावत्त्रेधा—वैदिकं च लौकिकं च उभयसाधारणं च॥ तत्र लौकिकं पुनस्त्रेधा—गणच्छन्दः-मात्राछन्दः-अक्षरच्छन्दश्चेति। तथा चोक्तम्—

आदौ तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥
आर्य्याद्युद्गीतिपर्य्यन्तं गणच्छन्दः समीरितम्।
मात्राछन्दश्चूलिकान्तमौपच्छन्दसिकादिकम्।
समान्याद्युत्कृतिं यावदक्षरच्छन्द एव च॥ इति

(५) परेतु—पद्यच्छन्दश्चतुर्धा=अक्षरच्छन्दः, मात्राछन्दः, अक्षरगणच्छन्दः, मात्रागणच्छन्दश्चेति भेदात्। यत्र मात्राणाँ न्यूनातिरेकेऽपि अक्षरसंख्यानं तन्त्रं तदक्षरच्छन्दः—यथा वेदे बहुलं प्रयुक्तं गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यादि॥ यत्राक्षराणां न्यूनातिरेकेऽपि मात्रासंख्यानं तन्त्रं तन्मात्राच्छन्दः—यथौपच्छन्दसिकवैतालीयादिकम्॥ यत्र पुनरक्षरगणानां क्रमसंनिविष्टानां व्यवस्थया स्वरूपसिद्धिस्तत्राक्षराणां मात्राणां

गुरुलघुस्थानानां च नियतत्वादक्षरगणच्छन्दस्त्वेन व्यवहारः—यथेन्द्रवज्रास्रग्धरा-वसन्ततिलकामन्दाक्रान्तादि ।। अथ यत्र मात्रागणानां क्रमसंनिविष्टानां व्यवस्थया छन्दःसिद्धिस्तत्राक्षरनियमाभावान्मात्रागणच्छन्दस्त्वेन व्यवहारः—यथा आर्य्या दोहा कुण्डलिकादि इत्येवं पश्यन्ति ।।

तदित्थं कञ्चिद्विशेषमाश्रित्य त्रेधा चतुर्धा वा विभक्तानामप्येषां मात्रागणव्य-वस्थानिबन्धनेषु गणवृत्तेषु मात्राव्यवस्थासामान्यान्मात्रावृत्तानतिरेकं, वर्णगण-व्यवस्थानिबन्धनेषु च गणवृत्तेषु वर्णव्यवस्थासामान्याद्वर्णवृत्तानतिरेकं पश्यन्ति दीर्घदर्शिनः । तथा च सिद्धम्—वृत्तशब्देन व्यपदेश्यं वर्णवृत्तमेकं—जातिशब्देन व्यपदेश्यं तु मात्रावृत्तमपरमितीत्थं द्वेधा पद्यच्छन्दो व्याख्यातव्यमिति ।।

तत्र यद्यपि मात्रानियताक्षरव्यूह एव छन्द इत्युच्यते । यद्यपि च मात्राप्रस्तार-स्वरूपाणां वर्णप्रस्तारेषु वर्णप्रस्तारस्वरूपाणां च मात्राप्रस्तारेषु यथायथमन्तर्भावो दृश्यते । ततो वर्णवृत्त-मात्रावृत्तेति भेदकरणमापाततो निर्मूलं प्रतिभाति । तथापि पिण्डापेक्षोपेक्षानियमद्वैविध्याद् वर्णवृत्तत्वमात्रावृत्तत्वाभ्यां विभज्य तद्व्याख्यायते । तस्य चैतस्याक्षरव्यूहस्य यथेच्छं विवक्षिततवेनानेकधात्वाद्बहवश्छन्दःप्रकाराः प्रच-रन्ति । तथाहि—प्रस्तारप्रतिपन्नानां स्वरूपाणां मध्ये यानि यानि गतिसम्पन्नानि स्युस्तानि क्वचिदेकैकान्येव प्रयुक्तानि छन्दांसि भवन्ति । क्वचित्तु सजातीयानां विजातीयानां वा तेषां द्वयेन त्रयेण चतुष्टयेन पञ्चकेन षट्कादिना वा यथेच्छं कृतेन गतिसंपन्नेन तत्र-तत्र छन्दोव्यवहारः । तदुक्तम् भगवता पिङ्गलेनापि—एकद्वित्रिचतुः पादुक्तपादमिति ।।

शाङ्खायनोऽप्याह—'पञ्च पङ्क्तेः, षट्सप्तेत्यतिच्छन्दसाम् ।। इति ।। अतएव—"आयाहि वनसा सहेति (ऋक् १०।१७२।१) द्विपदाः शंसतीत्यैतरेयब्राह्मणे (५।१७।१०) आयाहि वनसा सहेमानु कं वभ्रुरेक—इति द्विपदासूक्तानीत्याश्वलायन-सूत्रे (८।७।२४) आयाहि संवर्त उषस्यं द्वैपदमिति सर्वानुक्रमण्यां च द्विपदात्वेन व्यवस्थापिताया अपि—"पितुभृतो नेत्यस्याः (१०।१७२।३) ऋचश्चतुःपात्सं-स्तारपङ्क्त्युदाहरणत्वमाख्यातं वेदार्थदीपिकायाम्—"द्वादशाक्षरयोर्मध्ये पादावष्टा-क्षरौ यदि । यस्याः, संस्तारपङ्क्तिः स्यात् पितुभृतो न तन्तुमित्" इति । "द्विर्द्विपदा-स्त्वृचः समामनन्तीति सूत्रयता भगवता कात्यायनेनापि द्विपदात्वेनाभिप्रेतानां सर्वासामेव ऋचां शंसनकाले ताभ्यां द्वाभ्यामेव पादाभ्यां छन्दःपूर्तिरथाध्ययनकाले तु द्वयोर्द्विपदयोश्चतुर्भिः पादैश्छन्दःपूर्तिरभिप्रेयते । तेन यासां शंसने दशर्चत्वं तासामेवाध्ययने पुनः पञ्चर्चत्वमिति सुप्रसिद्धं याज्ञिकानाम् ।। एवं षड्भिर्गायत्रै-र्जगतीविकारतया एकमेव महापङ्क्तिच्छन्द इष्यते, न तु गायत्रीद्वयसमुच्चयः । आनुष्टुभे प्रगाथे तु दशभिर्गायत्रैरनुष्टुभो गायत्रीद्वयस्य च समुच्चयेन तृचः प्रगाथ इष्यते न त्वेवैकं छन्दो न वानुष्टुब्महापङ्क्तिसमुच्चयः इत्यप्यवधेयम् ।।

तत्रापि च यत्रैवं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वाधिकानां वा समुच्चयस्तत्र द्विपात् त्रिपाच्चतुःपादित्येवं पादव्यवस्थामिच्छन्ति । सेयं पादव्यवस्थापि नूनं विवक्षाधी-

नैव। उत्तरोत्तरप्रस्तारस्वरूपे पूर्वपूर्वप्रस्तारस्वरूपाणामन्तर्भावाच्चतुःपद्यामेकपात्वस्य एकपद्यां चतुष्पात्त्वस्य च वक्तुं शक्यत्वात्। यथा द्वाभ्यां पङ्क्तिभ्यामेका चम्पकमाला भवति। यथावा प्रमाणिकाध्यर्द्धेन पञ्चचामरं, प्रमाणिकाद्वैगुण्येन गीतिका च जायते। इत्थमन्यदपि द्रष्टव्यम्॥ अतएव

[सुरश्रुभवाके नहि गुणदोषौ, जगुरिति केचिन्न च पुनरन्ये।
श्रुभमश्रुभं यत्फलमिदमुक्तम्, नृपवर युक्तं प्रथमगणे तत्]

इत्यत्र यदि विवक्ष्यते द्वौ श्लोकौ संभवतः, यद्वा विवक्ष्यते एकएव श्लोकः स्यात्। अथ विवक्ष्यते श्लोकार्द्धमेवेदं संभवतीति पश्यन्ति॥ उक्तं छन्दः॥

अथ पदं निरूप्यते। यद्धि विश्रामपदं भवति। तदिह पदमित्युच्यते। तत्त्रेधा पादखण्डः पादः दलं चेति भेदात्। यत्र यथाकथंचिद्विश्रामस्तत्पादखण्डो नाम विश्रामपदं भवति। यत्र तदपेक्षया अधिकं स पादः। यत्र तु ततोऽप्यधिकं तद्दलं नाम। अथ यत्र पुनः सर्वतोऽप्यधिकतमं विश्रामापेक्षा चिकीर्षिता सा चतुष्पदी श्लोकः, पद्यमित्यादिनाम्ना व्यपदिश्यते। श्लोके प्रायेण चत्वारः पादा भवन्ति। ततः श्लोकचतुर्थांशः पाद इत्युच्यते। स त्रेधा-सर्वसमः अर्द्धसम : सर्वविषमश्च। यदि वर्णतो मात्रातो गुरुलघुव्यवस्थातो वा प्रथमपादसमानास्त्रयोऽन्ये पादाः स्युस्तदा सर्वसमाः। यदि तु सर्वथा प्रथमपादसमानस्तृतीयः, तथा द्वितीयपादसमानश्चतुर्थः स्यात्तदा अर्द्धसमाः पादा वक्तव्याः। अथ यदि चत्वारोऽपि परस्परविलक्षणाः स्युः तदा विषमाः पादा उच्यन्ते। यत्र पादमध्येऽपि क्वचिद्विश्रामो यथाकथंचिदनुभूयेत स तत्र पादखण्डो भवति। स पुनः क्वचिदेकः क्वचिद्द्वौ क्वचित्त्रय इति यथायथं द्रष्टव्यम्॥ अथ प्रथमद्वितीयौ पादौ तृतीयचतुर्थौ च संहत्य दलमित्युच्यते। तत्र श्लोकार्द्धं भवति॥ तदित्थं छन्दोनियतावष्टम्भानुरोधेन त्रिविधं पदमाख्यातम्। तदतिरिक्तमप्येकविध पदमन्यथाऽभ्युपगच्छन्ति। तत्रापि यथाकथंचिदवष्टम्भेन छन्दोऽनुवर्तनात्। तच्च भूयो द्वेधा—सर्वतन्त्रसिद्धम्, छान्दसिकानां प्रतितन्त्रसिद्धं च। तत्र लुप्तवैयाकरणविभक्त्यन्तं व्यक्तवैयाकरणविभक्त्यन्तं च पदं सर्वतन्त्रसिद्धं भवति॥ यथा—

श्रद्दधद्व्यक्तये राजपुरुषेण समर्प्यते।
बहुधान्यधनं वस्तु तत्तच्छास्त्रस्य पुस्तकम्॥

इत्यत्र लुप्तालुप्तविभक्तिकानां तेषां तेषां पदत्वमाख्यायते। अथैतत्पदचरमावयवानां व्यञ्जनानां परस्वरानुगमे तथा वर्णैकादेशादेकस्वरस्य पूर्वस्वरप्रवेशे परस्वरप्रवेशे वा यावान् पदावयवोऽवशिष्यते—तस्यापि पदत्वं छन्दोवेदेऽनुशिष्यते। यथा—

देशान्तरादुपावृत्तमासाद्य दयितं यथा।
कान्ता शुश्रूषते श्लाघातिशयेन तथा कुरु॥

इत्यत्र (देशाशब्दस्य) (न्तराशब्दस्य) (वृत्तशब्दस्य) (तिशयेन शब्दस्य) पदत्वमतिदिश्यते। तदिदं छान्दसिकानां प्रतितन्त्रसिद्धं पदत्वं वेदितव्यम्। यस्तु

व्यंजनादिविभक्तिपरकत्वनिबन्धनं पदत्वं राजभ्यामित्यादौ राजादेः—यच्च सित्प्रत्ययपरकत्वनिबन्धनं पदत्वं पार्श्वादौ पश्वर्दिः— यदपि क्यप्रत्ययपरकत्वनिबन्धनं पदत्वं राजीयतीत्यादौ राजादेः—तदेतत्त्रिविधमपि पदत्वं वैयाकरणप्रतितन्त्रसिद्धत्वादिह छान्दसिकनये नापेक्ष्यते ।। —अतएव

राम राजीयबुधचरणाभ्यां नमस्तस्य कुर्य्याः—

इत्यत्र पदान्तयोग्याया यतेरभावाच्छन्दोऽशुद्धिः ।। एवं शाक्तं पदमिति नैयायिकादिसम्मतमपि पदत्वं छन्दोवेदानुपयुक्तत्वान्नेहापेक्षितव्यमित्यनुसन्धातव्यम् ।। उक्ता पदव्यवस्था ।।

अथावष्टम्भो निरूप्यते । अवष्टम्भो विष्टम्भो यमो यतिर्विरतिर्विरामो विश्रामो विच्छेदस्त्रुटिः इत्यनर्थान्तराणि । स च जिह्वेष्टविश्रामो वर्णविकाशरूपतया वर्णेषु प्रयुज्यमानेष्वनुसन्धीयते । स त्रेधा—यात्नः सामयिकश्छान्दसश्च ।। वर्णोच्चारणार्थं प्रयुक्तो यः प्रयत्नस्तदनुरोधेन जायमानो वर्णस्वरूपभेदजनको यो वर्णद्वयमध्यवृत्तिरवष्टम्भः स यात्नः । स वर्णवेदे प्राधान्येनानुदर्शित इति नेह तन्यते । यस्तु अर्थप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुक्तो यः सङ्केतस्तदनुरोधेन जायमानः पदवाक्यस्वरूपभेदजनकः पदद्वयवाक्यद्वयमध्यवृत्तिरवष्टम्भः स सामयिकः । यथा—

नसहितमित्यत्र नकारेण सहितमित्यर्थे, सहितं नेत्यर्थे, स. न. हितमित्यर्थे, तं. हि. स. नेत्यर्थे, चान्यथान्यथास्वरेणोच्चारणवैजात्यात्तत्रतत्रावष्टम्भो विवक्षितो दृश्यते । सोऽपि पदवेदादौ प्राधान्येनानुवर्णित इति नेह तन्यते ।।

अथ यश्छन्दोऽनुरोधेन जायमानोऽवष्टम्भः । स इहेदानीं निरूपयितव्यः । स चायं न्यूनाधिकतारतम्येन पञ्चधा संज्ञायते, अयतिः, यतिः, विरतिः, विच्छेदः, अवसायश्चेति भेदात् । यथाहि गतिविशेषेण गच्छन्नश्वोऽवष्टभ्यावष्टभ्य पदानि संचारयति तथा गत्यात्मतां गतोऽवष्टम्भोऽयतिः ।।१।। यथा गच्छन्नश्वो रश्मिभिर्यम्यते निम्ने देशे नायं पतेदिति, न तु तस्य गतिरवरुध्यते तथा यतिः ।।२।। यथा वृत्तहरो धावकोऽश्वेन गच्छन्नुपगम्य पुरुषं प्राप्य तस्मै वृत्तान्तं दत्वैव प्रतिनिवर्त्तते नाश्वादवतरति नोत्तरग्रहणं वाऽपेक्षते तथा विरतिः ।।३।। यथाश्ववारो धावमानोपि मध्येमार्गमायान्तं सुहृदमासाद्य किञ्चिद्विश्राम्यति, आलापेन विनोदितचित्तः पुनरेव स्वस्वमार्गमारोहति तथा विच्छेदः ।।४।। यथाऽश्ववारो गच्छन् गन्तव्यस्थानं प्राप्य तिष्ठति तथाऽवसायः । तथा च श्लोकान्ते प्रयुज्यमानः श्लोकपूर्त्तिसंसूचकोऽवष्टम्भोऽवसायः । एवं श्लोकार्द्धे पादद्वयान्ते प्रयुज्यमानः श्लोकार्द्धपूर्त्तिसंसूचकोवष्टम्भो विच्छेदः । सोऽवसायापेक्षया किञ्चिन्न्यूनः । अथैकपादान्ते प्रयुज्यमानः श्लोकतुरीयांशपूर्त्तिसंसूचकोऽवष्टम्भो विरतिः । स विच्छेदापेक्षया किञ्चिन्न्यूनः कर्तव्यः ।। यदि पुनः पादमध्येऽपि नियताक्षरान्तेऽवष्टम्भोऽनुवर्त्तेत स यतिरित्युच्यते । यथा सप्तदशाक्षर नियतपादायां शिखरिण्यां षष्ठाक्षरान्ते यतिर्भवति । एते चत्वार एवावष्टम्भा मुख्याः, तदितरस्तु यत्याभासो गणस्यान्ते चतुर्थप्रकारकपदस्यान्ते चावतिष्ठते । अयमेव यमकानुप्रासाद्यनुरोधेन क्वचित्क्वचित् यतिवद्विशिष्य प्रतीयते । यथा तस्यामेव

शिखरिण्यामेकादशत्रयोदशयोर्वा द्वादशे वर्णे वा पदपूर्त्यनुरोधेन दृश्यते । सोऽयमणुयतिरयतिर्नाम ।। यथा—

महोदारापारा स्फुरदुरगहाराहिवलया ।
तडिल्लेखालोलोल्लसितरसना कृत्तिवसना ।।
महामेघश्यामा शरदमृतधामाननरुचा ।
रणत्काञ्चीदामा हरतु हरवामा परिभवम् ।।१।।

इत्यत्र वामाद्यन्ते रसनान्ते चायतिः । यथा वा मभनलगैः कृतायां भ्रमरविलसितायां क्षद्वयान्तयत्युचितायां प्रतिडगणमयतिः प्रतिपद्यते । अतएव—

मुग्धे मानं परिहर नचिरात्तारुण्यं ते सफलयतु हरिः ।
फुल्ला बल्ली भ्रमरविलसिताभावे शोभां कलयति किमु ताम् ।।

इत्यस्यां भ्रमरविलसितायां सफलयतुभ्रमरविलसितापदयोरयतिप्रतिबाधाच्छन्दोऽसौष्ठवं परिलक्ष्यते । एतदनुरोधेनैव च—"अविचारितमाशु विहितम् । साधय महेश मदिष्टम् । निरन्तरं तु मां पालय । निरन्तर तु मम पाता । बन्धो मदङ्कमायाहि"—इत्येवमादीनां त्रयोदशमात्रास्वरूपाणां त्रयोदशमात्रापरिच्छिन्नत्वाविशेषेऽपि—"यदि करोषि शिवमाशु मे । यदि शंकर किंकरपदे । सत्यं संप्रति वदति य"—इत्येवमाविवद्दोहावयवत्वं नेष्यते ।। इति बोध्यम् ।। तदित्थं पञ्चधाऽवष्टम्भः सिद्धः । तेषु पुनर्वर्णसन्ध्यादिव्यवस्था भिद्यते । तदुच्यते । अवसायविच्छेदौ तावत् स्वपूर्वपरवर्णयोः सन्धियोग्यतां[1] समासयोग्यता[2]मेकपदयोग्यतां[3] च व्यावर्तयतः । ततोऽखण्डपदमध्ये वा समस्तपदमध्ये वा अवसायविच्छेदौ न कार्यौ । अवसायव्यवहितयोर्विच्छेदव्यवहितयोर्वा वर्णयोः सन्धिरपि न कार्य्यः । तेन—

सुरासुरशिरोरत्न-निघृष्टचरणारवि-
न्दशिवः सर्वदा संसाराखिलक्लेशनाशनः ।

इत्यादीनामखण्डपदमध्ये विच्छेदादसाधुत्वम् । तथा—

सुरासुरशिरोरत्नस्फुरत्किरणमञ्जरी—
पिञ्जरीकृतपादाब्जद्वन्द्वं वन्दामहे शिवम् ।।

इत्यादीनां च समस्तपदमध्ये विच्छेदादसाधुत्वम् ।

नमो धूर्जटये तस्मै समस्तसुरपुङ्गव-
निषेव्यचरणाब्जाय भक्ताभीष्टप्रदायिनेऽ-
खिलामरनिषेव्याय देवदेवाय चन्द्रशे-
खराय जगदाधारमूर्त्तयेऽप्यष्टमूर्त्तये ।।२।।

इत्येवमादीनामखण्डपदमध्ये समस्तपदमध्ये वा विच्छेदादवसायव्यवहितवर्णयोः सन्धिकरणाच्चासाधुत्वम् ।। एवमेव—

कृपां कुरु महाराजोद्रिक्तसर्वगुणाकरे-
श्वरतुल्य ममारातिरामूलं विनिहन्यताम् ।।

इत्यादीनां विच्छेदव्यवहितवर्णयोः सन्धिकरणादसाधुत्वम् ।। अतएव—

नमस्यामि सदोद्भूतमिन्धनीकृतमन्मथम् ।
ईश्वराख्यं परं ज्योतिरज्ञानतिमिरापहम् ।।

इत्यादिषु यथा प्रथमतृतीयपादान्ताभ्यां मकाररेफाभ्यां परादिवत्कृताभ्यां प्रागेव विरतिरवतिष्ठते न तथा द्वितीयपादान्तान्मकारात् प्राग् विच्छेदः कर्तव्यो न वा तत्र तस्य मकारस्य परादिवद्भावः इति द्रष्टव्यम् ।। कृतमवसायविच्छेदाभ्याम् ।।

अथ विरतिः स्वपूर्वपरवर्णयोः सन्धियोग्यतां समासयोग्यतां चाप्रतिषेधन्ती केवलमेकपदयोग्यतां व्यावर्त्तयति । अतः समासघटकपदानां प्रत्येकस्यान्ते पादपूर्त्तिः शक्यते कर्तुम् । शक्यते च पादान्तपादाद्योर्वर्णयोः सन्धिरपि कर्तुम् । तेन

सुरासुरशिरोरत्नराजिनीराजितक्रमः ।
जयत्यपारसंसारपारदृश्वा महेश्वरः ।।

इत्यत्र समासघटकरत्नपदान्ते तथाविधसंसारपदान्ते च विरतिः साध्वी ।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानायाखिलैकगतये नमः ।।

इत्यादिषु च विरतिव्यवहितवर्णयोः क्रियमाणः सन्धिरपि न दोषायेति बोध्यम् ।। अथाप्यखण्डैकपदमध्ये तु पादपूर्त्तिर्न युज्यते । तच्चेदमखण्डैकपदं द्वेधा— मुख्यमातिदेशिकं च । तत्र पदाघटितपदस्य घटादेः पदत्वेन खण्डाभावान्मुख्यत्वम् । ययोस्तु नित्यार्थसम्बन्धस्तयोः पदयोरखण्डवद्ग्रहणादातिदेशिकत्वम् ।। तदिदमातिदेशिकं षोढा—संज्ञात्वेन गृहीतं, विभक्तिकृतं, द्वित्वसिद्धं, कुगतिप्रादिसमाससिद्धं, गतिगृहीतक्रियापदम्, आमन्तानुप्रयुक्तं चेति भेदात् । तेन—

यः शिवः सर्वदा संसाराखिलक्लेशनाशनः ।
तमेकमाहितं भावनाधारे प्रणमाम्यहम् ।।१।।
नमो देवाय नारायणायायतमूर्त्तये ।
कायश्यामाय धर्म्मायनाय दायधराय मे ।।२।।

इत्यादिषु मुख्यैकाखण्डपदे विरतिकरणादसाधुत्वम् । यत्र तु सन्धिना परादेः स्वरस्य पूर्वान्तवत्वं क्रियते तत्र तादृशसन्ध्यन्ते पदमध्येपि विरतिर्भवत्येव । तत्-सन्ध्यपहृतस्वरविकलभागस्य पदत्वाभ्युपगमात् । एवं यत्रापि सन्धिना पूर्वान्तस्वरस्य सव्यञ्जनस्य परादिवद्भावः क्रियते तत्र तादृशपरादिवद्भूतस्वरव्यञ्जनात्प्राक्तने स्वरे पदमध्येऽपि विरतिर्भवत्येव । तत्सन्ध्यपहृतव्यञ्जनस्वरविकलभागस्यैव पदत्वा-भ्युपगमात् । तेन—

अज्ञातपूर्वाणि न दन्तकाष्ठान्यद्यान्न पत्रैश्च समन्वितानि ।
न युग्मपर्वाणि न पाटितान्यत्यन्तोर्ध्वशुष्काणि विना त्वचा वा ।।

अच्छिन्नप्रसराणि नाथ भवतः पातालकुक्षौ यशां-
स्यद्यापि क्षपयन्ति कोकिलकुलच्छायासपत्नं तमः ।।

गृहावग्रहणी देहल्यङ्गणं चत्वराजिरे ।।

सत्यं क्षमा शौचमुदारतेत्याद्यनेकसम्भ्रान्तगुणैरुपेतम् ।
महानुभावं प्रणमामि येनान्वयः पुरं राष्ट्रमलंक्रियन्ते ।।१।।
इत्यादिषु विरतिः साध्वी ।।

परे त्वाहुः—द्वयक्षरपदावयवयोर्द्वयोरप्यक्षरयोः सन्धिनिगृहीतत्वे मध्ये विरतेः साधुत्वेऽपि यत्रैकाक्षरस्यैव पूर्वान्तवद्भावस्तत्रैकाक्षरावशेषाद्वाहिचादिवत्पादादित्व-निषेधात्तत्र मध्यविरतिप्रतिषेधः । तेन—

वाच्यं दीनवचो नैवाथ न गर्ववचः सदा ।
गम्भीरार्थमृतं स्वाद्वाह धीरोऽवसरोचितम् ।।१।।

नाहंमानी भवेत्क्वाप्यहं करोमीति नोच्यताम् ।
दीनो गर्वी च हेयौ स्तोऽपि मान्यो मध्यमो भवेत् ।।

इत्येतेषु सन्ध्यपहारे क्रियमाणाया विरतेरसाधुत्वमित्येवं द्रष्टव्यम् ।

तदित्थं मुख्येऽखण्डपदे विरतिव्यवस्था वृत्ता ।। अथातिदेशिकेषु—

जहिहि नरमुखेन्दुश्रीसुधां सौधवाता-
यनविवरगरश्मिश्रेणिनालोपनीताम् ।
भज भज भवबन्धक्लेशनाशाय नारा-
यणचरणसरोजद्वन्द्वमानन्दकन्दम् ।।१।।

इत्युदीर्य स हरिं प्रति संप्रज्ञातवासिततमः समपादि ।
एकमेव तमुपाश्रय कण्ठेकालमाकलितवालकलाध्रम् ।।२।।

इत्यादिषु वातायन-नारायण-संप्रज्ञातादिपदानामखण्डवद्गृहीतानां संज्ञापदानां मध्ये विरतिकरणात्—१

नमस्तस्मै महादेवाय शशाङ्कार्द्धधारिणे ।
यत् प्रसादादयं लोकानामोघः सुखमश्नुते ।।१।।

इत्यादिषु महादेवाय-लोकानामित्यादीनां विभक्तिकृतानां मध्ये विरतिकरणात्—२

३ विधिर्विधोर्बिम्बवशतानि लोपंलोपं कुहूरात्रिषु मासिमासि ।

इत्याषि लोपंलोपमित्यादीनां द्वित्वसिद्धानां मध्ये विरतिकरणात्—३—

४ व्यलोकि सा पौरजनैरसूर्य्यम्पश्यापि मध्येनगरं व्रजन्ती ।

इत्यादिषु असूर्य्यम्पश्यादीनामुपपदसमाससिद्धानां मध्ये विरतिकरणात्—४—

५ किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्वथु पृथुम्

इत्यादिषु पराभवितुमित्यादीनां गतिक्रियापदानां मध्ये विरतिकरणात्—५—

६ ज्ञानाग्नौ यो हि जुहवांचक्रे सर्वमिदं जगत् ।
स प्राप्य सर्वमेवासामास निःशोकनिर्भयः ।।

इत्यादिषु जुहवांचक्रे आसामास इत्यादीनामामन्तानुप्रयुक्तानां मध्ये विरतिकरणाच्चासाधुत्वमवगन्तव्यम् । पदान्ते कर्तव्यायास्तस्याः पादान्तयतेरस्थाने दुःस्थत्वात् । अत्रेदमप्यनुसन्धेयम् । विभक्तिकृतानां पदानां मध्ये अखण्डपदवत्सन्ध्यपहारव्यवस्थया क्रियमाणाया विरतेः प्रतिषेधो नास्तीति । तेन—

अन्तेवासिदयालुरुज्झितनयेनासादितो जिष्णुना ।।

अज्ञातपूर्वाणि न दन्तिकाष्ठान्यद्यान्न पत्रैश्च समन्वितानि ।
न युग्मपर्वाणि न पाटितान्यत्यन्तोर्ध्वशुष्काणि विना त्वचा वा ।।१।।

द्वैमातुरपदद्वन्द्वमानन्दप्रदमाश्रये ।
येन सिद्ध्यन्ति वै कार्य्याण्यशेषाणि महात्मनाम् ।। २ ।।

विततघनतुषारक्षोदशुभ्रासु दूर्वा-
स्वविरलपदमालामुज्ज्वलामुल्लिखन्तः ।।३।।

इत्यादिषु सव्यञ्जनस्वरस्य परादिवद्भावात् पदमध्येऽपि विरतिः साध्वी भवति ।। तदित्थमातिदेशिकेऽखण्डपदषट्के विरतिव्यवस्था वृत्ता ।।

अथ पूर्वान्वितार्थाभिधायिनामेकाक्षराणां पूर्वतः, उत्तरान्वितार्थाभिधायिनाँ त्वेकाक्षराणामुत्तरतो विरतिर्न युज्यते । तेन—

वोपकारो वापकारो हि न स्याद्येन कर्म्मणा
तत्कर्म्म कुर्वतः पुंसश्च क्लीबस्य च तुल्यता ।।१।।

यश्चित्ततो नितान्तं प्रक्षिपेदालस्यमाग्रहम्
स्वस्थः सर्वत्र नूनं विचरेत्परिवृतः श्रिया ।।२।।

नमः शिवाय कृष्णाय च दानवविनाशिने ।
जगद्रक्षां यः करोति स्म धृत्वानेकविग्रहम् ।।

इत्येवमादिषु वाहिचादीनां पादादित्वकरणात्, प्रव्यादीनान्तु पादान्तत्वकरणादसाधुत्वम् ।। तदित्थमुक्ता विरतिव्यवस्था । प्रायेण तावतैव यतिव्यवस्थाऽप्यनुसन्धेया ।।

यथाहि विरतिः सन्धियोग्यतासमासयोग्यतयोरप्रतिबन्धिका भवति एवमेवेयं यतिरपि स्वपूर्वपरवर्णयोस्तामुभयीमनुजानीते । किन्तु एकपदयोग्यतां व्यावर्त्तयति चानुवर्तयति च स्थलभेदेन तत्र मुख्याखण्डपदमातिदेशिकषट्कमन्विताभिधानाक्षरं चेत्येतेष्वष्टसु विरतिव्यावर्त्यस्थलेषु, चरमेन्विताभिधानाक्षरे तु विरतिवद्व्यवस्था ।। तेन—

रामं कृष्णं च भज सुक्षेत्रमासाद्य यत्नात् ।
स्वादु स्वच्छं च सलिलमिदं प्रीतये कस्य न स्यात् ।
दुःखं मे प्रक्षिपति हृदये दुःसहस्त्वद्वियोगः ।।१।।

इत्येवमादिषु यतेरुत्तरं चशब्दस्य, यतेः पूर्वं प्रशब्दस्य च प्रयोगादसाधुत्वम् ।।
अथाखण्डपद-संज्ञापद-विभक्तिपदेषु यदि गुरुर्गर्भितचतुरक्षरकत्वं स्यात्तदा गुरौ द्वितीयाक्षरे यतिर्युज्यते । तेन-

वैरञ्चानां तथोच्चारितचतुरऋचां चाननानां चतुर्णाम्,
खड्गे पानीयमाह्लादयति हि महिषं पक्षपाती पृषत्कः ।
तत्तद्वस्तूनि वास्तोष्पतिरपि सहसैरावतादीन्यवाप,
हासो हस्ताग्रसंवाहनमपि तुलिताद्रीन्द्रसारद्विषोऽस्य ।। १ ।।
कूजत्कोयष्टिकोलाहलमुखरभुवः प्रान्तकान्तारदेशाः,
पर्य्याप्तं तप्तचामीकरकनकतटे श्लिष्टशीतेतरांशौ ।
शूलं तूलं तु गाढं प्रहर हर हृषीकेश केशोऽपि वक्रः,
प्रथमं दश कलितं पुनरपि ललितं वसुवसुवलितं रससहितं,
प्रभवति यदि वृत्तं हृतनृपचित्तं वितरति वित्तं परमहितम् ।
विषविषममदालोहितनयनालोकनजितकालो मोदकरं,
परिमुदितभुजङ्गीपतिरतिरङ्गी पठति त्रिभङ्गीनामधरम्।।

इत्येतेषु उच्चारित-आह्लादयति-संवाहन-कोलाहल-चामीकरादिशब्दानां द्वितीये द्वितीये गुरौ क्रियामाणा यतिः साध्वी । केचित्तु प्रयोगानुरोधात् प्रथम-गुरावपि यतिमिच्छन्ति । तथा च गौतमीयतन्त्रे—

उद्यत्प्रद्योतनशतरुचिं तप्तहेमावदातं,
पार्श्वद्वन्द्वे जलधिसुतया विश्वधात्र्या च जुष्टम् ।
नानारत्नोल्लसितविविधाकल्पमापीतवस्त्रं,
विष्णुं वन्दे दरकमलकौमोदकीचक्रपाणिम् ।।

अत्र हि कौमोदकी शब्दघटके प्रथमगुरौ यतिर्दृश्यते ।।
"निराधारो हा रो-दिमि कथय केषामिह पुरः" इत्यत्र रोदिमिशब्दाद्याक्षरे यतिस्त्वेकाक्षरगुरोः पूर्वत्वे चतुरक्षरकत्वातिदेशाद् द्वितीयगुरुत्वाभिमानादेवेत्यपि बोध्यम् ।।

लभेच्च सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
कदाचिदपि पर्य्यटन् शशविषाणमासादये,
न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ।।१।।

इत्येवमादिषु तु यतेर्वैकल्पिकत्वस्वीकारेणादोषः ।। अथ—भावं श्रृङ्गारसार-स्वतमयं जयदेवस्य विष्वग्वचांसीत्येवमादयस्तु प्रयोगा अशुद्धा एवेत्यनुसन्धेयम् ।। यत्र तु द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं वा स्यात्तत्र मध्ये यतिर्न कर्तव्या । धातुनामप्रत्ययाव्ययभाग-सिद्ध्यत्यवरुद्धैकाक्षराद्यन्तं पदमप्रयोज्यमिति यावत् । तेन-

एतासां राजति सुमनसां दामकण्ठावलम्बी ।।१।।
एतासां गण्डतलममलं गाहते चन्द्रकक्षाम् ।।२।।

नूनं संस्कारविहितसुवर्चा अधीकारमेति ।।३।।
दुःसोढो दाशरथिमहिमा राक्षसानां बभूव ।।४।।
स्खलति सुरवधूकल्पासु रामासु को न ।।५।।
कलिवशविवशः संप्रत्ययं जीवलोकः ।।६।।

इत्येवमादिषु गण्डराजत्यादिशब्दानां गुर्वक्षरे क्रियमाणा यतिरसाध्वी भवति ।। अतएव—

चलति त्वयि वीरे रणभुवि धीरे धरणिपतीरे त्यजति भटम्,
रहितः सञ्चीरेणापि शरीरे ब्रजति सभीरेवानिकटम् ।
निपतितघननीरे रुद्धसमीरे वसति कुटीरे पक्ववटम्,
खादति सति कीरे तुलयन् क्षीरेणालमगीरे वैति तटम्।।
इत्यत्र रेवाशब्दमध्ये यतिरप्यस्थाने एवेति विज्ञेयम् ।

अत्रापि सन्ध्यपहारेण परादिस्वरस्य पूर्वान्तवद्भावे पूर्वान्तस्वरस्य च सव्यञ्जनस्य परादिवद्भावे विरतिवद्यतेः पदमध्येऽपि प्रतिषेधो नास्तीति । तेन-

इत्थं जातोऽसि दोषाचरणपरवशायाद्य किन्ते वदामः ।।१।।
कस्ते दारिद्र्यदावानल वदतु यशो वावदूकोऽपि दाने ।।२।।
स्कन्धे विन्ध्याद्रिबुद्ध्या निकषति महिषस्याहितोऽसूनहार्षीत्।।३।।
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ।।४।।
जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः ।।५।।

इत्येवमादिषु उपगतशब्दोकारोत्तरमिभशब्देकारोत्तरं च क्रियमाणा यतिः साध्वी भवति । यदि तु स्वरादिलध्वन्ते द्व्यक्षरपदे सन्ध्यपहारस्तदुत्तरं च लघ्वादिपदं स्यात्तदा पदमध्ये सा यतिर्न युज्यते । तेन—

अस्या वक्त्राब्जमवजितपूर्णेन्दुशोभं विभाति ।

इत्यत्र अब्जशब्दाकारोत्तरं पूशब्दे च क्रियमाणाया यतेरसाधुत्वमेव । अथावशिष्टेष्वातिदेशिकेष्वाम्रेडितौपपदिकोपसृष्टानुप्रयुक्तेषु पदेषु यतिर्न प्रतिषिध्यते । तेन—

भगवति तव वारंवारमाराधनायां,
स्खलति चलतिभक्तं मन्य एवं कुमार्गे ।
अयमविधिवृथाविश्वासविक्षिप्तचेताः,
किमपि न समुपासामास मातः क्षमस्व ।।

इत्यादिषु तत्रतत्र क्रियामाणा यतिर्न दोषायेत्यवधेयम् ।। यतिर्व्याख्याता ।।

अथायतिर्वक्तव्या । सा द्वेधा—दृढ़ा यतिः श्लथा यतिश्च । यथार्य्याजातौ षष्ठे सप्तमे पञ्चमे वा चतुष्कलनगणे प्रथमकलान्ते प्रथमकलादौ च सयतिपदनियमो दृश्यते सा दृढा यतिः । सा चाखण्डपदमध्ये नाद्रियते । तेन-

कल्याणं तस्य सदा महेश्वरं पूजयति सदा योऽत्र ।

इत्यार्य्यापूर्वार्द्धे षष्ठे चतुष्कलनगणे प्रथमकलान्तयोग्या यतिः पदमध्ये क्रियमाणत्वादसाध्वी ।। एवमन्यत्रापि बोध्यम् ।। श्लथा यतिस्तु मात्राच्छन्दसि चतुष्कलान्ते पदनियमाद्, वर्णच्छन्दसि तु त्रिवर्णीगणान्ते पदनियमाच्छन्दःसौष्ठवमात्रं न तु तदकरणे छन्दोऽशुद्धिः । यथाऽस्मिन्नेवार्य्यापूर्वार्द्धे—

भद्रं तस्याविरतं महेशमाद्यन्तरहितमर्चेद्यः ।

इत्येवमुपन्यसनीयेषु ममसजमनमगेषु कल्याणं तस्य सदेत्येवमादिरूपेणोपन्यासादसौष्ठवम् । एवम्—

हरसि क्षिपसि तरलयसि भ्रमयसि तोलयसि पातयसि-इत्यार्य्यादले तरलयसिपदघटके तशब्दे क्रियमाणस्य द्वितीयगणापेक्षितस्य यत्याभासस्य विक्षेपादसौष्ठवमित्यूहनीयम् । एवं-यथायथोद्वेगः सुधियां नोपजायते ।
तथा तथा मधुरतानिमित्तं यतिरिष्यते ।।

तदित्थं व्याख्यातः पञ्चधाऽवष्टम्भः ।

अथ वर्णो निरूप्यते । वर्णोऽक्षरमित्यनर्थान्तरमाहुः । यद्यप्यन्यथा वर्णवेदे वर्णानाम्, अन्यथा चेह छन्दोवेदेऽक्षराणां विवक्षा दृश्यते ।। वर्णवेदे तावत्-

त्रिषष्टिर्वा चतुःषष्टिर्वर्णाः संभवतो मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ।।
त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः ।
द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः ।।

इत्येवं स्वरव्यञ्जनादिभेदभिन्ना वर्णाः साध्यन्ते । इह तु पुनः-"वागित्येकमक्षरमक्षरमिति त्र्यक्षरमित्यैतरेयश्रुतिमनुरुन्धानेन-

"सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्"

इति वदता केवलः स्वरो व्यञ्जनसत्वे तु तद्विशिष्टः स्वरोऽक्षरमित्युच्यते । यथा-'अचिरा' इति पञ्चवर्णमपि छान्दसिकनये त्र्यक्षरं भवति । तथा चोक्तं भगवता कात्यायनेन प्रातिशाख्ये—"स्वरोक्षरम् । सहाद्यैर्व्यञ्जनैः । उत्तरैश्चावसितैः । संयोगादिः पूर्वस्य । यमश्च । क्रमजं च । तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे । अवसितं च । इत्यष्टसूत्रेभ्यः । एवमेवोपसंहारग्रन्थेऽपि "एते पञ्चषष्टिर्वर्णा ब्रह्मराशिरात्मा वाचः । तत्समुदायोऽक्षरं वर्णो वा" इति सूत्रेभ्यः स्पष्टमेव वर्णाक्षरयोर्विभिन्नविषयत्वं तैरेव व्यवस्थापितम् । अत एव च—"वेदस्याध्ययनाद्धर्म्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुतेः । वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च" इति प्राचां गाथाप्यनुगृहीता भवति । एवं च वर्णच्छन्दोऽक्षरच्छन्द इत्यैकार्थ्येन व्यवहारश्चछान्दसिकानां नावकल्पत एवेत्याक्षिपन्ति ।।

तथापि वर्णवेदे वर्णपदार्थो मुख्यः, अक्षरव्यपदेशो भाक्तः । इह तु पुनरक्षर-

पदार्थ एव मुख्यः, वर्णव्यपदेशो भाक्त इति विविच्य द्रष्टव्यम् ।।
तदेतद्द्विविधम्-लघुगुरुभेदात् । यस्य एका मात्रा तदक्षरं लघु स्यात् ।
यस्य तु द्वे मात्रे तिस्रो मात्रा वा तदक्षरं गुरु स्यात् ।

तेन—"अमले ३ आगच्छात्र"—

इत्यत्र—अ. म. त्र. इत्येतानि त्रीणि लघूनि । तदन्यानि त्वक्षराणि गुरूणि कथ्यन्ते ।। तथाच लघुसूत्रम् । ह्रस्वं लघु । प्राकृतादौ तु—इं हिं ए ऐ ओ औ विकल्पेनेति ।। अयमर्थः । ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवति । इं हिं ए ऐ ओ औ—इत्येतानि द्विमात्राण्यप्येकमात्रयोच्चारितानि प्राकृतभाषागानरोदनादिस्थानि लघुसंज्ञानि भवन्ति । द्विमात्रयोच्चारितानि तु गुरूण्येव स्युः ।। तेन—

तुज्झण आणेहि अअं, मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।।
णिग्घिण तवेइ वलिअं, तुइ वुत्तमणोरहाइं अंगाइं १ ।।

इत्यत्र रहाइं शब्दघटकस्य इंकारस्य लघुत्वाद्गीतिच्छन्दःशुद्धिः । तथा-

माणिणि माणेहि काइं फलं ए ओ जे चरणमिलु कन्त ।
सहजे भुजङ्गमु जइ णमई तह किं करिअ मणिमन्त ।।१।।

इत्यत्र इंकारस्य एकारौकारयोश्च लघुत्वेन दोहाच्छन्दःशुद्धिरित्येवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । उपलक्षणमेतत् । अन्येषामपि दीर्घाक्षराणां तीव्रप्रयत्नेनोच्चारणे प्राकृतभाषादौ लघुत्वप्रतिपत्तेः । तथाचोक्तम्—

दीर्घाक्षरमपि जिह्वा ह्रस्वं चेत् पठति तदपि भवति लघु ।।
द्वौ वा त्रीनथ वर्णानेकं जानीहि शीघ्रपठनाच्च ।।१।।

संस्कृतभाषाबद्धच्छन्दसि तु नैतेषामेकमात्रयोच्चारणमनुशिष्यते । तेन—

इंदुमुखि त्वरितं स्वगृहं व्रज-
न्नहिं स ईक्षितवान् पुरतः स्थितम् ।
अये मदीयमिदं वचनं शृणु
त्वमसि शङ्करो देवनिषेवितः ।।१।।

इत्यस्य द्रुतविलम्बितस्यासाधुत्वमेवेति बोध्यम् ।।

अथ गुरुसूत्रम्—दीर्घः प्लुतः स्वरानालिङ्गितव्यञ्जनपरकह्रस्वश्च गुरुः, रिफितसंयोगपूर्वोऽवसानपूर्वश्च विकल्पेनेति ।। अयमर्थः । दीर्घमक्षरं गुरुसंज्ञं भवति । प्लुतमक्षरं च गुरुसंज्ञं भवति ।। अथ स्वरान्तभिन्नव्यञ्जनात् पूर्वं यद्ह्रस्वं तदपि गुरुसंज्ञं भवति । तेन संयोगपूर्वमवसानव्यञ्जनपूर्वमनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयपूर्वं च ह्रस्वं द्विमात्रवदुच्चारणाद् गुरुत्वेन व्यवहर्तव्यम् । अनुस्वारादीनामयोगवाहानां व्यञ्जनत्वेनाभियुक्ताभिमानात् । एवं यदुक्तं संयोगपूर्वं ह्रस्वं गुरु भवतीति तद्यदिह्रप्रध्रग्रादिरूपाद्रेफान्तसंयोगात् पूर्वं भवेत्तदा यथेच्छमेकमात्रवदुच्चारणाल्लघुत्वेन द्विमात्रवदुच्चारणाद् गुरुत्वेन वा व्यवहार्य्यम् । तथा अवसायविच्छेदविरत्यन्यतमेना-

वष्टभ्य यत्र ह्रस्वमुल्लिख्यते तत्रेदमेकमात्रमेव सन्तानितोच्चारणाद्गुरुवद्भवति, स्वर-सोच्चारणाल्लघुभूतं चावतिष्ठते छन्दोऽनुरोधेन। सैषा व्यवस्थितविभाषा। अतएव वसन्ततिलकादौ सर्वेषां पादानामन्त्यस्य ह्रस्वस्य तानितोच्चारणान्नित्यं गुरुत्व-वत्त्वम्। शार्दूलविक्रीडितादौ तस्य तानितोच्चारणप्रतिबाधान्नित्यमेव लघुत्वम्। अतस्तेष्वन्ते लघुर्न प्रयोक्तव्यः। तत्रत्यलघोरवसानपूर्वकत्वनिबन्धनगुरुत्वासम्भवेन गुर्वन्तपादकत्वव्याघातापत्तेः॥ अथ द्रुतविलम्बितादौ तु द्वितीयचतुर्थात्मके युग्मपादे चरमलघोर्गुरुत्वद्भावः सुवचः। अयुग्मपादे तु प्रथमतृतीयात्मके तादृश-लघोर्नास्ति गुरुत्ववद्भावः॥ आर्य्यादिषु तु च्छन्दोऽपेक्षानुरोधेन लघत्वं गुरुत्वं वा युज्यते, इत्यनुसन्धेयम्। तेन-

देवा३ देव त्वमसि जगतामेकबन्धोऽखिलानाम्॥
अज्ञा३ अज्ञ किमर्थमुद्धत इदं गर्ह्यं वचो भाषसे॥
असन्नू३ सन्न्वित्थं भवति सुविचार्य्यं मतिमता॥

इत्येतेषु दीर्घाक्षराणां प्लुताक्षराणां च गुरुत्वाभ्युपगमात्तत्तच्छन्दोऽपेक्षितगण-सिद्धया छन्दःशुद्धिः॥ तथा—

वंश ᳲ कृत ᳲ पर्वतवत् सखे यः
श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

इत्यत्र संयुक्ताक्षरपूर्वस्यावसानस्थव्यञ्जनपूर्वस्यानुस्वारवतो विसर्गवतोजिह्वा-मूलीयपूर्वस्योपध्मानीयपूर्वस्य च तस्य-तस्याक्षरस्य गुरुत्वादिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राछन्दः-शुद्धिः॥ अथ रिफिते संयुक्ताक्षरपूर्वत्वनिबन्धनगुरुत्वविकल्पो यथा-

(१) प्राप्तनाभिह्रदमज्जनमाशुप्रस्थितं निवसनग्रहणाय॥
(२) अजनितप्रेमैव वरं न पुनः संजातविघटितप्रेमा॥
(३) हरसि क्षिपसि तरलयसि-भ्रमयसि तोलयसि पातयसि॥
(४) श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं चिनुमः।
अह्रियत पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म॥१॥
(५) तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिललानि च दधीनि
अल्पव्ययेन सुन्दरि ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥२॥
(६) तव ह्रियापह्रियो मम ह्रीरभूच्छशिगृहे विहृता न धृता ततः।
बहुलभ्रामरमेचकतामसं मम प्रिये क्व समेष्यति नो पुनः॥३॥

कृतार्थाश्च कृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते॥४॥

इत्येवमादिषु प्रभ्रह्रग्रध्रादिपूर्वाणां ह्रस्वस्वराणां संयुक्ताक्षरपूर्वत्वनिबन्धनं गुरुत्वं नास्तीति लघुनिबन्धनतत्तद्गणसिद्ध्या तत्तच्छन्दःशुद्धिः। परे तु यदिदं संयुक्त-पूर्वत्वनिबन्धनगुरुत्वस्य रिफितस्थले वैकल्पिकत्वमन्वाख्यायते तत् प्रायोऽभिप्रायतया

नेयम्। वस्तुतस्तु सर्वत्रैव संयुक्तपूर्वस्य ह्रस्वस्योच्चारणप्रयत्नतारतम्येन लघुत्वं गुरुत्वं वा सम्भवति। यतस्तु खल्वेते च्छान्दसिकाः प्रयत्नलाघवगौरवनिबन्धनमेवाक्षराणां लाघवगौरवव्यवस्थानमन्वाचक्षते तस्मात्संयुक्तपूर्वस्य ह्रस्वस्य यत्रैव स्तब्धप्रयत्नेनोच्चारणं तत्र गुरुत्वं, यत्र तु तीव्रप्रयत्नोच्चारणं संभवति तत्रावश्यमेतस्य ह्रस्वस्य लघुत्वमेव साधु प्रतिपत्तव्यम्। तदुक्तम्—

यदा तीव्रप्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम्।
न छन्दोभङ्गमप्याहुस्तदा दोषाय सूरयः॥

इति। तेन रिफितस्थलेऽपि यत्र च्छन्दोऽनुरोधेन गुरुत्वमेवापेक्षितं स्यात्तत्रावश्यं प्रभ्रादिपूर्वस्यापि ह्रस्वस्य स्तब्धप्रयत्नोच्चारणेन गुरुत्वं व्यपेक्षन्ते। यथा—

प्रौढिप्राप्तप्रशस्तप्रततजययशोविग्रहव्यग्रसेना-
विभ्राजिह्लादिहेति भ्रमणविजनितत्रासनिग्रासितश्रीः।
सत्रा पत्रैः पतत्रैः किमपि कृततनुत्राणकः शत्रुवर्गः,
कुध्रे कुध्रे समुद्रे स्खलति विचलति ह्रीपरीतक्रमस्ते॥

अत्र सर्वस्मादेव रिफितात् पूर्वस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वमिच्छन्तीति बोध्यम्॥ यत्र तु च्छन्दोऽनुरोधेन लघुत्वमेवापेक्षितं तत्र रिफितेतरसंयुक्तपूर्वस्यापि तीव्रप्रयत्नोच्चारणेन लघुत्वं प्रवर्तते। यथा—

यदि भवति सदर्पो नित्यस्वार्थैककर्म्मा
न च स्मरति गुरूणामप्यरिक्तोपदेशम्॥
स हि ध्रुवमचिरेण प्राप्य कृच्छ्रं समन्ता
दपि स्खलति विबुद्धिः स्वार्थतोऽनर्थवृत्तिः॥१॥

अथैवं पादान्तलघोर्गुरुत्वमपि व्यवस्थितविकल्पेनेच्छन्ति। तद्यथा वसन्ततिलकादौ नित्यमिष्यते—

श्लेष्माणमाशु विनिहन्ति सदार्द्रकेण पित्तं निहन्ति च तदेव हरीतकीभिः।
शुण्ठ्या समं हरति वातमशेषमित्थं दोषत्रयक्षयकराय नमो गुडाय॥१॥
श्लेष्माणमाशु मधुना सहिता निहन्ति पित्तं गुडेन सहिता हरते तथैव।
वातं निहन्ति च घृतेन समं गुडूचिरित्थं समं हरति दोषचयं परेण॥२॥

इत्यत्र पादान्तलघोर्गुरुत्वाभ्युपगमाद्वसन्ततिलकाछन्दःशुद्धिः। अथ शार्दूलविक्रीडितादौ लघोर्गुरुत्वं नेष्यते। तेन—

कर्तव्ये न विलम्बनं समुचितं यद्यस्य कालोऽस्ति हि।
कर्तव्ये नतरां द्रुतिः समुचिता नान्तोऽस्य दृष्टो यदि॥
आरब्धं तु चिरात् कृतं तु नचिरात् सर्वं स्वकालेन च
सिध्यत्येव विधौ विधातुरुचिते कर्तव्यताज्ञस्य तु॥१॥
इत्यत्र गुर्वन्तपादे कर्तव्ये लघ्वन्तपादकरणादसाधुत्वम्॥

सखि मादके मधुमासि-व्रज सत्वरं किमिहासि ।
सह तेन किं विहरामि-किमु पावकं प्रविशामि ॥१॥

इत्येवं तोमरादिषु पादान्तलघोर्गुरुत्वाभावाच्छन्दःशुद्धिः ॥

अथ द्रुतविलम्बितादौ युग्मपादे सम्भवति लघोर्गुरुत्वमयुग्मपादे तु नेष्यते । तेन—

मयि कृपां कुरु दीनधियि प्रभो
वितर दर्शनमात्मन ईश्वर ।

इत्येवमुक्तौ छन्दःशुद्धावपि यदि—

वितर दर्शनमात्मन ईश्वर
मयि कृपां कुरु दीनधियि प्रभो ।

इत्येवं विन्यासः क्रियते तदा छन्दोऽशुद्धिरिति भाव्यम् ॥ अथार्य्यादिषूभयमिच्छन्ति विवक्षानुरोधेन । तथा च—

जह्नोरुदरनिवासात् स्वयमनुभूयेव भूयसीं बाधाम् ।
गङ्गे जननि जनानामुदरनिवासं निवारयसि ॥१॥

इत्येवमादौ पादान्तलघोर्गुरुत्वमिष्यते ।

जय हर निजजनभयहर, सुरवर सुखकरणचरण शशधरधर ।
तव नवनवपदमनुपदमुदयतु ननु सदयहृदय हृदि वचसि च ॥

इत्येवमादौ तु पादान्तलघोर्गुरुत्वं नेष्यते । इत्येवमन्यत्रापि तत्रतत्रानुसन्धेयम् । तदित्थं छन्दःशास्त्रोपयुक्तं द्विविधमक्षरमाख्यातम् ॥

अथ मात्रा निरूप्यते । वर्णस्वरूपावच्छेदो मात्रा । सा चार्द्धमात्रा एकमात्रा अध्यर्धमात्रा मात्राद्वयी मात्रात्रयी चेत्येवं वर्णवेदेऽनेकधा व्याख्याता । दृश्यते च व्यञ्जनानामर्द्धमात्रा । ह्रस्वानामेकमात्रा । ए ओ इत्यनयोरध्यर्धमात्रा । आ ऐ औ इत्यादीनां द्वे मात्रे । प्लुतानां तिस्रो मात्रा इति । एवमिहैव गेयकाण्डे

तित्तिरि चटक वक चाष कोकिल वायस कुक्कुट भाषणानुसारेण ।
अणु द्रुतं द्रुतं द्रुविरामो लघुर्लविरामो गुरुः प्लुतः ॥

इत्येवं सप्तविभागविभक्ता मात्रा तालाङ्कतया व्याख्याता ॥ अथापि सैषा नोभयथापि तथा प्रकृते विवक्षिता—

[अ इ उइ ए ऐ ओ औ,—ओओौ अए उए इ आआई] इत्येवं निर्व्यञ्जनस्वरोपादानं स्यात्—अपिवा (स्त्र्यविरुदिते वै श्लोक्यौ—प्रोह्यौ प्रथिते स्तुतेस्ति वा स्त्र्यार्त्नी ॥) इत्येवं व्यञ्जनाकुलितस्वरोपादानं स्यात्—उभयथापि निर्विशेषं द्वादशमात्रानियतार्य्याप्रथमपादत्वस्याष्टादशमात्रानियतार्य्याद्वितीयपादत्वस्य चाव्याघातात् । वर्णवेदीयमात्रानुसरणे तु एकत्रैकादशमात्रत्वमन्यत्र सप्तदशमात्रत्वं प्रथमपादे प्रसज्जयत इति नितान्तवैषम्यादुभयोर्निर्विशेषमार्य्याप्रथमपादत्वानुभूति-

व्याकोपः स्यात् । तस्मादिह छन्दोवेदे विवक्षिता काचिदपरैव मात्रा द्रष्टव्या । सा च न व्यञ्जनादिवर्णानुगमनमपेक्षते । अपितु नियमेनाक्षरानुगता सती छन्दःस्वरूपावच्छेदो भवति ।। सा चेयं छन्दोमात्रा द्वेधा—एकमात्रा द्विमात्रा च तत्र निर्दिष्टरीत्या लघ्वक्षराणामेका मात्रा । गुर्वक्षराणां तु द्वे मात्रे । तथा च वत्सशब्दे वकाराकारस्य वर्णवेदानुसारेण ह्रस्वत्वादेका मात्रा शक्या वक्तुम् । छन्दोवेदानुसारेण तु तत्र 'सहाद्यैर्व्यञ्जनैः' 'संयोगादिः पूर्वस्येति सूत्राभ्यामाद्यन्तयोर्व्यञ्जनयोः स्वराङ्गत्वानुशासनाद् विशिष्टस्य 'वत्' इत्यक्षरस्य व्यञ्जान्तत्वेन गुरुत्वाद् द्वे मात्रे भवतः 'संयोगपूर्वव्यञ्जनान्तावसानगताः स्वरा द्विमात्राः'—इति कात्यायनसूत्रेण तथावगमाद्—इत्युभयं समञ्जसम् ।। एवं प्लुतानां वर्णवेदे त्रिमात्रत्वं छन्दोवेदे तु द्विमात्रत्वमेव । ए ओ वर्णयोर्वर्णवेदेऽध्यर्धमात्रत्वं छन्दोवेदे तु द्विमात्रत्वमेव । तथा व्यञ्जनानां वर्णवेदेऽर्धमात्रिकत्वमाख्यातम् । इह तु छन्दोवेदे नैतेषां कापि मात्रा विविच्यते । स्वरात् प्राक् प्रदेशे सताप्यसतापि वा तेन तच्छन्दसोऽणुमात्रमपि विशेषानाधानात् । अथोत्तरतः सतापि परस्वरापकृष्टेन तेन कश्चिद् विशेषो नाधीयते । यद्यपि तु पूर्वस्वरानुकृष्टं तदवश्यं पूर्वस्वरस्यैकमात्रस्य द्विमात्रत्वं प्रयोजयतीति विशेषो दृश्यते, किन्त्वेतावताप्यनुकर्षणव्यापाराधिक्यनिबन्धनया मात्रावृद्ध्या पूर्वस्वरस्यैव द्विमात्रत्वं न पुनरस्य व्यञ्जनस्यापि तया मात्रया कश्चित् सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यः । तथात्वेऽध्यर्द्धमात्रत्वसंभवेऽपि द्विमात्रत्वस्य निर्विषयत्वापत्तेः ।। तदित्थं छन्दोवेदोपयुक्ता द्विविधा मात्रा व्याख्याता ।।

अथ गणो निरूप्यते । स च छन्दोनिरुक्तिसौकर्य्यार्थमाचार्य्यैः प्रकल्पिताभिधानः समष्टिविशेषः । स द्विविधः—वर्णगणः, मात्रागणश्च । तत्र त्रयाणामक्षराणां समष्टिर्वर्णगणः । चतसृणाँ मात्राणां समष्टिर्मात्रागणः । तत्र वर्णगणास्तावदष्टौ अक्षराः, म. य. र. स. त. ज. भ. न. शब्दैः संज्ञागन्ते । तेषु मात्राणां न्यूनाधिकत्वेऽप्यक्षरत्रित्वं तन्त्रम् । तत्र भजसा आदिमध्यान्तगुरवः । मस्तु सर्वगुरुः । यरता आदिमध्यान्तलघवः । नस्तु सर्वलघुः । तदुक्तम्—

मो गंगागो नो लीलालो, भोगोलोलो योलिङ्गागः
जोलिङ्गालो रो गालीगः, सोर्लंलिगं तो गंगालः ।

तथाच सूत्रम्—

यमाताराजभानसलगं । यथा—

नयदि भाविषु जनस्य तन्त्राणि ।।।.ऽ।।.।ऽ।.ऽऽ।.
सतदा राजते यशोभिर्मायाभिः ।।ऽ.ऽ।ऽ.।ऽऽ.ऽऽऽ

अथ मात्रागणाः क्ष. भ. ज. स. ह. शब्दैः संज्ञाताश्चतुष्कलाः पञ्च भवन्ति तेषु अक्षराणां न्यूनाधिकत्वेऽपि मात्राचतुष्ट्वं तन्त्रम् । तथा च भजसाः प्राग्वत् त्र्यक्षराः । क्षस्तु द्व्यक्षरः सर्वगुरुः । तथा हश्चतुरक्षरः सर्वलघुः । तदुक्तम्—

क्षगणो यदि च गुरू द्वौ हगणः स्यात्ललघुचतुष्टयं यदि च
भजसास्त्र्यक्षरकाः स्युर्यदि गुर्वादि गुरुमध्य गुर्वन्ताः ॥१॥

यथा—

क्षेमं भाविषु जनेषु सचते हरिहरि। SS.S।।.।S।.।।S.।।।।. इति प्राञ्चः। नव्याः पुनरन्यानपि कांश्चिद्गणान् व्यवहारसौकर्यार्थं प्रकल्पयन्ति। तथाहि—गुरोरेकत्वादिभिः क्रमेण ग. क्ष. म. क्षु. म. मु. शब्दाः, लघोरेकत्वादिभिस्तु ल. घ. न. ह. ट. नु. शब्दाः संकेत्यन्ते। एवमुकारपरा मयरसतजभना द्विःकृता बोध्याः। मद्वयं मुः। यद्वयं युः। रद्वयं रुः। सद्वयं सुः। तद्वयं तुः। जद्वयं जुः। भद्वयं भुः। नद्वयं नुः। एवमाकारपराश्चेत् त्रिःकृता इकारपराश्चेच्चतुःकृता बोध्याः। मत्रयं मा, मचतुष्टयं मिरित्यादि। तदुक्तम्—

गलौ क्षकखघा एवं मयौ रसतजा भनौ।
एकद्वित्र्यक्षरैर्भेदा द्विगुणा उपरा यदि ॥ १ ॥
त्रिगुणा आपरा बोध्या इपरास्तु चतुर्गुणाः
अनुस्वारविसर्गाभ्यां यतिश्च विरतिः क्रमात् ॥ २ ॥
ये षट् पञ्च चतुस्त्रिद्विमात्रास्ते टठडाढणौ।
षयौ चतौ द इति वा. च भेदाः क्षसजाभहौ ॥ ३ ॥

तथाचैषां स्वरूपन्यासा यथा—

ग S ल । क्ष S S क । S ख S । घ । ।		म S S S य । S S र S । S स । । S त S S । ज । S । भ S । । न । । ।		मु S S S S S S यु । S S । S S रु S । S S । S सु । । S । । S तु S S । S S । जु । S । । S । भु S । । S । । नु । । । । । ।

(ष)

हरि SSS
शशि ।।SS
सूर्य ।S।S
शक्र S।।S
शेष ।।।।S (प)
अहि ।SS। ।SS
कमल S।S। S।S
ब्रह्म ।।।S। ।।।S (च)
कलि SS।। SS। क्ष SS

चन्द्र	।।ऽ।।	।।ऽ।	स ।।ऽ	(त)	
ध्रुव	।ऽ।।।	।ऽ।।	ज ।ऽ।	।ऽ	(द)
धर्म	ऽ।।।।	ऽ।।।	भ ऽ।।	ऽ।	ऽ
शालिकर	।।।।।।	।।।।।	ह ।।।।	।।।	।।
	(ट)	(ठ)	(ड)	(ढ)	(ण)

अत्रैतेषां षट्कलानां त्रयोदशानामपि हरिशशिसूर्य्यादयः संज्ञाशब्दाः केषांचित् प्राचामनुरोधेनाम्नाताः। तदित्थं छन्दःशास्त्रपरिभाषिताः गणा व्याख्याताः।

अथ गतिर्निरूपयितव्या । सा हि च्छन्दःस्वरूपाभिव्यक्तौ प्रधानं कारणम्। अत एव तावदक्षरमात्राकप्रस्तारस्वरूपाणां मध्ये केषुचिदेव गतिसम्पन्नेषु पद्यच्छन्दस्त्वव्यवहारो न सर्वेषु। तासां च कतिपयी स्वस्वरूपाभिव्यक्तये यतिमपि नियमेनापेक्षते, कतिपयी तु सर्वथा नापेक्षते; विरतिविच्छेदावसायांस्तु सर्वैव नियमेनापेक्षते। यत्र तु नास्ति गतिस्तत्र तावदक्षरकेऽपि प्रस्तारस्वरूपे तत्रतत्र यथेच्छं यत्यादिसंनिवेशेऽपि न पद्यच्छन्दःस्वरूपाभिव्यक्तिः । अतएव यत्याद्यतिरिक्ता काचिद्गतिः प्रतिपद्यते। सा तावत् त्रिविधा—कालकृता यतिकृता नादकृता च। तत्राद्या वृत्तिरित्युच्यते। सा त्रिधा—द्रुता मध्या विलम्बिता च। तत्र या काचिच्छन्दोव्यक्तिः स्वस्वरूपाभिव्यक्तौ द्रुतामेव, तदन्या मध्यामेव, ततोऽप्यन्या विलम्बितामेव, काचित्पुनर्द्वयीं चापेक्षते । अथान्या तासामेकयापि प्रयुक्तया स्वरूपं धत्ते न कांचित् प्रतिषेधति।[1]

अथ द्वितीया गतिर्यतिकृता लय इत्युच्यते। अयं हि लयो द्रुतवृत्त्या मध्यमवृत्त्या विलम्बितवृत्त्या वा यथेच्छं प्रयुज्यमानायामपि च्छन्दोव्यक्तौ तत्र तत्र नियतस्थानकृतैरवष्टम्भविशेषैराहितस्वरूपः पृथगेव प्रतीयते। तत्सौष्ठवेनैव च च्छन्दःसौष्ठवं भवति। दुःस्थितवर्णादिदोषात् क्वचित्क्वचिदस्य व्याघाते छन्दःसौष्ठवहानिः। स च प्रतिच्छन्दो वर्णमात्रावष्टम्भभेदाद्भिद्यते। यथा—

शिष्टा वा दुष्टा यावन्तो लोकाः।
विद्याभिर्नूनं वश्या जायन्ते ॥१॥

इत्यस्य पञ्चाक्षरच्छन्दसो गतिर्यतिं नापेक्षते। किन्तु तत्रैवैकाक्षरवृद्ध्या-

शिष्टा वा दुष्टा वा यावन्तोऽमी लोकाः।
विद्याभिर्नूनं ते वश्या वै जायन्ते ॥२॥

इत्येवमुक्तौ अस्य षडक्षरच्छन्दसो गतिर्मगणान्ते यतिमपेक्षते। तथा च तयोर्वर्णकृतो यस्या भेदो लक्ष्यते सा गतिः। एवं तत्रैव चतुर्थस्य लघुत्वे—

शिष्टा वा खला वा-यावन्तोऽपि लोकाः।
विद्याभिस्तु नूनं-जायन्ते सुवश्याः ॥३॥

---

१. अत्रोदाहरणानि न प्रत्तानि। उदाहरणस्थानं रिक्तं वर्तते।

इत्येवमुक्तौ तस्यैव षडक्षरस्य मगणान्ते यत्यनपेक्षा गद्यधर्म्मता च सुस्पष्टं परिलक्ष्येते ।। तथा च तयोर्मात्राकृतो यस्या भेदो लक्ष्यते सा गतिः ।। अथ षडक्षरत्व-मगणद्वयसमवायत्वसाम्येपि—

विद्यायां सिद्धायां-सिद्धिस्ते का न स्यात् ।।
राजानः सम्राजः-सर्वे ते वश्याः स्युः ।।१।।
निःसन्दिग्धं ब्रूमः-संसारेऽस्मिन्नेवम् ।।
कः स्याद् यस्याभीष्टं-विद्याभिर्न्नो सिद्धयेत् ।।२।।

इत्यनयोः सयतिकत्वनिर्यतिकत्वाभ्यां गतिभेदो लक्ष्यते । गतिभेदाच्च च्छन्दो-भेदः प्रवर्त्तते इति बोध्यम् ।। एतदङ्गभूता अवष्टम्भा अपि सप्तधा—अणुद्रुतद्रुत-द्रुविरामलघुलविरामगुरुप्लुतभेदात् ।। तत्र प्लुतमात्रया अवसायः । गुरुमात्रया विच्छेदः । लविरामेण विरतिः । लघुमात्रया द्रुविराममात्रया द्रुतमात्रया वा यतिः ।। द्रताणुद्रुतमात्रया वा यतिः । इत्येवं तत्रतत्र यथायथमवष्टम्भमात्रानुसन्धेया ।।

अथ तृतीया गतिर्नादकृता ध्वनिरित्युच्यते । तत्तच्छन्दोऽभिनये च क्वचित्क्व-चिद्वर्णानामुच्चस्वरता क्वचित्तु नीचस्वरता समता वापेक्ष्यते । न हि च्छन्दःप्रथमावयव-निष्ठवर्णोच्चारणप्रयत्नानुप्रदानादिसाम्यं चरमावयवनिष्ठवर्णाविधिकयावद्वर्णानां कर्तुं युज्यते । तदित्थं नादगतोच्चत्वनीचत्वसमताक्रमानुगतविशेषानुरोधाद् गतिर्भिद्यते । तदनुरोधेनैव च तस्या गतेर्ध्वनिरित्येषा संज्ञा इति तत्रतत्रानुसन्धेयम् ।।७।।

अथ समयो निरूप्यते । स च व्यवहारसौकर्य्यार्थं तत्रतत्र प्रकल्प्य विज्ञा-पितोऽर्थः । समयः संकेतः परिभाषा संज्ञा इत्यनर्थान्तराणि । स त्रेधा—लोकतन्त्रसिद्धः साधारणतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धश्च । यत्र नियतसंख्याविशेषप्रतीतानां लौकिकाना-मर्थानां वाचकाः शब्दाः स्वार्थे तात्पर्य्याद्यनुपपत्त्या स्वार्थसमवेतसंख्यामात्रलक्षकतया प्रयुज्यमाना लक्ष्यन्ते स तत्र लोकतन्त्रसिद्धः समयः ।। यथा—भूचन्द्रादिभिरेकत्वं पक्षनेत्रादिभिर्द्वित्वं लोककालरामादिभिस्त्रित्वं वेदसमुद्राभिश्चतुष्ट्वं भूतेन्द्रियवाणा-दिभिः पञ्चत्वं रसऋषिवस्वङ्कादिभिश्च षट्सप्ताष्टनवादिसंख्याः प्रतिपद्यन्ते । यथा वा-वरासा कागुहा-वसुधादिशब्दैर्गुरुलघुव्यवस्थितं त्रिवर्णस्वरूपमात्रं लक्ष्यते । तदेतदस्य समयस्य छन्दःशास्त्रेऽप्युपादेयत्वं सूचितमष्टौ वसव इति वदता भगवता पिङ्गलेन ।।१।। अथासौ साधारणतन्त्रसिद्धः समयो यः खलु शास्त्रान्तरप्रसिद्धोऽर्थः प्रकृतशास्त्राविरुद्धत्वे समुपादीयते । यथा आगमप्रसिद्धा कटपयाद्यक्षरद्वारा संख्या-विशेषप्रतिपत्तिरिहाप्याश्रीयते । यथा वा सुबन्त-तिङन्तानां पदत्वं, समाससिद्धिः, सन्धिप्रकारादयश्च शब्दव्याकरणादिशास्त्रान्तरसिद्धा अर्था इहापि यथायथमा-द्रियन्ते ।। अथ प्रतितन्त्रसिद्धस्संकेतः स भवति य इह विशिष्य प्रतिविधीयते । यथा वर्णवेदप्रसिद्धान् वर्णमात्रावष्टम्भपदार्थानुपेक्ष्य प्रकृते छन्दोवेदानुवन्धेनान्ये वर्णमात्रा-वष्टम्भभेदा निरूप्यन्ते । व्याकरणादिप्रसिद्धं पदमपवर्ज्य प्रकृते प्रकारान्तरेण पदव्य-वस्थानुज्ञायते । यथा वा वर्णत्रयस्य चतुष्कलस्य च गणत्वं प्रस्तारनष्टोद्दिष्टमेरु-पताकामर्कटीसंख्यानानां प्रत्ययत्वं क्रमपारतारहारसूचीपातालादिशब्दानां च

तत्तदर्थपरत्वमिह संज्ञायते। तदेतत्तत्रतत्र यथायथमनुसन्धेयमिति दिक् ।। अयं च प्रतितन्त्रसिद्धः समयो द्वेधा-तत्तच्छास्त्रीयनिबन्धानां साधारणः प्रातिस्विकश्च। यदि कश्चित्संकेतस्तच्छास्त्रीयकतिपयग्रन्थेषु व्यवह्रियमाणो दृश्येत स र्तहि साधारणः। यस्तु नान्यग्रन्थाहृतः केवलं स्वीयव्यवहारसौकर्य्यार्थमुपकल्पितस्तस्मिन्नेव ग्रन्थे प्रथमं दृष्टः स तस्य प्रातिस्विकः। यथा प्राकृते पैङ्गले ट ठ ड णा नामैकेकस्य विशेषस्य बह्व्यः संज्ञा व्यधीयन्त। यथा वा इह ग्रन्थे आयुती गणना प्रातिस्विकी। तथाहि—त थ द ध न प फ ब भ म—इत्येते दश वर्णा दशानामपि दशतीनां प्रत्यायकाः स्युः। तत्राप्युत्तरतः प्रयुक्ताः—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ—इत्येते दश स्वराः प्रत्येकदशत्या अवयवानावेदयन्ति। तताततीत्यादिभिरेकादिकाः १, थथाथिथीत्यादिभिरेकादशादिकाः २, ददादिदीत्यादिभिरेकविंशत्यादिकाः ३, धधाधिधीत्यादिभिरेकत्रिंशदादिकाः ४, इत्येवं पकारादिभिः सस्वरैः पञ्चमदशत्यादयः सावयवाः प्रतिपाद्यन्ते। तौ थौ दौ धौ नौ पौ फौ बौ भौ मौ—इत्येतैः क्रमेण दशविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतानां प्रतिपत्तिः ।। अथ पूर्वतः प्रयुक्तास्ते दश स्वराः शताङ्कप्रत्यायकाः स्युः। तत्रापि शुद्धाः यरलवशषसहक्षपूर्वकाश्च ते शताङ्कस्य क्रमेण दशानामपि दशतीनां प्रत्यायकाः स्युः। शुद्धै रेकशतद्विशतादयः। यपूर्वैरेकादशशतादयः। इत्थं हपूर्वैरेकाशीतिशतादयः क्षपूर्वैरेकनवतिशतादयः संख्याः प्रतिपद्यन्ते। तथा च [अनु] इत्यनेन (१४५) पञ्चचत्वारिंशदधिकशतार्थप्रतिपत्तिः [ऊभे] इत्यनेन (६८७) सप्ताशीत्यधिकानि षट्शतानीत्यवगम्यते। [रूपी] इत्यनेन (२६५४) चतुःपञ्चाशदधिकषट्शतोत्तरसहस्रद्वयसंख्याप्रतिपत्तिः ।। [सानी] शब्देन (७२४४) चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशत्युत्तरसप्तसहस्राणि गृह्यन्ते। इत्येवं यथायथमूहनीयम् ।। तदित्थं समयो व्याख्यातः ।।

छन्दः पदमवष्टम्भो वर्णो मात्रा गणो गतिः।
समयश्चेति विज्ञेयाश्छन्दःशिक्षाबुभुत्सुभिः ।।१।।

इति छन्दःशिक्षा समाप्ता ।।

छन्दोगणितम्

छन्दसां गणितं ज्ञातुं प्रस्तारमवतारय ।
नष्टोद्दिष्टे तच्छलाकापताके मेरुमर्कटि ॥१॥

प्रस्तारमेरुमर्कटचः संगृहीतार्थबोधकाः ।
एकैकार्थप्रसिद्ध्यर्थमन्येषां तूपयोगिता ॥२॥

अथ छन्दःस्वरूपाणां साकल्येन यथावद्विज्ञानाय प्रस्तारक्रिया कार्य्या । प्रस्तार-शुद्धचर्थं च नष्टोद्दिष्टयोः शलाकापताकयोर्म्मेरुमर्कटचोश्च विज्ञानं साधयितव्यम् । एते च प्रस्तारादयः सप्त प्रत्यया इत्युच्यन्ते । ते द्वेधा वर्णप्रत्यया मात्राप्रत्याश्च ॥ तत्रादौ वर्णप्रत्ययाः प्रस्तारादयः क्रमेण कथ्यन्ते ॥ तथा च प्रस्तारसूत्रम्—

न्यासाधो न्यासान्तरमित्येवंक्रमे पूर्वन्यासीयप्रथमगुरोरधस्ताल्लघुस्ततः पूर्व-स्थाने गुरुरथोत्तरस्थाने तूपरिवत् ॥

अयमर्थः । छन्दःपदानां यानि स्वरूपाणि तदुल्लेखो न्यास इत्युच्यते । तद्भूत्तचै व तथोल्लिखितं स्वरूपमप्युच्यते न्यासः । तथा च कस्मिंश्चिदेकस्मिन् न्यासे समुल्लिखिते ततः क्रियात्रयीद्वारा परन्यासं प्रकल्प्याधस्तादुल्लेखः प्रस्तारक्रमो भवति । ताश्च तिस्रः क्रियाः—मूलक्रिया पृष्ठक्रिया अग्रक्रिया चेत्येवं द्रष्टव्याः । तत्र पूर्वन्यासीयगुरोः स्थाने लघुकरणं हि न्यासान्तरक्रिया भवतीति कृत्वा तदसम्भ-वाल्लघोरप्राप्त्या निर्लघुकः सर्वगुरुरेवात्र प्रथमो न्यासो द्रष्टव्यः । अथ सर्वगुरुन्यासे प्रथमगुरोरधस्ताद् लघुर्लेख्यः । इति प्रथमक्रिया । अथ यस्य गुरोरधस्ताल्लघु-रुल्लिखितस्ततः प्राक् स्थानं नास्तीति कृत्वा द्वितीयन्यासे यद्यपि पृष्ठक्रिया नास्ति तथापि तृतीयन्यासादौ पृष्ठतो यावन्ति स्थानानि प्राप्नुवन्ति तत्र सर्वत्र गुरुरेव लेख्यः इति द्वितीयक्रिया ॥ अथोल्लिखितलघोरग्रे यावन्त्युपरिस्थानतुल्यानि स्थानानि प्राप्नु-वन्ति तत्रोपरिवद्गुरुर्लघुर्वा लेख्यः इति तृतीयक्रिया । तदुक्तम्—

अधो लघुं गुरोराद्यात् पुरतस्तु यथोपरि ।
पश्चाद्द्द्याद् गुरूनेव वर्णप्रस्तार ईदृशः ॥ १ ॥

अत्र क्वक्वचित्क्वचित् पृष्ठक्रियाग्रक्रिययोरप्राप्तिः प्रसज्जयतेऽथापि मूलक्रिया-नुवर्त्तनात् प्रस्तारक्रमो न निवर्तते । यत्र तु कस्मिंश्चिन्न्यासे गुरोरनुपलम्भान्मूल-क्रियाया अप्राप्तिः प्रसज्ज्यते तत्र सर्वक्रियानिवृत्त्या न्यासान्तरासम्भवात् प्रस्तार-समाप्तिः प्रतिपत्तव्या ॥ फणाकृतिः वक्रा रेखा गुरुः । दण्डाकृतिः सरला रेखा लघुः॥

तथा च त्र्यक्षरप्रस्तारो यथा—

ऽऽऽ
।ऽऽ

ऽ।ऽ
।।ऽ
ऽऽ।
।ऽऽ
ऽ।।
।।।

एवं चतुरक्षरप्रस्तारो यथा—

ऽऽऽऽ
।ऽऽऽ
ऽ।ऽऽ
।।ऽऽ
ऽऽ।ऽ
।ऽ।ऽ
ऽ।।ऽ
।।।ऽ
ऽऽऽ।
।ऽऽ।
ऽ।ऽ।
।।ऽ।
ऽऽ।।
।ऽ।।
ऽ।।।
।।।।

एवमेव पञ्चाक्षरषडक्षरादयः प्रस्तारा उल्लिख्य द्रष्टव्याः ।। इत्येकः क्रियामूलकः प्रस्तारोल्लेखप्रकारः १

अथ संख्यामूलको द्वितीयः प्रस्तारोल्लेखप्रकारः प्रदर्श्यते ।। तत्र तत्तदक्षरप्रस्तारे कियन्तो न्यासाः सम्भवन्तीति संख्या प्रथमं प्रतिपत्तव्या । तदर्थमङ्कसूची क्रियोपयुज्यते । पूर्वमेकाङ्कः स्थाप्यः ततस्तद्द्वैगुण्याद् द्वयङ्कः स्थाप्यः । ततस्तद्द्वैगुण्याच्चतुरङ्कः इत्येवं पूर्वपूर्वद्विगुणाङ्का यथेच्छं स्थाप्याः । साङ्कसूची भवति । यथेष्टं द्वैगुण्येन साधितया अङ्कसूच्या यश्चरमोऽङ्कः स तावदक्षरप्रस्तारे न्याससंख्या भवति । तस्यैवाङ्कस्य द्विगुणिताङ्केष्वभीष्टाक्षरसंख्यावच्छिन्नत्वात् । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे एकाङ्कस्योत्तरोत्तरद्वैगुण्यं चतुर्द्धा कार्य्यं । तेन एकद्विचतुरष्टषोडशेति पञ्चाङ्का लभ्यन्ते तत्र चरमोऽङ्कः षोडशात्मकश्चतुरक्षरप्रस्तारे न्याससंख्या भवति । अतोऽनयैव द्विगुणीकरणपरिपाट्या ऊर्ध्वाधः कृतेषु षोडशस्थानेषु गुरुलघुविन्यासेन प्रस्तारक्रिया कार्य्या । तत्र तावदूर्ध्वाधः षोडशस्थानेषु एकैकं कृत्वा

भवति। अतोऽनयैव द्विगुणीकरणपरिपाट्या ऊर्ध्वाधःकृतेषु षोडशस्थानेषु गुरुलघुविन्यासेन प्रस्तारक्रिया कार्य्या। तत्र तावदूर्ध्वाधः षोडशस्थानेषु एकैकं कृत्वा गुरुर्लघुश्च क्रमेण लेख्याः। तथा च षोडशानामपि तेषां न्यासानां प्रथमाक्षरो भविष्यति॥ ततः पुनरूर्ध्वाधः षोडशस्थानेषु द्वौ द्वौ कृत्वा गुरुर्लघुश्च क्रमेण लेख्याः। तथा च षोडशानामपि तेषाँ न्यासानां द्वितीयाक्षरो भविष्यति। ततः पुनरूर्ध्वाधश्चतुरश्चतुरः कृत्वा गुरुर्लघुश्च क्रमेण लेख्याः। तथा च तेषाँ तृतीयाक्षरो भविष्यति। अथ पुनस्तथा अष्टौ अष्टौ कृत्वा गुरुर्लघुश्च क्रमेण लेख्याः। तथा च तेषां चतुर्थाक्षरो भविष्यति। तदित्थं चतुरक्षरप्रस्तारः सिद्धो भवति॥ एवमेव पञ्चाक्षरषडक्षरादिप्रस्तारेष्वपि द्विगुणं द्विगुणं कृत्वा गुरुलघुविन्यासा अनुवर्त्तनीयाः तेन ते ते प्रस्ताराः संख्याद्वारा प्रसेत्स्यन्तीति बोध्यम्। तथा च सूत्रम्—

उत्तरोत्तरद्विगुणाङ्कलेखः सूची, सूच्यङ्को यावतिथस्तावदक्षरप्रस्तारे न्याससंख्या, तावत्स्थानेषु प्रथमाक्षरादयो द्वैगुण्यपरम्परया लेख्याः॥२॥

तादित्थं संख्यामूलको द्वितीयः प्रस्तारोल्लेखप्रकारः संवृत्तः॥२॥ अथ प्रस्तारमूलकस्तृतीयः प्रस्तारोल्लेखप्रकारो विधीयते। तथाहि

गुरुलघुभेदादक्षरद्वैविध्यमिति कृत्वा एकाक्षरप्रस्तारे द्वौ भेदौ लभ्येते गुरुश्चैको लघुश्चैक इति। तदित्थं द्विभेदस्तावदेकाक्षरप्रस्तारः सिद्धः॥ स एव द्विः स्थाप्यः। आद्यो गुरुपरः—द्वितीयो लघुपरः इति। तदित्थं चतुर्भेदो द्व्यक्षरप्रस्तारः सिद्धः॥ सोऽयं द्व्यक्षरप्रस्तारो द्विः स्थाप्यः। आद्यो गुरुपरः-द्वितीयो लघुपर इति॥ तदित्यमष्टभेदस्त्र्यक्षरप्रस्तारः सिद्धः॥ सोऽयं त्र्यक्षरप्रस्तारो द्विः स्थाप्यः। आद्यो गुरुपरः, द्वितीयो लघुपरः इति। तदित्थं षोडशभेदश्चतुरक्षरप्रस्तारः सिद्धः। एवं गुरुपरलघुपरभेदात्पूर्वपूर्वप्रस्तारस्य द्विरुल्लेखे पूर्वपूर्वप्रस्तारगर्भिता उत्तरोत्तरप्रस्तारा जायन्ते इति बोध्यम्॥ तथा च सूत्रम्—

गुरुपरत्वलघुपरत्वाभ्यां द्विर्द्विरुल्लिखिते पूर्वपूर्वप्रस्तारे परपरप्रस्तारसिद्धिः॥३॥

तदित्थं त्रेधा प्रस्तारोल्लेखः सिद्धः। स द्वेधा—लघुक्रियो गुरुक्रियश्च। तत्र लघुक्रियं प्रस्तारोल्लेखत्रैविध्यमुक्तम्। तद्वैपरीत्येन गुरुक्रियं प्रस्तारत्रैविध्यं द्रष्टव्यम्। तदित्थं षोढा। तत्पुनर्द्वेधा—वामावर्तं दक्षिणावर्तं च। तदित्थं द्वादशविधो वर्णप्रस्तारोल्लेखः सुव्याख्यातः॥ तत्र क्रियामूलक-संख्यामूलक-प्रस्तारमूलकप्रका त्रैविध्ये स्थानसंख्यापरिवर्त्तनाभावः। दक्षिणावर्तिलघुक्रियगुरुक्रियाभ्यां वामावर्त्तिलघुक्रियगुरुक्रियाभ्यां चातुर्विध्ये तु सर्वेषामेव तेषां न्यासानां प्रत्येकस्य स्थानं संख्या च प्रायेण परिवर्तेते। यथा—

लघुक्रियः	गुरुक्रियः	लघुक्रियः	गुरुक्रियः
ऽ ऽ ऽ	। । ।	ऽ ऽ ऽ	। । ।
। ऽ ऽ	ऽ । ।	३ ऽ ।	। । ऽ

ऽ। ऽ	। ऽ ।
। । ऽ	ऽ ऽ ।
ऽ ऽ ।	। । ऽ
। ऽ ।	ऽ । ऽ
ऽ । ।	। ऽ ऽ
। । ।	ऽ ऽ ऽ

दक्षिणावर्तिभेदौ

ऽ । ऽ	। ऽ ।
ऽ । ।	। ऽ ऽ
। ऽ ऽ	ऽ । ।
। ऽ ।	ऽ । ऽ
। । ऽ	ऽ ऽ ।
। । ।	ऽ ऽ ऽ

वामावर्त्तिभेदौ

मेरुः

समाप्ता प्रस्तारक्रिया । अथातो मेरुक्रियामनुवर्त्तयिष्यामः । येन हि प्रस्तार-दृष्टानां न्यासानामगुरुकैकगुरुकादयो भेदा अलघुकैकलघुकादयो भेदाश्च यथायथ-मियत्तया विज्ञायेरन् स मेरुरित्युच्यते । पर्वताकारेण तदुल्लेखात्स्वरूपसाम्यान्मेरुशब्दः । अथवा सर्वेषामेव लोकविन्यासानां प्रमाणसूत्रं यत्र संनिविष्टं तत्रैव मेरुशब्दो लोके प्रतिपन्नः । एवमेषामपि प्रस्तारविन्यासानां प्रमाणसूत्रं यत्र संनिविशते तत्र साधर्म्या-न्मेरुशब्दः । तत्रोपरितनपङ्क्तिस्थाङ्कद्वययोजनया तदुभयाधस्थाने अङ्कलिखनं तन्त्रम् ॥१॥ अतो यत्र नैतन्नियमप्राप्तिस्तत्रैकाङ्कलेखः क्रियते इति द्वितीयो नियमः ॥ २ ॥ उपरितनपङ्क्तौ यावन्त्यङ्कस्थानानि तत एकैकवर्द्धितान्येवाधस्तन-पङ्क्तिष्वङ्कस्थानानि कार्य्याणि इति तृतीयो नियमः ॥ ३ ॥ एतन्नियमत्रयानुवर्त्तने मेरुः सिध्यतीति कृत्वा मेरोः सर्वोपरिस्तरस्य द्वयोरेव स्थानयोः, तदितरस्तरेष्वप्यु-भयतः स्थानयोः प्रथमचरमाख्ययोरेकाङ्कोल्लेख एव प्रतिपद्यते । तथा च मेरूल्लेखो यथा—

१ १
१ २ १
१ ३ ३ १
१ ४ ६ ४ १
१ ५ १० १० ५ १
१ ६ १५ २० १५ ६ १
१ ७ २१ ३५ ३५ २१ ७ १
१ ८ २८ ५६ ७० ५६ २८ ८ १
१ ९ ३६ ८४ १२६ १२६ ८४ ३६ ९ १
१ १० ४५ १२० २१० २५२ २१० १२० ४५ १० १

इत्थं दश प्रस्तारा निदर्शनार्थमूर्ध्वाधः स्थापिताः । तत्र प्रथमप्रस्तरेणैकाक्षर-प्रस्तारानुगमः । अगुरुक एकः । एकगुरुक एक इति ॥ अथवा अलघुक एकः । एक-लघुक एक इति । तथाचैकाक्षरप्रस्तारे द्वौ स्वरूपभेदौ लभ्येते ॥२॥

अथ द्वितीयप्रस्तरेण द्व्यक्षरप्रस्तारानुगमः क्रियते । अगुरुक एकः १ एकगुरुकौ द्वौ २ द्विगुरुक एकः १ इति ॥ अथवा—अलघुक एकः १ एकलघुकौ द्वौ, २ द्विलघुक एकः १ इति ॥ तथा च द्व्यक्षरप्रस्तारे चत्वारः स्वरूपभेदा लभ्यन्ते (४) ॥

अथ तृतीयप्रस्तरेण त्र्यक्षरप्रस्तारानुगमः । अगुरुक एकः १ एकगुरुकास्त्रयः ३ द्विगुरुकास्त्रयः ३ त्रिगुरुक एकः १ इति ॥ अथवा—अलघुक एकः १ एकलघुकास्त्रयः ३ द्विलघुकास्त्रयः ३ त्रिलघुक एकः १ इति ॥ तथा च त्र्यक्षरप्रस्तारे अष्टौ स्वरूप-भेदा लभ्यन्ते (८) ॥

तथा चतुर्थप्रस्तरेण चतुरक्षरप्रस्तारानुगमः । अगुरुको वा अलघुको वा एकः १ एक गुरुका वा एकलघुका वा चत्वारः ४ द्विगुरुका वा द्विलघुका व षट् ६ त्रिगुरुका वा त्रिलघुका वा चत्वारः ४ चतुर्गुरुको वा चतुर्लघुको वा एकः १ इति ।। तथा च चतुरक्षरप्रस्तारे षोडश स्वरूपभेदा लभ्यन्ते (१६) ।। इत्थमेवोत्तरोत्तरैरप्येवंस्तरैरुत्तरोत्तरप्रस्तारानुगमः कर्तव्यः ।। तदित्थमेकोऽयमुल्लेखप्रकारः संसिद्धः ।। अस्यैव पाषाणेष्टकाविन्यासाकारेणोल्लेखो यथा—

सोऽयं विपुलमेरुः प्रदर्शितः । अथ दक्षिणनतः खण्डमेरुः प्रदर्श्यते ।

ऊर्ध्वाधः क्रमेण यथेच्छस्थानेषु एकाङ्का लेख्याः ततो दक्षिणपार्श्वे तत्समानेषु स्थानेषु एकद्वित्र्यादयः क्रमिकाङ्का लेख्याः। ततस्ततो दक्षिणपार्श्वे ऊर्ध्वाद् एकैक-

ह्रासेन स्थानानि प्रकल्प्य तेषूपरितनस्थाने एकाङ्कमेव लिखित्वा तदधः स्थानेषु स्वस्वशीर्षाङ्कं स्वस्वशीर्षाङ्कवामपार्श्वस्थानस्थाङ्कं च संयोज्य लिखेदिति क्रमः। यथा—

१	१									
१	२	१								
१	३	३	१							
१	४	६	४	१						
१	५	१०	१०	५	१					
१	६	१५	२०	१५	६	१				
१	७	२१	३५	३५	२१	७	१			
१	८	२८	५६	७०	५६	२८	८	१		
१	९	३६	८४	१२६	१२६	८४	३६	९	१	
१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०	१

इत्थमेव वामनतः खण्डमेरुर्विलिख्यते। यथा—

									१	१
								१	२	१
							१	३	३	१
						१	४	६	४	१
					१	५	१०	१०	५	१
				१	६	१५	२०	१५	६	१
			१	७	२१	३५	३५	२१	७	१
		१	८	२८	५६	७०	५६	२८	८	१
	१	९	३६	८४	१२६	१२६	८४	३६	९	१
१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०	१

अनयोरेव खण्डमेर्वोः पाषाणष्टकाकारेणोल्लेखो यथा—

१										
१	१									
१	२	१								
१	३	३	१							
१	४	६	४	१						
१	५	१०	१०	५	१					
१	६	१५	२०	१५	६	१				
१	७	२१	३५	३५	२१	७	१			
१	८	२८	५६	७०	५६	२८	८	१		
१	९	३६	८४	१२६	१२६	८४	३६	९	१	
१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०	१

										१
									१	१
								१	२	१
							१	३	३	१
						१	४	६	४	१
					१	५	१०	१०	५	१
				१	६	१५	२०	१५	६	१
			१	७	२१	३५	३५	२१	७	१
		१	८	२८	५६	७०	५६	२८	८	१
	१	९	३६	८४	१२६	१२६	८४	३६	९	१
१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०	१

अथास्यैवार्थस्य प्रकारान्तरेण विज्ञानार्थं मेरुभङ्गीं प्रदर्शयामः ।। तथा हि यावदक्षरकप्रस्तारे गुरुलघुमद्भेदा विज्ञातव्याः तावन्त एव एकाङ्काः कस्यचिद्ध्रु-वकस्यैकाङ्कस्याधोनतक्रमेण तिर्य्यङ्नतक्रमेण च स्थाप्याः । ततो ध्रुवात्तिर्य्यगधः स्थितयोरेकाङ्कयोर्योगेन अङ्कं लिखित्वा ततोऽधस्तिर्य्यक् चोर्ध्वपार्श्वाङ्कयोगेन पङ्क्ति-द्वयी लेख्या । प्रतिक्रियं चेकैकमङ्कं परित्यजेत् ।। एवमन्यान्यपङ्क्तिलिखने यान्त्यै-रङ्कैस्तिर्य्यङ् नतोन्नता अङ्कवल्ली फलति सा मेरुभङ्गी । फलं प्राग्वत् । तथा च न्यासः—

मेरुभङ्गीयम् ।।

१	१	१	१	१	१	१
१	२	३	४	५	६	
१	३	६	१०	१५		
१	४	१०	२०			
१	५	१५				
१	६					
१						

मेरुभङ्गीकोष्ठकमिदम् ।।

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
१	३	६	१०	१५	२१	२८	३६	४५	५५	६६	७८
१	४	१०	२०	३५	५६	८४	१२०	१६५	२२०	२८६	३६४
१	५	१५	३५	७०	१२६	२१०	३३०	४९५	७१५	१००१	१३६५
१	६	२१	५६	१२६	२५२	४६२	७९२	१२८७	२००२	३००३	४३६८
१	७	२८	८४	२१०	४६२	९२४	१७१६	३००३	५००५	८००८	१२३७६
१	८	३६	१२०	३३०	७९२	१७१६	३४३२	६४३५	११४४०	१९४४८	३१८२४
१	९	४५	१६५	४९५	१२८७	३००३	६४३५	१२८७०	२४३१०	४३७५८	७५५८२
१	१०	५५	२२०	७१५	२००२	५००५	११४४०	२४३१०	४८६२०	९२३७८	१६७९६०
१	११	६६	२८६	१००१	३००३	८००८	१९४४८	४३७५८	९२३७८	१८४७५६	३५२७१६
१	१२	७८	३६४	१३६५	४३६८	१२३७६	३१८२४	७५५८२	१६७९६०	३५२७१६	७०५४३२

तदित्थं त्रिविधो मेरुः सहोद्देशं निरूपितः ।।

अथातो मर्कटीं व्याख्यास्यामः । उर्णनाभिकीटविशेषो मर्कटी । तन्निर्मित-चक्रजालानुरूप्येणोल्लेखादस्य प्रकारस्य मर्कटीचक्रजालसंज्ञा । संक्षेपसंज्ञाभिप्रायेण तु मर्कटीत्युच्यते । तथाच तत्र यथेच्छस्थानाः षट् पङ्क्तयो लेख्याः ।। तत्र प्रथमा पङ्क्तिरेकद्वित्रिचतुरादिभिः क्रमिकाङ्कैः पूरणीया (१) ।। ततो द्वितीया पङ्क्तिर्द्विचतुरष्टषोडशादिभिर्द्विगुणिताङ्कैः पूरणीया (२) । ततः प्रथमद्वितीय-पङ्क्तिस्थाङ्कद्वयघाताङ्कैर्द्वयष्टचतुर्विंशचतुःषष्टयादिभिश्चतुर्थी पङ्क्तिः पूरणीया (४) ।। ततश्चतुर्थपङ्क्तिदलिताङ्कैरेकचतुर्द्वादश-द्वात्रिंशदादिभिः पञ्चमी पङ्क्तिः षष्ठी च पूरणीये (५) ।। (३) ।। अथ चतुर्थीपञ्चमीयोगाङ्कैस्त्रि द्वादश-षट्त्रिंश-षण्णवत्यादिभिस्तृतीया पङ्क्तिः पूरणीया (३) ।। तदित्थं सिद्धे मर्कटीचक्रजाले प्रथमपङ्क्त्या इष्टाक्षरकप्रस्तारप्रत्ययः ।। १ ।। द्वितीयपङ्क्त्या तत्तत्प्रस्तारे न्यासानामियत्ताविज्ञानम् ।। यथा चतुरक्षरप्रस्तारे षोडश स्वरूप-भेदाः सन्तीति विज्ञायते ।। २ ।। ततस्तृतीयपङ्क्त्या तत्तत्प्रस्तारे मात्रा-समष्टिविज्ञानम् । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे षण्णवतिर्मात्राः सन्तीति विज्ञायते ।। ३ ।। ततश्चतुर्थ्या पङ्क्त्या वर्णसमष्टिज्ञानम् । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे चतुःषष्टिर्वर्णाः सन्तीति विज्ञायते ।। ४ ।। ततः पञ्चम्या गुरुसमष्टिविज्ञानं, षष्ठ्या तु लघुसमष्टिविज्ञानम् ।। यथा चतुरक्षरप्रस्तारे द्वात्रिंशद्गुरवो द्वात्रिंशदेव लघवश्च सन्तीति विज्ञायते ।।५।।६।। तथा च मर्कटीजालोल्लेखः ।।

प्रस्ताराः	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
भेदाः	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	५१२	१०२४
मात्राः	३	१२	३६	९६	२४०	५७६	१३४४	३०७२	६९१२	१५३६०
वर्णाः	२	८	२४	६४	१६०	३८४	८९६	२०४८	४६०८	१०२४०
गुरवः	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	५१२०
लघवः	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	५१२०

इतीत्थं प्राञ्चः केचिन्मर्कटीमाहुः ।। परे तु प्राचां मर्कट्यां पञ्चमषष्ठ्योः पङ्क्त्योरविशेषान्न समानाङ्कलेखां पंक्तिद्वयीं क्षमन्ते । तथा मात्रापङ्क्तेस्तृतीय-त्वमपि नैतेभ्यो रोचतेतराम् ।। तस्मादन्यथा पङ्क्तिकल्पनामनुजानते । तथा हि—प्रथमा क्रमिकाङ्ककृता प्रस्ताराङ्कपङ्क्तिः प्राग्वत् १. ततो द्वितीया द्विगुणाङ्ककृता भेदाङ्कपङ्क्तिरपि प्राग्वत् २. ततस्तदुभयघाताङ्ककृता वर्णाङ्कपङ्क्तिस्तृतीया कार्य्या ३. ततः एतत्तृतीयपङ्क्तिस्थवर्णदलिताङ्ककृता गुरुलघ्वङ्कपंक्तिश्चतुर्थी कार्य्या ४. ततः पुनरेतत्तृतीयचतुर्थपङ्क्त्योगाङ्ककृता मात्राङ्कपङ्क्तिः पञ्चमी कार्य्या ५. ततः पुनरेतत्पञ्चमपङ्क्तिस्थमात्रादलिताङ्ककृता पिण्डाङ्कपङ्क्तिः षष्ठी कार्य्या ६. तथा चेत्थं निविष्टमर्कटीचक्रोल्लेखः—

१ प्रस्ताराङ्काः	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२ भेदाङ्काः	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	५१२	१०२४
३ वर्णाङ्काः	२	८	२४	६४	१६०	३८४	८९६	२०४८	४६०८	१०२४०
४ गुरुलघ्वङ्काः	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४	५१२०
५ मात्राङ्काः	३	१२	३६	९६	२४०	५७६	१३४४	३०७२	६९१२	१५३६०
६ पिण्डाङ्काः	१½	६	१८	४८	१२०	२८८	६७२	१५३६	३४५६	७६८०

अस्यैव चक्रजालाकारेणोल्लेखो यथा—
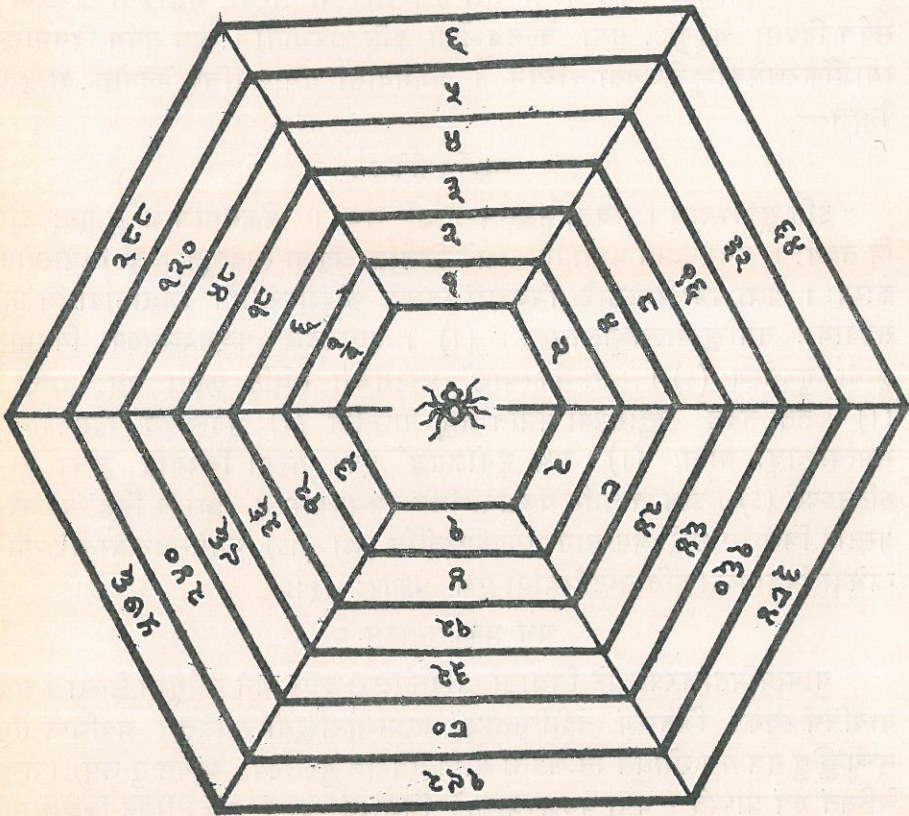
इतीत्थं प्रस्तारो मेरुर्मर्कटी चेति त्रितयं संगृहीतार्थबोधकं भवति। यतो नु खलु षड्विंशत्यक्षरकप्रस्तारे समुल्लिखिते ततः प्राचां सर्वेषामेव प्रस्ताराणां तदन्तर्भावादेकहेलयैवाखिलाः प्रस्तारभेदा यथायथमुपसंग्रहीतुं शक्यन्ते। षड्विंशतिस्तरे च मेरौ समुल्लिखिते सर्वेषामेव प्रस्ताराणां यावन्तो भेदास्तेषां सर्वेऽप्यवान्तरभेदा यथायथमेकहेलयैवोपसंग्रहीतुँ शक्यन्ते। तथा षड्विंशतिचक्रे मर्कटीजाले समुल्लिखिते सर्वेषामेव प्रस्ताराणामवान्तरभेदा वर्णगुरुलघुमात्रापिण्डाश्च यथायथमेकहेलयैवोपसंग्रहीतुं शक्यन्ते। तस्मात् पर्य्याप्तमेतत्त्रितयं छन्दोविजिज्ञासूनां विज्ञानाय, इति संगृहीतार्थबोधकाः प्रत्ययाः।

अथैषामनेकार्थघटितत्वादेकैकार्थदिदर्शयिषायामनुपयुक्तेतरप्रत्ययप्रदर्शनायासनैष्फल्यं प्रतिभातीति कृत्वा लघुनोपायेनापेक्षितमेकैकमर्थं विज्ञापयितुमन्ये प्रत्यया उच्यन्ते। ते च नष्टोद्दिष्टसंख्यानाध्वयोगाः शलाकापताके सूचीपातालमात्रापिण्डाश्चेत्येवं दशधाऽनुसन्धेयाः॥ तथा च तावन्नष्टक्रिया त्रेधा व्याख्यायते-

१

यावत्प्रमिताक्षरप्रस्तारे यावतिथं स्वरूपं विजिज्ञास्यं सा संख्या विषमा चेद् गुरुर्लेख्यः—समाचेद् लघुर्लेख्यः॥ तत उत्तरोत्तरं सा संख्या अर्द्धीकृता द्रष्टव्या। सर्वत्र विषमा चेद्गुरुः, समा चेल्लघुर्लेख्य इति परिभाषा। अत्र सर्वत्र विषमाङ्कस्यार्द्धीकरणमेकाङ्कयोजनया बोध्यम्। अयमेवार्थो यथाकथंचिद् भेदेनोक्तः संस्कृतपैङ्गले—

लद्धे। सैकेग्।

इति सूत्राभ्याम्। स्वतःसिद्धसमस्यार्द्धे लघुः। सैकसमस्यार्द्धे तु गुरुः इति हि तदर्थः। एवमनुवर्त्य यावत्प्रमिताक्षरे जिज्ञासा प्रकृता तावत्पूर्तौ नष्टक्रियात्यागः कार्य्यः। यथा षडक्षरप्रस्तारे त्रिंशत्तमं स्वरूपं कीदृशमस्तीति जिज्ञासायां त्रिंशत्संख्यायाः समाङ्कत्वाल्लघुर्लिखितः। (।)। ततस्तदर्द्धे पञ्चदशसंख्या विषमेति कृत्वा गुरुर्लेख्यः (ऽ)। ततः सैकस्यार्द्धे अष्टसंख्या समेति कृत्वा लघुः प्राप्तः। (।)। ततः तदर्द्धे चतुःसंख्या समेति लघुः प्राप्नोति (।) भूयस्तदर्द्धे द्विसंख्यायाः समत्वाल्लघुः प्राप्तः (।)। अथ भूयोऽप्यर्द्धे एका संख्या विषमेति कृत्वा गुरुरुल्लिख्यते (ऽ)। इत्थं जातानि षडक्षराणीति क्रियात्यागः। तथा च सिद्धं षडक्षरप्रस्तारे त्रिंशत्तमं रूपं जगणसगणात्मकमस्तीति (।ऽ। ।।ऽ) एवमन्यान्यप्रस्तारेऽन्यान्यभेदा विज्ञातव्या इति नष्टक्रियाया एकः प्रकारः॥१॥

अथ प्रकारान्तरम् २

यावत्प्रमिताक्षरप्रस्तारे जिज्ञासा तदिष्टाक्षराङ्कप्रमाणेन वर्णसूची लेख्या। अथ यावतिथं स्वरूपं जिज्ञास्यं तदीप्सिताङ्कं तत्प्रस्ताराङ्कतो हापयेत्। अवशिष्टं तेषु सूच्यङ्केषु यत्र यत्र शोधितं निःशेषतां याति तत्र तत्र गुरुर्लेख्यः, अन्यत्र तु लघुः। तथा चेप्सितं रूपं प्राप्यते। यथा षडक्षरप्रस्तारे त्रिंशत्तमं स्वरूपं कीदृशमिति जिज्ञासायां

षट् सूच्यङ्काः एकद्विचतुरष्टषोडशद्वात्रिंशद्रूपा लेख्याः । प्रस्ताराङ्कश्चतुःषष्टिः । ततईप्सिताङ्कस्य त्रिंशदात्मकस्यापनयने चतुस्त्रिंशदवशिष्यते । सोऽयं चतुस्त्रिंशाङ्कः सूच्यङ्केषु द्वितीयषष्ठस्थानस्थाङ्काभ्यां द्विद्वात्रिंशद्रूपाभ्यां शोधितं निःशेषतां यातीति कृत्वा द्वितीयस्थाने षष्ठस्थाने च गुरुः प्राप्तः । ततोऽन्यत्र प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चम-स्थानेषु लघुः प्राप्तः । तथा च जगणसगणात्मकं रूपं सिध्यतीति पश्यन्ति । एवमन्या-न्यप्रस्तारेऽन्यान्यभेदाः स्वरूपतो विज्ञातव्या इति नष्टक्रियाया द्वितीयः प्रकारः ।।२।।

अथ प्रकारान्तरम् ३

ईप्सिताङ्कमेकोनितं कृत्वा सूच्यङ्केषु प्राग्वल्लोपयेत् । यत्र लोपप्राप्तिः तत्रतत्र लघुरन्यत्र गुरुर्लेख्यः ।। यथा षडक्षरप्रस्तारे ईप्सिताङ्कस्त्रिंशः ।३०। एकोनितो जात ऊनत्रिंशत् २९। स सूच्यङ्केषु एकचतुरष्टषोडशाङ्कैः शोधितो निःशेषो भवतीति कृत्वा तेषु प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमस्थानेषु लघुरुल्लिख्यते । ततोऽन्यत्र द्वितीयषष्ठ-स्थानयोर्गुरुः । तथा च सिद्धं जगणसगणात्मकं तदेव रूपमिति पश्यन्ति । एवमन्यान्य-प्रस्तारेऽन्यान्यभेदाः स्वरूपतो विज्ञातव्या इति नष्टक्रियायास्तृतीयः प्रकारः ।।३।। तदित्थमुक्ता त्रिप्रकारा नष्टक्रिया ।। यथा चेदमुक्तं क्रमप्रस्तारे तथा विपरीत-प्रस्तारेऽपि तत्सर्वं वैपरीत्येन यथायथं प्रकल्प्य द्रष्टव्यमिति दिक् ।।

अथात उद्दिष्टं व्याख्यास्यामः

यथा चेदं प्रस्तारस्वरूपस्य संख्याविशेषज्ञानेन स्वरूपविशेषविज्ञानं नष्टक्रियया साधितम् । एवमेवेदानीं स्वरूपविशेषज्ञानेन संख्याविशेषविज्ञानं साधयितव्यं तदर्थ-मियमुद्दिष्टक्रियाऽनुवर्त्तते । उद्दिष्टं स्वरूपमुल्लिख्य तदुपरि सूच्यङ्काः स्थाप्याः । तत्र लघुस्थाङ्कानां योगे एकाधिके तत्स्वरूपस्य पूरणी संख्या लभ्यते । यथा-जगण-सगणात्मकमुद्दिष्टं रूपम् । तदुपरि सूच्यङ्कविन्यासे एकचतुरष्टषोडशाङ्का लघुस्था भवन्ति । तेषां योग ऊनत्रिंशत् । एकाधिकश्चे त्रिंशत् । तथा च त्रिंशत्तममिदं स्वरूप-मित्यर्थः सिद्धः ।। एवमन्यान्यप्रस्तारेऽन्यान्यभेदाः स्थानसंख्यातो विज्ञातव्या इत्यु-द्दिष्टक्रियाया एकः प्रकारः । अयं चोक्तः संस्कृतपैङ्गले सूत्रे—

"प्रतिलोमगुणं द्विर्लाद्यमिति"

अयमर्थः । प्रातिलोम्येन द्विःकृतमङ्कं न्यस्य लाद्यं गृह्णीयात् । लघुस्थाङ्काः सर्वाद्य एकाङ्कश्च संकलनेन लाद्यमित्युच्यते । तदुद्दिष्टसंख्या भवतीति बोध्यम् ।।१।।

अथ प्रकारान्तरम्

उद्दिष्टं स्वरूपमुल्लिख्य तदुपरि सूच्यङ्काः स्थाप्याः । तत्र गुरुस्थाङ्कानां प्रस्ता-राङ्कतो हानौ यदवशिष्यते तावतिथमेव तत्स्वरूपं जानीयात् । यथा-जगणसगणात्मक-स्वरूपे गुर्वङ्का द्वौ द्वात्रिंशच्च । ताभ्यामूनितायां चतुःषष्टौ त्रिंशदवशिष्यते । तस्मात् । त्रिंशत्तमं तद्रूपमित्यर्थः सिद्धः ।। एवमन्यान्यप्रस्तारेऽन्यान्यभेदाः स्थानसं-ख्यातो विज्ञातव्या इति उद्दिष्टक्रियाया द्वितीयः प्रकारः ।। अयमपि यत्किञ्चि-द्भेदेनोक्तः संस्कृतपैङ्गले सूत्रे—

"ततो ग्येकं जह्यादिति"

अयमर्थः। प्रातिलोम्येन स्थापितायास्तस्या द्विगुणाङ्कश्रेण्या गुरुस्थाङ्के एकाङ्कं विहायावशिष्टं त्यजेत् इति। यथा षडक्षरप्रस्तारे द्विगुणाङ्कश्रेणीसङ्कलिताङ्कस्त्रिषष्टिः ६३। ततो जगणसगणस्वरूपस्थगुर्वङ्कं चतुस्त्रिंशद्रूपमेकोनितं त्रयस्त्रिंशभूतं जह्यात्। तथा च त्रिंशत्तमं स्वरूपं फलतीति बोध्यम्॥ २॥

अथ प्रकारान्तरम्

उद्दिष्टं स्वरूपमुल्लिख्य अन्तिमाक्षराद्वामावर्त्तेन क्रियामनुवर्त्तयेत्। यद्यन्तिमोऽक्षरो गुरुस्तदा एकाङ्कं तत्रोल्लिखेत्। यदि त्वन्तिमोक्षरो लघुस्तदा द्व्यङ्कमुल्लिखेत्। ततो वामेवामेऽक्षरे द्विगुणितं द्विगुणितमङ्कं लिखेत्। इदन्तु बोध्यम्। तथाङ्को लेख्यो यथा समाङ्को लघ्वक्षरोपरि स्यात्। विषमाङ्कस्तु गुरूपरि। अत एव गुर्वक्षरोपरि तद्द्विगुणिताङ्कमेकोनितं कृत्वा लेख्यम्। तत्पुनर्द्विगुणितमन्यलघूपरि लेख्यम्। इत्येवं क्रियानुवृत्तौ सर्वाद्यक्षरोपरि योऽङ्को लभ्यते तावतिथमेव तद्रूपमिति जानीयात्। यथा—जगणसगणात्मके स्वरूपे गुर्वन्तत्वादन्तिमाक्षरोपरि एकः १। ततः पञ्चमस्य लघोरुपरि द्व्यङ्कः। ततश्चतुर्थस्य लघोरुपरि चतुरङ्कः। ततस्तृतीयस्य लघोरुपरि अष्टाङ्कः। ततो द्वितीयस्य गुरुत्वात्तदुपरि षोडशाङ्को न युज्यते इत्येकोनितः पञ्चदशाङ्को लेख्यः। ततः प्रथमस्य लघोरुपरि पूर्वद्विगुणिताङ्कस्त्रिंशदङ्को लब्धः। अत एव त्रिंशत्तममिदं स्वरूपमिति विज्ञायते॥ एवमन्यान्यप्रस्तारेऽन्यान्यभेदाः स्थानसंख्यातो विज्ञातव्याः इत्युद्दिष्टक्रियायास्तृतीयः प्रकारः। अयमेव प्रकारः संस्कृतपैङ्गले सूत्रद्वयेनोक्तः—

प्रतिलोमगुणं द्विर्लाद्यम् १

ततो ग्येकं जह्यात् २ इति

अयमर्थः। उद्दिष्टस्वरूपे यदन्तिमं लघु। तत आरभ्य वामावर्त्तेनाक्षरोपरि द्विगुणाङ्का द्विचतुरादिरूपा लेख्याः। गुरूपरि त्वेकोनिताङ्को लेख्य इति। तत्रेयं लाद्योक्तिर्लाघवार्था। इत्थं कृते प्रस्तारभेदा विज्ञायन्ते। तदित्थमुक्ता त्रिप्रकारा सोद्दिष्टक्रिया। यथा चेदमुक्तं क्रमप्रस्तारे तथा विपरीतप्रस्तारेऽपि सत्सर्वं वैपरीत्येन यथायथं प्रकल्प्य द्रष्टव्यमिति दिक्॥

अथातो गुणवर्गक्रियया संख्यानसिद्धिं व्याख्यास्यामः

एतदक्षरकप्रस्तारस्य कियन्तः स्वरूपभेदाः स्युरित्येतदर्थविज्ञानाय गुणवर्गक्रियोपयुज्यते। तत्र यावदक्षरप्रस्तारे स्वरूपसंख्याजिज्ञासा तदिष्टाक्षराङ्क इत्युच्यते। इष्टाक्षराङ्कः समश्चेदर्द्धं कृत्वा वर्गसंकेतो लेख्यः॥ स विषमश्चेदेकोनितं कृत्वा गुणसंकेतो लेख्यः॥ अथार्द्धस्यैकोनितस्य वा भूयोऽप्येवं यावदङ्कसमाप्ति गुणवर्गक्रियामनुवर्तयेत्। अन्ते नियमेन गुणसंकेतो लिखितः स्यात्। एवं सिद्धायां गुणवर्गपङ्क्तौ अन्त्यं गुणकमारभ्य वामावर्त्तेनादिपर्य्यन्तं गुणसंकेतस्थाने द्विगुणीकरणं, वर्गसंकेतस्थाने तु कृतिकरणमनुवर्तयन् यमङ्कं पर्य्यवसादयेत् तदेव तावदक्षरकप्रस्तारे

स्वरूपसंख्याविज्ञानमिति द्रष्टव्यम् ।। यथा दशाक्षरकप्रस्तारे कियन्तः स्वरूपभेदा इति जिज्ञासायां—दशाङ्कस्य समत्वादर्द्धीकरणे वर्गप्राप्तिः (१) अर्द्धस्य पञ्चाङ्कस्य विषमत्वादेकोनितकरणे गुणप्राप्तिः (२) तत एकोनितस्य चतुरङ्कस्य समत्वादर्द्धीकरणे वर्गप्राप्तिः (३) भूयोऽर्द्धस्य द्वयङ्कस्य समत्वादर्द्धीकरणे वर्गप्राप्तिः (४) तत एकाङ्कस्य विषमत्वादेकोनितकरणे गुणप्राप्तिः (५) अथाङ्कसमाप्त्या क्रियासमाप्तिः ।। तथा च सिद्धा पञ्चावयवा गुणवर्गपङ्क्तिः—(व. गु. व. व. गु.) इति । एवं स्थिते एकाङ्कस्य पङ्क्तिवैपरीत्यक्रमेण गुणवर्गवर्गगुणवर्गाः कर्तव्यतया प्राप्ताः । एकाङ्कस्य द्वैगुण्ये द्वयङ्कसिद्धिः (१) ततो द्वयङ्कस्य द्वयङ्कगुणने चतुरङ्कसिद्धिः (२) ततश्चतुरङ्कस्य चतुरङ्कगुणने षोडशाङ्कसिद्धिः (३) अथ षोडशाङ्कस्य द्वैगुण्ये द्वात्रिंशाङ्कसिद्धिः (४) ततः पुनरस्य द्वात्रिंशाङ्कस्य द्वात्रिंशाङ्कगुणने चतुर्विंशत्यधिकसहस्राङ्कसिद्धिः ।४। तथा च सिद्धं दशाक्षरप्रस्तारे चतुर्विंशत्यधिकसहस्रं स्वरूपप्रमाणसंख्यास्तीति ।। एवमन्यत्रान्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।। अस्यैवार्थस्य स्पष्टप्रतिपत्तये न्यासक्रमः प्रदर्श्यते—

प्रस्तारस्वरूपाक्षरं (१०) ५ व. समद्विघातः । १०२४ प्रस्तारस्वरूपसंख्या (१०२४)

४ गु. द्वैगुण्यम् । ३२
२ व. समद्विघातः । १६
१ व. समद्विघातः । ४
१ गु. द्वैगुण्यम् । २

अथ शीघ्रप्रतिपत्त्यर्थमेकाक्षरकमारभ्य त्रयोदशाक्षरकं यावत् प्रत्येकप्रस्तारे गुणवर्गन्यास-क्रमाः प्रदर्श्यन्ते :—

प्रस्तारस्वरूपाक्षराणि				प्रस्तारस्वरूपाक्षराणि
(१)	०	गु	२	(२)
(२)	१	व	४	(४)
	०	गु	२	
(३)	२	गु	८	(८)
	१	व	४	
	०	गु	२	
(४)	२	व	१६	(१६)
	१	व	४	
	०	गु	२	
(५)	४	गु	३२	(३२)
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	

(६)	३	व	६४	(६४)
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(७)	६	गु	१२८	(१२८)
	३	व	६४	
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(८)	४	व	२५६	(२५६)
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(९)	८	गु	५१२	(५१२)
	४	व	२५६	
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(१०)	५	व	१०२४	(१०२४)
	४	गु	३२	
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(११)	१०	गु	२०४८	(२०४८)
	५	व	१०२४	
	४	गु	३२	
	२	व	१६	
	१	व	४	
	०	गु	२	
(१२)	६	व	४०९६	(४०९६)
	३	व	६४	
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	

(१३)	१२	गु	८१९२	(८१९२)
	६	व	४०९६	
	३	व	६४	
	२	गु	८	
	१	व	४	
	०	गु	२	

एवमेवोत्तरत्रापि चतुर्दशाक्षरकादिषु षड्विंशाक्षरकान्तेषु प्रस्तारेषु गुण-वर्गन्यासैः क्रमेण भुजगतिकं (१४) जातसफलं (१५) चलममतं (१६) रसनाकालिकं (१७) भवपारतिरं (१८) दहरभरमं (१९) तुच्छमहीवनपं (२०) रमापथाधिनरं (२१) वनलघुभिण्टीभं (२२) जनितहाहागदं (२३) तपोरसासिसूतकं (२४) रागभावशिशुगलं (२५) भीतहूजनकसुतम् (२६) इत्येवं संकेतसिद्धानि स्वरूपसंख्या-नानि भावनीयानि ।। अयं चार्थं उक्तः संस्कृतपिङ्गलसूत्रेषु—

"द्विरर्द्धे १ रूपे शून्यम् २ द्विःशून्ये ३
तावदर्द्धे तद्गुणितम् ४ इति ।।"

एषामित्थमर्थोऽनुसन्धेयः । ततोऽयेकं जह्यादिति पूर्वसूत्रतो जह्यादित्यस्यार्था-ध्याहारः । तथा चार्थे रूपे इति पदद्वयानुरोधादत्र हीने इति सप्तम्यन्तपदाध्याहारः । तत्र तावदन्यथानुपपत्त्या विध्यन्तराध्याहारोऽप्यर्थसिद्धो द्रष्टव्यः । तेनायमर्थः-अपेक्षितप्रस्ताराक्षराङ्के अर्द्धं जह्यात् । अर्द्धे हीने द्विरिति लेख्यम् ।१। यत्र त्वर्द्धकरणं न संभवति तत्र रूपं जह्यात् । रूपे हीने शून्यमिति लेख्यम् ।२। तदित्थं सूत्रद्वयेन साधन-क्रिया विहिता । यथा द्व्यक्षरप्रस्तारे द्व्यङ्कादर्द्धं त्यजेत् । अत्रार्द्धत्यागविधिः समभूदिति कृत्वा द्विरिति शब्दो वा द्व्यङ्को वा लिख्यते संकेतार्थम् ।।१।। अथ तस्य पुनरर्द्धभूतस्यैकाङ्कस्यार्द्धकरणं न संभवतीति कृत्वा ततो रूपं त्यजेत् । रूपे त्यक्ते शून्यमिति शब्दो वा बिन्दुर्वा लिख्यते सङ्केतार्थम् ।।२।। तथा च न्यासः-द्विः-शून्यः इति
१— ०
अथवा २—० इति ।।
१— ०

अथैतेन संकेतसाधनविधिना किमपेक्षितमिति जिज्ञासायां साध्यविधिरुच्यते सूत्रद्वयेन—

द्विः शून्ये ।१। तावदर्द्धे तद्गुणितम् इति । अत्र पूर्वसूत्रतो रूपेपदमनुवर्त्त्य प्रथमाविभक्तिविपरिणमेनान्वयः कार्य्यः । तेनायमर्थः । यत्र शून्यमुल्लिखितं तत्र रूपं द्विः कृत्वा लिख ।१। अथ यत्रार्द्धकरणं प्राप्तं तत्र तु तद्गुणितं तावदङ्कं लिख ।२। यथा प्राङ् निर्दिष्टे साधनन्यासे शून्यं लक्ष्यीकृत्य द्विःकृतरूपं द्व्यङ्कात्मकं लिखति । अथार्द्धकृतं लक्ष्यीकृत्य तु तावदङ्कं पूर्वक्रियासिद्धाङ्कं द्व्यङ्कात्मकं तद्गुणितमर्थात् द्व्यङ्केनैव गुणितं कृत्वा लिखति । तथा च न्यासः— १ ०
द्विः शू.
४ २

अत्र द्विः शून्ये इति प्रथमोल्लेखात् साधन-न्यासवैपरीत्येन साध्यक्रियाभ्यानुज्ञा संसूच्यते । तथा रूपमित्युक्तेः रूपमारभ्यैव साध्यक्रियाभ्यनुज्ञा संसूच्यते । तत्र रूपमित्युपलक्षणम् । क्रियामध्ये पूर्वसिद्धाङ्कस्यैव द्वैगुण्यस्यार्थापन्नत्वात् । अथवा रूपेपदं नानुवर्त्यम्, प्राप्तस्यैवाङ्कस्य द्विः करणं भविष्यति । यत्र तु न प्राप्तोऽङ्कस्तत्र प्रथमत्यागे मानाभावादेकाङ्कस्यैव द्विः करणं भविष्यति ।। इमौ च शून्यद्विरुल्लेखौ सर्वत्रैव प्रस्तारे गुणवर्गक्रियादौ नाप्राप्तौ द्रष्टव्यौ । द्वयङ्कचतुरङ्कलेखोत्तरमेव गुणवर्गक्रियाप्रवृत्तेरिति बोध्यम् । यथा चैवं गुणवर्गक्रियया प्रत्येकप्रस्तारसंख्यानान्युक्तानि तथैव षड्विंशत्यक्षरपादान्तं यावत्प्रस्ताराणां पिण्डसंख्याप्युपदिश्यते—

षड्विंशतिः सप्तशतानि चैव तथा सहस्राण्यपि सप्तपङ्क्तिः ।
लक्षाणि दृग्वेदसुसंमितानि कोटयस्तथा रामनिशाकरैः स्युः ।। १ ।।
(१३. ४२. १७. ७. २७)

तदित्थमुक्ता गुणवर्गक्रिया स्वरूपसंख्यानावबोधाय निपुणमनुसन्धेया, इत्येकः प्रकारः ।।१।।

अथ प्रकारान्तरेणापि मेरुद्वारा स्वरूपसंख्यानावगमः कर्तुं पार्य्यते । तथा हि-यावदक्षरकप्रस्तारे स्वरूपप्रमाणं जिज्ञास्यं तावतिथे मेरुस्तरे यावन्तोऽङ्का दृश्यन्ते तेषां योगः तावदक्षरकप्रस्तारे स्वरूपप्रमाणसंख्या स्यात् । यथा षष्ठे मेरुस्तरे एकः षट् पञ्चदश विंशतिः पञ्चदश षट् एकः इत्येवमङ्का (१।६।१५।२०।१५।६।१) दृश्यन्ते । तेषां योगश्चतुःषष्टिः ६४ । तस्मादियमेव षडक्षरप्रस्तारे स्वरूपसंख्या ।। तथा नवमे स्तरे एकः, नव, षट्त्रिंशत्, चतुरशीतिः, षड्विंशंशतं, पुनः षड्विंशंशतं, चतुरशीतिः, षट्त्रिंशत्, नव, एकः इत्येवमङ्काः (१।९।३६।८४।१२६।१२६।८४।३६।९।१) दृश्यन्ते । तेषां योगो द्वादशोत्तरपञ्चशतं (५१२) भवति तस्मादियमेव नवाक्षरप्रस्तारे स्वरूपसंख्या ।। इत्थमेवान्यान्यप्रस्तारेऽपि द्रष्टव्यमिति द्वितीयः प्रकारः ।।२।।

अथान्यः प्रकारः सूचीमूलको भवति । यावदक्षरकप्रस्तारे स्वरूपप्रमाणं जिज्ञास्यं तावदवयवा सूची लेख्या । पूर्वपूर्वद्विगुणिताङ्कलेखः सूची । तथा च तत्रत्यानामङ्कानां योगः एकाधिकस्तावदक्षरकप्रस्तारे स्वरूपसंख्या स्यात् । यथा षडक्षरप्रस्तारे एकद्विचतुरष्टषोडशद्वात्रिंशदात्मकैः कृतावयवा सूची लिख्यते । तत्रत्यानामेषां योगस्त्रिषष्टिः । एकाधिक्ये चतुःषष्टिः । सा षडक्षरप्रस्तारसंख्या स्यात् । इत्यवगन्तव्यम् ।।३।। अथवा आद्यस्य एकाङ्कस्य द्विगुणरूपत्वाभावात्तं परित्यज्य द्विचतुरादिषु द्विगुणिताङ्केषु गृहीतेषु योऽङ्को यावतिथः स तावदक्षरकप्रस्तारे स्वरूपसंख्याबोधकः । यथा सूच्यां द्विचतुरादिष्वङ्केषु षष्ठोऽङ्कश्चतुःषष्टिः सा षडक्षरप्रस्तारे स्वरूपसंख्या सिध्यति । एवमेव सर्वत्रापि द्रष्टव्यम् ।।४।। एवं तत्पताकोपक्लृप्तस्थानसमष्टिस्तत्प्रस्तारे स्वरूपसंख्या स्यात् । ५ । अथवा तत्पताकान्तिमश्रेणीनिष्ठाङ्कस्तत्प्रस्तारे स्वरूपसंख्या स्यात् ।।६।। तदित्थं चतुःप्रकारं षट्प्रकारं वा स्वरूपसंख्यानविज्ञानं व्याख्यातम् ।।

अथ प्रसङ्गाद्वृत्तसंख्यानमप्युच्यते। तत्र वृत्तं तावत् त्रेधा सममर्द्धसमं विषमं चेति। तत्रोक्ता समवृत्तसंख्या। तत्कृतिरर्द्धसमसंख्या स्यादशुद्धा। मूलराश्यूना तु सा पुनः शुद्धा भवति। एवमर्द्धसमसंख्या येयमशुद्धा सिद्धा। तत्कृतिर्विषमसंख्या स्यादशुद्धा। मूलराश्यूना तु सा पुनः शुद्धा भवति। समद्विघातः कृतिरित्युच्यते। यस्याङ्कस्य स्वसमेन घातः स मूलराशिः। तथा च यथैकाक्षरच्छन्दसो द्वित्वरूपायां समवृत्तसंख्यायां स्वगुणितायां चतुरङ्कसिद्धिः सार्द्धसमवृत्तसंख्या स्यादशुद्धा। सैव द्वित्वरूपराश्यपनयाच्छुद्धा द्वित्वरूपा अर्द्धसमवृत्तसंख्या स्यात्। गोलः लोग इति॥ अथाशुद्धायामर्द्धसमवृत्तसंख्यायां चतुष्ट्वरूपायां स्वगुणितायां षोडशाङ्कसिद्धिः, सा विषमवृत्तसंख्या स्यादशुद्धा, सैव पुनश्चतुष्ट्वरूपराश्यपनयाच्छुद्धा विषमवृत्तसंख्या द्वादशरूपा स्यात्। प्रस्तारक्रियया षोडशवृत्तसिद्धावपि द्वयोर्गचरणलचरणयोः समवृत्ते, द्वयोस्तु गोलः—लोग इत्येवंरूपयोरर्द्धसमवृत्तेऽन्तर्भाविन द्वादशानामेव विषमवृत्तत्वावसायात्। एवमेवान्यत्रापि द्रष्टव्यम्। यथा षडक्षरप्रस्तारे समवृत्तानि चतुःषष्टिमितानि ६४॥ ततोऽर्द्धसमानि चतुःषष्टिगुणितचतुःषष्टिमितानि, तेन षण्नवत्युत्तरचतुःसहस्राणि ४०९६। अथ विषमवृत्तानि षण्नवत्युत्तर-चतुःसहस्रगुणित—षण्नवत्युत्तर-चतुःसहस्रमितानि। तेन षोडशोत्तरशतद्वयाधिक-सप्तसप्ततिसहस्रान्वित-सप्तषष्टिलक्षाधिकैककोटिः संख्या (१.६७.७७ २.१६) सिद्ध्यति॥ पुनरत्र मूलराश्यूनं कार्य्यम् तेन कोटिरेका सप्तषष्टिर्लक्षाणि त्रिसप्ततिसहस्राणि विंशत्युत्तरंशतं च शूद्धविषमवृत्तसंख्या १.६७.७३.१२०॥ तथा चतुःसहस्राणि द्वात्रिंशच्चेति शुद्धार्द्धसमवृत्तसंख्या ४०३२ इति बोध्यम्।

अथाध्वयोगं व्याख्यास्यामः।

तत्तत्प्रस्तारसंख्यानमेव द्विगुणं सदेकोनितं तत्तत्प्रस्तारस्याध्वा भवति। गुरुलघुश्रेणी यावन्तं प्रदेशमौत्तराधर्य्येण व्याप्नोति साक्षरव्याप्तिभूमिर्व्यवहारार्थमङ्गुल-शब्देन विवक्ष्यते। अथ च यावानेव प्रदेशोऽक्षरव्याप्तेस्तावन्तमेव प्रदेशमन्तरालेऽवकाशार्थं परित्यज्योत्तरोत्तरमन्या गुरुलघुश्रेणी विन्यस्तुं युज्यते इति कृत्वा प्रस्तार-स्वरूपसंख्यानस्य द्विगुणस्यैकोनितस्य प्रमाणेनैव तत्प्रस्तारोल्लेखाधिकरणप्रदेशाङ्गुलानि प्रकल्प्यानि। यथा षडक्षरप्रस्तारसंख्यानं चतुःषष्टिः। सा द्विगुणिता शतोत्तराष्टाविंशतिः, एकोनिता शतोत्तरसप्तविंशतिः॥

एवं च सप्तविंशत्यधिकशताङ्गुलकप्रदेशः षडक्षरकप्रस्ताराधारः स्यादित्यर्थः सिद्धः। एतेन तं प्रस्तारमनुदिदर्शयिषुणा तावदङ्गुलकः प्रदेशो ग्राह्य इत्युक्तं भवति। स्वतः प्रतिपन्नोऽप्ययमर्थो बालानुग्रहायोक्त इत्यलम्॥ इत्थमेते नष्टोद्दिष्ट-संख्यानाध्वयोगाख्याश्चत्वारः प्रत्ययाः प्रस्तारसम्बन्धेनोक्ताः।

अथातो मेरुसम्बन्धेन दर्शयितव्यमित्युपक्रम्यते। तत्रादौ शलाकां त्रेधा व्याख्यास्यामः॥ यया क्रियया मेरुस्थिता एकैकप्रस्ताराः स्वातन्त्र्येण साध्यन्ते सा शलाका उच्यते। शलाका लगक्रिया इत्यनर्थान्तरम्॥ तथा हि—यावदक्षरकप्रस्तारे लग-क्रियाऽपेक्षिता तत एकाधिकसंख्याप्रमिता एकाङ्का लेख्याः। ततः पूर्वपूर्वाङ्कयोगेनो-

त्तरोत्तराङ्काः परिवर्त्त्य लेख्याः । भूयोऽप्येवमादितः क्रियाऽऽवर्त्तनीया, प्रतिक्रियन्त्वेकैक-मङ्कमन्त्ये त्यजेत् ।। यथा षडक्षरप्रस्तारे एकाङ्काः सप्त लेख्याः । ततः प्रथमै-काङ्कस्य द्वितीयैकाङ्केन योगात् द्वितीयस्थाने द्वयङ्कं लिखेत् । एवं तृतीयस्थाने त्र्यङ्कं चतुर्थे चतुरङ्कं पञ्चमे पञ्चाङ्कं षष्ठे षडङ्कं लिखित्वा सप्तममेकाङ्कं यथास्थितमेव त्यजेत् । ततो भूयः क्रियावृत्तिः । प्रथमैकाङ्कस्य द्वितीयाङ्केन योगात् द्वितीयस्थाने त्र्यङ्कं लिखेत् । एवमग्रे क्रमेण षडङ्कं दशाङ्कं पञ्चदशाङ्कं लिखित्वा षष्ठं षडङ्कं यथावस्थमेव त्यजेत् ।। ततो भूयः क्रियावृत्तिः । एकाङ्कस्य त्र्यङ्केन योगाद् द्वितीये-स्थाने चतुरङ्कं लिखित्वा अग्रे क्रमेण दशाङ्कं विंशाङ्कं च लिखन् पञ्चमं तदवस्थ-मेव त्यजेत् । ततो भूयः क्रियावृत्तिः । द्वितीये पञ्चाङ्कं तृतीये पञ्चदशाङ्कं लिखित्वा चतुर्थं त्यजेत् । ततः पुनर्द्वितीये षडङ्कं लिखित्वा तृतीयं त्यजेत् । ततो द्वितीयेऽपि क्रियात्याग इति । न्यासो यथा—

१ १ १ १ १ १ — १

१ ६ ६ ६ ६ ६ — ६

१ ५ १५ १५ १५ १५ — १५

१ ४ १० २० २० २० — २०

१ ३ ६ १० १५ १५ — १५

१ २ ३ ४ ५ ६ — ६

१ १ १ १ १ १ — १

तथा च एकः, षट्, पञ्चदश, विंशतिः, पञ्चदश, षट्, एकः, इत्येवमङ्काः सिद्धाः । ते षडक्षरप्रस्तारे निर्गुरुकैकगुरुक-द्विगुरुक-त्रिगुरुक-चतुर्गुरुक-पञ्चगुरुक-षड्गुरुकभेदप्रतिपादकाः क्रमेण द्रष्टव्याः । इत्येवमन्यत्रापि । सोऽयमेकः प्रकारः ।। १ ।।

अथ तस्याः शलाकायाः प्रकारान्तरमाचक्षते ।

व्यस्तैकाद्येकवृद्ध्यङ्काः क्रमस्थैर्भाजिताः, परः ।।
गुण्यः पूर्वाङ्कलब्धेन संख्यैकादिगुरुर्भवेत् ।।१।।

अयमर्थः । एकादिका यावदिष्टान्ता अङ्काः प्रथमं विपर्य्यासेन ततोऽधस्तात् क्रमेण लेख्याः । तत्रोपरिस्थो विपर्य्यस्ताङ्कोऽधस्तनेन क्रमस्थिताङ्केन भाज्यः । भागलब्धाङ्केनोत्तरोत्तरो विपर्य्यस्ताङ्को गुणितः सन्नधस्तनेन क्रमस्थिताङ्केन भाज्यः । तथाचैकगुरुकद्विगुरुकादयो भेदास्तैस्तैर्लब्धाङ्कैः क्रमेण बोद्धव्याः । यथा पञ्चाक्षर-प्रस्तारे प्रकृते पञ्चचतुस्त्रिद्वय्येकाङ्कानधोऽधः क्रमेणैकद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्काः लेख्याः । तत्र पञ्चाङ्कोऽधस्तनेनैकाङ्केन भक्ते लब्धः पञ्चाङ्कः । ततस्तेन गुणितश्चतुरङ्को विंशतिर्जायते । तस्य विंशत्यङ्कस्याधस्तनेन द्वयङ्केन भागे लब्धो दशाङ्कः । तेन गुणितस्त्र्यङ्कस्त्रिंशद्भवति । तस्याधःस्थेन त्र्यङ्केन भागे लब्धो दशाङ्कः । तेन

गुणितो द्व्यङ्को विंशतिर्भवति । तस्याधःस्थेन चतुरङ्केन भागे लब्धः पञ्चाङ्कः । तेन गुणिते एकाङ्के पञ्चाङ्को जायते । तस्याधःस्थेन पञ्चाङ्केन भागे एकाङ्को लब्धः । तदित्थं क्रियया सिद्धा या लब्धाङ्कपञ्चकवल्ली, तया विज्ञायते—पञ्चाक्षरके प्रस्तारे एकगुरुकाः पञ्च, द्विगुरुका दश, त्रिगुरुका दश, चतुर्गुरुकाः पञ्च । पञ्च-गुरुक एकश्चेति ॥

एवमेव लघुमद्भेदविज्ञानमपि ॥ तथा चास्य न्यासः

५	४	३	२	१	
१	२	३	४	५	

अथवा

५	२०	३०	२०	५	
५	४	३	२	१	
१	२	३	४	५	
५	१०	१०	५	१	

इत्थमेवान्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥२॥

अतः परं पताकादेशीयस्तृतीयः शलाकाप्रकारः प्रदर्श्यते ॥ तत्रायमर्थस्तावद् द्रष्टव्यः ॥

व्यक्तिः पत्तिर्मुखं गुल्मो गणोऽनीकं च पार्तनम्
चमूरनीकिनी चेति त्रिरावृत्त्या विवक्षिताः ॥१॥
पूर्वपूर्वकृताङ्गास्ते व्यूहाः स्युः सप्तविंशतिः (२७)
छन्दोवेदपताकायामेकैकश्रेणितां गताः ॥२॥

मण्डलं (०) स्वस्तिकं (+) वज्रं (×) चक्रं (❀) शूला (ψ) ङ्कुशे (r) धनुः (◡) मत्स्यपुच्छं (ℓ) ध्वजा (ρ) चेति तेषां चिह्नानि कल्पयेत् ॥३॥

अथवा बिन्दुरेखाभिर्यथेच्छं स्पष्टबुद्धये ॥
विभागाः कल्पनीयाः स्युः साध्यसाधनलेखयोः ॥ ४ ॥

सा चेयं व्यवहारसौकर्यार्थमङ्कसंघानामनेकश्रेणीबद्धानां व्यूहकल्पना द्रष्टव्या । तत्र यावदपेक्षिताक्षरकप्रस्तारेऽवान्तरभेदानां स्थानजिज्ञासा पताकया समाधेया स्यात्, तावदक्षरकप्रस्तारसम्बन्धिन्याः सूच्या अवयवतुल्याः पताकायामङ्कश्रेणयः कार्य्याः । ता एव श्रेणयो व्यक्तिव्यूहपत्तिव्यूहादिरूपा विवक्षिताः । उत्तरोत्तरं चैताः पूर्वपूर्वश्रेणिकल्पितशरीरा भवन्तीत्युत्तरोत्तरश्रेण्यां पूर्वपूर्वाः सर्वा एव श्रेणयो यथायथमनुसन्धेयाः । किन्तूत्तरोत्तरं हीनपूर्वैकाङ्गा एव स्युः । यथा—

षडक्षरप्रस्तारे सप्तस्थानोपेता सूची भवतीति कृत्वा तादृशसप्तस्थानानुषक्ताः सप्तैव श्रेणीनिवेशाः स्युः । ते च क्रमेण व्यक्ति-पत्ति-मुख-गुल्म-गणा-नीक-पार्त्तनव्यूह-रूपा द्रष्टव्याः । तत्र व्यक्तिव्यूहो नानेकाङ्गविभक्तः ।

अथ द्वितीयश्रेणीनिवेशाद्यात्मानः पत्तिमुखादिसंज्ञाः षडप्यन्ये व्यूहाः क्रमेण षट्-पञ्चचतुस्त्रिद्व्यङ्कैः पूर्वपूर्वव्यूहैः कृताङ्गाः भवन्ति । तथा च व्यक्तिभिः षडङ्गेन पत्तिव्यूहेन द्वितीया श्रेणी ।२। पत्तिभिः पञ्चाङ्गेन मुखव्यूहेन तृतीया श्रेणी ।३। मुखैश्चतुरङ्गेन गुल्मव्यूहेन चतुर्थी श्रेणी ।४। गुल्मैस्त्र्यङ्गेन गणव्यूहेन पञ्चमी

श्रेणी ।५। गणाभ्यां द्वचङ्गेनानीकव्यूहेन षष्ठी श्रेणी ।६। एकानीकत्वादेकाङ्गेन पार्तनव्यूहेन सप्तमी श्रेणी ।७।

तदित्थमेते व्यूहा यथोत्तरोत्तरं हीनपूर्वैकाङ्गाः कृतास्तथैव निर्विशेषमभ्यन्तरतोऽप्युत्तरोत्तरं क्रमेण हीनपूर्वैकाङ्गान्येवाङ्गप्रत्यङ्गानि कर्तव्यानि ।। तथाहि-द्वितीयश्रेण्यां पत्तौ षड् व्यक्तयोऽङ्गानि । ततस्तृतीयश्रेण्यां मुखे याः पञ्च पत्तयस्तत्राभ्यन्तरेऽपि प्रथमायां पञ्च, द्वितीयायां चतस्रः, तृतीयायां तिस्रः, चतुर्थ्यां द्वे, पञ्चम्यामेका—इत्येवमुत्तरोत्तरमेकैकहीना व्यक्तयः प्रपद्यन्ते । एवं चतुर्थश्रेण्यां गुल्मे यानि चत्वारि मुखानि तत्राभ्यन्तरेऽपि प्रथमे चतुस्त्रिद्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गाश्चतस्रः, द्वितीये त्रिद्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गास्तिस्रः, तृतीये द्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गे द्वे, अथ चतुर्थे एकव्यक्तिकृताङ्गा चैका, इत्येवमुत्तरोत्तरमेकैकहीनाः पत्तयः प्रपद्यन्ते ।। एवं पञ्चमश्रेण्यां गणे ये त्रयो गुल्माः, तत्राभ्यन्तरेऽपि प्रथमे त्रिद्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गाभिस्तिसृभिः पत्तिभिः, तथा द्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गाभ्यां द्वाभ्यां पत्तिभ्यां, तथा एकव्यक्तिक्रमकृताङ्गया चैकया पत्त्या कृताङ्गानि त्रीणि । ततो द्वितीये द्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गाभ्यां द्वाभ्यां पत्तिभ्यां, तथा एकव्यक्तिक्रमकृताङ्गया चैकया पत्त्या कृताङ्गे द्वे । अथ तृतीये एकव्यक्तिक्रमकृताङ्गया चैकया पत्त्या कृताङ्गमेकम् । इत्येवमुत्तरोत्तरमेकैकहीनानि मुखानि प्रपद्यन्ते ।। ५ ।। एवं षष्ठश्रेण्यामनीके यौ द्वौ गणौ तत्राभ्यन्तरेऽपि प्रथमे द्वचेकव्यक्तिक्रमकृताङ्गाभ्यां द्वाभ्यां पत्तिभ्यां, तथा एकव्यक्तिक्रमकृताङ्गया चैकया पत्त्या कृताङ्गे ये द्वे मुखे ताभ्यां, तथा एकव्यक्तिक्रमकृताङ्गया चैकया पत्त्या कृताङ्गं यदेकं मुखं तेन च कृताङ्गौ द्वौ गुल्मौ ।। अथ द्वितीये एकव्यक्तिक्रमकृताङ्गया चैकया पत्त्या कृताङ्गं यदेकं मुखं तेन कृताङ्ग एको गुल्मः इत्येवमुत्तरोत्तरमेकैकहीना गुल्माः प्रपद्यन्ते ।। ६ ।। एवमेवान्तिमायां सप्तमश्रेण्यां पार्तने यदेकमनीकं तदभ्यन्तरतोऽप्येकाङ्गप्रत्यङ्गकमेव क्रियाक्रमसिद्धं भवतीत्येकाङ्कोल्लेखात्मिकैव सा श्रेणी ।। ७ ।। तथा चायं पताकासाधनन्यासो द्रष्टव्यः—

१	२	३	४	५	६	७
७	६	५	४	३	२	१
०	६	५	४	३	२	१
		४	३	२	१	०
		३	२	१	०	
		२	१	०	०	
		१	४	२	०	
		०	३	१	०	
			२	०	१	
			१	१	—	
			०	०	०	
			२	V	V	

१ २ १
० १ ०
१ ० ०
० १ ०
० ० ०
१
—
०
०

अत्र हि सप्तश्रेणीके न्यासे एकव्यक्तिरूपया प्रथमश्रेण्या एकाङ्को लभ्यते, षड्-व्यक्तिकया द्वितीयश्रेण्या षडङ्कः। पञ्चदशव्यक्तिकया तृतीयश्रेण्या पञ्चदशाङ्कः। विंशतिव्यक्तिकया चतुर्थ्या विंशत्यङ्कः, पञ्चदशव्यक्तिकया पञ्चम्या पञ्चदशाङ्कः, षड्व्यक्तिकया षष्ठ्या षडङ्कः। एकव्यक्तिकया सप्तम्या एकाङ्कः, इत्थं साधितैरङ्कैः। सिद्धाः षडक्षरप्रस्तारे लगक्रियाङ्काः (१।६।१५।२०।१५।६।१) इत्थमेवान्यत्रापि बोध्यम् ।। तदित्थं त्रिभिः प्रकारैः शलाका व्याख्याता

अथातः पताकां व्याख्यास्यामः। मेरुशलाकाभ्यां याऽवान्तरभेदानामियत्ता संसिद्धा तदियत्ताकानां भेदानां स्थानजिज्ञासायामियमुपतिष्ठते पताका। अस्य च प्रत्ययस्य पताकाकारेणोल्लेखात् पताकासंज्ञा।

तावदादौ मेरुसिद्धाङ्कप्रमितैः स्थानस्तावत्यः पङ्क्तयः कल्प्याः। तासामाद्याद्यस्थानेषु क्रमेण सूच्यङ्का लेख्याः। तत्र पूर्वपङ्क्तिस्थाङ्कैः सह स्वशीर्षस्थाङ्कप्रभृतीनां योगेन क्रमेण द्वितीयादयः पङ्क्तयः पूरणीयाः। सर्वान्तिमस्य तु प्रस्ताराङ्कस्य न योगः। तथायोगसिद्धायाः संख्यायास्तत्प्रस्तारेऽसम्भवात्। यथा षडक्षरप्रस्तारे प्रकृते मेरुसिद्धाङ्का एकः, षट्, पञ्चदश, विंशतिः, पञ्चदश, षट्, एकश्चेत्येवंरूपा दृश्यन्ते। अतः एवमेवं प्रमितानामेवाङ्कस्थानानां पङ्क्तयः सप्त कल्प्यन्ते। ततः सप्तानामपि पङक्तीनां प्रथमे स्थाने सप्तापि सूच्यङ्का एकद्विचतुरादयः क्रमेण लेख्याः। ततः पूर्वपङ्क्तिस्थेनैकाङ्केन द्विचतुरष्टषोडशद्वात्रिंशदङ्कयोगसिद्धाः त्र्यङ्कपञ्चाङ्कनवाङ्कसप्तदशाङ्कत्रयस्त्रिंशाङ्का द्वितीयपङ्क्तौ द्वयङ्कोत्तरं लेख्याः। एवं जाता षडवयवा द्वितीया पङ्क्तिः। अथैतैर्द्व्यङ्कादिभिर्द्वितीयपङ्क्तिस्थाङ्कैस्तृतीयचतुर्थादयः सूच्यङ्का योजितास्तृतीयपङ्क्तौ चतुरङ्कोत्तरं लेख्याः। तत्र तावद् द्वितीयपङ्क्तिप्रथमो द्वयङ्कः पुरःस्थितैश्चतुरङ्कादिभिः सूच्यङ्कैर्योजितः षड्दशाष्टादशचतुस्त्रिंशदङ्काश्चतुरङ्काधो लिख्यन्ते। ततस्त्र्यङ्कः पुरस्थितैश्चतुरङ्कादिभिर्योजितः सप्ताङ्कैकादशाङ्कादयस्तत्रैव तृतीयपङ्क्तौ चतुस्त्रिंशदङ्कोत्तरं लेख्याः[1]। एवमग्रेऽपि। तथा चास्य न्यासः—

१	२	४	८	१६	३२	६४
	३	६	१२	२४	४८	

५	१०	२०	४०	५६
९	१८	३६	२८	६०
१७	३४	१४	४४	६२
३३	७	२२	५२	६३
	११	३८	३०	
	१९	२६	४६	
	३५	४२	५४	
	१३	५०	५८	
	२१	१५	३९	
	३७	२३	४७	
	२५	३९	५५	
	३३	२७	५९	
	४९	४३	६१	
		५१		
		२९		
		४५		
		५३		
		५७		

तदित्थमस्याः पताकायाः सिद्धसाध्यं क्रमसाधनमुक्तम् । अथेदानीं सिद्धसाध्यमेव व्युत्क्रमसाधनमुच्यते । विन्यस्तेषु सूच्यङ्केषु अग्रिमश्रेण्यङ्कास्तत्पृष्ठाङ्कैः क्रमेण रहिताः पूर्वपूर्वश्रेणौ लेख्याः । यथा षडक्षरप्रस्तारसूच्यङ्केषु विन्यस्तेषु सर्वान्तिम-श्रेण्यङ्कश्चतुःषष्टिरूपः षष्ठाङ्केन द्वात्रिंशता रहितो जातो द्वात्रिंशद्रूपः स तावन्न लेख्यः एकत्रोल्लिखितत्त्वात् । एकमग्रेऽप्येकत्रोल्लिखितमङ्कं पुनर्न लिखेत् । ततः षोडशाष्टचतुर्द्व्येकाङ्कैः चतुःषष्टितो हापितैः सिद्धा अष्टचत्वारिंशत्-षट्पञ्चाशत् षष्टि-द्वाषष्टित्रिषष्टयङ्काः क्रमेणोपान्त्यायां षष्ठ्यां श्रेण्यामधोऽधो लिखेत् । ततः पुनरेतेऽपि षडङ्काः प्रत्येकं षोडशाष्टचतुर्द्व्येकरूपैः पृष्ठाङ्कैर्हापिताः क्रमेणाधोऽधः पञ्चम्यां श्रेणौ लेख्याः । तेऽपि पुनः पञ्चमश्रेणीस्थाः पञ्चदशाङ्काः प्रत्येकं पृष्ठाङ्कै-रष्टचतुर्द्व्येकरूपैरूनिताश्चतुर्थश्रेण्यामधोऽधः क्रमेण लेख्याः । अथैते पुनश्चतुर्थश्रेणीस्था विंशत्यङ्काः प्रत्येकं पृष्ठाङ्कैश्चतुर्द्व्येकरूपैरूनितास्तृतीयश्रेण्यामधोऽधः क्रमेण लेख्याः । ततो भूयोऽपि ते तृतीयश्रेणीस्थाः पञ्चदशाङ्काः प्रत्येकं पृष्ठाङ्कैर्द्व्येकरूपैरूनिता द्वितीयश्रेण्यामधोऽधः क्रमेण लेख्याः । एवमन्तो सिद्धा द्वितीयश्रेणीस्थाः षडङ्काः प्रत्येकमेकाङ्केन हापिता अप्युल्लिखितानां पुनरनुल्लेखन्यायादेकाङ्क एव केवल-मुल्लिख्यते प्रथमायाम् । तदित्थं सिद्धा प्रकारान्तरसाधना सैव पताका ॥ २ ॥

अतः परमन्यदप्यस्याः प्रकारद्वयमुल्लिख्यते । प्रथमसाध्यः क्रमसाधन इत्येकः । चरमसाध्यो व्युत्क्रमसाधन इत्यपरः । तथाहि-सूच्यङ्केषु विन्यस्तेषु सर्वादिभूत एकाङ्क

एव पुरः स्थितेनैकैकेन चाङ्केन युक्तसिद्धः स सोऽङ्कः क्रमेण द्वितीयश्रेण्यामधोऽधः स्थाप्यः। पुनरादिभूतः स एकाङ्क एव पृथग् द्वयङ्कक्रमेण युक्तसिद्धः स सोऽङ्कस्तृतीयश्रेण्यामधोधः क्रमेण लेख्यः। पुनः स एकाङ्क एव पृथक् त्र्यङ्कक्रमेण युक्तसिद्धः स सोऽङ्कश्चतुर्थश्रेण्यामधोधः स्थाप्यः। भूयोऽप्येकाङ्क एव पृथक् चतुरङ्कक्रमयुक्तिद्धिः स सोऽङ्कः पञ्चमश्रेण्यां लेख्यः ।। एवं पुनरप्येकाङ्कमेव पुरःस्थैः पञ्चभिः पञ्चभिरङ्कैः संयोज्य साधितानङ्कान् षष्ठश्रेण्यामुल्लिखेत्। तथा तस्मिन्नेकाङ्के षड्भिरङ्कैरेकद्विचतुरष्टषोडशद्वात्रिंशद्रूपैः सर्वैरेव संयोजितैर्जाता चतुःषष्टिः। सा सप्तमी श्रेणी। अत्राप्युल्लिखितस्य पुनरनुल्लेखः प्राग्वत्। तथा च सिद्धा प्रकारान्तरसाधिता सैव पताका ।। ३ ।।

अथवा तेषु सर्वान्तभूतश्चतुःषष्ट्यङ्क एवैकेनैकेन पृष्ठस्थेनाङ्केन वियोजितः सन्नुपान्त्यां षष्ठीं श्रेणीं जनयति। तथा द्वाभ्यां द्वाभ्यां पृष्ठस्थाभ्यां वियोजिता चतुःषष्टिः पञ्चमीं जनयति। त्रिभिस्त्रिभिः पृष्ठस्थाङ्कैर्वियोजिता चतुःषष्टिश्चतुर्थीम्। चतुर्भिश्चतुर्भिर्वियोजिता चतुःषष्टिस्तृतीयाम्। पञ्चभिः पञ्चभिर्वियोजिता चतुःषष्टिर्द्वितीयां जनयति। षड्भिरेव तु पृष्ठाङ्कैर्वियुक्ता चतुःषष्टिरेकाङ्कमवशेषयति सा प्रथमा श्रेणी स्यात्। तथा च सिद्धा प्रकारान्तरसाधिता सैव पताका ।। ४ ।।

तदित्थं चतुर्भिः प्रकारैः पताका व्याख्याता। तया यद् द्रष्टव्यं तदिहोच्यते। प्रथमया श्रेण्या सर्वगुरुकस्वरूपस्थानं प्रतिपद्य तत एकैकोनगुरुकस्वरूपाणां स्थानानि द्वितीयादिश्रेणीभिः प्रतिपद्येत। यथा षडक्षरप्रस्तारपताकायां प्रथमश्रेणीस्थाङ्केन स षड्गुरुकस्वरूपस्यैकस्य प्रथमस्थानस्थत्वं लभ्यते। ततः पञ्चगुरुकस्वरूपाणां षण्णां तानितानि स्थानानि द्वितीयश्रेणीस्थाङ्कैः, तथा चतुर्गरुकस्वरूपाणां पञ्चदशानां स्थानानि तृतीयश्रेणीस्थाङ्कैः, तथा त्रिगुरुकस्वरूपाणां विंशतिसंख्यानां स्थानानि चतुर्थश्रेणीस्थाङ्कैः, तथा द्विगुरुकस्वरूपाणां पञ्चदशानां स्थानानि पञ्चमश्रेणीस्थाङ्कैः, तथा एकगुरुकस्वरूपाणां षण्णां स्थानानि षष्ठश्रेणीस्थांकैः, तथैव गुरुशून्यस्वरूपस्यैकस्य स्थानं सप्तमश्रेणीस्थाङ्केन प्रतिपद्यन्ते। इत्येवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।। एवमेव वैपरीत्येन लघुमद्भेदा अपि स्थानतो विज्ञायन्ते इति बोध्यम् ।। इत्थमेतौ शलाकापताकाभिधानौ द्वौ प्रत्ययौ मेरुसम्बन्धेनोक्तौ ।।

अथातो मर्कटीसम्बन्धेनापि दर्शयितव्याः प्रत्यया इत्युपक्रम्यते। ते च सूचीपातालमात्रापिण्डाख्याश्चत्वारो भवन्ति ।। तानिदानी क्रमतो व्याख्यास्यामः ।।

सा सूची यत्रैकाङ्कमारभ्य उत्तरोत्तरं द्वैगुण्येनाङ्का विलिख्यन्ते। यथैको द्वौ चत्वारोऽष्टौ षोडशेत्यादि। तेषु द्विगुणिताङ्केष्वन्तिमेन प्रस्तारन्याससंख्या विज्ञायते। अथोपान्त्येन गादि-लादि-गान्त-लान्तानां चतुर्विधभेदानां संख्या विज्ञायन्ते। उपान्त्यपूर्वेण तु गलाद्यन्त-लगाद्यन्त-गाद्यन्त-लाद्यन्तानां चतुर्विधभेदानां संख्या विज्ञायन्ते। यथा चतुरक्षरप्रस्तारे प्रस्तारन्याससंख्या षोडश (१६)। तत्र गुर्वादयो लघ्वादयश्च गुर्वन्ता लघ्वन्ताश्चाष्टावष्टौ। (८) तथा गुर्वादिलघ्वन्ताः

लघ्वादिगुर्वन्ताश्च गुर्वादिगुर्वन्ता लघ्वादिलघ्वन्ताश्च भेदाश्चत्वारश्चत्वारः ।(४) इत्येवमेवाग्रेऽपि यथायथं प्रकल्प्य द्रष्टव्यम् ।

अथ पातालम् । यावदक्षराणां प्रस्तारोऽभिप्रेतः तदिष्टाक्षराङ्कमाहुः। इष्टाक्षराङ्कगुणितानां गुर्वन्तभेदानां लघ्वन्तभेदानां वा या या संख्या एकः, चत्वारः, अष्टौ द्वादश, द्वात्रिंशदशीतिरित्यादिका तदुल्लेखपरम्परा पातालमित्युच्यते । तेन सर्वगुरुसंख्या सर्वलघुसंख्या वा बोध्या । तथा हि—चतुरक्षरप्रस्तारे गुर्वन्तभेदाः अष्टौ चतुर्भिर्गुणिता जाता द्वात्रिंशत् ।। अतः—चतुरक्षरप्रस्तारे द्वात्रिंशद्गुरवः सन्ति द्वात्रिंशदेव लघवश्चेत्ययमर्थः सिद्धः ।।

अथ मात्रा । गुरवो द्विमात्राः । लघवस्त्वेकमात्राः । तथा च गुरुसंख्या द्विगुणिता लघुसंख्यायुता च जाता सर्वासामेव मात्राणामियत्ता । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे द्वात्रिंशद्गुरवो भवन्ति ततस्तद्द्वैगुण्येन द्वात्रिंशल्लघुसंख्यायोगेन च षण्णवतिः फलिता भवति । सा तत्र सर्वमात्रासमष्टिः प्रतिपद्यते । एवमन्यत्रान्यत्रापि । तत्तद्गुरु-संख्या द्विगुणिता तत्तल्लघुसंख्यासमन्विता सर्वमात्रासमष्टिस्तत्तत्प्रस्तारेऽवगन्तव्या ।।

अथ पिण्डः । यथा हि प्रस्तारे मात्रासङ्कलनप्रस्तावे सर्वेषां गुरुलघुरूपाणां लघु-रूपेण प्रकल्प्य लिखनं निरूपितं तथैव तेषां सर्वेषामेव गुरुलघुरूपाणां गुरुरूपेण प्रकल्प्य लिखनं पिण्ड इत्युच्यते। अत एव नियमेन मात्रासंख्यार्द्धं पिण्डो भवति । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे मात्रासंख्या षण्णवतिः अतस्तदर्द्धमष्टचत्वारिंशत्संख्या तत्र पिण्डो वक्तव्यः । एवमन्यत्रान्यत्रापि । तत्तद्गुरुसंख्या वा अध्यर्द्धकृता पिण्डसंख्याऽवगन्त-व्या ।। यत्र त्वेकाक्षरप्रस्तारे गुरुसंख्या एकाङ्करूपैव लभ्यते तत्र तामध्यर्धकृता-मूर्ध्वाधःकृतैकाङ्कद्वयेन लिखन्ति । तदित्थं प्रतीतैः सूची-पाताल-मात्रा-पिण्डैरेव कृतावयवा मर्कटी भवतीति दर्शितं प्राक् ।।

जगन्नाथसूत्रे तु मर्कटीशावाख्यया काचिदन्यापि लघुमर्कटी प्रतिपद्यते । ततः खलु सर्ववर्णसंख्यां गुरुलघुसंख्ये मात्रासंख्यां च संसाधयन्ति । तथाहि—इष्टाक्षराङ्क-गुणितेन न्याससंख्याङ्केन प्रस्तारगतसर्ववर्णप्रतिपत्तिः । तस्य च सर्ववर्णाङ्कस्यार्द्धेन गुरवो लघवो वा विज्ञायन्ते । अथ सार्द्धेन तु सर्ववर्णाङ्केन प्रस्तारगतसर्वमात्राप्रति-पत्तिः । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे चतुर्गुणिता षोडशसंख्या चतुःषष्टिर्भवति । तावन्तस्तत्र सर्वे वर्णाः स्युः । तदर्द्धसंख्या द्वात्रिंशत् । सा तत्र प्रस्तारे सर्वगुरुवर्णसंख्या स्याल्लघु-वर्णसंख्या वा ।। एवं चतुःषष्टिरध्यर्द्धकृता षण्णवतिर्भवति । तावत्यस्तत्र सर्वा मात्रा इति बोध्यम् ।।

तदित्थमनेकानेकप्रकारैः प्राचामुल्लिखितैः पुङ्खानुपुङ्खमनुगुम्फितैरेभिः प्रस्तार-नष्टोद्दिष्टसंख्यानाध्वयोगमेरुशलाकापताकामर्कटयादिभिस्त्रयोदशभिः प्रत्ययजातैः प्रपञ्चितमिदं शास्त्रजालं नाम प्रकरणं सम्पूर्णम् ।

अथातो बालानामभ्यासार्थमेषां सुखसरणी प्रदर्श्यते । सर्वेषामेषां संख्यानाध्व-योगप्रस्तारनष्टोद्दिष्टमेरुशलाकापताकामर्कटीजालाख्यानां प्रत्ययानां सूच्येव केवल-मेका ध्रुवा भवति । तदाधारेणैव तेषां प्रतिपत्तिसंभवात् ।। तदेतत् क्रमेणोच्यते—तत्र

तावद्वर्णसूची द्विविधा भवति—सौत्रसूची असौत्रसूची च। हारः सौत्रसूची। तारः पुनरसौत्रसूची ।। शून्यादिपारानुलक्षितो हारः सौत्रसूचीक्रमः । पारानुलक्षितस्तारोऽसौत्रसूचीक्रमः ।। पूर्वमेकाङ्कं विन्यस्य तत उत्तरोत्तरं द्विगुणिताङ्कविन्यासो हारः। एकाङ्कमनुल्लिख्य द्विगुणिताङ्कानामेव केवलं विन्यासस्तारः। अथैकद्वित्र्यादिक्रमिकाङ्कविन्यासः पारः। पारहारतारेषु येनाङ्केनार्थः स इष्टः। अथ यावदक्षरकप्रस्तारे यत्किञ्चिदर्थविवक्षा स्यात् स पारस्थाङ्क इष्टाक्षरः। इष्टाक्षरानुलक्षितस्तारः संख्यानाङ्क उच्यते तदिष्टाक्षरकप्रस्तारसापेक्षम्। तथा च—

पारः	०	१	२	३	४	५	६	७	८	सौत्रसूची
हारः	१	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	क्रमः
पारः		१	२	३	४	५	६	७	८	असौत्रसूची
तारः		२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	क्रमः

(संख्यानम्)

एवमङ्कविन्यासे क्रियमाणे तत इष्टपारानुलक्षितेन तारेण तदिष्टाक्षरकप्रस्तारे गुरुलघुभ्यां भेदकाभ्यां भिन्नाः प्रस्तारस्वरूपभेदा भवन्तीति प्रथमं संख्यानं बोध्यम् ।। १ ।।

अध्वयोगः

गुरुर्लघुर्वा समुल्लिखितो यावन्तं प्रदेशमाक्रामति तावान् प्रदेशोऽङ्गुलमितीष्यते। संख्यानद्विगुणिताङ्कप्रमितान्येकोनानि अङ्गुलानि तत्राध्वयोगः स्यादिति तावन्तं प्रदेशमुपलक्ष्य प्रस्तारोल्लेखाय प्रवर्त्तेत ।। २ ।।

प्रस्तारः

अथ प्रस्तारक्रिया। इष्टाक्षरानुलक्षितहारप्रमितेषूर्ध्वाधरस्थानेषु तत्प्राचीनाङ्कक्रमेण गुरुलघवो लेख्याः स प्रस्तारः। यथा त्र्यक्षरप्रस्तारचिकीर्षायां त्र्यङ्काधस्तनाङ्कप्रमितेष्वष्टसु स्थानेषु ऊर्ध्वाधरभूतेषु अष्टाङ्कतः प्राचीनमेकद्विचतुराङ्कत्रयमनुलक्ष्य गुरुलघुलेखः कार्य्यः। आदौ तावदेकमेकं कृत्वा ततो द्वौ द्वौ कृत्वा ततश्चतुरश्चतुरः कृत्वा तेषूर्ध्वाधरभूताष्टस्थानेषु क्रमेण गुरुलघुविन्यासे क्रियमाणे त्र्यक्षरप्रस्तारसिद्धिरिति बोध्यम्— एवमूर्ध्वाधःषोडशस्थानेष्वेकमेकं द्वौ द्वौ चतुरश्चतुरोऽष्टाष्ट कृत्वा पंक्तिचतुष्टय्या गुरुलघुविन्यासे चतुरक्षरप्रस्तारसिद्धिः। एवमेवान्यान्यप्रस्तारा द्रष्टव्याः ।।

३ \ १ २ ४ / ८

१	२	४
ऽ	ऽ	ऽ
।	ऽ	ऽ
ऽ	।	ऽ
।	।	ऽ
ऽ	ऽ	।
।	ऽ	।
ऽ	।	।
।	।	।

४ \ १ २ ४ ८ / १६

१	२	४	८
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
।	ऽ	ऽ	ऽ
ऽ	।	ऽ	ऽ
।	।	ऽ	ऽ
ऽ	ऽ	।	ऽ
।	ऽ	।	ऽ
ऽ	।	।	ऽ
।	।	।	ऽ
ऽ	ऽ	ऽ	।
।	ऽ	ऽ	।
ऽ	।	ऽ	।
।	।	ऽ	।
ऽ	ऽ	।	।
।	ऽ	।	।
ऽ	।	।	।
।	।	।	।

(नष्टम्)

अथ नष्टक्रिया—जिज्ञासिताङ्कोनितः संख्यानाङ्कः प्राक्तनहारेषु यत्रयत्रोपलभ्यते तत्र गुरुरन्यत्र लघुरिति नष्टविज्ञानम् ।। यथा चतुरक्षरप्रस्तारे संख्यानाङ्कः षोडशरूपः । स नवाङ्कोनितश्चेदवशिष्टः सप्ताङ्कः प्रथमद्वितीयतृतीयस्थानस्थेष्वेकद्विचतुरङ्केषूद्धृतो भवतीति कृत्वा तेषु त्रयो गुरवः स्युश्चतुर्थे तु लघुस्स्यादिति नवमं रूपं मलात्मकं (ऽऽऽ।) सिध्यति । एवमस्मिन् षोडशाङ्के सप्ताङ्कोनितेऽवशिष्टो नवाङ्कः प्रथमचतुर्थाभ्यामेकाष्टाङ्काभ्यामुद्धृतो भवतीति कृत्वा प्रथमचतुर्थस्थानयोर्गुरुप्राप्तिः । अवशिष्टयोर्द्वितीयतृतीययोस्तु लघुप्राप्तिरिति सप्तमं रूपं भगात्मकं (ऽ।।ऽ) सिध्यति । एवमेवान्यान्यपि तत्तत्स्थानीयस्वरूपाणि द्रष्टव्यानि ।। ४ ।।

(उद्दिष्टम्)

अथोद्दिष्टक्रिया—उद्दिष्टोपरिहारे गुर्वङ्करहितेन संख्यानाङ्केन स्थानविज्ञानम् । यथा (ऽ।ऽ।) इत्येवमुद्दिष्टस्वरूपोपरि सूच्यङ्कविन्यासे (१।२।४।८) गुर्वङ्कावेकचतुष्कात्मकौ षोडशकापनीतौ एकादशाङ्कमवशेषयतः । तस्मादिदं स्वरूपमेकादशमिति सिद्धचति ।। एवं (।ऽ।ऽ) इत्यस्मिन् स्वरूपे गुर्वङ्कयोर्द्विकाष्टकयोः षोडशकादपहृतयोः षड्ङ्कोऽवशिष्यते । तस्मादिदं स्वरूपं षष्ठमिति सिद्धचति ।। एवमेवान्यत्रान्यत्रापि स्थानविज्ञानं द्रष्टव्यम् ।। ५ ।।

(मेरुः)

अथ मेरुप्रक्रिया ।। उर्ध्वाधोहारे संख्यानाङ्कादूर्ध्वाङ्कप्रमितिमेकाङ्कपूर्विका-मुल्लिख्य पूर्वगणनावृत्तिवाराङ्कोनितैतदुल्लिखिताङ्कपरिमितावृत्तिभिर्भूयोभूयः संख्यानोत्तरोत्तरैकाङ्कादूर्ध्वाङ्कप्रमितिमुल्लिखेत् स मेरुः स्यात् । यथा—

० १
१ २ १ । १
२ ४ १ । २ । १
३ ८ १ । ३ । ३ । १
४ १६ १ । ४ । ६ । ४ । १
५ ३२ १ । ५ । १० । १० । ५ । १
६ ६४ १ । ६ । १५ । २० । १५ । ६ । १

अत्र चतुःषष्टिसंख्यानादूर्ध्वं द्वात्रिंशदादियावदङ्कमेकवारमावर्त्तिते षडङ्कः फलतीति तदुल्लेखः । एकवारात्तनादयं षडङ्को लब्ध इत्येकाङ्के तस्मात् षडङ्काद-पनीते पञ्चाङ्कस्यावशिष्टत्वात् पुनः सूचीं पञ्चवारमावर्तयेत् । । प्रत्यावृत्ति पूर्वपूर्व-मेकैकमङ्कं परित्यजेदिति परिभाषा । तथाहि—(षोडशाद्यावर्त्तनात्—[१] अष्टाद्या-वर्त्तनात्—[२] चतुराद्यावर्तनात्—[३] द्वयाद्यावर्तनात्—[४] एकाद्यावर्तनाच्च—[५]) पञ्चदशाङ्कः फलतीति तदुल्लेखः ।। पञ्चवारावर्तनात्त्वयमङ्को लब्ध इति पञ्चाङ्के-तस्मादपनीते दशाङ्कस्यावशिष्टत्वाद्दशवारमतः परं प्राग्वत् सूचीमावर्तयेत् । तथा च (अष्टाद्यावर्तनात्—[१] चतुराद्यावर्तनात्—[२]द्वयाद्यावर्तनात्—[३] एकाद्यावर्तनात्—[४]) पुनः (चतुराद्यावर्तनात्—[५] द्वयाद्यावर्तनात्—[६] एकाद्यावर्तनात्—[७]) पुनरपि (द्वयाद्यावर्तनात्—[८] एकाद्यावर्तनात्—[९]) भूयोऽप्येकाद्यावर्त्तनाच्च—[१०] विंश-काङ्कः फलतीति तदुल्लेखः ।। दशवारावर्तनात्त्वयमङ्को लब्ध इति दशाङ्के तस्मादय-नीते दशाङ्कस्यावशिष्टत्वाद्भूयोऽपि दशवारमेव सूचीमावर्त्तयेत् । तथा च—(चतु-राद्यावर्तनम्—[१] द्वयाद्यावर्तनम्—[२] एकाद्यावर्तनम्—[३]) पुनः (द्वयाद्यावर्त्तनम्—[४] एकाद्यावर्तनम्—[५]) पुनरपि (एकाद्यावर्तनम्—[६]) [इत्थं त्रिभिरावर्तैरेका प्रत्यावृत्ति-श्चतुरादिः । ततोऽन्या प्रत्यावृत्तिः ।] (द्वयाद्यावर्तनम्—[७] एकाद्यावर्तनम्—[८]) (पुनरेकाद्यावर्तनम्—[९]) । [अथान्या प्रत्यावृत्तिः] । (एकाद्यावर्तनम्—[१०]) इत्थं पञ्चदशाङ्कः फलतीति तदुल्लेखः ।। दशवारावर्तनात्त्वयमङ्को लब्ध इति दशाङ्के तस्मादपनीते पञ्चाङ्कस्यावशिष्टत्वादतः परं पञ्चवारं सूचीमावर्तयेत् । तथा च—

(द्वयाद्यावर्तनम्—[१] एकाद्यावर्तनम्—[२]) पुनरेकाद्यावर्तनम्—[३] ।। [इत्येका प्रत्यावृत्तिः] । (एकाद्यावर्तनम्—[४]) [इत्यन्या प्रत्यावृत्तिः] । [एवमेकः प्रत्यावर्तः। ततोन्यः प्रत्यावर्तः । (एकाद्यावर्तनम्—[५]) तदित्थं षडङ्कः फलतीति तदुल्लेखः । पञ्चवारावर्तनात्त्वयमङ्को लब्ध इति पञ्चाङ्के तस्मादपनीते एकाङ्कस्यावशिष्टत्वादतः परमेकवारमेव सूचीमावर्तयेत्—तथाचैकाद्यावर्तनादेकाङ्कः फलतीति तदुल्लेखः ।

एकवारावर्तनात्त्वयमङ्को लब्ध इत्येकाङ्के तस्मादपनीतेऽव शेषाभावादावर्तनक्रिया-निवृत्तिरिति षडक्षरसंबन्धी मेरुप्रस्तरसिद्धिः । एवमेवावृत्त्या[१]वर्त[२]प्रत्यावृत्ति[३]प्रत्यावर्त[४]-समावृत्ति[५]समावर्त[६]संप्रत्यावृत्ति[७]संप्रत्य ावर्त[८]पर्य्यावर्तने[९]भ्यो यथायथमेकैकपूर्वाङ्क-परित्यागेन प्रयुक्तेभ्यो मेरुप्रस्तराः सर्वे साध्याः ।। तत्र मेरुप्रस्तरस्य प्रथमाङ्केन यावदक्षरगुरुकस्बरूपसंख्यानं, तत एकैकोनगुरुकाणां स्वरूपाणां संख्यानानि द्वितीयाङ्कादिभ्यो विज्ञेयानि ।। ६ ।।

(शलाका)

अथ शलाकाक्रिया—मेरुव्यापारं विनैव यत्र गलेयत्तानिबन्धनस्वरूपसंख्यान-माकारितं स्यात् सा शलाका । तथा च यावदक्षरकप्रस्तारे शलाका चिकीर्षिता तस्य सूचीविन्यासे क्रियमाणे विभागद्वैधं तावद्द्रष्टव्यम् । तावदक्षरप्रमिताङ्कसमवाय एको भागः । तदुत्तरं संख्यानाङ्कमात्रमपरो भागः ।। तत्र प्रथमेन गुरुमत्स्वरूपविज्ञानम्, द्वितीयेन तु निर्गुरुकस्वरूपं विज्ञायते । तथाहि प्रस्तारे सर्वगुरुकस्वरूपसंख्या-जिज्ञासायां प्रथमभागस्य सर्वाङ्कसमष्टिसंख्या द्रष्टव्या । सा सर्वत्रैव नियमेनैकाङ्कप्रति-पन्ना स्यात् । ततो यावद्गुरुकस्वरूपसंख्या जिज्ञास्यते प्रथमभागसम्बन्धितावत्ता-वदङ्कसमष्टीः संख्याय तत्रतत्र संख्या द्रष्टव्या । यथा—षडक्षरप्रस्तारे तत्सूची-संबन्धिनामेकद्विचतुरष्टषोडशद्वात्रिंशदङ्काना षण्णां समष्टिरेकैव स्यादतः षड्गुरुक-स्वरूपसंख्याङ्क एकात्मकः समुल्लिखितः । अथ तत्र तेषामेकद्वयादीनामस्तव्यस्त-गृहीतानां पञ्चानां पञ्चानां समष्टयः षड् भवन्तीति पञ्चगुरुकस्वरूपाणि षड् विज्ञेयानि ।। एवं चतुर्णां चतुर्णां समष्टयः पंचदश भवन्तीति पञ्चदशैव चतुर्गुरुक-स्वरूपाणि भाव्यानि ।। तथा त्रयाणां त्रयाणां समष्टयो विंशतिरतो विंशतिरेव त्रिगुरुकस्वरूपाणि । तथा द्वयोर्द्वयोः समष्टयः पञ्चदशेति पञ्चदशैव द्विगुरुक-स्वरूपाणि । तद्वदेकैकाङ्काः षडुपलभ्यन्ते इति षडेव तत्रैकगुरुकस्वरूपाणि । इत्थं प्रथमभागक्रिया निवृत्ता । तदतिरिक्तस्तु संख्यानाङ्कः । स चैकात्मा । ततो निर्गुरुकस्वरूपस्यैकत्वमवसीयते ।। तदित्थं भू[१]-रस[६]—तिथि[१५]—कृति[२०]—तिथि[१५]—रस[६]—भू[१]भिः कृतसप्तावयवा षडक्षरप्रस्तारशलाका सिद्धा तद्विज्ञानं च सिद्धम् । इत्थमेवान्य-त्रापि द्रष्टव्यम् ।। ७ ।।

(पताका)

अथ पताकाक्रिया ।। यावदवयवा शलाका क्रियते तावत्य एव तत्र पताकायां श्रणयो भवन्ति । तत्र तासामुत्पत्स्यमानानां श्रेणीनामूर्ध्वतस्तावत्सूच्यवयवाङ्का लेख्याः । तत्र संख्यानाङ्के पूर्वपूर्वेषामङ्कानामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणांत्रयणामित्थ-मधिकानां वा वियोगेऽवशिष्टाङ्कपरम्परया सा सा अङ्कश्रेणी समुत्पद्यते । ताश्च सूच्यवयवेकैकाङ्काधःक्रमेण लिखिताः स्युः । यथा षडक्षरसूचीविन्यासे कृते

तदन्तिमसंख्यानाधस्तात्तत्समानोऽङ्को विन्यस्तव्यः सा सप्तमी श्रेणी स्यात् । अथ तस्मिन् संख्यानाङ्के पृष्ठस्थेनैकैकाङ्केन वियोजिते षष्ठी श्रेणी भवति । ततः पुनरस्मिन् संख्यानाङ्के पृष्ठस्थाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां वियोजिते पञ्चमी श्रेणी भवति । तथा तस्मिन् पृष्ठस्थैस्त्रिभिस्त्रिभिर्वियोजिते चतुर्थी श्रेणी भवति ।। एवं चतुर्भिश्चतुर्भिर्वियोजिते तृतीया श्रेणी भवति ।। तथा पञ्चभिः पञ्चभिर्वियोजिते द्वितीया श्रेणी भवति । षड्भिरेव तु पृष्ठाङ्कैर्वियोजिते संख्यानाङ्के सिद्ध एकाङ्कः प्रथमा श्रेणी भवति । इत्थमेवान्यान्यापि पताका भावनीया ।। मेरून्मितं पङ्क्तिकोष्ठं तत्र संख्यानमन्तिमे सूचीब्यस्तसमस्ताङ्कहीनं तत्पृष्ठतो न्यसेत् । तत्र त्र्यक्षरपताकाविन्यासो यथा—

१ । ३ । ३ । १

१ । २ । ४ । ८

---

१ । २ । ४ । ८

३ । ६ ।

५ । ७ ।

चतुरक्षरपताकाविन्यासो यथा—

१ । ४ । ६ । ४ । १

१ । २ । ४ । ८ । १६

---

१ । २ । ४ । ८ । १६

३ । ६ । १२

९ । ७ । १४

५ । १० । १५

११ ।

१३ ।

पञ्चाक्षरपताकाविन्यासो यथा—

१ । ५ । १० । १० । ५ । १

१ । २ । ४ । ८ । १६ । ३२

---

१ । २ । ४ । ८ । १६ । ३२

३ । ६ । १२ । २४

५ । ७ । १४ । २८

९ । १० । १५ । ३०

१७ । ११ । २० । ३१

१३ । २२

१८ । २३

१९ । २६

२१ । २७

२५ । २९

इतीत्थमेव षडक्षरसप्ताक्षरादिपताकाविन्यासा यथायथं द्रष्टव्याः ॥८॥

(मर्कटी)

अथ मर्कटीजालप्रक्रिया ॥ तत्रापि प्रथममुल्लिखितप्रकारा सूची विन्यस्तव्या। तत्र क्रमिकाङ्कगुणितं संख्यानं कृत्वा तदनुबन्धेनान्या पङ्क्तिर्लेख्या। सा तत्प्रस्तारे वर्णेयत्ता स्यात् ॥ तथा येयं वर्णेयत्ता लिखिता तदर्द्धं कृत्वा अन्या पङ्क्तिर्लेख्या। सा तत्प्रस्तारे गुरूणामियत्ता स्याल्लघूनां वा ॥ अथेत्थं सिद्धयोर्वर्णेयत्तागलेयत्ता-पङ्क्त्योर्योगेन अन्या पङ्क्तिर्लेख्या, सा तत्प्रस्तारे मात्रेयत्ता स्यात् ॥ तथा येयं मात्रेयत्ता लिखिता तदर्द्धेनान्या पङ्क्तिर्लेख्या सा तत्प्रस्तारे पिण्डेयत्ता स्यात् ॥ मात्राद्वयसमवायः पिण्डः ॥ तदित्थं प्रस्तारसंबन्धे पूर्वप्रत्ययेभ्योऽप्यनिर्द्धारितं यद्यदेवापेक्षितं भवति तत्सर्वं मर्कटीजालेनानुसन्धेयमिति दिक् ॥

वर्णः पारघ्नहारेण—तदर्द्धेन गुरुर्लघुः।
तयोर्योगेन मात्रा स्यान्मात्रार्धं पिण्ड इष्यते १

मर्कटीजालविन्यासो यथा—

	०	१	२	३	४	५	६	७	८	९
	१	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६	५१२
वर्णेयत्ता	०	२	८	२४	६४	१६०	३८४	८९६	२०४८	४६०८
गलेयत्ता	०	१	४	१२	३२	८०	१९२	४४८	१०२४	२३०४
मात्रेयत्ता	०	३	१२	३६	९६	२४०	५७६	१३४४	३०७२	६९१२
पिण्डेयत्ता	०	$\frac{१}{२}$	६	१८	४८	१२०	२८८	६७२	१५३६	३४५६

इत्थमियं वर्णप्रत्ययानां संख्यानाध्वयोगप्रस्तारनष्टोद्दिष्टमेरुशलाकापताका-मर्कटीजालाख्यानामभिज्ञानार्थं सुखसरणी निरूपिता ॥

॥ इति सुखसरणिका नाम द्वितीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

अथ मात्राप्रत्यया: प्रस्तूयन्ते

आदौ तावत् संगृहीतार्थबोधकास्त्रय: प्रत्यया प्रस्तारमेरुमर्कटचो दर्शयितव्या: । तत्र समसंख्यमात्राकानां छन्द:पादानां सर्वे विकल्पा: साकल्येन यथा विज्ञायेरन् तथा विकल्पनिदर्शनप्रकारो मात्राप्रस्तार: । स चेत्थं कर्त्तव्य:—

इष्टमात्राक: सर्वगुरुक: प्रथमो विकल्प: स्यात् । तत्र प्रथमस्य गुरोरवयवविश्लेषसिद्धं लघुद्वयं तदध: स्थाप्यम् । अग्रे च तत्पङ्क्तौ निर्विशेषमुपरितनवत् । सोऽयं द्वितीयो विकल्प: ।। ततस्तत्रापि गुरूणां प्रथमस्य गुरोरध: पूर्ववद्विश्लेषसिद्धे लघुद्वये प्राप्ते एक: स्थाप्य: । एकस्तु पूर्वेण लघुना संश्लेष्य पूर्वतो यथासम्भवं गुरु: स्थाप्य: । अग्रे तु तत्पङ्क्तौ निर्विशेषमुपरिवत् । एवमुत्तरोत्तरं सर्वलघुकविकल्पं यावत् कार्य्यम् । तथा चेदं सूत्रम् ।—

निर्दिष्टविकल्पस्थप्रथमगुरुविश्लेषसिद्धलघुद्वयमध्यादेकेन
पूर्वान् लघून् यथासंभवं संश्लेष्य विकल्पमुत्तरं कुर्य्यादिति ।

तथा च द्विमात्रकादिषण्मात्रकान्ता ण ढ ड ठ ट संज्ञा:, मतान्तरे द त च प ष-संज्ञा: षट् प्रस्तारा: प्रदर्श्यन्ते—

अत्र संपृक्तरेखया गुरु: । अपृक्तरेखया तु लघुर्बोध्य: ।। इत्थमुत्तरेऽपि सप्तमात्रादय: प्रस्तारा द्रष्टव्या: । सोऽयं क्रियामूलक: प्रथम: प्रस्तारोल्लेखप्रकार: ।। १ ।।

अथान्यः प्रकारः। एकस्या मात्रायाः प्रकारभेदो न संभवतीति कृत्वा तत्र संकेतितैका सरला रेखैव प्रस्तारन्यासः स्यात् ।१। मात्राद्वैते तु प्रस्तारन्यासस्यापि द्वैविध्यं प्राप्नोति। उभयोर्मात्रयोः संहृत्य पिण्डरूपतया विशकलितरूपतया चावस्थान-संभवेन द्वैरूप्यसंभवात् । तथा च पिण्डसंकेतितैका वक्रा रेखा प्रस्तारे प्रथमो न्यासः। मात्रासंकेतिते द्वे सरले रेखे तु तत्र द्वितीयो न्यासः। इत्थं स्वरूपद्वयविन्यासो द्विमात्राप्रस्तारः स्यात् ।२। अथानयोरेव प्रस्तारयोः क्रमेण गुर्वन्तलघ्वन्तकरणात् त्रिमात्राप्रस्तारः स्यात् । तथा हि—त्रिमात्राप्रस्तारे चिकीर्षिते प्रथमं तावदेक-मात्राको न्यासो न्यस्तव्यः, तदधस्ताच्च द्विमात्राप्रस्तारन्यासौ लेख्यौ । ततस्तदेक-मात्रान्यासो गुर्वन्तः कार्य्यः। तदधस्तनौ द्विमात्रान्यासौ तु लघ्वन्तौ । तथाचैक द्विसंयोगात् सिद्धस्त्रिसंख्यानकस्त्रिमात्राप्रस्तारः ।३। एवमेव पूर्वपूर्वप्रस्तारद्वयस्यौ-त्तराधर्य्यभावेनोल्लिखितस्य प्रथमे गुर्वन्तकृते द्वितीये तु लघ्वन्तकृते क्रमेणोत्तरोत्तरं पौर्वयुगीयाङ्कसंख्यानकस्वरूपघटिताः तत्तन्मात्राप्रस्ताराः सिध्येयुरिति द्रष्टव्यम् ।४। सोऽयं प्रस्तारमूलको द्वितीयः प्रस्तारोल्लेखप्रकारः ।। २ ।। यथा— ।N

N।।

।।।

अथान्यो नव्यः प्रकारः। पूर्वमेकाङ्कः स्थाप्यः। तमेकाङ्कमेकाङ्केनैव संगमय्य द्व्यङ्कः स्थाप्यः। ततस्तयोरेकाङ्कद्व्यङ्कयोर्योगेन त्र्यङ्कः स्थाप्यः। ततोद्व्यङ्क-त्र्यङ्कयो-र्योगेन पञ्चाङ्कः स्थाप्यः। त्र्यङ्कपञ्चाङ्कयोर्योगेनाष्टाङ्कः। पञ्चाङ्काष्टाङ्कयोर्योगेन त्रयोदशाङ्कः। इत्थं पूर्वयोर्द्वयोर्द्वयोर्य्योगक्रमेणोत्तरोत्तरमङ्कविन्यासे मात्रासूची भवति ।। तच्छिरसि च क्रमेणैकादिक्रमिकाङ्काः स्थाप्याः। यथा—

१ । २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ ।
१ । २ । ३ । ५ । ८ । १३ । २१ । ३४ । ५५ ।

अत्र क्रमिकाङ्कप्रमितमात्राप्रस्तारे तदधस्तनाङ्कप्रमिताः स्वरूपविकल्पा भवन्तीति विज्ञायते ।। तथाच यावन्मात्राकः प्रस्तारश्चिकीर्ष्यते तदधस्तनः पौर्वयुगीयाङ्कस्तावल्लेख्यः। सचायमङ्कः पूर्वयोर्द्वयोरङ्कयोर्योगसिद्ध इति तावङ्कौ तदधस्ताल्लेख्यौ ।। अथ तावप्यङ्कौ पूर्वयोः पूर्वयोरङ्कयोर्योगसिद्धाविति कृत्वा तत्तदधस्तात्तौ तावङ्कौ लेख्यौ। इत्थं क्रमेण विन्यस्ताङ्कसाधकयोः पूर्वयुगाङ्कयोर-धस्तादधस्तादुल्लेखे प्रसक्ते त्र्यङ्कसाधकयोरेकाङ्कद्व्यङ्कयोर्यत्र विन्यासः सिद्धस्तत्र पुनरेकाङ्कस्य विशकलनं शून्यैकाङ्काभ्यां कार्य्यम्। न ह्येतन्मात्रासूचीगतैकाङ्को वर्णसूचीगतैकाङ्कवदयोगसिद्धः शून्यद्वययोगसिद्धो वा विवक्ष्यते। शून्यादिक्रमिकाङ्क-स्येहानुल्लेखात् । तस्मादवश्यमयमेकाङ्कः संख्यारूपः शून्यस्य नित्यनिरवयवैकाङ्कस्य च योगात्संसिद्धो द्रष्टव्यः ।। एवं यर्हि द्व्यङ्कस्य विशकलने एकाङ्कद्वयं प्राप्तं तत्रापि विशकलितयोर्द्वयोः प्रथमस्य द्वितीयखण्डापेक्षया ह्रस्वत्वनैयत्यात् प्रथम एकाङ्को नित्यनिरवयवात्मा, द्वितीयस्त्वेकाङ्कः शून्यनित्यनिरवयवयोगसंसिद्धः संख्यात्मा इति तारतम्यं द्रष्टव्यम् ।। यथा ह्याकाशद्वयसंयोगानवक्लप्तावपि घटाकाशसंयोगम-

भिमन्वते तत्र भवन्तस्तद्वत् । तत्रानित्यनिरवयवैकाङ्कस्य विभागासंभवाद्विभाग-क्रियानिवृत्तिः । संख्यात्मनस्त्वेकाङ्कस्य विभागे शून्यपूर्वको नित्यनिरवयवैकाङ्कोऽध-स्ताल्लेख्यस्ततः क्रियानिवृत्तिः । सोऽयं व्यापारः सूचीविवृतिशब्देन व्यपदिश्यते ॥ सूचीविवृतिविन्यासस्त्रिमात्राप्रस्तारे यथा—
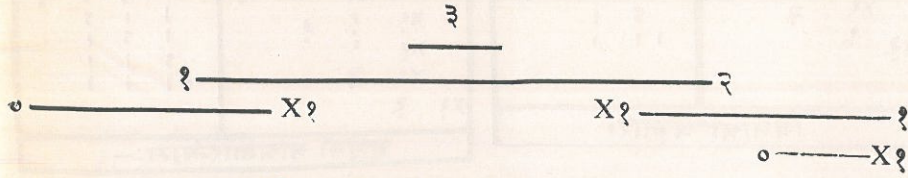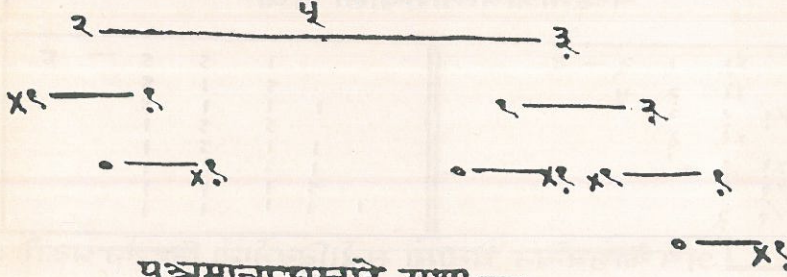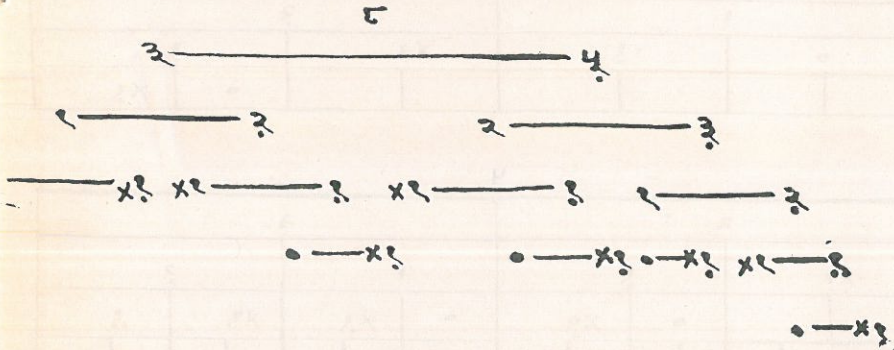
इत्येवमुत्तरोत्तरं यथायथं सूचीविवरणं द्रष्टव्यम् । तत्र विशकलनसिद्धयोस्त-योस्तयोरङ्कयोः प्रथमेन प्रमिता ऊर्ध्वाधरं गुरवो लेख्याः । द्वितीयेन प्रमितास्तु तद-धस्तादूर्ध्वाधरं लघवो लेख्याः । तत्र सूचिविवृतेः प्रथमसंस्थया प्रथमा, द्वितीयसंस्थया द्वितीयेत्येवं सूचीविवृतिसंस्थानुसारेणोर्ध्वाधरविन्यस्तगुरुलघुपङ्क्त्योः वामावर्त्तेन कार्याः । तथाच प्रस्तारः सिध्यति । यथा त्रिमात्राप्रस्तारे चिकीर्षिते एकेन गुरुणा द्वाभ्यां लघुभ्यां चैतैरूर्ध्वाधरविन्यस्तैरेका त्र्यवयवा पङ्क्तिः । ततो गुरुप्रापकस्यै-काङ्कस्य शून्याङ्कनित्यैकाङ्कयोगसिद्धत्वात् तद्वामे गुरुः शून्यतां गतः । लघुरेकस्तु विन्यस्तः । अथलघुद्वयप्रापकस्य द्व्यङ्कस्य नित्यैकाङ्क-संख्यैकाङ्कयोगसिद्धत्वात् तयोर्लघ्वोर्वामतः क्रमेण गुरुरेको लघुरेकश्चेत्येवं विन्यस्तैर्द्वितीया त्र्यवयवा पङ्क्तिः ।

अथैतस्यां पङ्क्तौ उपरितनयोरङ्कयोर्नित्यनिरवयवात्मतया रूढत्वात् तद्वामतोऽङ्काप्राप्त्या गुरुलघुविन्यासाभावः। तृतीयस्य तु संख्यैकाङ्कतया यौगिकत्वात्तद्वामतो विशकलनसिद्धैकाङ्कप्राप्त्या एकलघुविन्यासः। गुरोरत्रापि शून्यत्वेन प्रतिपत्तेः ॥ तथाच इत्थं प्रस्तारन्यासः—

तदित्थमन्येऽप्यधिकाधिकमात्राप्रस्तारन्यासा द्रष्टव्याः।। सोऽयं संख्यानमूलकस्तृतीयः प्रस्तारोल्लेखपकारः ।३। तदित्थं त्रेधा प्रस्तारोल्लेखः सिद्धः । स पुनर्द्वेधा लघुक्रियो गुरुक्रियश्च । तत्र लघुक्रियं प्रस्तारोल्लेखत्रैविध्यमुक्तम् । तद्वैपरीत्येन च गुरुक्रियं प्रस्तावत्रैविध्यं द्रष्टव्यम् । तदित्थं षोढा । तत्पुनर्द्वेधा । वामावर्तं दक्षिणावर्तं च । तदित्थं द्वादशविधो मात्राप्रस्तारोल्लेखः सुव्याख्यातः प्राग्वत ।

।। इति प्रस्तारचक्रम ।।

अथ मात्रामेरुविज्ञानम् । तत्तत्प्रस्तारीयविकल्पजाते कियद्गुरुकाः कियल्लघुका वा कियन्तो विकल्पाः सन्तीति निर्द्धारणार्थं यत्राङ्कन्यासः क्रियते स मेरुः । शिलोच्चयाकारेणाकारितत्वादस्य मेरुसंज्ञा । तथा हि तावदेककोष्ठका शिला स्थाप्या । सा प्रथमशिलेत्युच्यते । तदधो द्विकोष्ठके द्वे शिले उत्तराधरभूते तथा स्थाप्ये येनैतयोः शिलयोः प्रथमद्वितीयकोष्ठार्द्धार्द्धभागः प्रथमशिलाधस्तात् स्यात् । अर्द्धमर्द्धन्तूभयोरुभयतः प्रसृप्तं स्यात् । अथ ततोऽधस्तात् पुनरुत्तराधरभूते त्रिकोष्ठके द्वे शिले तथा स्थाप्ये येन प्रथमतृतीयकोष्ठयोरर्द्धमर्द्धमुभयतस्तृतीयशिलातः प्रसृप्तं स्यात् । एवमधस्तादधस्तादौत्तराधर्य्यभावेनैब चतुःकोष्ठक-पञ्चकोष्ठकादिक्रमप्राप्ते द्वे द्वे शिले कृत्वा षष्ठसप्तमशिलादयोपि यथेच्छमवस्थापनीयाः ।।

अथ तेषु शिलाकोष्ठकेष्वेवमङ्कन्यासः । प्रथमशिलाकोष्ठके एकाङ्कः । ततस्तृतीयपञ्चमादिविषमशिलानां प्रथमे प्रथमे कोष्ठे द्वयङ्कत्र्यङ्कादयः क्रमप्राप्ताङ्का लेख्याःद्वितीयचतुर्थादिसमशिलानां तु प्रथमे प्रथमे कोष्ठके सर्वत्रैकाङ्क एव समुल्लेख्यः । एवं तासां सर्वासामेव शिलानामन्तिमेऽन्तिमे कोष्ठे सर्वत्रैकाङ्क एव लेख्यः । ततोऽवशिष्टेषु मध्यमेषु कोष्ठकेष्वयमङ्कन्यासन्यायः । तृतीयपञ्चमादिविषमशिलाकोष्ठेषु स्वोपरितनकोष्ठाङ्कस्य तदुपरितनाग्रिमकोष्ठाङ्केन योगे सिद्धमङ्कं लिखेत् । चतुर्थषष्ठादिसमशिलाकोष्ठेषु तु स्वोपरितनयोः कोष्ठयोर्मध्ये पूर्वकोष्ठस्थमङ्कमग्रिमकोष्ठोपरितनकोष्ठस्थाङ्केन संयोज्य लिखेत् । तथा च न्यस्ताङ्को मात्रामेरुस्स्यात् ।।

ततस्तदङ्कन्यासाद् यद्विज्ञातव्यं तदुच्यते । चतुर्थ्यां शिलायाम्—एकः, त्रयः, एकः इत्येवं क्रमेणाङ्का विन्यस्ता दृश्यन्ते । ततो विज्ञायते—चतुर्मात्राप्रस्तारविकल्पेषु द्विगुरुको विकल्प एकः । एकगुरुका विकल्पास्त्रयः । निर्गुरुको विकल्पः पुनरेकः । अथवा चतुर्लघुको विकल्प एकः । द्विलघुका विकल्पास्त्रयः, निर्लघुको विकल्पः पुनरेकः इति । तथा पञ्चमात्राप्रस्तारविकल्पेषु द्विगुरुका विकल्पास्त्रयः, एकगुरुका विकल्पाश्चत्वारः, निर्गुरुकःपुनरेक इति । अथवा एकलघुकास्त्रयः, त्रिलघुकाश्चत्वारः, पञ्चलघुकः पुनरेकः । इतीत्थं प्रतिप्रस्तारं विद्यात् एतेषां तु तत्तच्छिलाङ्कानां समष्टिस्तत्तन्मात्राकविकल्पसंख्या भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् । इत्थं च स मात्रामेरुन्यासः ।
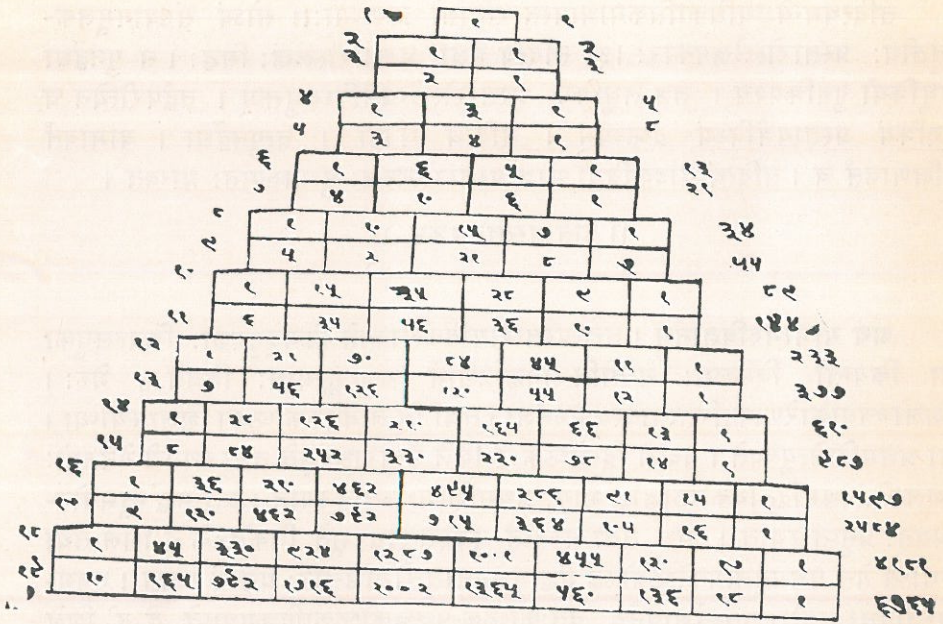
अथायमेव मेरुरेकतो नतश्चेत् खण्डमेरुरित्युच्यते । स द्वेधा-दक्षिणनतवामनतभेदात् । समानस्तु तदुभयोच्चयः । तथाहि तावदेककोष्ठका शिला स्थाप्या सा प्रथमशिलेत्युच्यते । तदधो द्विकोष्ठके द्वे शिले उत्तराधरभूते तथा स्थाप्ये यथा तयोः प्रथमं प्रथमं कोष्ठं प्रथमशिलायाः सर्वथाधस्तात् स्यात्, द्वितीयं तु तदधस्तान्न स्यात् । अथ ततोऽधस्तात् पुनरुत्तराधरभूते त्रिकोष्ठके द्वे शिले तथा स्थाप्ये येन तयोरपि प्रथमं प्रथमं कोष्ठकं प्रथमशिलाधस्तात् स्यात् द्वितीयकोष्ठं तु तृतीयशिलाद्वितीयकोष्ठाधः स्यात् । एवमधस्तादधस्तादौत्तराधर्य्यभावेनैव चतुःकोष्ठकपञ्चकोष्ठकादिक्रमप्राप्ते द्वे द्वे शिले कृत्वा षष्ठसप्तमशिलादयोऽपि यथेच्छमवस्थापनीयाः । अथ तेषु शिलाकोष्ठकेष्वेवमङ्कन्यासः । प्रथमशिलाकोष्ठके एकाङ्कः । तद्घटितशिलास्तम्भखचितानामूर्ध्वाधरभूतानां कोष्ठकानां मध्ये तृतीयपञ्चमादिविषमकोष्ठेषु द्व्यङ्कत्र्यङ्कादयः क्रमप्राप्ताङ्का लेख्याः । द्वितीयचतुर्थादिसमकोष्ठेषु तु सर्वत्रैकाङ्क एव समुल्लेख्यः । एवं तासां सर्वासामेव शिलानामन्तिमेऽन्तिमे कोष्ठे सर्वत्रैकाङ्क एव लेख्यः । ततोऽवशिष्टेषु मध्यमेषु कोष्ठेष्वयमङ्कन्यासन्यायः। तृतीयपञ्चमादिविषमशिलाकोष्ठेषु स्वस्योपरितनकोष्ठद्वयाङ्कयोगाङ्कः समुल्लेख्यः । चतुर्थषष्ठादिसमशिलाकोष्ठेषु तु स्वोपरितनकोष्ठस्य चतुर्दिक्स्थकोष्ठचतुष्टयमध्ये यदग्रिमकोष्ठं तदितरकोष्ठद्वयाङ्कयोगाङ्कः समुल्लेख्यः ।। तथाच न्यस्ताङ्को मात्राखण्डमेरुः स्यात् ।। ततस्तदङ्कन्यासाद् यद्विज्ञातव्यं यदुच्यते—षष्ठयां शिलायाम्-एकः, षट्, पञ्च, एकः—१।६।५।१। इत्येवं क्रमेणाङ्का विन्यस्ता दृश्यन्ते। ततो विज्ञायते। षण्मात्राप्रस्तारविकल्पेषु त्रिगुरुको

विकल्प एकः । द्विगुरुका विकल्पाः षट् । एकगुरुकाः पञ्च । निर्गुरुकः पुनरेको विकल्पः इति ।। एवं द्वादश्यां शिलायामङ्कन्यासाद्विज्ञायते । षड्गुरुको विकल्प एकः । पञ्चगुरुका एकविंशतिः । चतुर्गुरुकाः सप्ततिः । त्रिगुरुकाः चतुरशीतिः । द्विगुरुकाः पञ्चचत्वारिंशत् । एकगुरुकाः एकादश । निर्गुरुकः पुनरेकः । इत्थं सर्वत्र बोध्यम् ।। इत्थं च तस्य मात्राखण्डमेरोर्न्यासो भवति ।।—

१	१											
२	१	१										
३	२	१										
४	१	३										
५	३	४	१									
६	१	६	५	१								
७	४	१०	६	१								
८	१	१०	१५	७	१							
९	५	२०	२१	८	१							
१०	१	१५	३५	२८	९	१						
११	६	३५	५६	३६	१०	१						
१२	१	२१	७०	८४	४५	११	१					
१३	७	५६	१२६	१२०	५५	१२	१					
१४	१	२८	१२६	२१०	१६५	६६	१३	१				
१५	८	८४	२५२	३३०	२२०	७८	१४	१				
१६	१	३६	२१०	४६२	४९५	२८६	९१	१५	१			
१७	९	१२०	४६२	७९२	७१५	३६४	१०५	१६	१			
१८	१	४५	३३०	९२४	१२८७	१००१	४५५	१२०	१७	१		
१९	१०	१६५	७९२	१७१६	२००२	१३६५	५६०	१३६	१८	१०		
	१										१	
	११										१	
	१											१
	१२											१

अथ मात्रामर्कटीविज्ञानम् । तत्रैकत्र एककलद्विकलत्रिकलादिमात्रावृत्तानां प्रस्तारविकल्पसंख्यायाः, यावद्विकल्पमात्रासमासस्य, यावद्विकल्पलघुसमष्टेः, यावद्विकल्पवर्णसमष्टेश्च संविज्ञानार्थमियमुपयुज्यते मर्कटी । मर्कटीसूत्रजालवदस्या गुम्फनान्मर्कटीसूत्रजालसंज्ञा । लाघवात्तु मर्कटीजालं मर्कटीसूत्रं मर्कटीति चाख्यायते ।। तत्र यावत्कलप्रस्तारसम्बन्धिनः पदार्था विज्ञातव्याः तावत्कोष्ठकाः षट्पङ्क्तयो लेख्याः । प्रथमपङ्क्तिकोष्ठकेषु एकद्वित्रिचतुरादयः क्रमागताङ्का लेख्याः ।। १।। द्वितीयपङ्क्तिकोष्ठकेषु एकद्वित्रिपञ्चादयः प्राग्वलिताङ्काः पौर्वयुगीयाख्या लेख्याः ।२। तृतीयपङ्क्तिकोष्ठकेषु प्रथमपङ्क्तिस्थक्रमागताङ्कगुणिता द्वितीयकोष्ठस्थप्राग्वलिताङ्का लेख्याः ।३।

चतुर्थपङ्क्तिकोष्ठकेषु प्रथमे एकाङ्कं, द्वितीये द्व्यङ्कं, लिखित्वा तृतीयादिष्वयं न्यायः प्रवर्त्तनीयः। पूर्वकोष्ठद्वयाङ्कं स्वोर्ध्वभागोपलक्षितं द्वितीयपङ्क्तिस्थप्राग्वलिताङ्कं च संयोज्य तत्रैकद्वित्रिपञ्चादयः प्राग्वलिताङ्का यथाक्रमं हापनीयाः। तदित्थं प्राग्वलिताङ्कहीनं स्वोपरितनप्राग्वलिताङ्कस्य स्वप्राक्तनकोष्ठद्वयाङ्कयोश्च योगेन सिद्धमङ्कं लिखित्वा चतुर्थपङ्क्तिः पूरणीया ॥४॥

पञ्चमपङ्क्तिकोष्ठकेषु प्रथमकोष्ठे कञ्चिदप्यङ्कमलिखित्वा द्वितीयादिकोष्ठेषु क्रमेण चतुर्थपङ्क्त्यङ्का आदितो लेख्याः ॥५॥

षष्ठपङ्क्तिकोष्ठकेषु चतुर्थपञ्चमपङ्क्तिस्थाङ्कद्वययोगसिद्धाङ्का लेखाः ॥६॥

तथा च न्यासः—

ज्ञातेन मात्रोद्देशेन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	
भेदाः	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	५५	८९	१४४	२३३	३७७	६१०	९८७	
मात्रासमासः	१	४	२	२०	४०	७८	१४७	२७२	४९५	८९०	१५८४	२७९६	४९०१	८५४०	१४७९५	
लघुसमष्टिः	१	२	५	१०	२०	३८	७१	१३०	२३५	४२०	७४४	१३०८	२२८५	३९७०	६८५५	
गुरुसमष्टिः	०	१	२	५	१०	२०	३८	७१	१३०	२३५	४२०	७४४	१३०८	२२८५	३९७०	
वर्णसमष्टिः	१	३	७	१५	३०	५८	१०९	२०१	३६५	६५५	११६४	२०५२	३५९३	६२५५	१०८२५	

इतीत्थं प्रस्तारो मेरुर्मर्कटी चेति त्रयः संगृहीतार्थबोधकाः प्रत्यया उक्ताः॥ अथैषामवान्तरमेकैकमर्थं विज्ञापयितुमन्ये लघूपायाः प्रत्ययाः उच्यन्ते॥ ते च नष्टोद्दिष्टसंख्यानाध्वयोगाः, शलाकापताके, सूचीपातालमात्रापिण्डाश्चेत्येवं दशधाऽनुसन्धेयाः। तथा च तावन्नष्टक्रिया व्याख्यायते—प्रस्तारे यावन्तो विकल्पाः सिद्धास्तेषां संख्याविशेषज्ञानेन स्वरूपविज्ञानमुच्यते। तत्रेदं सूत्रम्—

इष्टाङ्कोनितः सूचीशेषाङ्को यत्कलाविलुप्तस्तया परसंहितया गुरुरिति मात्रानष्टप्रत्ययः।१। समानमात्राका यावन्तो भेदाः स्युस्ते विकल्पा उच्यन्ते। स्वरूपतो विज्ञातुमिष्टो यो विकल्पः तस्य यावत्यः कला विवक्षिताः तावन्तः प्राग्वलिताङ्का लेख्याः। आदावेकाङ्कः। ततो द्वौ। ततस्तदुभययोगसिद्धस्त्र्यङ्कः। ततो द्वित्रियोगसिद्धः पंचाङ्कः ततस्त्रिकपञ्चकयोगसिद्धोऽष्टाङ्कः। इत्थं पूर्वपूर्वाङ्कद्वययोगसिद्धाङ्काः प्राग्वलिताङ्का उच्यन्ते सूच्यङ्का इति च। तदुल्लेखश्च पौर्वयुगीयोऽङ्कन्यास इत्युच्यते। तत्र योऽन्तिमकलाङ्कः स शेषाङ्क इत्युच्यते। ततो जिज्ञास्याङ्कव्यवाये योऽवशिष्यते स सिद्धाङ्कः। स्वरूपेण खण्डशो वा यत्कलाङ्कः स्यात् सा कला स्वोत्तरकलया संश्लिष्य द्विकलं गुरुं प्रकल्पयति। अन्याः कलाः स्वस्थाः सत्यो लघूनेककलान् प्रतिपादयन्तीति तथा गुरुलघुकस्तावन्मात्राकः स विकल्पो विज्ञातो भवति। अथवा सूत्रान्तरमत्र द्रष्टव्यम्— (पृष्टाङ्कन्यूनितसंख्यावशिष्टाङ्को यतो यतो विघटेत-सा कला तत्परकला च मिश्रिते गुरुरन्यत्र लघुरिति नष्टप्रत्ययः २) तथाचोदाहरणनि—गुरुसाध्ये षण्मात्राप्रस्तारेऽष्टमो विकल्पः कीदृशः इति जिज्ञासायां तावत् षट् कलाः स्थाप्याः।

तासु एक-द्वि-त्रि-पञ्चा-ऽष्ट-त्रयोदशाङ्काः क्रमेण स्थाप्याः। अन्तिमे त्रयोदशाङ्के जिज्ञास्यमष्टाङ्कं लोपयेत्। ततोऽवशिष्टे पञ्चाङ्कोऽवशिष्यते इति पञ्चाङ्काधस्तनी मात्रा परया मात्रया सहिता गुरुभूता समुल्लेख्या। तथा च न्यासः—

१	२	३	५	८	१३
।	।	।	।	।	।

अत्र पृष्टाङ्कहीनोऽन्तिमाङ्कः पञ्चसंख्यात्मकोऽवशिष्यते। तदङ्कश्चतुर्थकलोपरि दृश्यते। इति चतुर्थी कला पञ्चम्या कलया युक्ता गुरुभूतोल्लिखिता। तथा च— ।।।ऽ। इदं रूपं सिद्धयतीति द्रष्टव्यम्॥

तत्रैवं पञ्चमं रूपं कीदृशमिति जिज्ञासायां त्रयोदशाङ्के पञ्चसंख्या विलोप्या। अष्टसंख्यावशिष्यते। सा पञ्चमकलोपरिदृष्टा इति पञ्चमषष्ठकलाभ्यामेकीभूय गुरुत्वे लब्धे ।।।।ऽ इदं पञ्चमं रूपं सिद्धयति। षष्ठ कीदृशमिति चेत्—त्रयोदशाङ्के षडङ्कहीनेऽवशिष्टा सप्तसंख्या द्वितीयायां चतुर्थ्यां च विभज्य दृष्टा इति द्वितीयतृतीययोश्चतुर्थपञ्चमयोरेकीभावेन गुरुद्वयसिद्ध्या ।ऽऽ। इति षष्ठं रूपम्॥ तथा च सप्तमं कीदृशमिति चेत्। सप्ताङ्कविहीने त्रयोदशाङ्केऽवशिष्टा षट्संख्या प्रथमायां चतुर्थ्यां च विभज्य दृष्टा इति प्रथमद्वितीययोश्चतुर्थपञ्चमयोरेकीभावेन गुरुत्वे ऽ।ऽ। इदं रूपं सियध्ति। इत्थमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति मात्रानष्टविज्ञानम्॥

अथ मात्रोद्दिष्टविज्ञानम्। यावन्मात्राप्रस्तारे कश्चिद् विकल्पः स्वरूपतो विज्ञातः संख्यया विज्ञातुमिष्येत अयं कतिथो विकल्प इति। तदवबोधक्षमः प्रकारो मात्रोद्दिष्टविज्ञानं नाम। तत्रेदं सूत्रम्—

गुरुप्रथमाङ्कोनितः सूचीशेषाङ्कः स्वरूपस्य
स्थानसंख्येति मात्रोद्दिष्टप्रत्ययः॥ १॥

आदावुद्दिष्टं स्वरूपं लेख्यम्। तदुपरि नष्टक्रमेण पूर्वपूर्वाङ्कयोगसिद्धाङ्काः स्थाप्याः। तत्र गुरुर्द्विकलो भवतीति कृत्वा तत्र द्वौ कलाङ्कौ स्थाप्यौ, प्रथमकलाङ्क उपरिष्टात् द्वितीयकलाङ्कस्तु तदधस्तात्। ततश्च गुरुशीर्षस्थाङ्का अन्तिमे कलाङ्के विलोप्याः। अवशिष्टाङ्क एव तद्विकल्पस्य संख्या भवतीति विज्ञेयम्। यथा—

१	२	३	५	१३
।	।	।	ऽ	।
			८	

अत्र गुरुशीर्षस्थ पंचमसंख्यायां त्रयोदशाङ्के विलुप्तायामष्टसंख्यावशिष्यते। ततोऽष्टममिदं रूपम्। तथा

१	२	५	८
।	ऽ	।	ऽ
	३		१३

अत्र गुरुशीर्षस्थौ द्वयङ्काष्टाङ्कौ त्रयोदशे विलुप्तौ त्रिसंख्यावशिष्यते ततस्तृतीयमिदं रूपम्॥

१	२	३	८
।	।	ऽ	ऽ
		५	१३

अत्र त्र्यङ्काष्टाङ्कयोस्त्रयोदशतो विलोपे द्विसंख्याऽवशिष्टा ततो

द्वितीयमिदम् ।। ।।

१	३	८	१३
ऽ	ऽ	।	।
२	५		

अत्रैकत्र्यङ्कयोर्विलोपे नवावशेषः ततो नवममिदम् ।

१	३	८
ऽ	ऽ	ऽ
२	५	१३

अत्रैकत्र्यष्टसंख्यालोपे एकावशेषः ततः प्रथमं चैतद् रूपम्

१	२	३	५	८	१३
।	।	।	।	।	।

अत्र गुरुर्नास्तीति निर्विलोपा त्रयोदशसंख्यैव जिज्ञास्यरूपसंख्या । इत्थमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।।

अथ मात्राप्रस्तारसंख्याविज्ञानम् । तत्तन्मात्राके प्रस्तारे एतावन्तश्चैतावन्तश्च विकल्पा भवन्तीति निर्द्धारणं संख्याविज्ञानं नाम । तत्रेदं सूत्रम्—

यावन्मात्राकप्रस्तारे संख्याजिज्ञासा तावतिथेन
प्राग्वलिताङ्केन संख्याप्रत्ययः ।। १ ।।

यावन्मात्राके प्रस्तारे विकल्पेयत्ता जिज्ञासिता तावत्यः कलाः स्थाप्याः । तदुपरि एक-द्वि-त्रिपञ्चाष्टत्रयोदशादिक्रमेण पूर्वपूर्वाङ्कद्वययोगसिद्धाङ्कान् स्थापयेत् । शेषकलोपरि योऽङ्को लभ्यते शेषाङ्कसंज्ञः, तावन्त एव तन्मात्राकप्रस्तार-

१	२	३	५	८	१३	२१	३४	५५	८९	१४४	२३३
।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।

विकल्पा इत्यवसेयम् । यथा षण्मात्राकप्रस्तारविकल्पास्त्रयोदश । अष्टमात्राकास्तु चतुस्त्रिंशत् । इत्थमग्रेऽपि ।।

अथातोऽध्वपरिच्छित्तिर्वर्णाध्वपरिच्छित्त्या व्याख्याता ।। तदित्थं नष्टोद्दिष्टसंख्यानाध्वयोगाः प्रस्तारसम्बन्धेनोक्ताः ।।

अथ मेरुसम्बन्धेन वक्तव्यम् । तत्र तावदाद्या शलाका सुखसरणीप्रकरणे वक्ष्यमाणैवानुसन्धेया ।।

अथ मात्रापताकाविज्ञानम् । पूर्वं मेरुशलाकाक्रियया निर्गुरुकैकगुरुकद्विगुरुकत्रिगुरुकादयो विकल्पाः संख्यातो निर्द्धारिताः—एतावन्तो द्विगुरुका एतावन्त एकगुरुका इत्यादि । किन्तु इदं तत्रानिर्णीतमवतिष्ठते तत्र-तत्र प्रस्तारे ते ते निर्गुरुकैकगुरुकादयो भेदाः कुत्र कुत्र स्थाने सन्तीति-तदेतत् स्थानतो निर्धारणार्थमियं पताका प्रवर्तते । पताकारूपेणोल्लेखादस्याः पताका संज्ञा । तत्र मेरुसिद्धशिलाङ्कमितानि कोष्ठकानि लेख्यानि । अथ पताकादण्डे तन्मात्रासूच्यङ्का लेख्याः । तदधीनश्च पताकायामङ्कन्यासः । तत्र पताकान्तिमपङ्क्त्या एककोष्ठकत्वात्तत्र सूच्यन्तिमाङ्कः प्रस्तारसंख्यारूपः समुल्लेख्यः ।।

अथ तस्मिन् सूचीशेषाङ्के तदितरसूच्यङ्कानेकैकान् यथासंभवं विलोप्य तदवशिष्टमङ्कमुपान्त्यपङ्क्तौ क्रमेण लिखेत् । ततः पुनरस्मिन् शेषाङ्के तदितरसूच्यङ्कान् द्विद्विकृतान् यथासम्भवं विलोप्य तदवशिष्टमङ्कं तत्पार्श्वपङ्क्तौ क्रमेण लिखेत् । एवं त्रित्रिकृतान् चतुश्चतुःकृतान् वा यथासंभवं विलोप्य शेषमङ्कमुत्तरोत्तरं क्रमेण लिखेत् ।। विलोपसिद्धमङ्कं पूर्वत्र क्वचिदेकत्राप्युल्लिखितं चेत् पुनर्न लिखेदिति ध्येयम् ।। यथा षण्मात्राप्रस्तारे मेरुशिलाङ्काः एकः, षट्, पञ्च, एकश्चेति (१।६।५।१) । तदित्थं चतुर्धाऽङ्कन्यास इति कृत्वा पताकायां चतस्रः पङ्क्तयः स्युः । तत्र प्रथमा पङ्क्तिरेककोष्ठात्मिका स्यात् । द्वितीया तु षट्कोष्ठात्मिका । ततस्तृतीया पञ्चकोष्ठात्मिका चतुर्थी पुनरेककोष्ठात्मिकैव स्यात् ।।

एवं मेरुशिलाङ्कनुरोधेन पताकाकोष्ठेषु सिद्धेषु षण्मात्रीयसूच्यङ्कानुरोधेनाङ्का न्यस्तव्याः । तत्र सूच्यङ्काः—एको द्वौ त्रयः पञ्चाष्ट त्रयोदश चेति (१।२।३।५।८।१३) । अत्र सूचीशेषाङ्कस्त्रयोदशरूपः पताकाचतुर्थपङ्क्तेः कोष्ठे लेख्यः । अथ तस्मिन् त्रयोदशाङ्के अष्टाङ्कविलोपात् पञ्चाङ्कावशेषः स तृतीयपङ्क्तेः प्रथमकोष्ठे लेख्यः । पञ्चाङ्कलोपादष्टाङ्कावशेषः सतत्र द्वितीयकोष्ठे लेख्यः । एवं त्र्यङ्कलोपावशिष्टं दशाङ्कं द्व्यङ्कलोपावशिष्टमेकादशाङ्कमेकाङ्कलोपावशिष्टं द्वादशाङ्कं च लिखेदित्युपान्त्यपङ्क्तिपूर्त्तिः ।। ततो द्व्यङ्कलोपोपक्रमः । पञ्चाष्टलोपे शून्यम् । त्र्यष्टलोपे शिष्टं द्व्यङ्कं द्वितीयपङ्क्तेः प्रथमकोष्ठे लिखेत् । एवमग्रे द्व्यष्टलोपे त्र्यङ्कमेकाष्टलोपे चतुरङ्कं तथा पञ्चद्विलोपे षडङ्कं पञ्चैकलोपे सप्ताङ्कं तथा त्र्येकलोपे नवाङ्कं लिखेदिति द्वितीयपङ्क्तिपूर्त्तिः ।। अत्र पञ्चत्रिलोपो द्वित्रिलोपश्च नास्ति । शेषाङ्कयोः प्रागुल्लिखितत्वादिति बोध्यम् ।। अथ त्र्यङ्कलोपः । तत्र अष्टत्र्येकाङ्कलोपे एकोवशिष्यते स प्रथमपङ्क्तिकोष्ठे लेख्यः । तदित्थं सिद्धः पताकाङ्कन्यासः ।। ततो यद्विज्ञातव्यं तदुच्यते—

१	२	३	५	८	१३

१ । ६ । ५ । १

१	२	५	१३
	३	८	
	४	१०	
	६	११	
	७	१२	
	९		

षष्ठ्यां मेरुशिलायामेकषट्पञ्चैकाङ्का उपलभ्यन्ते । ततस्त्रि-गुरुकविकल्पस्यैकत्वं तावन्निर्द्धारितम् । अथेदानीं तदिदं पुनरेकं त्रिगुरुकं रूपं त्रयोदशसु विकल्पेषु कतिथमित्येषा जिज्ञासाऽनुवर्त्तते तन्निर्द्धारणाय सैषा पताका प्रथमकोष्ठैकाङ्केन तस्य प्रथमत्वं प्रतिपादयति । एवं द्विगुरुकविकल्पानां शिलाङ्केन षट्त्वे प्रतिपन्ने प्रस्तारे कतिथः कतिथः स विकल्प इति जिज्ञासायां पताकाद्वितीय-पङ्क्तिः प्रवर्त्तते । तेन द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-षष्ठ-सप्तम-नवमस्थानस्थानां विकल्पानां द्विगुरुकत्वमित्यवधार्य्यते । एवं शिलाङ्केन पञ्चसंख्याप्रतिपन्ना एकगुरुकाः किं-किंस्थानीया इति जिज्ञासायां पताकातृतीयपङ्क्तिः प्रवर्त्तते । तेन पञ्चमाष्टमदश-मैकादशद्वादशानां पञ्चानामप्येषां विकल्पानामेकगुरुकत्वमित्यवगम्यते ।। अथ निर्गुरुक एकः कतिथ इति जिज्ञासायां चतुर्थपङ्क्त्या त्रयोदशत्वं तस्यावसाययति पताकेति पताकाप्रत्ययः कृतार्थः । इत्थमन्याः सप्तकलपताकाऽष्टकलपताकादयो द्रष्टव्याः । सप्तमात्रा पताका—

१	२	३	५	८	१३	२१
४	१०	६	१			
१	३	८	२१			
२	५	१३				
४	६	१६				
९	७	१८				
	१०	१९				
	११	२०				
	१२					
	१४					
	१५					
	१७					

अथवा प्रकारान्तरेण पताका लेख्या ।

१	२	३	५	८	१३
१	२		५		१३
	३		८		
	४		१०		
	६		११		
	७		१२		
	९				

षण्मात्रापताकेयम्

सप्तमात्रा पताकेयम् ।

१	२	३	५	८	१३	२१
१		३		८		२१
२		५		१३		
४		६		१६		
९		७		१८		
		१०		१९		
		११		२०		
		१२				
		१४				
		१५				
		१७				

इत्थमेतौ शलाकापताकाभिधानौ द्वौ प्रत्ययौ मेरुसम्बन्धेनोक्तौ—

अथातो मर्कटीसम्बन्धेन-सूची पाताल-मात्रा-पिण्डाश्चत्वारः प्रत्ययाः प्रदर्श्यन्ते—पौर्वयुगीयाङ्कपरम्परा सूची । यथैको द्वौ त्रयः पञ्चाष्टौ त्रयोदशेत्यादि । तेषु प्राग्वलिताङ्केषु अन्तिमेन प्रस्तारभेदसंख्या विज्ञायते । उपान्त्येन लादयो लान्ताश्च भेदाः संख्यायन्ते । उपान्त्यात्पूर्वेण तु गादयो गान्ताश्च लाद्यन्ताश्च संख्यायन्ते । ततोऽपि पूर्वेण गादिलान्तानां लादिगान्तानां च विज्ञानम् । अथ च ततोऽपि पूर्वेण गाद्यन्तस्य । यथा षट्कलप्रस्तारे प्रस्तारभेदसंख्या त्रयोदशकम् (१३) लघ्वादयो लघ्वन्ताश्चाष्टावष्टौ (८) गुर्वादयो गुर्वन्ताश्च लघ्वाद्यन्ताश्च पञ्च पञ्च (५) गुर्वादिलघ्वन्ता लघ्वादिगुर्वन्तास्त्रयस्त्रयः (३) ।। गुर्वाद्यन्तौ द्वौ (२) इतीत्थं सूचनापञ्चकं यथासम्भवं द्रष्टव्यम् ।।

१ २ ३ ५ ८ १३
१ २ ३ २ १

NNN
IINN
ININ
NIIN
IIIIN
INNI
NINI
IIINI
NNII
IINII
NIIII
IIIIII

१३

IINN
ININ
IIIIN
INNI
IIINI
IINII
INIII
IIIIII

INNI
NINI
IIINI
NNII
IINII
INIII
NIIII
IIIIII

८

NNN
NIIN
NINI
NIIII
NIIII

NNN
IINN
ININ
NIIN
IIIIN

INNI
IIINI
IINII
INIII
IIIIII

५

NINI
NNII
NIIII
IINN
ININ
IIIIN

३

NNN
NIIN

२

अथ पातालम् । अभीष्टमात्रासमकोष्ठाङ्कितं पङ्क्तित्रयं लेख्यम् । तत्र प्रथमायां पङ्क्ताविष्टाङ्काः, द्वितीयायां प्राग्वलिताङ्का यथेच्छं लेख्याः । अथ तृतीयायां पङ्क्तौ प्रथमकोष्ठे एकाङ्कं, द्वितीये त्र्यङ्कं लिखित्वा तदुत्तरेषु कोष्ठेषु स्वानन्तरप्राग्वर्त्तिकोष्ठ-द्वयाङ्कौ स्वानन्तरप्राग्वर्त्तिकोष्ठशीर्षस्थाङ्कं च संयोज्य सिद्धमङ्कं लिखेदिति क्रमः । यथा षट्कलप्रस्तारे षडङ्कान्ताः क्रमिकाङ्काः । प्रथमपङ्क्तौ तथा एक-द्वि-त्रि-पञ्चाष्ट-त्रयोदशरूपाः प्राग्वलिताङ्का द्वितीय-पङ्क्तौ स्थाप्याः । तृतीयायां पुनः कोष्ठत्रय सङ्कलिताङ्का एक-द्वि-पूर्वकाः पञ्चक-दशक-विंश-काष्टत्रिंशरूपा उल्लेख्याः । यथा—

१	२	३	४	५	६	इष्टाङ्काः
१	२	३	५	८	१३	हाराङ्काः
१	२	५	१०	२०	३८	योगाङ्काः

तथा च षड्कलप्रस्तारेऽष्टत्रिंशल्लघवो विंशतिश्च गुरवः सन्तीत्यन्त्योपान्त्याभ्यां क्रमेण लघु-गुरु-विज्ञानं सिद्धयतीति वोध्यम् ।।

अथ मात्रा । द्विगुणितायां गुरुसंख्यायां लघुसंख्यायोगान्मात्रेयत्ताविज्ञानम् । यथा षड्कलप्रस्तारे गुरुसंख्या विंशतिः (२०) द्विगुणिता जाता चत्वारिंशत् (४०) तत्र लघुसंख्याया अष्टत्रिंशतो (३८) योगादष्टसप्ततिः सिद्धा । तत एतावती तत्र प्रस्तारे सर्वमात्रासमष्टिः (७८) ।। एवमन्यान्यप्रस्तारेऽप्यवगन्तव्यम् ।।

अथ पिण्डः—मात्रासंख्यार्द्धं पिण्डसंख्यानमाहुः । यथा षट्कलप्रस्तारेऽष्ट-सप्तति (७८) मात्रासंख्येति तदर्द्धमूनचत्वारिंशत् (३९) तत्र पिण्डसंख्या स्यात् । एवमन्यान्यप्रस्तारे द्रष्टव्यम् ॥ तदित्थं प्रतीतैः सूची-पाताल-मात्रा-पिण्डैरेव कृतावयवा मर्कटी भवतीति दर्शितं प्राक् ॥

तदित्थं वर्णग्रन्थवदिहापि मात्राग्रन्थे त्रयोदशभिः प्रत्ययजातैः प्रपञ्चित-मिदं शास्त्रजालं नाम प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

अथातो बालानामभ्यासार्थमेषामपि मात्राप्रत्ययानां सुखसरणी प्रदर्श्यते । सर्वेषामेषां संख्यानाध्वयोगप्रस्तारनष्टोद्दिष्टमेरुशलाकापताकामर्कटीजालाख्यानां प्रत्ययानां सूच्येव केवलमेकाध्रुवा भवति । तदाधारेणैव तेषां प्रतिपत्तिसंभवात् । तदेतत् क्रमेणोच्यते—

तत्र तावन्मात्रासूची द्विविधा भवति सौत्रसूची असौत्रसूची च । शून्यं नित्यैकाङ्कं च स्थापयित्वा तदुभययोगसिद्धं संख्यैकाङ्कं स्थापयेत् । ततो नित्यैकाङ्कसंख्यैकाङ्कयोगसिद्धं द्वयङ्कं, ततः संख्यैकाङ्कद्वयङ्कयोगसिद्धं त्र्यङ्कमित्येवं द्वयोर्द्वयोः पूर्वाङ्कयोर्योगेनोत्तरोत्तरमङ्कं स्थापयेदिति मात्रासौत्रसूची । अथ शून्यनित्यैकाङ्कौ वर्जयित्वा संख्यैकाङ्क द्वयङ्क त्र्यङ्क पञ्चाङ्कादीनां पौर्वयुगीयाङ्कानामेव ताराख्यानां विन्यासोऽसौत्रसूची स्यात् । यथा—

पार :—	०	१	२	३	४	५	६	७	८	सौत्रसूची
हार :—	१	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	
पार :—		१	२	३	४	५	६	७	८	असौत्रसूची
तार :—		१	२	३	५	८	१३	२१	३४	

अत्र क्रमिकाङ्कसूचितमात्राकप्रस्तारे तदधःस्थितपौर्वयुगीयाङ्कप्रमिता मात्रा-पिण्डमात्राभ्यां भिन्नाः प्रस्तारस्वरूपभेदा भवन्तीति प्रथमं संख्यानं बोध्यम् ॥१॥

अथ गुरुर्लघुर्वा समुल्लिखितो यावन्तं प्रदेशमाक्रामति तावान् प्रदेशोऽङ्गुल-मितीष्यते । संख्यानद्विगुणिताङ्कप्रमितान्येकोनान्यङ्गुलानि तत्राध्वयोगः स्यादिति तावन्तं प्रदेशमुपलक्ष्य प्रस्तारोल्लेखाय प्रवर्त्तेत ॥२॥

अथ प्रस्तारप्रक्रिया । यावन्मात्राकः प्रस्तारश्चिकीर्षितस्तद्रूपक्रमिकाङ्काधस्तन-पौर्वयुगीयाङ्कपर्य्यन्ता सौत्रसूची स्थाप्या । ततः संख्यानप्रमितेषूर्ध्वाधरस्थानेषु तत्प्राचीनाङ्कक्रमेण गुरुलघवो लेख्याः । तत्र तावदयं विशेषः प्रकर्तव्यः ॥

संख्यानाङ्कस्तावत् प्राक्तनयद्यदङ्कद्वयसंयोगजन्यस्तत्तत्प्रमाणेनोर्ध्वाधरभावेन गुरवो लघवश्च लेख्याः सान्तिमा पङ्क्तिः स्यात् । ततस्तावङ्कौ यद्यदङ्कद्वयसंयोगजन्यौ तत्तत्प्रमाणेन तत्र तत्र गुरवो लघवश्च लेख्याः । सोपान्त्या पङ्क्तिः स्यात् । एवमुत्त-

रोत्तराङ्कप्रयोजकानां पूर्वपूर्वद्विकानां यथायथं विन्यासेन ततः पूर्वपूर्वाः पङ्क्तयः कार्य्याः । यथा षण्मात्राके प्रस्तारे चिकीर्षिते तावत्प्रमाणेन सूची लिख्यते—

० १ १ २ ३ ५ ८ १३

अत्र संख्यानाङ्कस्त्रयोदशात्मा । स पञ्चाङ्काष्टाङ्कयोगसिद्धः । तस्मादूर्ध्वाधः-क्रमेण पञ्चगुरवोऽष्टलघवश्च लेख्याः सा षष्ठी पङ्क्तिः ॥ ६ ॥ ततो गुरुसंबन्धी पञ्चाङ्को द्वित्रियोगसिद्धः । लघुसंबन्धी अष्टाङ्कस्तु त्रिपञ्चयोगसिद्धः । तस्माद् द्वौ गुरू त्रयो लघवः पुनस्त्रयो गुरवः पञ्च लघवस्तथा लेख्याः सा पञ्चमी पङ्क्तिः ।५। ततो गुरुसम्बन्धी द्वयङ्को नित्यैकाङ्कसंख्यैकाङ्कयोगजः । लघुसंबन्धी त्र्यङ्कस्तु संख्यैकाङ्कद्वयङ्कयोगजः । गुरूणां त्र्यङ्कोऽपि तथा ॥ लघूनां पञ्चाङ्कस्तु द्वित्रियोगजः । तस्मादेको गुरुः—एको लघुः पुनरेको गुरुर्द्वौ लघू । पुनरप्येको गुरु-र्द्वौ लघू ॥ ततः पुनर्द्वौ गुरू त्रयो लघवः । सैषा चतुर्थी पङ्क्तिः ।४। अथ नित्यै-काङ्कस्त्वयोगजः इति तत्समकक्षतया गुरोर्लघोर्वा विन्यासाभावः । ततो लघोः संख्यैकाङ्कः शून्यनित्यैकाङ्कयोगजः । तस्माद् गुरोः शून्यरूपतया लघोरेकस्य प्राप्तिरिति तल्लघुसमकक्षतया लघोरेकस्य विन्यासः ॥ एवं पुनः संख्यैकाङ्कसमकक्षे नित्यैकाङ्कप्रमितस्य लघोः प्राप्तिः ॥ ततो लघुद्वयङ्कसमकक्षतया एकस्य गुरोरेकस्य लघोश्च प्राप्तिः । इत्थमुत्तरत्रापि संख्यैकाङ्कसमकक्षतया लघोरेकस्य विन्यासेन नित्यैकाङ्कसमकक्षतया तु शून्यविन्यासेन यथायथं तृतीया-द्वितीया-प्रथमाः पङ्क्तयः साध्याः ॥ स्पष्टप्रतिपत्तये च निर्द्दिष्टरीत्या ते तेऽङ्काः पृथक् पृथक् कृत्वा लेख्याः । ततस्तदनुसारेण गुरवो लघवश्च यथायथं लेख्याः । यथा—

० १ १ २ ३ ५ ८ । १३

०	०	०	×१	२	५	१३
०	०	×१	१	३	८	
०	०	×१	१	३		
०	०	×१	२	५		
०	×१	१	१			
०	०	×१	२			
०	०	×१	२			
०	×१	१	३			
०	०	×१				
०	×१	१				
०	×१	१				
०	×१	२				
×१	१					

एवमुल्लिखिताङ्कानुसारेण गुरुलघुविन्यासात् प्रस्तारो यथा—

० ० ० ऽ ऽ ऽ
० ० । । ऽ ऽ
० ० । ऽ । ऽ
० ० ऽ । । ऽ
० । । । । ऽ
० ० । ऽ ऽ ।
० ० ऽ । ऽ ।
० । । । ऽ ।
० ० ऽ ऽ । ।
० । । ऽ । ।
० । ऽ । । ।
० ऽ । । । ।
। । । । । ।

एवमेवान्यान्यप्रस्तारा द्रष्टव्याः ।। ३ ।।

अथ नष्टक्रिया ।। जिज्ञासिताङ्कोनितः संख्यानाङ्कस्तावत्सु पौर्वयुगीयाङ्केषु स्वरूपेण खण्डशो वा यत्रयत्रोपभ्यते तत्र परया मात्रया पिण्डनाद्गुरुस्थितिरन्यत्र लघुस्थितिरिति नष्टविज्ञानम् ।। यथा षण्मात्राप्रस्तारे संख्यानाङ्कस्त्रयोदशरूपो द्वादशाङ्कोनित एकोऽवशिष्यते । अत एकाङ्कद्वयङ्कस्थानीयकलयोः पिण्डनाद् भघात्मकं (ऽ।।।।) द्वादशं रूपं सिद्धयति । दशाङ्कोनितावशिष्टस्त्र्यङ्क इति त्रिपञ्चस्थानीयकलयोः पिण्डनात् सघात्मकं (।।ऽ ।।) दशमं रूपम् ।। अष्टाङ्कहीनावशेषः पञ्चाङ्कः इति पञ्चषष्ठस्थानीयकलयोः पिण्डनात् लसलात्मक(।।।ऽ।) मष्टमं रूपम् ।। षडङ्कहानावशेषः सप्ताङ्कः स्वरूपेणानुपलब्धोऽपि खण्डशः कृत्वा द्वयङ्कपञ्चाङ्कयोः प्राप्तइति द्वित्रिस्थानीयकलयोः पञ्चाष्टस्थानीयकलयोश्च पिण्डनात् लक्षलात्मकं (।ऽऽ।) षष्ठं रूपमित्येवमन्यान्यपि तत्तत्स्थानीयस्वरूपाणि द्रष्टव्यानि ।। ४ ।।

अथोद्दिष्टक्रिया—उद्दिष्टस्वरूपशिरसि पौर्वयुगीयाङ्कान् गुरोस्तूपरिविन्यासोत्तरमधस्ताच्च विन्यस्य गुरुशीर्षस्थाङ्कानां संख्यानाङ्कादपनयनेऽवशिष्टाङ्केन स्थान-

१ २ ५ १३
विज्ञानम् ।। यथा (। ऽ ऽ ।) इत्येवमुद्दिष्टस्वरूपे शिरसि असौत्रसूची-
३ ८
विन्यासे गुरुशीर्षस्थयोर्द्विपञ्चाङ्कयोस्त्रयोदशाङ्कादपहारे षडङ्कोऽवशिष्यते इति

१ ३ ५ ८
षष्ठमिदं स्वरूपं सिद्ध्यति ।। (ऽ । । ऽ) इत्येवमुद्दिष्टरूपोपरि सूचीन्यासे
२ १३
गुरुशीर्षस्थयोरेकाष्टाङ्कयोस्त्रयोदशाङ्कादपहारे चतुरङ्कोऽवशिष्यते इति चतुर्थमिदं

१ २ ३ ८   १ ३ ८ १३
स्वरूपम् ।। (। । ऽ ऽ) इह त्र्यष्टापहारादस्य द्वितीयत्वम् । (ऽ ऽ । ।)
               ५ १३   २ ५

इहैकत्र्यपहारादस्य नवमत्वम् ।। एवमेवान्यत्रापि स्थानविज्ञानं द्रष्टव्यम् । ५ ।

अथ मेरुप्रक्रिया । उर्ध्वाधःक्रमेणासौत्रसूचीं लिखित्वा लेख्यपङ्क्तिसमकक्षाङ्का-दारभ्योर्ध्वं क्रमेणाङ्कान् गणयित्वा तदनुसारेण वामतोऽङ्का लेख्याः स मेरुः स्यात् । तथाहि तावत्सूचीस्थानामङ्कानामेकत्रापि समष्टिमकृत्वा व्यष्टिभूतैरेव तैः क्रियमाणा गणनावृत्तिरेकैव स्यादित्येकाङ्कः समुल्लिख्यते । स एव निर्गुरुकस्वरूपप्रमाणं स्यात् । ततस्तेषु सूच्यङ्केषु यथेच्छमेकत्रानन्तरयोः कयोश्चिद्द्वयोरङ्कयोः पिण्डैनैक्यं भावयित्वा गणने यावत्यो गणनावृत्तयः स्युः, तदङ्को वामतो लेख्यः । स एवैकगुरु-कस्वरूपप्रमाणं स्यात् ।। ततस्तेषु सूच्यङ्केषु प्राग् वदनन्तरयोरङ्कयोः पिण्डेनैकच-भावनं स्थानद्वये कृत्वा क्रियमाणा गणनावृत्तयो यावत्यः स्युस्तमङ्कं वामतो निर्दिशेत् । यथा—

				१	१	। १
			१	१	२	। २
			२	१	३	। ३
		१	३	१	५	। ४
		३	४	१	८	। ५
	१	६	५	१	१३	। ६
	४	१०	६	१	२१	। ७
१	१०	१५	७	१	३४	। ८

अथ शलाका क्रिया । येनैव प्रकारेण मेरुसाधनमुक्तं तयैव रीत्या प्रातिस्विक-रूपेण क्रियमाणा क्रिया शलाका भवति । यथाहि—षण्मात्राप्रस्तारे शलाका चिकीर्षिता इति षडेव सूच्यङ्काः स्थाप्यन्ते ।

| १ २ ३ ५ ८ १३ |

तत्र तावद्व्यष्टया गणनायां गणनावृत्तिरेकैव स्यादिति तावदेकाङ्कोल्लेखः । (१) अथ द्वयोर्योगेन समष्टिं कृत्वा तादृशैकैकसमष्टिभिन्ना गणनावृत्तयः यश्च संभवन्ति । यथा—

१   २   ३   ५   ८——१३
१   २   ३   ५——८   १३
१   २   ३——५   ८   १३
१   २——३   ५   ८   १३
१——२   ३   ५   ८   १३

तस्मात्पूर्वनिर्दिष्टैकाङ्कवामतः पञ्चाङ्कनिवेशः (५।१)। अथ द्वे द्वे ते समष्टी आस्थाय क्रियमाणा गणनावृत्तयः षट् संभवन्ति। यथा—

१ २ ३——५ ८——१३
१ २——३ ५ ८——१३
१——२ ३ ५ ८——१३
१ २——३ ५——८ १३
१——२ ३ ५——८ १३
१——२ ३——५ ८ १३

तस्मात् पूर्वनिर्दिष्टाङ्कद्वयवामतः षड़ङ्कनिवेशः (६।५।१) ॥ अथ तिस्रः समष्टीरास्थाय क्रियमाणा गणनावृत्तिरेकैव संभवति। यथा—

१——२ ३——५ ८——१३

तस्मात्पूर्वनिर्दिष्टाङ्कत्रयवामत एकाङ्कनिवेशः (१।६।५।१) अथाधिकसमष्टयो न सम्भवन्तीति कृत्वा षण्मात्राप्रस्तारे एकषट्पञ्चैकात्मिका (१।६।५।१) शलाका सिद्धा॥ त्रिगुरुकः स्वरूपभेद एकः। द्विगुरुकाः षट्। एकगुरुकाः पञ्च। निर्गुरुक एक इति हि तदर्थः॥ पञ्चमात्राप्रस्तारे तु व्यष्टिकृता गणनावृत्तिरेका। यथा—

१ २ ३ ५ ८ इति॥ अथैकसमदृष्टचन्तर्भाविकृता गणनावृत्तयश्चतस्रः। यथा—

१ २ ३ ५——८
१ २ ३——५ ८
१ २——३ ५ ८
१——२ ३ ५ ८

तथा समष्टिद्वयान्तर्भाविकृता गणनावृत्तयस्तिस्रः। यथा—

१ २——३ ५——८
१——२ ३ ५——८
१——२ ३——५ ८

ततः समष्टित्रयं न सम्भवतीति कृत्वा पञ्चमात्राप्रस्तारे त्रिचतुरेकात्मिका (३।४।१) शलाका सिद्धा॥ द्विगुरुकाः स्वरूप भेदास्त्रयः। एकगुरुकाश्चत्वारः। निर्गुरुक एक इति हि तदर्थः। इत्थमेवान्यत्रापि द्रष्टव्यम्॥

अथ पताकाक्रिया। अत्र सौत्रसूची समुल्लेख्या। तत्र शेषाङ्कारब्धानामेकैकवर्जितानामङ्कानां शिरस्सु शलाकाङ्काः क्रमेण लेख्याः। ततः शेषाङ्काधस्ताच्छेषाङ्कः प्रकृत्या लेख्यः। सर्वप्रथमं क्रियानुवर्तनात् प्रागवस्थायां निर्विकारस्वरूपोपलब्धेः। ततः शेषाङ्के प्राचामेकैकाङ्कानामपहारेण सिद्धाङ्काः शलाकोपान्त्याङ्को यस्तल्लक्षि-

ताङ्काधस्तात् क्रमेण लेख्याः । तेषामेकगुरुकस्वरूपस्थानावबोधकत्वं स्यात् ।। ततः शेषाङ्के प्राचां द्विद्वयङ्कानामपहारेण सिद्धाङ्काः शलाकाङ्कोपलक्षितपूर्वाङ्काधस्तात् क्रमेण लेख्याः । तेषां द्विगुरुकस्वरूपस्थानावबोधकत्वं स्यात् । एवं यथासंभवमधिकाधिकाङ्कापहारेण सिद्धाङ्कानां पूर्वपूर्वपङ्क्तिषु विन्यासस्तत्तद्गुरुकस्वरूपस्थानावबोधकत्वं चावगन्तव्यम् । यथा षण्मात्राप्रस्तारे विन्यस्तायाः सूच्यास्त्रयोदशाङ्काधस्तादेकस्त्रयोदशाङ्कः । तथा पञ्चाङ्काधस्तात् पञ्चाङ्कादयः पञ्चाङ्काः । तथा द्वयङ्काधस्ताद् द्वयङ्कादयः षडङ्काः । अथैकाङ्काधस्तादेकाङ्क एवैकाङ्कः । इतीत्थमङ्कन्यासा द्रष्टव्याः ।। एवमेव पञ्चमात्राप्रस्तारे सूच्या अष्टत्र्येकाङ्काधस्तात् क्रमेणैकावयवचतुरवयवत्र्यवयवास्तिस्रोऽङ्कपङ्क्तयः कार्य्याः । यथा—

१		६		५		१
१	१	२	३	५	८	१३
१		२		५		१३
		३		८		
		४		१०		
		६		११		
		७		१२		
		९				

	३		४		१
१	१	२	३	५	८
	१		३		८
	२		५		
	४		६		
			७		

इत्थमेवान्यान्यापि पताका भावनीया ।।

अथ मर्कटीजालप्रक्रिया । अत्र सूची विन्यस्तव्या । ततः संख्यानं क्रमिकाङ्कगुणितं कृत्वा लेख्यम् ।। स तत्प्रस्तारे मात्रासमासः स्यात् ।। तथा संख्यानं सति संभवे साध्यकोष्ठावधिकपूर्वकोष्ठद्वयाङ्कसंकलितं कृत्वा सतिसंभवेऽङ्कावधिकपूर्ववर्तितृतीयाङ्कोनितं च कृत्वा लेख्यम् । स तत्प्रस्तारे लघुसमासः स्यात् ।। तथा लघुसमासाङ्काव्यवहितपूर्वकोष्ठाङ्कस्तत्प्रस्तारे गुरुसमासः स्यात् । अथवा लघुसमासाङ्कोनितमात्रासमासस्यार्द्धं गुरुसमासः स्यात् । एवं लघुसमासाङ्कगुरुसमासाङ्कयोगस्तत्प्रस्तारे वर्णसमासः स्यात् ।।

तथाच मार्कटीजालविन्यासः—

	०	१	२	३	४	५	६	७	८
	१	१	२	३	५	८	१३	२१	३४
मात्रासमासः	०	१	४	९	२०	४०	७८	१४७	२७२
लघुसमासः	०	१	२	५	१०	२०	३८	७१	१३०
गुरुसमासः	०	०	१	२	५	१०	२०	३८	७१
वर्णसमासः	०	१	३	७	१५	३०	५८	१०९	२०१

इत्थमियं मात्राप्रत्ययानां संख्यानाध्वयोग-प्रस्तार-नष्टोद्दिष्ट-मेरु-शलाका-पताका-मर्कटीजालाख्यानामभिज्ञानार्थं सुखसरणी निरूपिता ।। ४ ।।

।। तदित्थं प्रत्ययनिरूपणं सम्पूर्णम् ।।

ॐ

अथ छन्दःप्रक्लृप्तिः प्रदर्श्यंते ॥

गक्षकखैः कृतपादानि तत्तच्छन्दांसि लघाभ्यां तु नेष्टम् ॥ १ ॥

गच्छन्दः ।	क्षच्छन्दः	कच्छन्दः	खच्छन्दः
ऽ	ऽऽ	।ऽ	ऽ।

मयरसतजभनैरेकद्व्याद्यष्टावधिकैरवसानगक्षकोत्तरैः कृतपादानि क्रमेणैकमगैकमक्षैकमादिसंज्ञानि ॥ २ ॥

क्षाणुयत्या माणुयत्या च द्विधा मच्छन्दांसि ॥ ३ ॥

यतिः क्षद्विकेन क्षद्विमे ॥ ४ ॥

चतुर्भिः क्षैरणुयतिर्मयतिः कचतुर्मे ॥ ५ ॥

षड्भिः क्षैरणुयतिर्म्मयतिः षण्मे ॥ ६ ॥

एवमेवोत्तरत्रापि गतिसिद्ध्यर्थं यतिविभक्तिरुन्नेया ॥ ७ ॥

एकमच्छन्दः— ऽऽऽ
गैकमच्छन्दः— ऽऽऽ ऽ
क्षैकमच्छन्दः— ऽऽऽ ऽऽ
कैकमच्छन्दः— ऽऽऽ ।ऽ

२ द्विमच्छन्दः:— ऽऽऽ ऽऽऽ
२ ग द्विमच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽ
२ क्ष द्विमच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽ
२ क द्विमच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ।ऽ

२ त्रिमच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ
२ ग त्रिमच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽ
२ क्ष त्रिमच्छन्दः —ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽ
२ क त्रिमच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ।ऽ

चतुर्मच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ
ग चतुर्मच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽ
क्ष चतुर्मच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽ
क चतुर्मच्छन्दः—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ।ऽ

पञ्चमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS
ग पञ्चमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS S
क्ष पञ्चमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SS
क पञ्चमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS ।S

षण्मच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS
ग षण्मच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS S
क्ष षण्मच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SS
क षण्मच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS ।S

सप्तमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS
ग सप्तमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS S
क्ष सप्तमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS SS
क सप्तमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS ।S

अष्टमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS
गाष्टमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS S
क्षाष्टमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS SS
काष्टमच्छन्दः—SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS SSS ।S

तदित्थं मच्छन्दांसि द्वात्रिंशद् भवन्ति ।
एवमेव यच्छन्द आदीन्यपि तावन्ति तावन्ति ।
ततश्च सर्वसमष्ट्या षट्पञ्चाशं द्विशतं सजातीयगणच्छन्दसां बोध्यम् ।

एकयच्छन्दः—।SS
गैकयच्छन्दः—।SS S
क्षैकयच्छन्दः—।SS SS
कैकयच्छन्दः—।SS ।S

द्वियच्छन्दः—।SS ।SS
गद्वियच्छन्दः—।SS ।SS S
क्षद्वियच्छन्दः—।SS ।SS SS
कद्वियच्छन्दः—।SS ।SS ।S

त्रियच्छन्दः—।SS ।SS ।SS
गत्रियच्छन्दः—।SS ।SS ।SS S
क्षत्रियच्छन्दः—।SS ।SS ।SS SS
कत्रियच्छन्दः—।SS ।SS ।SS ।S

चतुर्यच्छन्दः—।SS ।SS ।SS ।SS
गचतुर्यच्छन्दः—।SS ।SS ।SS ।SS S

क्षचतुर्यच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS SS
कचतुर्यच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS IS

पञ्चयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS
गपञ्चयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS S
क्षपञ्चयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS SS
कपञ्चयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS IS

षड्यच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS
गषड्यच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS S
क्षषड्यच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS SS
कषड्यच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS IS

सप्तयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS
गसप्तयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS S
क्षसप्तयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS SS
कसप्तयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS IS

अष्टयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS
गाष्टयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS S
क्षाष्टयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS SS
काष्टयच्छन्दः—ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS ISS IS

द्वात्रिंशदिमानि यच्छन्दांसि । (३२)

एकरच्छन्दः—SIS
गैकरच्छदः—SIS S
क्षैकरच्छन्दः—SIS SS
कैकरच्छन्दः—SIS IS

द्विरच्छन्दः—SIS SIS
गद्विरच्छन्दः—SIS SIS S
क्षद्विरच्छन्दः—SIS SIS SS
कद्विरच्छन्दः—SIS SIS IS

त्रिरच्छन्दः—SIS SIS SIS
गत्रिरच्छन्दः—SIS SIS SIS S
क्षत्रिरच्छन्दः—SIS SIS SIS SS
कत्रिरच्छन्दः—SIS SIS SIS IS

चतूरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ
गचतूरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्षचतूरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽऽ
कचतुरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ।ऽ

पञ्चरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ
गपञ्चरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्षपञ्चरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽऽ
कपञ्चरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ।ऽ

षड्रच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ
गषड्रच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्षषड्रच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽऽ
कषड्रच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ।ऽ

सप्तरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ
गसप्तरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्षसप्तरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽऽ
कसप्तरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ।ऽ

अष्टरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ
गाष्टरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्षाष्टरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽऽ
काष्टरच्छन्दः—ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ।ऽ

द्वात्रिंशदिमानि रच्छन्दांसि । (३२)

एकसच्छन्दः—।।ऽ
गैकसच्छन्दः—।।ऽ ऽ
क्षैकसच्छन्दः—।।ऽ ऽऽ
कैकसच्छन्दः—।।ऽ ।ऽ

द्विसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ
गद्विसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ऽ
क्षद्विसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ऽऽ
कद्विसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ।ऽ

त्रिसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ
गत्रिसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ऽ
क्षत्रिसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ऽऽ
कत्रिसच्छन्दः—।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।ऽ

चतुःसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS
गचतुःसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS S
क्षचतुःसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS SS
कचतुःसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IS

पञ्चसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS
गपञ्चसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS S
क्षपञ्चसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS SS
कपञ्चसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IS

षड्सच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS
गषड्सच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS S
क्षषट्सच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS SS
कषट्सच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IS

सप्तसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS
गसप्तसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS S
क्षसप्तसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS SS
कसप्तसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IS

अष्टसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS
गाष्टसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS S
क्षाष्टसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS SS
काष्टसच्छन्दः—IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IS

द्वात्रिंशदिमानि सच्छन्दांसि (३२)

एकतच्छन्दः—SSI
गैकतच्छन्दः—SSI S
क्षैकतच्छन्दः—SSI SS
कैकतच्छन्दः—SSI IS

द्वितच्छन्दः—SSI SSI
गद्वितच्छन्दः—SSI SSI S
क्षद्वितच्छन्दः—SSI SSI SS
कद्वितच्छन्दः—SSI SSI IS

त्रितच्छन्दः—SSI SSI SSI
गत्रितच्छन्दः—SSI SSI SSI S
क्षत्रितच्छन्दः—SSI SSI SSI SS
कत्रितच्छन्दः—SSI SSI SSI IS

चतुस्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI
गचतुस्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI S
क्षचतुस्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SS
कचतुस्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI IS

पञ्चतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI
गपञ्चतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI S
क्षपञ्चतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SS
कपञ्चतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI IS

षट्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI
गषट्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI S
क्षषट्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SS
कषट्तच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI IS

सप्ततच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI
गसप्ततच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI S
क्षसप्ततच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI SS
कसप्ततच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI IS

अष्टतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI
गाष्टतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI S
क्षाष्टतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI SS
काष्टतच्छन्दः—SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI SSI IS

द्वात्रिंशदिमानि तच्छन्दांसि (३२)

एकजच्छन्दः—ISI
गैकजच्छन्दः—ISI S
क्षैकजच्छन्दः—ISI SS
कैकजच्छन्दः—ISI IS

द्विजच्छन्दः—ISI ISI
गद्विजच्छन्दः—ISI ISI S
क्षद्विजच्छन्दः—ISI ISI SS
कद्विजच्छन्दः—ISI ISI IS

त्रिजच्छन्दः—ISI ISI ISI
गत्रिजच्छन्दः—ISI ISI ISI S

क्षत्रिजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ
कत्रिजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

चतुर्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।
गचतुर्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽ
क्षचतुर्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ
कचतुर्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

पञ्चजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।
गपञ्चजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽ
क्षपञ्चजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ
कपञ्चजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

षड्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।
गषड्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽ
क्षषड्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ
कषड्जच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

सप्तजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।
गसप्तजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽ
क्षसप्तजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ
कसप्तजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

अष्टजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।
गाष्टजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽ
क्षाष्टजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ
काष्टजच्छन्दः—।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

द्वात्रिंशदिमानि जच्छन्दांसि (३२)

एकभच्छन्दः—ऽ।।
गैकभच्छन्दः—ऽ।। ऽ
क्षैकभच्छन्दः—ऽ।। ऽऽ
कैकभच्छन्दः—ऽ।। ।ऽ

द्विभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।।
गद्विभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षद्विभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽऽ
कद्विभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ।ऽ

त्रिभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।।
गत्रिभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षत्रिभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ
कत्रिभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ

चतुर्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।
गचतुर्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षचतुर्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ
कचतुर्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ

पञ्चभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।
गपञ्चभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षपञ्चभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ
कपञ्चभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ

षड्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।
गषड्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षषड्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ
कषड्भच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ

सप्तभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।
गसप्तभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षसप्तभच्छन::—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ
कसप्तभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ

अष्टभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।
गाष्टभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ
क्षाष्टभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ
काष्टभच्छन्दः—ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।ऽ

द्वात्रिंशदिमानि भच्छन्दांसि (३२)

एकनच्छन्दः—।।।
गैकनच्छन्दः—।।। ऽ
क्षैकनच्छन्दः—।।। ऽऽ
कैकनच्छन्दः—।।। ।ऽ

द्विनच्छन्दः—।।। ।।।
गद्विनच्छन्दः—।।। ।।। ऽ

क्षद्विनच्छन्दः—।।। ।।। ऽऽ
कद्विनच्छन्दः—।।। ।।। ।ऽ

त्रिनच्छन्दः—।।। ।।। ।।।
गत्रिनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ऽ
क्षत्रिनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ऽऽ
कत्रिनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।ऽ

चतुर्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।।
गचतुर्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ऽ
क्षचतुर्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ऽऽ
कचतुर्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।ऽ

पञ्चनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।।
गपञ्चनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽ
क्षपञ्चनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽऽ
कपञ्चनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।ऽ

षण्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।।
गषण्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽ
क्षषण्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽऽ
कषण्नच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।ऽ

सप्तनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।।
गसप्तनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽ
क्षसप्तनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽऽ
कसप्तनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।ऽ

अष्टनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।।
गाष्टनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽ
क्षाष्टनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ऽऽ
काष्टनच्छन्दः—।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।ऽ

द्वात्रिंशदिमानि नच्छन्दांसि (३२)

तदित्थं षट्पञ्चाशदुत्तरशतद्वयमितानि विशुद्धगणच्छन्दांसि (२५६)

अथातो द्विमादीनि मच्छन्दांसि यप्रथमान्यष्टाविंशतिर्यद्वितीयानि च त्रिमादीनि यतृतीयतया चतुर्विंशतिः । चतुर्मादीनि यचतुर्थतया विंशतिः । पञ्चमादीनि यपञ्चम-तया षोडश । षण्मादीनि यषष्ठतया द्वादश । सप्तमादीनि यसप्तमतयाष्टौ । अष्टमादीनि याष्टमतया चत्वारि ॥

तदित्थं चत्वारिंशं शतं (१४०) यगन्धानि मच्छन्दांसि ॥ एतेन रसतज-भनगन्धानि मच्छन्दांसि व्याख्यातानि ॥ तथा च बिंशत्यूनसहस्रमेकान्तरितानि मच्छदांसि(९८०)। अथैकान्तरितानि यच्छन्दःप्रभृतीनि । तत्र त्रियादीनि मप्रथमतया चतुर्विंशतिर्मद्वितीयतया मतृतीयतया चेति द्वात्रिंशं शतं(१३२)मगन्धानि यच्छन्दांसि । तथाचाष्टाविंशत्यूनसहस्रमेकान्तरितानि यच्छन्दांसि । षट्त्रिंशदूनसहस्रं रच्छन्दांसि । चतुश्चत्वारिंशदूनसहस्तं सच्छन्दांसि । इत्थमष्टाष्टाधिकोनसहस्राणि तत्तच्छन्दांसि भवन्ति ॥ तदित्थमेकान्तरितानि सर्वसमष्टया षोडशाधिकानि षट्सप्तति-शतानि सम्पद्यन्ते ॥ (७६१६)

१४०	एकय	मच्छन्दांसि	१३२	एकम	रच्छन्दांसि
१४०	एकर	,,	१३२	एकय	,,
१४०	एकस	,,	१४०	एकस	,,
१४०	एकत	,,	१४०	एकत	,,
१४०	एकज	,,	१४०	एकज	,,
१४०	एकभ	,,	१४०	एकभ	,,
१४०	एकन	,,	१४०	एकन	,,
		९८०			९६४
१३२	एकम	यच्छन्दांसि	१३२	एकम	सच्छन्दांसि
१४०	एकर	,,	१३२	एकय	,,
१४०	एकस	,,	१३२	एकर	,,
१४०	एकत	,,	१४०	एकत	,,
१४०	एकज	,,	१४०	एकज	,,
१४०	एकभ	,,	१४०	एकभ	,,
१४०	एकन	,,	१४०	एकन	,,
		९७२			९५६

१३२	एकम	तच्छन्दांसि	१३२	एकम	भच्छन्दांसि
१३२	एकय	,,	१३२	एकय	,,
१३२	एकर	,,	१३२	एकर	,,
१३२	एकस	,,	१३२	एकस	,,
१४०	एकज	,,	१३२	एकत	,,
१४०	एकभ	,,	१३२	एकज	,,
१४०	एकन	,,	१४०	एकन	,,
		(९४८)			(९३२)
१३२	एकम	जच्छन्दांसि	१३२	एकम	नच्छन्दांसि
१३२	एकय	,,	१३२	एकय	,,
१३२	एकर	,,	१३२	एकर	,,
१३२	एकस	,,	१३२	एकस	,,
१३२	एकत	,,	१३२	एकत	,,
१४०	एकभ	,,	१३२	एकज	,,
१४०	एकन	,,	१३२	एकभ	,,
		(९४०)			(९२४)

अथातो द्व्यन्तरितानि ॥ यरमा मयरा रमया इति द्वादश । एवं सतजभनानां विकल्पेन द्वादश द्वादशेति मयध्रुवाणि त्रिकाणि द्वासप्ततिः (७२) रयमा मरया यमरा इति द्वादश । एवं सतजभनानां विकल्पेन द्वादश द्वादशेति मरध्रुवाणि त्रिकाणि द्वासप्ततिः ७२ ॥ इत्थं मसध्रुवाणि मतध्रुवाणीति कृत्वा चतुरधिकानि पञ्चसहस्राणि मध्रुवाणि त्रिकाणि ॥ अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकशतस्य पूर्वान्तिर्भावात्तत: शेषाणि षष्टयधिकाष्टशत्युत्तराणि चत्वारि सहस्राणि यध्रुवाणि त्रिकाणि स्युः ॥ एवमेवोत्तराणि यथायथं प्रकल्प्य द्रष्टव्यानि । तथा चतुष्कानि त्र्यन्तरितानीत्याद्यूह्यानि ॥

इति छन्दःक्लृप्तिः ॥

॥ इति छन्दोगणितं नाम द्वितीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

अथ छन्दोनिरुक्तिः ।।

शरीरपुरुषं छन्दःपुरुषं वेदपूरुषम् ।।
महापुरुषमप्येषामुपासे बाध्ववद्रसान् ।। १ ।।

छन्दःशिक्षा विहिता, छन्दोगणितं च साधु निर्दिष्टम् ।।
छन्दोनिरुक्तिरधुना वादैः प्रस्तूयते कैश्चित् ।। २ ।।

लक्षितास्तावच्छन्दःशास्त्रोपयुक्ताः पदार्थाः । त इदानीं परीक्षितव्या इत्युपक्रम्पते । इदं तावच्छन्दोविज्ञानशास्त्रमनारम्भणीयमनर्थकत्वात् । चतुरर्थं हि शास्त्रमारभ्यते—अविज्ञातार्थज्ञापनार्थं हेयार्थनिरसनार्थं सामर्थ्यविशेषोद्रेकार्थमितरवेदोपकारार्थं चेति । तत्रेदं छन्दोविज्ञानशास्त्रं नैषामन्यतमं कमप्यर्थं संसाधयितुमीष्टे । (१) कस्तावच्छन्दसामविज्ञातोऽर्थः शास्त्रेण विज्ञाप्यः-स्वरूपं वा नामधेयं वा प्रयोगनियमो वा छन्दोविज्ञानमात्रेणाभ्युदययोगो वा । नाद्यः—ऋङ्मन्त्रादिपाठाद् वैदिकानां, काव्यादिपाठाद् लौकिकानां यावत्प्रयुक्तच्छन्दसां स्वरूपस्य प्रतिपत्तिसौलभ्यात् । प्रयुक्तातिरिक्तच्छन्दसां तु वैदिकानामनभिधानमेव । लौकिकानां पुनः साकल्येन विज्ञानस्येहाप्यसंभवोऽनन्तत्वात् । [शेषः प्रचितः । अत्रानुक्तं गाथा]—इतिसूत्राभ्यां पिङ्गलेन विशेषतः सर्वच्छन्दःस्वरूपनिर्वचनाशक्यत्वप्रतिबोधनात् । "कश्छन्दसां योगमावेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद ।। कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य निचिकाय कःस्वित् । १०।१०।११४।९ इति मन्त्रयता भगवता वेदपुरुषेणापि सर्वात्मना छन्दोयोगविज्ञानस्याशक्यत्वप्रतिबोधनात् ।। १ ।। न द्वितीयः—नामविशेषेण च्छन्दःस्वरूपे विशेषानाधानादिच्छानुरोधितया तादृशतुच्छफलार्थमेतावतो महतः शास्त्रौघस्यारम्भानावश्यकत्वात् ।।२।। न तृतीयः—अमुष्मिन्नवकाशे स्रग्धरैव प्रयोक्तव्या न शार्दूलविक्रीडितं मन्दाक्रान्ता वेत्येवं विध्यभावात् । तत्तच्छन्दःप्रयुक्तावद्यापि लोके कामचाराच्च ।।३।। न तुरीयः—छन्दोविज्ञानमात्रेणादृष्टाभ्युदयकल्पनाया निर्वीजत्वात् । तस्मान्नाविज्ञातार्थज्ञापनार्थं छन्दोविज्ञानशास्त्रमारम्भणीयं भवति ।

(२) अथ न हेयार्थनिरसनायापीदं शास्त्रमुपयुज्यते । गौः शब्दः प्रयोक्तव्यः साधुत्वान्न गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽसाधुत्वादिति हि यथा व्याकरणशास्त्रेण साधुशब्दान्वाख्यानेनासाधुशब्दानां हेयत्वं विधीयते न तथाऽनेन च्छन्दःशास्त्रेण च्छन्दसां साधुत्वासाधुत्वाभ्यामुपादेयहेयव्यवस्था क्रियते । प्रस्तारसिद्धस्वरूपातिरिक्तस्य हेयस्याप्रसिद्धेः । ट ण ठं ड ढेन यत्र च्छन्दःसिद्धिस्तत्र प्रमादतोऽप्येकडकाराधिक्ये टणठंडाढ़ेनापि छन्दोऽन्तरसिद्धिः संभवत्येव, न च तत्र शास्त्रविरोधं पश्यामः ।। तस्माच्छन्दःसिद्धौ हैयोपादेयव्यवस्थाराहित्यादनर्थकमिदं छन्दःशास्त्रम् ।।

(३) अथ न च्छन्द:शास्त्रमध्येतुस्तदध्ययनेन कश्चन सामर्थ्यसमुद्रेको दृष्टः। हेयनिरसनपुर:सरमुपादेयमुपाददानो हि व्यवहारकुशलः साधीयसाऽभ्युदयेन युज्येत वियुज्येत चानिष्टकरेणेति तत्रास्य सामर्थ्यमुद्भूतमिव विज्ञातं स्यात् । न चेह तथा च्छन्दःशास्त्रे हेयोपादेयव्यवस्थां पश्यामस्ततो नैतदध्ययनेन कथंचित्कुत्रचिदर्थे सामर्थ्यातिरेकमनुभावयामः ।।

(४) अथ नेतरवेदोपकारकत्वमप्यस्य शास्त्रस्य संभवति । यथाहि नाट्य-वेदोपकारको नृत्यवेदः । नृत्यवेदोपकारको वाद्यवेदः । वाद्यवेदोपकारकश्च गेयवेदः। यथा वा वाग्वेदाङ्कवेदक्रियावेदाः सर्ववेदोपकारका इष्यन्ते । न च तथेह कंचिद्वेदं पश्यामो योऽन्तरेण च्छन्दोविज्ञानमपर्य्याप्तः स्यात् ।।

ननु चास्ति यज्ञवेदो योऽन्तरेण च्छन्दोविज्ञानमपर्य्याप्तः स्यात् । तथा हि गवामयने पूर्वस्मिन् पक्षसि एकचत्वारिंशदधिकशतसंख्याकेषु चतुर्विंशाभिप्लविकस्वर-सामाभिधानेष्वहःसु ब्रह्मसाम्नोऽभीवर्त्तस्यैकत्वेऽपि प्रगाथाः प्रत्यहं भेदेन प्रयुज्यन्ते। तत्र के ते स्तोत्रीयाः प्रगाथा इत्याकांक्षायाम्—"पञ्चसु माःसु बार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते । तेष्वाप्तेषु छन्दसी संयुज्यैतव्यम् । चतुरुत्तरैरेव च्छन्दोभिरेतव्यम् । तदा-हुरनवक्लृप्तानि वा एतानि छन्दांसि माध्यन्दिने, बृहत्या चैव त्रिष्टुभा चैतव्यम्" इत्येवं ताण्डिश्रुतौ दाशतयीसमाम्नातेनाष्टाविंशतिशतप्रमितप्रगाथतृचसमुदायेन तावदहःसु प्रगाथलाभे तदतिरिक्तेषु त्रयोदशस्वहःसु प्रगाथलाभार्थं त्रयः पक्षा विधीयन्ते । ते चैते प्रगाथा न चान्तरेण शास्त्रमध्यवसितुं शक्याः—नापि वा तमन्तरेण प्रगाथप्रयोगं ज्योतिष्टोमः पर्य्याप्नोति । एवमितरत्राप्येकान्ततश्छन्दो-विज्ञानमपेक्ष्यते प्रतियज्ञम् । अतएव च—यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पत्यते प्र वा मीयते पापी यान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्—इति श्रूयते । मन्त्राणां दैवतं छन्दो निरुक्तं ब्राह्मणान् ऋषीन् कृत्तद्धितादींश्चाज्ञात्वा यजन्तो यागकण्टकाः ।।१।।

"अविदत्वा ऋषिच्छन्दोदैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः ।।१।।
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ।।२।।

इति स्मर्य्यते च । भगवान् कात्यायनोऽप्याह—"च्छन्दांसि गायत्र्यादीनि, एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्य्यं यातयामं भवति । अथान्तरा श्वगर्त्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति । अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्य्यवत् । अथ योऽर्थवित्तस्य वीर्य्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते" —इति ।। तस्मात् सन्त्येव भूयांसि च्छन्दःशास्त्रस्य प्रयोजनानि । तद्विज्ञानमन्तरेण चायं यज्ञवेदो निर्वीर्य्यो यातयामो भवति तस्मादस्ति यज्ञवेदोपकारकत्वं छन्दःशास्त्रस्य ।।

यदपि दृष्टान्तमुद्रया नाटचनृत्यवाद्यगेयवेदानामुत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्ववेदोपकार-कत्वमाख्यायते तावतापि च्छन्दोवेदस्यैव सर्वोपकारकत्वमाख्यातं भवति, गेयवेदस्य च्छन्दोवेदानतिरिक्तत्वात् । तस्मादस्ति वाद्यादिवेदोपकारकत्वं छन्दःशास्त्रस्य ।।

अथ किं बहुना—येयं शिल्पविद्या लोके नितान्तफलोपधायकतया प्रतिपद्यते सैषा नूनमर्थच्छन्दोविद्योपजीव्या भवति । अर्थच्छन्दोविद्यानतिरिक्तैव वा । शिल्पं छन्द इति श्रुतेः । सर्वं चेदं सचराचरं जगन्मण्डलं दृश्यते विश्वकर्म्मणः शिल्पम् । तथा प्राणिजातैरपि क्रियमाणं तत्तत्कर्म्म दृश्यते शिल्पमेवानुलम्बितम् । सर्वे च विद्यानिबन्धाः रचनावैचित्र्यात्मकेन केनापि शिल्पेनैवानुगता भवन्ति । तस्माच्छिल्प-विद्यात्मनाप्यस्त्येव सर्ववेदोपकारकत्वं छन्दःशास्त्रस्य ।।१।।

यदप्युक्तं नास्य च्छन्दःशास्त्रस्य विज्ञातृषु सामर्थ्यविशेषोद्रेकादिफलोपधाय-कत्वमस्तीति तदप्यत एव प्रत्याख्यातं भवति—"अविदित्वा योऽधीते तस्य ब्रह्म निर्वीर्य्यं स पापीयान् भवति । अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य ब्रह्म वीर्य्यवत्-स जपित्वा हुत्त्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते"—इत्येवमाचक्षाणेन भगवता कात्यायनेनान्वय-व्यतिरेकाभ्यां छन्दोविज्ञाने एव यज्ञवेदसाध्ययावत्फलोधायकत्वप्रतिपादनात् ।। श्रूयते चाभ्युदयसमर्पकत्वं छन्दोविज्ञानस्य । तथाहि—

तस्योष्णिग् लोमानि, त्वग् गायत्री, त्रिष्टुब्मांसम्, अनुष्टुप् स्वावानि, अस्थि जगती, पङ्क्तिर्मज्जा, प्राणा बृहती, स छन्दोभिश्छन्नः । यच्छन्दोभिश्छन्नस्तस्मा-च्छन्दांसीत्याचक्षते, इत्याख्याय—"छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मणो यस्यां कस्यां चिद्दिशि कामयते"—इत्यारण्यके समाम्नायते । तस्मात् पुरुषस्य पापसम्बन्धं वारयितुमाच्छादकत्वाच्छन्द इत्युच्यते इत्यस्ति प्रयोजनं छन्दः-शास्त्रस्य ।।

तथा तैत्तिरीया अप्यामनन्ति—"प्रजापतिरग्निं चिनुते स क्षुरयाविर्भूत्वा तिष्ठत् तं देवा बिभ्यतोपायन् । ते च्छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन् तच्छन्दसां छन्द-स्त्वम्" इति । तस्माच्चीयमानाग्निसन्तापस्य छादकत्वाच्छन्दस्त्वमित्यस्ति प्रयोजनं छन्दःशास्त्रस्य । तथा छान्दोग्योपनिषदि श्रूयते—"देवा वै मृत्योर्बिभ्युस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् । ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन् । यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्"—इति । तस्मादपमृत्युं वारयतीति च्छन्द इत्युच्यते । ततोऽस्ति प्रयोजनं छन्दः-शास्त्रस्य । अथ पुरा असुरैः पराभूताः सुरा यदेभिर्गायत्र्यादिभिः स्वमात्मानं प्रच्छाद्य पुनस्तान् जिग्युस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वमिति वृद्धपराशराद्युक्तेश्छन्दःसंवृतशरीरस्य शत्रुपरिभावकत्वं विजयशालित्वं च संसिद्धं भवतीत्यस्ति प्रयोजनं छन्दःशास्त्रस्य । स्मर्य्यते चायमर्थो भगवता कात्यायनेनापि सर्वानुक्रमणीसूत्रे—"अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरुपाधावन्"—इति ।। अन्नपुत्रादिमोक्षान्तं फलमात्माधीनं कर्त्तु-मिच्छन्तो मधुच्छन्दःप्रभृतयः संवननान्ता ऋषयो देवताः सूक्तहविर्भागिनीश्छन्दोभि-र्गायत्र्यादिभिरुपायभूतैस्तद्युक्तमन्त्रैर्वा 'अर्थस्य प्राप्तावयमेवोपाय इति दृढसंकल्पाः' श्रद्धया गच्छन्निति हि तदर्थमाह षड्गुरुशिष्योऽपि ।। अन्यच्चायमाह—

ऋषिनामार्षगोत्रज्ञ ऋषेः संस्थानतामियात् ।
एकैकस्य ऋषेर्ज्ञानात् सहस्राब्दा स्थितिर्भवेत् ।१।

छन्दसां चैव सालोक्यं छन्दोज्ञानादवाप्नुयात् ।२।

तस्यास्तस्या देवतायास्तद्भावं प्रतिपद्यते ।
यां यां विजानाति नरो देवतामिति निर्णयः ।३।

ऋष्यादिविज्ञानफलमनुभूय सुपूजितः ।
स्वाध्यायस्य फलं पश्चाच्छ्रुत्या दत्तं प्रपद्यते इति ।४।

तस्मादन्नपुत्रादिमोक्षान्तफलसाधनत्वादस्ति प्रयोजनं छन्दःशास्त्रस्य ।। अथान्यो मन्त्रवर्णः श्रूयते—"गायत्रेण च्छन्दसा त्वा छादयामि त्रैष्टुभेन च्छन्दसा त्वा च्छादयामि जागतेन च्छन्दसा त्वा च्छादयामीति" ततश्च च्छन्दसामेषां रक्षानुकूल-संवरणसाधनत्वादस्ति प्रयोजनं छन्दःशास्त्रस्य ।।२।।

अथ यदुक्तं छन्दःसिद्धौ हेयोपादेयव्यवस्थाराहित्यादनर्थकमिदं छन्दःशास्त्र-मिति तदप्यत एव नावकल्पते । सर्वं हि विधिवाक्यं सावधारणं भवति । न चावधारणमितरनिवृत्तिमन्तरा दृष्टम् । यतश्चेदं छन्दोविधायकं शास्त्र-मतो नूनमितरवारकेणानेन भवितव्यमिति सिद्धं हेयोपादेयव्यवस्थाप्रयोजकत्वं छन्दःशास्त्रस्य । सा चेयं हेयोपादेयव्यवस्था त्रेधा—विज्ञातव्यान्येव च्छन्दांसि न तु न विज्ञातव्यान्यपीति; विज्ञायैव च जपहोमयज्ञादिषु प्रवर्त्तेत न त्वविज्ञायापीति च भावाभावातिरेकप्रधाना सैका ।।१।। अथ "अनुष्टुभा यजति बृहत्या गायति गायत्र्या स्तौतीति" श्रूयते । तत्रानुष्टुभैव यजेत न बृहत्या न गायत्र्या तथा बृहत्यैव गायेत नान्यथा एवं गायत्र्यैव स्तुवीत नान्यथेत्येवं विजातीयभावद्वयातिरेकप्रधाना द्वितीया ।।२।। अथ—"पादस्यानुष्टुब् वक्त्रं । न प्रथमात् स्नौ । द्वितीयचतुर्थ-योरश्चेति" सूत्रेभ्यो वक्त्रेषु तथा "स्वरा अर्द्धमार्य्यार्द्धम् । अत्रायुङ् नज् । षष्ठो जिति" सूत्रेभ्य आर्य्यासु विधिनिषेधप्रधाना तृतीया ।।३।। यदि चेदं शास्त्रं न स्यादवश्यं तर्त्तहि तेष्वेतेषु कामचारः स्यादनर्थश्च प्रपद्येत । ततो नु खलु हेयान् हापयितुमुपादेयान् संचारयितुमुपदिशन्ति स्म ते कारुणिका भगवन्त आचार्य्याः ।।३।।

(१) अथ यदप्युक्तं नाविज्ञातार्थज्ञापनार्थमिदं शास्त्रमारब्धव्यमिति—एतदप्यत एव प्रत्याख्यातं वेदितव्यम् । अन्तरेण शास्त्रारम्भमसम्भवाच्छन्दःस्वरूपा-वगमस्यैकान्तमुपयुक्तस्य । "अनुष्टुभा यजति बृहत्या गायति गायत्र्या स्तौतीति श्रूयते । तत्र न ज्ञायते कानुष्टुप् का बृहती का गायत्रीति । अज्ञात्वा प्रवर्तमानश्च पापीयान् स्यात् । यत्रापि सतोबृहती महाबृहती महासतोबृहतीत्याख्यायन्ते तन्नैनाँस्तावदच्छान्दसिको बृहतीविकारान् प्रतिपद्येत । छान्दसिकस्तु पादविशेष-व्यवस्थया पङ्क्तिविकारः सतोबृहती, त्रिष्टुब्विकारो महाबृहती, जगतीविकारो महासतोबृहती, इत्येवमध्यवस्यति । तथा च साधु यज्ञे प्रवर्त्तते । अन्यथा प्रवर्तमान-

स्यैतानि च्छन्दांसि यातयामानि स्युरित्यवश्यमेषां स्वरूपज्ञानायोपयुज्यते च्छन्दः-शास्त्रारम्भः ॥१॥

यदपि तैत्तिरीयका आमनन्ति—"तद्यथा ह वै सूतग्रामण्यः—एवं छन्दांसि । तेष्वसावादित्यो बृहतीरभ्यूढः । सतोबृहतीषु स्तुवते सतो बृहन् प्रजया पशुभिरसानीत्येव"—इति ॥ तत्र प्रजया पशुभिश्चाहं सन्मार्गवर्त्तिनः पुरुषादधिको भवानीत्याशयेन सतो बृहत्या स्तौतीत्यर्थप्रतिपत्तेरवश्यमर्थापेक्षित्वमुपदिश्यते नामधेयस्येति नामधेयावगमार्थमुपयुज्यते छन्दःशास्त्रारम्भः ॥२॥

अथामनन्ति—"व्यतिषक्ताभिः स्तुवते"—इति । न चान्तरेण च्छन्दोवेदमृचः शक्या व्यतिषक्ताः कर्त्तुमित्युपयुज्यते छन्दःशास्त्रारम्भः ॥३॥ भूयांसश्चार्थवादाः श्रूयन्ते छन्दोवेदस्येति तत्तदभ्युदयसिद्धावुपयुज्यते शास्त्रारम्भः ॥४॥

इमानि च भूयश्छन्दोऽनुशासनस्य प्रयोजनानि यान्यत ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः । बह्वृचानां श्रुतौ तावदाम्नायते—"प्रजापत्तिर्वै यज्ञं छन्दांसि देवेभ्यो भागधेयानि व्यभजत् । स गायत्रीमेवाग्नये वसुभ्यः प्रातः सवनेऽभजत्—त्रिष्टुभमिन्द्राय रुद्रेभ्यो मध्यन्दिने—जगतीं विश्वेभ्यो देवेभ्य आदित्येभ्यस्तृतीयसवने । अथास्य यत् स्वं छन्द आसीदनुष्टुप्-तामुदन्तमभ्युदौहदच्छावाकीयामभि । सैनमब्रवीदनुष्टुप्—त्वं न्वेव देवानां पापिष्ठोऽसि, यस्य तेऽहं स्वं छन्दोऽस्मि, यां मोदन्तमभ्युदौहीरच्छावाकीयामभीति । तदजानात् स स्वं सोममाहरत्, स स्वे सोमेऽग्रं मुखमभिपर्य्याहरदनुष्टुभम् । तस्माद्वनुष्टुबग्रिया मुख्या युज्यते"—इति ।

तदेतच्छन्दोवेदं विद्वांसमन्तरेण कोऽन्यः शक्नोत्येतदर्थं विज्ञातुमतो दिव्यवेदार्थ-प्रतिपत्त्यर्थमारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥१॥

अथो पञ्चवीर्य्यं वा एतच्छन्दो यद्विराट् । यत्त्रिपदा तेनोष्णिहा गायत्र्यौ । यदस्या एकादशाक्षराणि पदानि तेन त्रिष्टुप् । यत् त्रयस्त्रिंशदक्षरा तेनानुष्टुप् । न वा एकेनाक्षरेण च्छन्दसां वीर्य्यमवरुन्धे सर्वेषां छन्दसां वीर्य्यमश्नुते सर्वेषां छन्दसां सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते । अन्नादोऽन्नपतिर्भवति अश्नुते प्रजयान्नाद्यं य एवं विद्वान् विराजौ कुरुते"—इत्येवं विराजोऽर्थवादः श्रूयते । स न पञ्चवीर्य्यत्वमवगन्तुं शक्नोत्यन्तरेण च्छन्दोवेदमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥२॥

सर्वैश्छन्दोभिर्यजेदित्याह । सर्वैर्वै छन्दोभिरिष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वैश्छदोभिरिष्ट्वा स्वर्गं लोकं जयति । एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमन्वन्यानि । एतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते । एतैर्ह वा अस्य छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद"—इति हि श्रूयते । तत्र किं तावत्सर्वेषां छन्दसां स्वरूपं कानि वान्यानीति न तत्त्वतः शक्नोत्यवधारयितुमच्छान्दसिको न वा यष्टुमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥३॥

स एवं विद्वांश्छन्दोमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद । यो वै तद्वेद यथा छन्दोमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता

अप्येति तत् सुविदितमिति श्रूयते । तदेतदस्य च्छन्दोमयस्य देवताप्ययो यथा भवति तथा ज्ञानं हि सुज्ञानमित्यस्माकं सुज्ञानं यथा स्यादित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।४।।

तद्यदाग्नेन्द्र्या यजति विजित्या एव सा विराट् त्रयस्त्रिंशदक्षरा भवति त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः—अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, प्रजापतिश्च वषट्कारश्च । तत् प्रथम उक्थमुखे देवता अक्षरभाजः करोति, अक्षरमक्षरमेव तद्देवता अनुप्रपिबन्ति, देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति । इति श्रूयते । तदेवं देवता यद्यक्षरभाजः कल्प्यन्ते तर्हि नान्तरेणाक्षरच्छन्दोविज्ञानमेता विज्ञातुं शक्यन्ते । तदेताश्छन्दोभिर्यथा विजानीयामेत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।५।।

"घ्नन्तो वा एताभिर्देवाः पुरो भिदन्त आयन्, यदुपसदः । सच्छन्दसः कर्त्तव्या न विच्छन्दसः । यद्विच्छन्दसः कुर्य्याद् ग्रीवासु तद्गण्डं दध्यादीश्वरो ग्लावो जनितोः । तस्मात् सच्छन्दस एव कर्तव्या न विच्छन्दसः"—इत्युपसदां सच्छन्दस्त्वकरणमनुज्ञायते । तदन्तरेण च्छन्दोवेदमशक्यं सच्छन्दस्त्वकरणमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।६।।

गायत्रीं ब्राह्मणस्यानुब्रूयात् । गायत्रो वै ब्राह्मणः । तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री । तेजसैवैनं तद्ब्रह्मवर्चसेन समर्द्धयति—त्रिष्टुभं राजन्यस्यानुब्रूयात् । त्रैष्टुभो वै राजन्यः । ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं त्रिष्टुप् । ओजसैवैनं तदिन्द्रियेण वीर्य्येण समर्द्धयति । जगतीं वैश्यस्यानुब्रूयात् । जागतो वै वैश्यः । जागताः पशवः । पशुभिरेवैनं तत्समर्द्धयति" इति श्रूयते । तत्र गायत्र्या ब्रह्मवर्चसं तेजस्त्रिष्टुभा त्विन्द्रियं वीर्य्यमोजो जगत्या च पश्वाद्यः पदार्था लक्ष्यन्ते । तदन्तरेण गायत्र्यादिविज्ञानमशक्यमेषां विज्ञानमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।७।।

चतुरुत्तरैर्वै देवाश्छन्दोभिः सयुग्भूत्वा एतां श्रियमारोहन् यस्यामेत एर्तहि प्रतिष्ठिताः । अग्निर्गायत्र्या-सवितोष्णिहा-सोमोऽनुष्टुभा-बृहस्पत्तिर्बृहत्या-मित्रावरुणौ पङ्क्त्येन्द्रस्त्रिष्टुभा-विश्वेदेवा जगत्या । ते एते अभ्यनूच्येते-अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वेति । कल्पते ह वा अस्मै योगक्षेमः । उत्तरोत्तरिणीं ह श्रियमश्नुते, अश्नुते प्रजानामैश्वर्य्यमाधिपत्यं य एवमेता अनु देवता एतामासन्दीमारोहति क्षत्रियः सन्निति हि श्रूयते । तत्र देवताच्छन्दसोः सयुक्त्वाख्यानादुत्तरोत्तरिणीं श्रियं प्रजानामैश्वर्यमाधिपत्यं चापेक्षमाणानामवश्यमेषां छन्दसां चतुरुत्तरत्वविज्ञानमपेक्षितं भवतीत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।८।।

यद् गायत्रे अधिगायत्रमाहितं, त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ।।

इत्येतद्वै तच्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठापयति कल्पयति देवविशो य एवं वेदेति श्रूयते । तदतश्छन्दःप्रतिष्ठापदं विदित्वाऽमृतत्वमश्नुवीयेत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।९।।

"तं सप्तभिश्छन्दोभिः प्रातरह्वयन् । तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि च्छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते"—इति हि तैत्तिरीयका आमनन्ति । मैत्रायणीयानामध्वरादि-

विधावप्याम्नायते—"देवेभ्यः प्रातर्याविभ्योऽनुब्रूहीति । छन्दांसि वै देवाः प्रातर्या-वाणः । छन्दोभ्यो वा एतदनुवाच आह"—इति । तथाचैतरेयकेऽपि—"देवेभ्यः प्रातर्याविभ्यो होतरनुब्रूहीत्याहाध्वर्य्युः । एते वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ । त एते सप्तभिः सप्तभिश्छन्दोभिरागच्छंति आस्य देवाः प्रातर्यावाणो हवं गच्छन्ति य एवं वेद । सप्ताग्नेयानि च्छन्दांस्यन्वाह,-सप्तोषस्यानि च्छन्दांस्य-न्वाह,-सप्ताश्विनानि च्छन्दांस्यन्वाह,-सप्तधा वै वागवदत्,-तावद्वै वागवदत् सर्वस्यै वाचः सर्वस्य ब्रह्मणः परिगृहीत्यै । तिस्रो देवता अन्वाह "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः, एषामेव लोकानामभिजित्यै । तदाहुः—कथमनूच्यः प्रातरनुवाक इति । यथाच्छन्दसमनूच्यः प्रातरनुवाकः । प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि । एष उ एव प्रजापतिर्यो यजते"-इति श्रूयते । न चैतच्छन्दोविज्ञानमन्तरेणानुवचनं साधीयः संभवतीत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥१०॥

"तदाहु—स वै होता स्याद् य एतस्यामृचि सर्वाणि च्छन्दांसि प्रजनयेदिति । एषा वाव त्रिरनुक्ता सर्वाणि च्छन्दांसि भवति । एषा छन्दसां प्रजातिः" ॥ इति श्रूयते । तदतश्छन्दःप्रजननविद्यया होतृत्वमासादयेयमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥११॥

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः । आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालं सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति । अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवता—एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च । तद्यदाग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति—अन्तत एव तद्देवानृध्नु-वन्ति । तदाह—यदेकादशकपालः पुरोडाशो द्वावग्नाविष्णू कैनयोस्तत्र क्लृप्तिः का विभक्तिरिति । अष्टाकपाल आग्नेयोऽष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्नेश्छन्दः, त्रिकपालो वैष्णवस्त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत । सैनयोस्तत्र क्लृप्तिः सा विभक्तिरित्याम्नायते । तत्रै-वमेकादशकपाले देवतयोः क्लृप्तिविभक्ती कर्त्तुं पारयेमेत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः॥१२॥

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री १ आयुर्वा उष्णिक् २ वाग्वा अनुष्टुप् ३ श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहती ४ पाङ्क्तो वै यज्ञः ५ ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं त्रिष्टुप् ६ जागताः पशवः—इति श्रूयते । तदतस्तत्तच्छन्दोयाज्यामनुरुन्धाना यथा तत्तत्कामेषु कृत-कृत्याः स्युरित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥१३॥

ते देवा अब्रुवन्—विराड् याज्यास्तु निष्केवल्यस्य या त्रयस्त्रिंशदक्षरा । त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः—अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, प्रजापतिश्च वषट्-कारश्च । देवता अक्षरभाजः करोति । अक्षरमक्षरमेव तद्देवता अनुप्रपिबन्ति देव-पात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति । यं कामयेत-अनायतनवान् स्यादिति-अविराजाऽस्य यजेद् गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वाऽन्येन वा छन्दसा वषट् कुर्य्यादनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति । यं कामयेत-आयतनवान् स्यादिति-विराजाऽस्य यजेदायतनवन्तमेवैनं तत्करोति—इति श्रूयते । तदन्तरेण च्छन्दोवेदमशक्यं नु यथाकामं याज्याविशेषोपधानमित्यारम्भ-णीयश्छन्दोवेदः ॥१४॥

यो धाता स वषट्कारः, याऽनुमतिः सा गायत्री, या राका सा त्रिष्टुप्, या सिनीवाली सा जगती, या कुहूः साऽनुष्टुप्। एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि-गायत्रं त्रैष्टभं जागतमानुष्टुभमन्वन्यानि। एतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते—एतैर्ह वा अस्य च्छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद। यः सूर्य्यः स धाता स उ एव वषट्कारः, या द्यौः सानुमतिः सो एव गायत्री। योषाः सा राका सो एव त्रिष्टुप्। या गौः सा सिनीवाली सो एव जगती। या पृथिवी सा कुहूः सो एवानुष्टुप्। एतानि वाव सर्वाणि छन्दांसि—गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमानुष्टुभमन्वन्यानि। एतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते—इत्याद्यैतरेयके श्रूयते ॥

मैत्रायणीयानां राजसूयब्राह्मणेऽप्याम्नायते—"गायत्र्यनुमतिः। त्रिष्टुब् राका। जगती सिनीवाली। कुहूरनुष्टुप्। धाता वषट्कारः। या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः। योत्तरा सा राका। या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली। योत्तरा सा कुहूः। चन्द्रमा एव धाता"—इत्यादि। तदन्तरेण च्छन्दोवेदमशक्यमासामनुमतिराकासिनीवालीकुहूनां सर्वच्छन्दोभिः सारूप्यमवगन्तुमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥१५॥

अतिच्छन्दसः शंसति। छन्दसां वै यो रसोऽत्यक्षरत् सोऽतिछन्दसमभ्यत्यक्षरत्। तदतिच्छन्दसोऽतिच्छन्दस्त्वम्। सर्वेभ्यो वा एष च्छन्दोभ्यः संनिर्मितो यत् षोडशी। तद्यदतिच्छन्दसः शंसति सर्वेभ्य एवैनं तच्छन्दोभ्यः संनिर्म्मिमीते। सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः संनिर्म्मितेन षोडशिना राध्नोति य एवं वेद"—इत्यैतरेयकाणां षोडशीब्राह्मणे श्रूयते। तदिदमतिच्छन्दसः शंसेयं षोडशिना च राध्नुयामित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ॥१६॥

सोमो वै राजाऽमुष्मिँल्लोके आसीत्। तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन्—कथमयमस्मान्त्सोमो राजाऽऽगच्छेदिति। तेऽब्रुवंश्छन्दांसि—यूयं न इमं सोमं राजानमाहरतेति। ते सुपर्णा भूत्वोदपतन्। छन्दांसि वै तत्सोमं राजानमच्छाचरन्। तानि ह तर्हि चतुरक्षराणि। चतुरक्षराण्येव च्छदांस्यासन्। सा जगती चतुरक्षरा प्रथमोदपतत्। सा पतित्वाऽर्द्धं मध्वनो गत्वाऽश्राम्यत्। सा परास्य त्रीण्यक्षराण्येकाक्षरा भूत्वा दीक्षां च तपश्च हरन्ती पुनरभ्यवापतत्। तस्मात्तस्य वित्ता दीक्षा, वित्तं तपो यस्य पशवः सन्ति। जागता हि पशवः—जगती हि तानाहरत् ॥

अथ त्रिष्टुबुदपतत्। सा पतित्वा भूयोऽर्द्धादध्वनो गत्वाऽश्राम्यत्। सा परास्यैकमक्षरं त्र्यक्षरा भूत्वा दक्षिणा हरन्ती पुनरभ्यवापतत्। तस्मान्मध्यन्दिने दक्षिणा नीयन्ते त्रिष्टुभो लोके। त्रिष्टुब्भि ता आहरत् ॥

ते देवा अब्रुवन् गायत्रीं—त्वं न इमं सोमं राजानमाहरेति। सा तथेत्यब्रवीत्। सोदपतत्। सा पतित्वा सोमपालान् भीषयित्वा पद्भ्यां च मुखेन च सोमं राजानं समगृभ्णात्। यानि चेतरे छन्दसी अक्षराण्यजहितां, तानि चोपसमगृभ्णात्। सा यद्दक्षिणेन पदा समगृभ्णात्, तत् प्रातः सवनमभवत्। तद्गायत्री स्वमायतनमकुरुत। तस्मात् तत् समृद्धतमं मन्यन्ते सर्वेषां सवनानाम्। अथ यत्सव्येन पदा समगृभ्णात् तन्माध्यन्दिनं सवनमभवत्। तद् विस्रंलत। तद्विस्रस्तं नान्वाप्नोत् पूर्वं

सवनम् । ते देवाः प्राजिज्ञासन्त । तस्मिंस्त्रिष्टुभं छन्दसामदधुरिन्द्रं देवतानाम्, तेन तत् समावद्वीर्य्यमभवत् पूर्वेण सवनेन ।

अथ यन्मुखेन समगृभ्णात् तत् तृतीयसवनमभवत् । तस्य पतन्ती रसमधयत् । तद्धीतरसं नान्वाप्नोत् पूर्वे सवने । ते देवाः प्राजिज्ञासन्त । तत्पशुष्वपश्यन् । तद्यदाशिरमवनयन्ति आज्येन पशुना चरन्ति तेन तत् समावद्वीर्य्यमभवत् पूर्वाभ्यां सवनाभ्याम् । ते वा इमे इतरे च्छन्दसी गायत्रीमभ्यवदेताम् । वित्तं नावक्षराण्यनुपर्य्यागुरिति । नेत्यब्रवीद्गायत्री—यथा वित्तमेव न इति । ते देवेषु प्रश्नमैताम् । ते देवा अब्रुवन्—यथावित्तमेव व इति । तस्माद्धाप्येतर्हि वित्त्यां व्याहुः—यथा वित्तमेव न इति । ततो वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्—त्र्यक्षरा त्रिष्टुप्—एकाक्षरा जगती । साष्टाक्षरा गायत्री प्रातः सवनमुदयच्छत् । नाशक्नोत्त्रिष्टुप् त्र्यक्षरा

गायत्री	। । । ।,	। । । । । (.),	।।।'।।।'।',	।।।।'।।।'।'	।।।।-।।।-।
त्रिष्टुप्	। । । ।,	। । ।—(।),	।।।. . . . .,	।।।-।।।।'।।'।'।'	।।।-।।।।-।।।-।
जगती	। । । ।,	।—(।।।),	।. . . . . . .,	।-।।।-।।।।'।।।'।	।-।।।-।।।।-।।।-।

माध्यन्दिनं सवनमुद्यन्तुम् । तां गायत्र्यब्रवीद् आयान्यपि मेऽत्रास्त्विति । सा तथेत्यब्रवीत् त्रिष्टुप् । तां वै मैतैरष्टाभिरक्षरैरुपसन्धेहीति । तथेति । तामुपसमदधात् । सैकादशाक्षरा भूत्वा माध्यन्दिनं सवनमुदयच्छत् ।। नाशक्नोज्जगत्येकाक्षरा तृतीयसवनमुद्यन्तुम् । तां गायत्र्यब्रवीद्—आयान्यपि मेऽत्रास्त्विति । सा तथेत्यब्रवीज्जगती । तां वै मैतैरेकादशभिरक्षरैरुपसन्धेहीति । तथेति । तामुपसमदधात् । सा द्वादशाक्षरा भूत्वा तृतीयसवनमुदयच्छत् । ततो वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवत् । एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् । द्वादशाक्षरा जगती । एकं वै सत्तत्रेधाऽभवत् । तस्मादाहुः—दातव्यमेवं विदुषे इति—एकं हि सत्तत्रेधाऽभवद्—।। इति हि सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविदामामनन्त्यैतरेयकाः ।। को ह्येतदर्थं विज्ञापयितुं शक्नोति यावता याथात्म्येन च्छन्दोवेदं न जानीयादित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।१७।।

आदित्याश्चाङ्गिरसश्च सुवर्गे लोकेऽस्पर्द्धन्त—वयं पूर्वे सुवर्गं लोकमियाम वयं पूर्व इति । त आदित्या एतं पञ्चहोतारमपश्यन् । तं पुरा प्रातनुवाकादाग्नीध्रेऽजुहवुः । ततो वै ते पूर्वं सुवर्गं लोकमायन् । संवत्सरो वै पञ्चहोता । संवत्सरः सुवर्गो लोकः । तेऽब्रुवन्नङ्गिरस आदित्यान्—क्व स्थ । क्व वः सद्भ्यो हव्यं वक्ष्याम इति । छन्दःसु इत्यब्रुवन् गायत्रियां त्रिष्टुभि जगत्यामिति । तस्माच्छन्दःसु सद्भ्य आदित्येभ्य आङ्गिरसीः प्रजा हव्यं वहन्ति । इति हि तैत्तिरीयका आमनन्ति । छन्दःसु सद्भ्य आदित्येभ्यो हव्यं वहन्तीति जानीयामेत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः १८ ।

मैत्रायणीयानामाम्नायते—गायत्रीं च सम्पादयति जगतीं च । तद् द्वे च्छन्दसी एकं छन्दोऽभिसंपादयति बृहतीम् । त्रिष्टुभं च ककुभं च । तद्द्वे च्छन्दसी एकं

छन्दोऽभिसंपादयति बृहतीम् । अनुष्टुभं च पङ्क्तिं च । तत् षट् छन्दांस्येकं छन्दोभिसंपादयति बृहतीम्" इत्यादि । ऐतरेयकेऽपि--तस्या वाचोऽवपादादबिभयुः—तमेतेषु सप्तसु च्छन्दःस्वश्रयन् । यदश्रयन् तच्छ्रायन्तीयस्य श्रायन्तीयत्वम् ।

गा० ।।।।।।...   क० ।।।।।।।..   अ० ।।।।।।।।.

ज० ।।।।।।।।।—।।।   त्रि० ।।।।।।।।।—।।   प० ।।।।।।।।।—।

यदवारयन्—तद्वारवन्तीयस्य वारवन्तीयत्त्वम् । तस्या वाच एवावपादादबिभयुः । तस्मा एतानि सप्त चतुरुत्तराणि च्छन्दांस्यपादधुः । तेषामति त्रीण्यरिच्यन्त । न त्रीण्युदभवन् । स बृहतीमेवास्पृशत्—द्वाभ्यामक्षराभ्यामहोरात्राभ्यामेव । तदाहुः—कतमा सा देवाक्षरा बृहती—यस्यां तत्प्रत्यतिष्ठत् । द्वादश पौर्णमास्यः । द्वादशाष्टकाः । द्वादशामावास्याः । एषा वाव सा देवाक्षरा बृहती—यस्यां तत्प्रत्यतिष्ठदिति । यानि च च्छन्दांस्यत्यरिच्यन्त यानि च नोदभवन्—तानि निर्वीर्य्याणि हीनान्यमन्यन्त । साऽब्रवीद् बृहती । मामेव भूत्वा मामुपसंश्रयतेति । चतुर्भिरक्षरैरनुष्टुब् बृहतीं नोदभवत् । चतुर्भिरक्षरैः पङ्क्तिर्बृहतीमत्यरिच्यत । तस्यामेताति चत्वार्य्यक्षराण्यपच्छिद्यादधात् । ते बृहती एव भूत्वा वृहतीमुपसमश्रयताम् । अष्टाभिरक्षरैरुष्णिग् बृहतीं नोदभवत् । अष्टाभिरक्षरैस्त्रिष्टुब् बृहतीमत्यरिच्यत । तस्यामेतान्यष्टावक्षराण्यपच्छिद्यादधात् । ते बृहती एव भूत्वा बृहतीमुपसमश्रयताम् । द्वादशभिरक्षरैर्गायत्री बृहतीं नोदभवत् । द्वादशभिरक्षरैर्जगती बृहतीमत्यरिच्यत । तस्यामेतानि द्वादशाक्षराण्यपच्छिद्यादधात् । ते बृहती एव भूत्वा बृहतीमुपसमश्रयताम् । इत्याम्नायते । तत्रान्तरेण च्छन्दोवेदमशक्यमासां गायत्र्युष्णिगनुष्टुभामनुद्भवनमन्यासां च पङ्क्ति-त्रिष्टुब्-जगतीनामतिरेचनं यथावद्विज्ञातुमित्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।। १९ ।।

इतीमान्यन्यानि चैवंविधानि भूयांसि प्रयोजनानि पश्याम इत्यारम्भणीयश्छन्दोवेदः ।।२०।।

अथ कश्चिद् ब्रूयात्—यान्येतानि प्रयोजनान्युक्तानि ततो नु खलु वैदादिकानामेव च्छन्दसां विधानशास्त्रस्यावश्यकत्वं प्राप्नोति । न पुनर्लौकिकानामपीति । तत्रोच्यते । त्रिविधानि हि वाचां छन्दांसि, कानिचिद् वैदिकान्येव, कानिचिद्वैदिकानि च लौकिकानि च, कानिचित् पुनर्लौकिकान्येव । तत्रावश्यमुभयेषां निदर्शनाय शास्त्रारम्भः प्रवर्तनीयस्तेन यदि "घटायोन्मीलितं चक्षुः किमन्यन्न प्रकाशयेत्" इति न्यायेन लौकिकान्यपि दर्श्येरन् तर्त्तहि तावता छन्दोयाथात्म्यविजिज्ञासूनां छन्दोविज्ञानसौकर्य्यानुग्रहो भवति । अतएव तु वैदिकानि च्छादांसि साकल्येन प्रदर्श्य लौकिकानां दिग्दर्शनेनानुगृह्णाति भगवान् पिङ्गलाचार्य्यः । अनेन चाविशिष्टबुद्धिरपि तानि तानि च्छन्दोवृत्तानि यथावदवगम्य तद्रचनाभिनयादिना कृतकृत्यः कवितानन्दमासादयेत् ।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

इति हि भूयांसि प्रयोजनानि काव्यस्य पठन्ति । छन्दोभिनेयं तु वाक्यं रसोद्बोधे काव्यमित्युच्यते। तदतश्छन्दोभङ्गो रसापकर्षितया काव्यत्वव्याघातको भवति । तस्माच्छन्दोभङ्गदोषेण काव्यप्रयोजनेभ्यो मा व्यतिरेचिष्महीत्यपेक्षमाणानामारम्भणीयं लौकिकानामपि च्छन्दसां विज्ञानशास्त्रम् । उक्तं च प्राकृते पैङ्गले—

जेम ण सहई कणअतुला तिलतुलिअं अद्ध अद्धेण ।
तेम ण सहई सवणतुला अवच्छन्दं छन्दभङ्गेण ।।१।।

अबुह बुहाणं मज्झे कब्बं जो पढइ लक्खणविहूणम्
भूअग्ग लग्ग खग्गहिं सीसं खुडिअं ण जाणेई ।।२।।

यथा न सहते कनकतुला तिलतुलितमर्द्धार्द्धेन ।
तथा न सहते श्रवणतुला अपच्छन्दस्कं छन्दोभङ्गेन ।।१।।

अबुधो वुधानां मध्ये काव्यं यः पठति लक्षणविहीनम् ।
भुजाग्रलग्नखड्गेन शीर्षं खण्डितं न जानाति ।।२।।

इति हि तदर्थः । तदिदमपच्छन्दस्कं लक्षणविहीनं मा प्रयुङ्क्ष्महीत्यारम्भणीयं छन्दोविज्ञानशास्त्रम्--

।। इति च्छन्दोवेदसार्थकतावादः ।।

पञ्चाङ्गतावादः

ननु यदि सर्वस्यैवार्थजातस्यैकान्ततश्छन्दोबद्धत्वं स्वीक्रियते तर्हि नूनमिदं छन्दोऽपि छन्दोबद्धं स्यात् स तर्हि पद्यच्छन्दोवेदः किमिति पञ्चाङ्ग एवोच्यते न च्छन्दसा षडङ्गोऽनुविधीयते। अथ यदि नेदं छन्दश्छन्दोबद्धमिति मन्यसे तर्हि छन्दसः सर्वानुगतत्वप्रतिज्ञाहानिरिति चेत्सत्यम्। यथेदं ब्रह्मणो व्यापकत्वं मन्यन्ते तथेदं द्रष्टव्यम्। यदि नामास्य ब्रह्मणो ब्रह्मवृत्तित्वमाख्यायते तर्हि द्वैतं भवति, अद्वितीयं तु ब्रह्मेत्याचक्षते ब्रह्मविदः। यदि तु ब्रह्मवृत्तित्वं नास्तीत्यभिमन्यते तर्हि तस्य व्यापकत्वप्रतिज्ञाहानिः प्रसज्ज्यते। अथ यद्यनवस्थादोषात् तेजःशब्दप्रमाणादिवदस्य ब्रह्मणः स्वस्वरूपेणावभासमानस्य नेतरापेक्षेत्युच्यते तर्हि तुल्यं छन्दोवेदेऽपि। स्वस्वरूपेणैव छन्दसां छन्दोबद्धत्वादितरच्छन्दोऽनपेक्षणात्। परे त्वाहुः— भवति नूनं गत्यध्वपरिच्छित्तिर्नाम च्छन्दसां छन्दो लिप्यध्वपरिच्छित्तेश्छन्दोलिपिच्छन्दस्त्ववत्। सा चाध्वपरिच्छित्तिः प्रत्ययो भवति यया परिच्छिन्नानामनेकेषामायतनसाम्येन प्रवर्त्तनं दृश्यते। आयतनमेव तज्जातीयेतरायतनसाम्यापेक्षया अध्वपरिच्छित्तिरित्युच्यते। अवश्यं हि सर्वस्याप्येतस्य वस्तुजातस्य स्वरूपसंपादनाद्यन्योद्देशेन प्रवर्तमानस्य कश्चिदध्वा भवति। तेनाध्वना प्रक्रममाणस्य सौकर्य्यं सौन्दर्य्यं चानुभूयते। स्वमार्गात् प्रच्यवमानस्य च तस्य क्लिष्टत्वं कुरूपत्वं च जायते। तस्मादयमध्वयोगश्छन्दसां छन्दः। नन्वेवं तर्हि पद्यच्छन्दोवेदस्य षड्भिरङ्गैर्भवितव्यमिति चेत्सत्यम्। अस्ति षडङ्गो वेदत्वात्, वेदस्य षडङ्गत्वनियमात्। स्वल्पविषयत्वात्तु नायमध्वयोगः पार्थक्येनेह निरूपित इति द्रष्टव्यम्॥

॥ इति छन्दोवेदपञ्चाङ्गतावादः ॥

छन्दस्तत्त्ववादः

अथ किमिदं छन्द इति पृच्छामः—

ननु च भोः—यदि कश्चिद् ब्रूयात्—कः खलु ब्राह्मण इति । सोऽयं त्रिविधः पर्य्यनुयोगो भवति लक्ष्यापेक्षो लक्षण्यापेक्षो लक्षणापेक्षश्च । तदतस्त्रिविधः समाधिर्भवति । असौ देवदत्तो ब्राह्मण इति लक्ष्यापेक्षः । कश्यपाङ्गिरोभृग्वत्रिवसिष्ठविश्वामित्रागस्त्याख्याः सप्तैव ब्राह्मणजातयो भवन्ति, इति लक्षण्यापेक्षः ॥

विद्या योनिः कर्म्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यलक्षणम् ॥
सेवासंग्रहवृद्धिश्च कालयापश्च पातनम् ॥१॥
जीवितं यस्य धर्म्मार्थं धर्म्मो रत्यर्थमेव च ॥
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२॥
कर्मणा ब्रह्मणो जातः करोति ब्रह्मभावनाम् ॥
स्वधर्मनिरतः शुद्धस्तस्माद्ब्राह्मण उच्यते ॥३॥
जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च ॥
एभिर्युक्तो हि यस्तिष्ठेन्नित्यं स द्विज उच्यते ॥४॥
धृतिः क्षमा दयाऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥
विद्या चैव तपः सत्यं नवकं ब्रह्मलक्षणम् ॥५॥

॥ इति लक्षणापेक्षश्च ॥

एवमेवेदं यददः पर्य्यनुयुज्यते—किमिदं छन्द इति । सोऽयं त्रिविधः पर्य्यनुयोगो भवति, लक्ष्यापेक्षो लक्षण्यापेक्षो लक्षणापेक्षश्च । तदतस्त्रिविधः समाधिर्भवति ।

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम्" । इतीदं छन्द इति लक्ष्यापेक्षः ।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्याख्याः सप्तैव च्छन्दोजातयो भवन्तीति लक्षण्यापेक्षः ।

"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः ।" "मात्राक्षरसंख्यानियता वाक् छन्दः ।" इति लक्षणापेक्षः ।

तदित्थं सिद्धं प्रतिवचनमितीदं च्छन्द इति चेत्, न सिद्धम् । कुत एतत् । यदक्षरपरिमाणं तच्छन्द इति हि लक्षणमुच्यते तत्तावदपर्य्याप्तं भवति । पृथिवी गायत्री, अन्तरिक्षं त्रैष्टुभम्, द्यौर्जगती । अग्निर्गायत्रः, इन्द्रस्त्रैष्टुभः,विश्वेदेवो जागतः । तेजो

वै ब्रह्मवर्चसं गायत्रं, ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यम् त्रिष्टुप्, पशवो जागताः । ब्रह्म गायत्रम्, क्षत्रं त्रैष्टुभम्, विड् जागतम् । ब्राह्मणो गायत्रः, क्षत्रियस्त्रैष्टुभः, वैश्यो जागतः । चतुर्विंशत्यक्षरा वाग्गायत्री, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वाक् त्रैष्टुभी, अष्टचत्त्वारिंशदक्षरा वाक् जागती । इत्येवमनेकधा लक्षण्याः श्रूयन्ते । ताश्च सर्वा एवैता गायत्र्यस्त्रिष्टुभो जगत्यश्च लक्षणमर्हन्ति । तत्र यदुच्यते अक्षरपरिमाणं छन्द इति, वाचिकेष्वेवैतदवकाशं लभते नान्यत्रेत्यनैकान्तिकं भवति । न चानैकान्तिके लक्षणशब्दः प्रवर्त्तते । तस्मादलक्षणमेतत् । स्यादेव तु तेषु तेषु सर्वेष्वनुगतः कश्चन विलक्षणो धर्मो यदनुरोधेन छन्दःशब्दः प्रवर्त्तते । तमेतं धर्मं पृच्छाम। किमिदं छन्द इतिः ।

अथ लक्षण्योपपरीक्षा

यान्येतानि गायत्र्यादीन्यभिधानानि श्रूयन्ते—किमेते यदृच्छाशब्दाः, उत रूढ़ा, योगरूढ़ाः, यौगिकरूढ़ाः, यौगिका वा । अथवा क्वचिन्मुख्याः अपरत्र भक्त्या प्रयुज्यन्ते । तत्र तावत् गायतो मुखादुदपतदिति गायत्र्याः, गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीत्यनुष्टुभश्च निर्वचनश्रवणाद्, 'गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीत्युच्यते बुधैः' इत्यादिस्मरणाच्चावयवार्थस्फोटाच्च नैते यदृच्छाशब्दाः शक्या वक्तुम् । नाप्येते रूढ़ा भवितुं युज्यन्ते । तदाहुः—यदन्यानि च्छन्दांसि वर्षीयांसि भूयोऽक्षरतराणि, अथ कस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते इति । एतया हि देवाः इमांल्लोकानाश्नुवत ।ते वै दशभिरेवाक्षरैरिमंलोकमाश्नुवत । दशभिरन्तरिक्षम्, दशभिर्द्दिवम् । चतुर्भिश्चतस्रो दिशः । द्वाभ्यामेवास्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठन्, तस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते, इत्येवमादिभिः श्रुतिभिरेषामवयवार्थसापेक्षत्वावगमात् । न चाप्येते योगरूढा भवन्ति । सप्तधा वै वागवदत् । त्र्यक्षरेण मिमते सप्तवाणीरित्येवमादिश्रुतिसिद्धेषु वाग्विच्छित्तिविशेषेष्वेव तु भवानिदानीं गायत्र्यादीन् शब्दानाचष्टे । तत्र नैतेषु गायत्र्यादीनामवयवार्थसमन्वयः स्वारस्येन शक्यते कर्त्तुम् । शुद्धं यौगिकत्वमप्यत एव प्रत्याख्यातं भवति । द्रव्यशब्दत्व-गुणशब्दत्व-क्रियाशब्दत्वानामन्यतमस्याप्यत्र दुःस्थत्वात् ।। तर्त्तहि स्यादेवम्—न केवलं वाग्विशेषा एवैतेषां गायत्र्यादिशब्दानां विषया भवन्तीति, किन्तर्हि सन्त्येव केचिदन्येऽपि साध्यदेवादयो द्रविणादयो वा वेदप्रसिद्धा गायत्र्यादिशब्दप्रतिपाद्याः । अथ वाग्विशेषाश्च । तेषु क्वचिदिमे यौगिका अपरत्र रूढाः स्युः । अथवा क्वचिन्मुख्याः अपरत्र भाक्ताः स्युः । तत्र न ज्ञायते-कुत्र कीदृशा इति ।। किञ्च भूयसा श्रूयते गायत्र्यादीनामाच्छादकत्वाच्छन्दस्त्वमस्तीति । तत्र न ज्ञायते कथमेषां वाग्विशेषाणां साध्यदेवानां द्रविणादीनामन्येषां वा किमाच्छादकत्वमस्तींति । आच्छादकत्वमेवैतच्छन्दःशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमुत गायत्र्यादिशब्दसंबन्धमात्रमथवा अन्यदेव किञ्चित् । तस्मादुत्तिष्ठते जिज्ञासा—किमिदं छन्द इति ।।

(१)

अथाप्येतदन्यथान्यथा वहुधा श्रूयते वेदे—तथाहि एते वाव देवाः प्रातर्यावाणो

यदग्निरुषा अश्विनौ । त एते सप्तभिः सप्तभिश्छन्दोभिरागच्छन्तीति श्रूयते । तदेतन्न ज्ञायते कथन्ते सप्तभिश्छन्दोभिरागच्छन्ति । कानि वा तत्र छन्दांसि ।

(२)

छन्दांसि वा अन्योन्यस्यायतनमभ्यध्यायन्—गायत्री त्रिष्टुभश्च जगत्यै चायतनमभ्यध्यायत् । त्रिष्टुब् गायत्र्यै च जगत्यै च । जगती—गायत्र्यै च त्रिष्टुभश्च । ततो वा एतं प्रजापतिर्व्यूढच्छन्दसं द्वादशाहमपश्यत् तमाहरत् तेनायजत । तेन स सर्वान् कामान् छन्दांस्यगमयत् । इति श्रूयते । तत्र न ज्ञायते कथं द्वादशाहेन छन्दसामन्योन्यायतनसंसिद्धिः । कानि वा तत्र छन्दांसि ।

(३)

अहर्वै देवा अश्रयन्त, रात्रीमसुराः । ते समावद्वीर्य्या एवासन् । न व्यावर्त्तन्त । सोऽब्रवीदिन्द्रः—कश्चाहं चेमानितोऽसुरान् रात्रीमन्ववेष्याव इति । स देवेषु न प्रत्यविन्दत् । तं वै छन्दांस्येवान्ववायन् । तस्मादिन्द्रश्चैव छन्दांसि च रात्रिं वहन्ति ।" इति श्रूयते । तत्र न ज्ञायते कथमेतानि छन्दांसि तमिन्द्रमन्ववायन् । कानि वा तत्र छन्दांसि ।

(४)

देवा वा असुरैर्युद्धमुपप्रायन् विजयाय । तानग्निर्नान्विकामयतैतुम् । तं देवा अब्रुवन् । अपि तमेहि अस्माकं वै त्वमेकोऽसीति । स त्रिश्रेणिर्भूत्वा त्र्यनीकोऽसुरान् युद्धमुपप्रायद् विजयाय । त्रिश्रेणिरिति—छन्दांस्येव श्रेणीरकुरुत । त्र्यनीक इति—सवनान्येवानीकानि । तानसंभाव्यं पराभावयत् इति श्रूयते । तत्र न ज्ञायते कथं छन्दांसि श्रेणयोऽभूवन् । कानि वा तत्र छन्दांसि ।।

(५)

सर्वाणि छन्दांस्यैतशः प्रलापः इत्याम्नायते । एतशो ह्ययं सूर्य्याश्वः संज्ञायते । 'उदु त्यद्दर्शतं वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे । यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्' इत्येवमादि मन्त्रव्याख्याने तथैव प्रतिपत्तेः । तथा च न ज्ञायते कथमेषां छन्दसामैतशप्रलापत्वं, कानि वा तत्र छन्दांसि ।।

(६)

अलमतिनिदर्शनया । एवमादयो हि भूयांसश्छन्दसामुच्चावचवादाः श्रूयन्ते । तत्र न ज्ञायते कथं कथमेते वादा उपपद्यन्ते, कानि वा तत्र छन्दांसि । किमेकमेवैतेषां छन्दसां छन्दस्त्वमुत भिद्यते प्रत्यर्थमिति पृच्छामः किमिदं छन्द इति ।

अथ यदप्युक्तं लक्ष्यापेक्षं प्रतिवचनं तदपि नैवावकल्पते । अग्निमीळे पुरोहितमित्यत्र हि किं नाम छन्दो विवक्षितं भवताम् । किं तावदयं संपूर्णो मंत्रश्छन्दः स्यात् । नेत्याह ।

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्त्तितम् ।।१०५८०।।

इत्येवं हि दाशतय्वां मन्त्राः संख्यायन्ते । छन्दांसि पुनः सप्तैवेति विषयभेदो विज्ञायते । किंतर्हि यत्तावत्पदानि तच्छन्दः, नेत्याह—

शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्द्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम् ।
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि ।।१५३८२६।

इत्येवं हि पदसंख्यानं स्मर्य्यते । छन्दांसि पुनः सप्तैवेति विषयभेदो विज्ञायते । अथ किमेतान्यक्षराण्येव छन्दः । नेत्याह ।

चत्वारि वाव शतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षरसहस्राणि ।।४३२०००।
इत्येवमक्षरसंख्यानं स्मर्य्यते । तस्मान्न तावदक्षराणि छन्दः स्यात् ।।

अथ किं यत्तदत्रैते वर्णाः श्रूयन्ते तच्छन्दः । नेत्याह—वर्णा हि ते भवन्ति । व्यभिचरन्ति च ते ते वर्णाः, अथाप्यनुवर्तते छन्दस्त्वमतो नैते वर्णाश्छन्दः स्यात् । किं यदयं वर्णक्रमस्तच्छन्दः । नेत्याह । क्रमो हि नाम पौर्वापर्य्यम् । नचानन्तर्भाव्य वर्णरूपं पौर्वापर्य्यं शक्यतेऽध्यवसातुम् । तथा च वर्णव्यभिचारे क्रमातिचारः प्राप्नोति । अथाप्यनुवर्तते छन्दस्त्वमतो नैष वर्णक्रमश्छन्दः स्यात् । अथ यदयं गुरुलघुक्रमस्तच्छन्दः । नेत्याह । यत्रापि नैवं गुरुलघुक्रमस्तत्रापीष्यते छन्दोव्यवहारः । अथोच्येत । नोच्येत त्विदमित्थं गुरुलघुक्रमश्छन्द इति । किन्तर्हि यथाकथा च क्रियमाणो गुरुलघुक्रमश्छन्दः स्यात् । नैतदेवमपि शक्यं वक्तुम् । गद्य-पद्य-विवेकस्तर्त्तर्हि व्याहन्येत । यथाकथंचित्क्रमस्य च्छन्दस्त्वेऽभ्युपगम्यमाने तदवच्छेदकभेदासंभवात् सप्त च्छन्दांसीति व्यवहारोऽपि न प्राप्नोति । तस्मान्नैषोऽपि गुरुलघुक्रमश्छन्दः स्यात् । अथ यदत्रत्यमक्षरपरिमाणं तच्छन्द इति चेन्नैतदपि शक्यं विज्ञातुम् । यत्रापि नैतदक्षरपरिमाणं तत्रापीष्यते च्छन्दोव्यवहारः । स न स्यात् । अथ यथाकथंचिदक्षरपरिमाणं छन्द इति चेन्नैतदप्यस्ति । क्रमवादेन प्रत्युक्तत्वात् । अथ किमनेन मन्त्रेण यत्प्रतिपाद्यते सा विद्या च्छन्दः । नेत्याह । विद्या हि नाम सा अर्थविषयिणी स्यात् शब्दविषयं तु च्छन्दः प्रतिपद्यते इति विषयभेदो भवति । ननु च भोः, न मन्त्रबोध्योऽर्थ एव विद्या स्यात् किन्तर्हि मन्त्रस्यापीष्यते विद्याशब्देन व्यपदेशः । तथा च मन्त्रत्रैविध्याद् ऋग्यजुःसामानीति त्रैविध्यमुपदिश्यते । पद्यगद्यगानानि चैतानि ऋग्यजुःसामानि न च्छन्दसोऽतिरिच्यन्ते । एतत्त्रैविध्येन छन्दोभेदस्य प्रागभिधानात् । सत्यमेतत् । यदि ह नाम पद्यमृक्, गद्यं यजुः, गेयं साम इत्येवाभिप्रेतं भवताम् । तर्त्तर्हि नूनमेषां भेदाभेदप्रयोजकधर्मानप्युदाहरिष्यति भवान् । किन्निबन्धनोऽयं भेदः पद्यमितराभ्यामतिरिच्यते गद्यमितराभ्यामिति । अथ कस्मात् पुनः पद्यमपि छन्दो गद्यं च गेयं चेति । तदर्थमिदं पृच्छामः किमिदं छन्दः इति ।

अत्रोच्यते—अवच्छेदश्छन्दः । स च मानेन वा, प्रतिष्ठया वा, तुलितकेन वा क्रियमाणो वस्तुस्वरूपमर्य्यादाबन्धः । ननु स च्छन्दोभिश्छन्नः, यच्छन्दोभिश्छन्नस्तस्माच्छन्दांसीत्याचक्षते । ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन्, यदेभिराच्छादयन्-तच्छन्द

सां छन्दस्त्वम् । ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन् । तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् । छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात् कर्म्मणः । गायत्रेण च्छन्दसा त्वा छादयामीत्याद्यसकृन्निर्वचनश्रवणादाच्छादकस्य च्छन्दस्त्वं लभ्यते नत्ववच्छेदस्य । आच्छादकानामवच्छेदकत्वसम्भवेऽप्यवच्छेदानामाच्छादकत्वासम्भवात् । मानस्य प्रतिष्ठायास्तुलितकस्य वा च्छादकत्वाप्रसिद्धिः—इति चेन्न । अप्रसिद्धे रप्रसिद्धेः । तथाहि—केयमप्रसिद्धिः—लौकिकानामप्रतिपत्तिर्वा स्वरूपतोऽसत्त्वं वा । नाद्यः । नहि लौकिकानामप्रतिपत्त्या प्रमाणसिद्धोऽर्थः शक्यमनभ्युपगन्तुम् । प्रतिपत्तिमात्रेण वा प्रमाणान्तरैरसिद्धः शक्यं स्वीकर्त्तुम् । व्यवहारसिद्धिप्रवणा हि लौकिका न वस्तुसत्वमपेक्षन्ते । शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति पातञ्जलोक्तरीत्या विकल्पवृत्त्या व्यवहरतामसत्यप्यर्थे प्रतिपत्तिदर्शनात् । अतएव अरूपत्वे प्रमाणतः सिद्धेऽपि हास्यश्रृङ्गारकीर्त्यादीनां शुक्लत्वं प्रेमानुरागवीरादीनां रक्तत्वं क्रोधापकीर्त्यादीनां कृष्णत्वमनृतं व्यवहारतः प्रतिपद्यन्ते । नतु सन्तमर्थम् ।

> अग्ने नक्षत्रमजरमासूर्य्यं रोहयो दिवि । दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ।।१।।
>
> प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
> बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश ।।२।।
>
> इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।
> विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्य्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ।।३।।
>
> एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
> एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।।४।।
>
> एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
> स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।५।।
>
> अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
> अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श अहं देवानां परमं गुहा यत् ।।६।।

इत्येवमादिभिः श्रौतप्रमाणैः सिद्धेऽपि सूर्य्यस्य स्थिरत्वे पृथिव्याश्चलत्वे वैपरीत्येनानृतं व्यवहारतः प्रतिपद्यन्ते । न तु सन्तमर्थम् ।।

> स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति । तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्य्यस्यते रात्रीमेवावस्तात् कुरुते । अहः परस्तात् ।। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्य्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते, रात्रीं परस्तात् । स वा एष न कदाचन निम्लोचति ।

इत्येवमैतरेयादिश्रुत्या स्पष्टमेवाहोरात्रयोः पृथिवीगतिनिमित्तकत्वे सिद्धेऽप्यनृतं सूर्य्यगतिनिमित्तकत्वं सूर्यास्तमनं च व्यवहारतः प्रतिपद्यन्ते । नतु सन्तमर्थम् ।।

एवं घटशब्दव्यवहारप्रयोजकाकाराकारितान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैकत्वात्तदभिन्नतयैवैकत्वेन प्रतिपन्नस्य मृत्तिकाणुविलक्षणसंनिवेशात्मकघटरूपावच्छि-

न्नचैतन्यस्य घटत्वतया तदवच्छेदेन घटशब्दसंकेतसिद्ध्या तत्तद्व्यवहारोपपत्तौ सिद्धायामपि समवायेनावयवेषूत्पन्नोऽवयवातिरिक्तोऽपूर्वः कश्चिदवयवी घटशब्दवाच्य इत्येवमनृतं व्यवहारतः प्रतिपद्यन्ते न तु सन्तमर्थम् । एतदभिप्रायेणैव—नानृतं वदेदिति प्रतिज्ञाय 'अथो खल्वाहुः कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुम् । सत्यसंहिता वै देवाः अनृतसंहिता मनुष्याः' इति ऐतरेयके, तथा—'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यं देवाः अनृतं मनुष्याः' इति शतपथश्रुतौ च व्यवहारसापेक्षत्वेऽनृतनिष्ठत्वान्मनुष्यत्वं, वस्तुसद्रूपसापेक्षत्वे तु सत्यनिष्ठत्वाद्देवत्वमुपदिष्टं महर्षिभिः । अत एव च—

शतं वर्षाणि जीव्यासमित्याह । तदेतद् ब्रुवन्नाद्रियेत ।
अपि हि भूयांसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति ।

इति शतपथ श्रुतौ स्पष्टमेव लौकिकप्रतिपत्तिमूलकव्यवहारस्यानादरणीयत्वमुपदिश्यते । तस्मान्नैतादृशलौकिकप्रतिपत्त्यभावमनुरुध्य कश्चिदर्थः प्रमाणसिद्धः शक्यते प्रत्याख्यातुमिति दिक् ।

अथ न स्वरूपतोऽसत्त्वमप्रसिद्धिः । छादकत्वस्यैव छन्दःपदशक्यतावच्छेदकतया तत्र तदसत्वानवक्लृप्तेः । न च स्यादेवमाच्छादकत्वं यदि तावच्छन्दस्त्वं मानादीनां प्रमाणसिद्धं स्यादिति वाच्यम् । मा छन्दः, प्रमा छन्दः, प्रतिमा छन्दः—इति श्रुत्या छन्दस्त्वस्य तेषु वचनतः सिद्धेः । संख्यादिपरिच्छेदे माशब्दस्य, तत्तदर्थायतनभूतायामाशयपदवाच्यायां वस्तुप्रतिष्ठायां प्रमाशब्दस्य, तुलितके च प्रतिमाशब्दस्य व्याख्यास्यमानत्वात् । नन्वेवं तर्हि तदुभयवचनप्रामाण्यान्मानत्वं प्रतिष्ठात्वं तुलितकत्वमथाच्छादकत्वं चैतानि शक्यतावच्छेदकानि स्युर्न त्वेतावतापि मानाद्यवच्छेदानामाच्छादकत्वं सिद्ध्यतीति चेन्न । यदेभिराच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वमित्येवमादीनां छादकत्वस्यैव छन्दःपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वमभ्युपगन्त्रीणां श्रुतीनां छन्दःपदाभिधेयेषु तेष्ववच्छेदेष्वाच्छादकत्वस्यास्तित्वबोधने एव तात्पर्य्यावसायात् । तर्त्हि कीदृगाच्छादकत्वमवच्छेदानामिष्टमिति चेन्नेतरदितराच्छादकधर्मादिति गृहाण । ननु च भो ! येनैव सता तद्वस्तुस्वरूपं न प्रतिपद्यते, तिरोहितं भवति । तस्मिन्नन्तर्द्धानप्रधाने संवरणे आच्छादनशब्दो दृष्टः—घटाच्छादितः प्रदीपो, वस्त्राच्छादितं द्रव्यं, रजसा छादिते भानौ । "स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन"—

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ॥१॥ इत्यादिषु ।

न चावच्छेदेन सता तदवच्छिन्नं किञ्चिदन्तर्द्धत्ते तस्मादनाच्छादका अवच्छेदा इति चेत्सत्यमुच्यते । न केवलमन्तर्द्धानमेवाच्छादनशब्दशब्दस्य विषयः किन्तर्हि वहवो विषयास्तच्छब्दस्योपलभ्यन्ते । तथाहि—अन्नाच्छादनभागयम्, 'आच्छाद्य चार्हयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम्' इत्यादिषूपसंव्यानम् ।१। आभूषणाच्छादिताङ्गी, 'छदयति सुरलोकं यो गुणैर्य च युद्धे सुरयुवतिविमुक्ताश्छादयन्ति स्रजश्च' इत्यादिषु

पर्य्याधानम् ।।२।। चन्दनच्छत्रगात्रः, तैलाच्छन्नं कलेवरं, घृताच्छन्नं व्यंजनमित्यादिषु चर्चितकम् ।।३।। मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनं, कण्टकच्छन्नमार्गेषु इत्यादिष्ववरोधः ।।४।। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' 'आच्छाद्यते त्वद्यशसा समस्तम्' इत्यादिषु व्याप्तिः ।।५।। 'छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः । निरुच्यते छर्द्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ।' (सुश्रुतः) इत्येवमादिषु दूषितकरणम् ।।६।। निचितं तु हंसपक्षैः कृकवाकुमयूरसारसानां च । दौकूलेन नवेन तु समन्ततश्छादितं शुक्लम् । दण्डार्द्धं विस्तृतं तत्समावृतं रत्नभूषितमुदग्रम् । नृपतेस्तदातपत्रं कल्याणकरं विजयदं च । अन्येषामुष्णघ्नं प्रसादपट्टैर्विभूषितशिरस्कम् । व्यालम्बिरत्नमालं छत्त्रं कार्य्यं च मायूरम् । (बृहत्संहिता) इत्येवमादिषु स्वरूपकरणम् ।।७।। 'अग्निमन्तश्छादयसि' (अथ० ९।३।१४) 'अन्नं छादयेदाज्येन' (कात्या० श्रौ० ४।६।५) इत्येवमादिषूर्ज्जनम् ।।८।। छन्ने स्थाने समासीन इत्यादिषु विविक्तत्वम् ।।९।। गायत्रेण च्छन्दसा त्वा छादयामि, त्रैष्टुभेन च्छन्दसा त्वा छादयामि, छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मणः इत्यादिषु गोपनं च ।।१०।। इत्येवमनेके विषयाश्छादनस्य भवन्ति । न चैतेषु च्छाद्यस्यान्तद्‌र्धानमेव दृष्टमथाप्यनुवर्तते स आच्छादनशब्दः । तदित्थं सिद्धेऽनैकार्थ्ये यदिदं गोपनापरपर्य्यायमाच्छादनं रक्षाभिप्रायं तदिहावच्छेदकानुगतं द्रष्टव्यम् ।। अवच्छेदावच्छिन्नस्य स्वरूपतोऽप्रच्यवनेन सुगुप्तत्वात् ।।

अथान्यः प्रत्यवतिष्ठते । नेदमनैकार्थ्यं युक्तं, प्रकरणोपलभ्यार्थे शक्तिस्वीकारानावश्यकत्वात् । वस्तुतस्तु अपवारणे छादयतिः प्रतिपन्नः । तच्च द्विविधम् । एकदिग्वर्तित्वे आवरणमथानेकदिग्वर्त्तित्वे संवरणं च । इदं च संवरणं वस्तुतः स्वरूपानुगतमपि द्वेधा-पृथग्दृष्टमपृथग्दृष्टं च । तथा हि-मेघच्छन्नभित्यादीनामावरकत्वेनोपसंवीतघटादीनां बहिरवस्थानां दिग्देशकालसंख्यापरिमाणादीनां व्याप्यवर्त्तिनां च संवरकत्वेन प्रतिपत्तिः । अनेकदिग्वर्त्तिनोऽप्येकदिग्वर्त्तित्वाव्यतिरेकात्संवरणेऽप्यावरणशब्दो लब्धावसर इत्यन्यदेतत् । उभयोरेवानयोर्दृष्टिसंबन्धप्रतिबन्धकत्वमेवाच्छादनशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । प्रतिबन्धकतावच्छेदकं च दृगृश्यान्तरालवर्त्तित्वं व्यवधानापरपर्य्यायम् । मेघच्छन्नेऽह्नीत्यत्राहःशब्दस्याहःप्रवर्त्तकसूर्य्यपरतया सूर्य्यांशुपरतया वा विवक्षणात्तददर्शनं मेघावरणप्रयोज्यं द्रष्टव्यम् । ईशावास्यमित्यत्र तु नायमाच्छादनकर्मा 'वसि' धातुः किन्तु निवासार्थः—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' इत्यादिश्रुयन्तरैकवाक्यतया सर्वत्रैवास्य विद्यमानत्वे तत्तात्पर्य्यात् । अथवा अस्त्वेवाच्छादनार्थः । तात्विकदृष्टेर्महर्षेर्यत्र यत्रैव दृष्टिः प्रवर्त्तते तत्र तत्रैव परमेश्वरादन्यन्न दृश्यते, इत्येकस्य तस्य सर्वद्वैतदृष्टयपवारकत्वेन विवक्षणादाच्छादकत्वोपपत्तेः । एतेनाच्छाद्यते त्वद्यशसा समस्तमित्यादयो व्याख्याताः । गूढालङ्कारवाक्येऽर्थः प्रच्छन्न इत्यादावप्यनुभवात्मकदृष्ट्यपवारणादेवार्थस्य तत्त्वमुपपद्यते, इति विवेक्तव्यम् । तथाच छत्राच्छादितादीनां प्रतिबद्धदर्शनार्थकत्वादवच्छेदावच्छिन्नानां चानवरुद्धदर्शनत्वेनाभिप्रेतत्वान्नावच्छेदानामाच्छादकत्वमनाच्छादकत्वाच्च नावच्छेदश्छन्दः इति चेदत्रोच्यते । नैकान्नतस्तावद् दृगवरोधकस्यैवाच्छादकत्वं वक्तुं शक्यम् । एकान्ते स्थितवतां पुंसां

छन्ने स्थाने तिष्ठाम इति प्रतिपत्तिदर्शनात्। "न च वर्षातपात् कृच्छ्रं छत्राच्छादितवर्ष्मणः" इत्यादौ च सर्वात्मना दृश्यमानस्यापि पुंसश्छत्रच्छन्नत्वोपचारात्। एवं दृष्टिप्रतिवन्धनैरपेक्ष्येऽपि केवलं वर्षातपावश्यायाद्यवरोधकानां गृहच्छदीनां चन्द्रातपादीनां वाच्छादकत्वमुपचर्य्यते। अतएव च "काचेनाच्छादिते दीपे न लब्धावसरोऽनिलः"—इत्येवमादयो व्यवहारा अपि सिद्धार्थाः। तस्मादितरसंबन्धापवारकत्वमेवाच्छादकत्वमिति निष्कर्षः। विशेषधर्मावच्छिन्ने शक्तिमभ्युपगम्य विशेषान्तरे लाक्षणिकत्वस्वीकारापेक्षया सामान्यधर्मावच्छिन्ने शक्तिस्वीकारस्य न्याय्यत्वात्। इतरत्वं च क्वचिद्दृष्टेः क्वचित्तु नाष्ट्राख्यानां प्रतिविघातकानामर्थानाम्। तत्र दृष्टिसम्बन्धापवारणे छन्नस्य गुप्तत्वमप्रकाशात्मकं गूढत्वापरपर्य्यायम्। दोषसम्बन्धापवारणे तु तस्य गुप्तत्वं नाष्ट्रागृहीतत्वात्मकं रक्षितत्वापरपर्य्यायमिति तात्पर्य्यभेदोऽध्यवसीयते॥ तथाचावच्छेदानामप्यवच्छिन्नस्वरूपानुगतयावदवयवप्रच्यावकदोषसंबन्धापवारकतया सिद्धमेव स्वरूपच्छादकत्वं छन्दःशब्दप्रवृत्तौ निमित्तं द्रष्टव्यम्॥ दृश्यते हि केनचिदवच्छेदेनावच्छिन्ने ऋगादौ वाग्विशेषे ब्राह्मणादावर्थविशेषे वा तत्स्वरूपोपघातकविरुद्धावच्छेदसंबन्धापवारणात्मकगुप्तिसाधनतया तदवच्छेदे छन्दोव्यपदेशः। इदं तु बोध्यम्—आच्छादकत्वाविशेषेऽप्येकदिग्वर्त्तिन्यावरणे छन्दःशब्दो नोपचर्य्यते। संवरणे एव च्छन्दतेः प्रतिपन्नत्वात्। तत्राप्यपृथग्दृष्टे व्याप्यवर्त्तिन्येवायं छन्दतिः प्रायेण विषयं लभते। तथा च "वासुदेव! सर्वंच्छन्दक! हरिहय! हरिमेध! महायज्ञ! इति महाभारतप्रयोगो भवति। छन्दयति संवृणोति रक्षति स रक्षक इत्यर्थात्। तदित्थमैकार्थ्येऽपि सिद्धमवच्छेदानामाच्छादकत्वाच्छन्दस्त्वमित्यलम्॥

अथ के तेऽवच्छेदा इति विचार्य्यते। गुणसमवायो हि वस्तुशब्देनाख्यायते। गुणो धर्मो भाव इत्यनर्थान्तराणि। तेषां समवायश्चैकात्म्येनावस्थानम्। लोकव्यवहारे च समवायस्य प्राधान्यात्तदनुरोधेन तदन्तःप्रतिष्ठानामर्थानां गुणत्वम्। समवाये चैते ध्रियन्ते तैर्वा समवायो ध्रियते इत्येषां धर्मत्वम्। तैरेव सद्भिस्तद्वस्तु तदितरवस्तुवैलक्षण्येन भवतीत्येषां भावत्वम्। सर्वेषां वस्तुधर्माणां समवायेन सत्ताग्रहणं सत्तैव वा भावः। तात्स्थ्यात्तदनतिरेकाच्चासौ समवायोऽपि भावशब्देन सत्वशब्देन चोपचर्य्यते—इत्यन्यदेतत्। एते वस्तुधर्माः पञ्चधा व्यवच्छिद्य गृह्यन्ते आश्रयभावाः, प्रयोजकभावाः, स्थायिभावाः, व्यञ्जकभावाः, संचारिभावाश्चेति। तत्रैतेषु सर्वेष्वेव धर्मेषु कश्चिदेको धर्मस्तदितरेषां सर्वेषामाश्रयीभूयावतिष्ठते। तदुपकारकत्वेन चान्ये धर्मास्तत्रोपतिष्ठन्ते सोयमेकस्तत्राश्रयभावः। तत्रान्नसंमिते वस्तुन्यग्नेरप्सम्मिते वस्तुति सोमस्य वायुसंमिते वस्तुनीन्द्रस्य तेजःसम्मिते वस्तुन्यादित्यस्यालम्बनत्वात्तस्य तस्य तत्र तत्राश्रयभावत्वम्।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मे आसन्—इति मन्त्रवर्णकमनुरुध्यतां तु सर्वत्रैवाग्नेरेवाश्रयभावत्वमिति मतमेतत्। अथवा विप्रकीर्णत्वात्तत्रतत्र भिद्यतेऽयमाश्रभाव इति भावः।

अथ सवित्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा, त्वष्ट्रा रूपैः, पूष्णा पशुभि-
रिन्द्रेणास्मे, बृहस्पतिना ब्रह्मणा, वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा,
सोमेन राज्ञा, विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ।
(वाज० अ० १० यजु० ३०)

इत्येवमादिमन्त्रबोधितानां शरीरगतभिन्नकर्म्माधिकारविनियुक्तानां तेषां तेषां देवानां प्रयोजकभाववत्वम् ।। प्रयोजकत्वं च—सोमो राजा वरुणो देवा धर्म्मसुवश्च ये । तें ते वाचं सुवन्ताँ ते ते प्राणं सुवन्तां: ते ते चक्षुः सुवन्तां:, ते ते श्रोत्रं सुवन्तामित्यादि मन्त्रैरुपलक्षणविधया तत्तद्धर्म्मविशेषान् प्रत्येवानुसन्धेयम् । अत एव—"सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि, अग्नेस्तेजसा, सूर्य्यस्य वर्चसा, इन्द्रस्येन्द्रियेण, मित्रावरुणयोर्वीर्य्येण, मरुतामोजसेति" (तै० सं०) एवमादिमन्त्रैः सोमाद्यधि-दैवतानामध्यात्मं द्युम्नादिधर्म्मरूपेण परिणतावस्थत्वमेव तत्तद्धर्म्मप्रयोजकत्वं बोध्यते । एत एव च देवप्रयुक्ता धर्म्मास्तदात्मनः स्वभाव इत्युच्यते । तस्य द्वैविध्य माहोज्ज्वलदत्तः—"बहिर्हेत्वनपेक्षी तु स्वभावोऽथ प्रकीर्तितः । निसर्गश्च स्वभावश्च इत्येष भवति द्विधा । निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यः संस्कार उच्यते । अजन्यस्तु स्वतः सिद्धः स्वरूपो भाव उच्यते' इति । एतत्संस्कारात्मकनिसर्गसिद्ध्यर्थमेवाध्ययनतपश्चर्य्या योगाभ्यासादिकर्म्माण्युपयुज्यन्ते इत्यप्यवधेयम् । अथ उपादानद्रव्याणि स्थायिभावाः—यथा घटादीनां मृदादयः, शरीरादीनामन्नादयः । एते त्रयोऽप्यात्मभावाः । तत्रापि आश्रयभावो जीवात्मा । प्रयोजकभावोऽन्तरात्मा । स्थायिभावो भूतात्मा । यत्सत्ता-धीना यस्य सत्ता स तस्यात्मा । स च प्रत्यर्थं त्रेधेति तत्रतत्रोपेक्ष्यम् । अथ येऽनात्म-भूता अप्यपृथग्भूता विशेषतो व्यभिचारिणोऽपि सामान्यतो नित्यानुगता बाह्यार्था-स्तेऽवच्छेदका व्यञ्जकभावा दिग्देशकालसंवित्संख्यापरिमाणसाधर्म्याणि । एतैर-वच्छिन्नमेव किञ्चिद्वस्तु व्यज्यते तत्र परिमाणं नामावयवसंनिवेशानुरोधेन जायमान-मणुत्व-महत्व-ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिरूपम् । साधर्म्यं तु समानद्रव्यगुणकर्म्मकत्वम् । नैतान्यननेक्ष्य वस्तुस्वरूपं धत्ते इत्यवच्छेदकानामेषां तद्वस्तुच्छन्दस्त्वमिष्यते ।। अथान्ये व्यभिचारिणः सर्वे धर्म्माः संचारिभावाः । यथा आर्द्रत्वोष्णत्वजलवे शभूषादयः सांयोगिकार्थाः । एतेऽप्यनात्मभूताएव । तेषां सत्वासत्वयो स्तद्वस्तु-स्वरूपस्य तटस्थत्वात् ।। तदित्थं प्रत्यर्थं धर्म्माणां पञ्चप्रकरणानि । तत्र चतुर्थप्रकरण पदार्था अवच्छेदा इति संसिद्धम् ।।

तत्र तावद्दिग्देशकालसंवित्संख्याप्राधान्येत गृहीतास्तेऽवच्छेदा इतरे गुणा वा तद्वस्तुनो व्यक्तिः । एतेषां भेदकानां भेदादेव पृथगात्मत्वोपचारात् । अथ परिमाण-प्राधान्येन गृहीतास्ते तद्वस्तुन आकृतिः । एभिरेव भेदकैर्गृहीतैरस्तीदमिदमिति बुद्धौ तदाकरणात् । एवं साधर्म्यप्राधान्येन ग्रहणे ते तद्वस्तुनो जातिः । इतरकालिकेतर-घटाकाराकारितान्तःकरणवृत्त्या प्रत्युत्पन्नैतद्घटाकाराकारितान्तःकरणवृत्तेः सामा-न्येनोदयात्तत्प्रयोजकस्य तद्वस्तुगतसाधर्म्यस्य साधर्म्योपलक्षितपरिमाणादेश्चैकत्वामि-मानात् । तत्र साधर्म्यं समानप्रसवप्रकारनिबन्धनमेवेह विवक्षितमित्यतस्तत्र

जातिशब्दो रूढः। अतएव मृद्गवके गोसाजात्यनिरासः। जातिरखण्डोपाधिरिति तु केषांचिदपदार्थकल्पनामात्रम्। एतासां व्यक्त्याकृतिजातीनां समवायस्तु पदार्थः। भिन्नानामैकात्म्येनावस्थानं समवाय इत्युक्तम्। तन्निरूतितैव च पदे शक्तिरभ्युपेयते। तथा च पारमर्षसूत्राणि—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः।
आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या। समानप्रसवात्मिका जातिः।
शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासानुबन्धानां
व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः। आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः।
व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः। इति ॥

तदित्थं व्यक्त्याकृतिजात्याश्रये पदार्थे बहूनां धर्म्माणां सद्भावेऽपि यं कञ्चिदेकमेवार्थमुपादाय तत्सम्बन्धानुबन्धेन गुणिनमर्थं ग्राहयितुं पदानि संकेत्यन्ते। यथा मदीयः श्वेतः कृष्णकर्णो महारवस्तुरगः सुलक्षणः—इत्यत्र मत्सम्बन्धं श्वेतरूपं कर्णकृष्णत्वं शब्दमहत्त्वं त्वरागतिं शुभलक्षणसम्बन्धं च विप्रकीर्णं तं तमर्थं निमित्तीकृत्य प्रवृत्तानां तेषां तेषां शब्दानामाकाङ्क्षावशात् सामानाधिकरण्यं भासते। एवमेकमेवार्थमुपादाय प्रवृत्तयोरपि छन्दश्छादकशब्दयोराकाङ्क्षाविशेषात् स्वरूपसंरक्षकत्वस्य स्वरूपतिरोभावकत्वस्य चान्यत्रान्यत्र विषयीकरणाद् वैयधिकरण्यं भासते। तदेवमुच्चावचा पदार्थमर्य्यादा भवतीत्यप्यनुसन्धेयम् ॥

तत्रैवं व्यक्तिभावप्रधानं दिग्देशकालसंवित्संख्यारूपमवच्छेदं परिच्छेदसीमामर्य्यादाभिविधिनियतिनीतिरीतिव्यवस्थामितिमानापरपर्य्यायं मानाभिधायिना माशब्देन, आकृतिभावप्रधानमणुत्वमहत्वह्रस्वत्वदीर्घत्त्वनियामकसंनिवेशरूपमवच्छेदं प्रतिष्ठायतनाशयपरिमाणप्रमाणापरपर्य्यायं प्रमाणाभिधायिना प्रमाशब्देन, जातिभावप्रधानं च समानद्रव्यगुणकर्मरूपमवच्छेदं साधर्म्यसामान्यसादृश्यसारूप्यतुलितकप्रतिमितिप्रतिमानापरपर्य्यायं प्रतिमानाभिधायिना प्रतिमाशब्देनोल्लिख्य छन्दस्त्वं विधीयते, मा छन्दः, प्रमा छन्दः, प्रतिमा छन्दः इति ॥ दृश्यते च—

अस्तभ्नाद् द्यामृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः ॥
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥१॥
गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ॥
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ॥२॥

इत्यादिषु दैशिकसांख्यानिकमर्य्यादाभिप्रायकत्वं माशब्दस्य—

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ॥
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

इत्यादिषु प्रतिष्ठाभिप्रायकत्वं प्रमाशब्दस्य—

संवत्सरप्रतिमा वै द्वादश रात्रयः (तै० आधान ब्रा०)
द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा (मैत्रा० अग्निहोत्र ब्रा०)

इत्यादिषु तुलितकाभिप्रायकत्वं प्रतिमाशब्दस्य। तथा च मा-प्रमा-प्रतिमा-शब्दैरुल्लिखितस्य त्रिविधस्याप्यवच्छेदस्य वस्तुस्वरूपसंवरकत्वेनाभिप्रेतस्य छन्दस्त्वं वचनतः सिद्धं भवति। ननु प्रमाप्रतिमयोरपि छन्दस्त्वेऽभ्युपगम्यमाने—

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।१०।१३०।३।

इति मन्त्रे प्रमाप्रतिमयोश्छन्दःपार्थक्येनोपादानं विरुध्यते इति चेत्तन्न।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।।१।।
आदित्या विश्वे मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्वे ऋभवश्च विश्वे।
इन्द्रो अग्निरश्विना तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।१।।

इत्येवमादिषु विशेषोपादाने सामान्यशब्दस्य विशेषेतरपरत्ववदिहापि छन्दः-शब्दस्य मानावच्छेदतात्पर्य्यकत्वेन चारितार्थ्यात् ।। वस्तुतस्तु न मानत्वेन प्रतिष्ठात्वेन तुलितकत्वेन वा छन्दस्त्वमिष्यते अपितु स्वरूपसंवरकत्वेनेति पदार्थतावच्छेदकभेदादपौनरुक्त्यम् ।।

ननु—मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दः—इयं वै मा, अन्तरिक्षं प्रमा, असौ प्रतिमा, इमानेव लोकानुपधत्ते" इत्यग्निचितिमन्त्रश्रवणाल्लोकत्रयाभिप्रायतया परिभाषितैर्म्मा-प्रमा-प्रतिमा-शब्दैर्म्मानाद्यवच्छेदग्रहणमयुक्तमिति चेन्न। चैत्रमैत्रौ नृपतेर्हस्तावितिवत्तेषां गौणशब्दत्वात्। अन्यथा—अथ जुहूं, अथोपभृतः, अथ ध्रुवाम्। असौ वै जुहूः, अन्तरिक्षमुपभृत्, पृथिवी ध्रुवा। इमे वै लोकाः स्रुचः। वृष्टिः संमार्जनानि। वृष्टिर्वा इमाँल्लोकाननु पूर्वं कल्पयति। ते ततः क्लृप्ताः समेधन्ते" (तै० ब्रा० ३ का० ३प्र. १अ.)

इत्यादिभिरुपचारविशेषैः स्रुगादयोपि स्वार्थादपभ्रश्येरन्।। एवं

मा छन्दः, तत्पृथिवी, अग्निर्देवता।१। प्रमा छन्दः, तदन्तरिक्षं, वातो देवता।२। प्रतिमा छन्दः, तद् द्यौः, सूर्यो देवता।३। अस्रीविश्छन्द, तद्दिशः, सोमो देवता।४। विराट् छन्दः, तद्वाक्, वरुणो देवता।५। गायत्री छन्दः, तदजा, बृहस्पतिर्देवता।६। त्रिष्टुप् छन्दः, तद्धिरण्यम्, इन्द्रो देवता।७। जगती छन्दः, तद् गौः, प्रजापतिर्देवता।८। अनुष्टुप् छन्दः, तद्वायुः, मित्रो देवता।८। उष्णिहा छन्दः, तच्चक्षुः, पूषा देवता।१०। पङ्क्तिश्छन्दः, तत्कृषिः, पर्जन्यो देवता।११। बृहती छन्दः, तदश्वः, परमेष्ठी देवता।१२। इत्यापस्तम्बश्रौत (१६।२८।१) सूत्रोक्त······ माप्रमादिवद् विराड्गायत्र्यादीनामपि वागजाद्यभिप्रायतया प्रयोगात् समानन्यायात् प्रकृतार्थपरत्वं व्याहन्येत।। अत एव—सावित्रैरभ्रिमादत्ते प्रसूत्यै। चतुर्भिरादत्ते। चत्वारि वै छन्दांसि। छन्दोभिरेवादत्ते। अथो ब्रह्म वै छन्दांसि। ब्रह्मणैवादत्ते। इयं वै गायत्री। अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्। द्यौर्जगती। दिशोऽनुष्टुप्। सवितृप्रसूतो वा एतदेभ्यो लोकेभ्यश्छन्दोभिर्दिग्भ्यश्चाग्निं संभरतीत्यग्निचितिप्रकरणाम्नानाद्—

गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुभां लोकदिक्परतया प्रतिपादितानामपि नैकान्ततः स्वार्थापलापः प्रसज्ज्यते। अतएव च "इयं वै मा, अन्तरिक्षं प्रमा, असौ प्रतिमा, इमानेव लोकानुपधत्ते "इत्युक्त्वा अथो देवच्छन्दसानि वा एतानि। देवच्छन्दसान्येवोपधत्ते। द्वादश द्वादशाभि ता उपदधाति। तत् षट्त्रिंशदशरा बृहती। बृहती खलु वै छन्दसां स्वाराज्यमानशे" इत्यादिना लोकानां देवच्छन्दसत्वं बृहतीच्छन्दस्त्वं चोपपादितम्। षट्त्रिंशदक्षरावच्छिन्नत्वस्यैव बृहतीत्वाद् वाग्बृहतीवदेषां लोकानामपि तत्तदग्नीन्द्रादित्यादिदेवावच्छेदकानां तल्लक्षणलक्षितत्वेन तथा तथा व्यवहर्तुं सुशकत्वात्। तथा चेत्थं लोकानां प्रतिपन्ने छन्दस्त्वे छन्दोऽनुगतशब्दास्तत्रोपचर्य्यन्ते। तत्राप्यनुप्रजननसंबन्धात्—प्रक्रमसामान्याद्—अर्थयोगाच्च लोकत्रयेऽवच्छेदत्रयशब्दसम्बन्धः। तथाहि—

प्रजापतिरकामयत-प्रजायेयेति। स एतं दशहोतारमपश्यत्। तेन दशधाऽऽत्मानं विधाय दशहोत्राऽतप्यत। तस्य चित्तिः स्रुगासीत्, चित्तमाज्यम्। तस्यैतावत्येव वागासीद्-एतावान् यज्ञक्रतुः। स चतुर्होतारमसृजत। सोऽनन्दत्—असृक्षि वा इममिति। तस्य सोमो हविरासीत्। स चतुर्होत्राऽतप्यत। सोऽताम्यत्। स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत—अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि॥[1] स द्वितीयमतप्यत। सोऽताम्यत्। स भुव इति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षमसृजत, चातुर्मास्यानि सामानि॥[2] स तृतीयमतप्यत। सोऽताम्यत्। स सुवरिति व्याहरत् स दिवमसृजत-अग्निष्टोममुक्थमतिरात्रमृचः॥[3] एता वै व्याहृतयः इमे लोकाः। इमान् खलु वै लोकाननु प्रजाः पशवश्छन्दांसि प्राजायन्त॥"

इति तैत्तिरीयकश्रवणात् प्रथमे तपसि भूलोकमनु छन्दसः प्रथमस्य मानात्मनो द्वितीये तपसि भुवर्लोकमनु छन्दसो द्वितीयस्य प्रमाणात्मनस्तृतीये तपसि स्वर्लोकमनु छन्दसस्तृतीयस्य प्रतिमानात्मनः प्रतिपत्तिरित्यनुप्रजननसम्बन्धः। आतश्च यथा लोकेष्वयं प्रथमोऽन्तरिक्षं मध्यमोऽसावुत्तमस्तथाऽवच्छेदेषु मानं प्रथमः प्रमाणं मध्यमः प्रतिमानमुत्तम इति प्रक्रमसामान्यम्। अथ दिग्देशकालसंख्यावच्छेदानां पृथिव्यायत्ततया प्रथमोपस्थिततया च तत्र मा शब्दे प्रवृत्ते अयं वै लोको रथन्तरमसौ लोको बृहत्। अस्य वै लोकस्यासौ लोकोऽनुरूपोऽमुष्य लोकस्यायं लोकोऽनुरूपः"—इत्यैतरेयोक्तन्यायेनैतल्लोकानुरूपेऽमुष्मिन् लोके प्रतिमाशब्दो लब्धावसर इति तत्पारिशेष्यादन्तरिक्षे प्रमाशब्दोऽवतिष्ठते। उभयोरेवानयोर्द्यावापृथिव्योरन्तरिक्षे प्रतिष्ठितत्वात्तत्र प्रमाशब्दसाद्गुण्याच्च। तदित्थं गौण्या वृत्त्या लोकपराणामप्येषां मा-प्रमा-प्रतिमा-शब्दानामवच्छेदविशेषार्थत्वं न विहन्यते इति सिद्धम्॥

नन्वेवमप्येतदपर्य्याप्तमाख्यायते—

वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो"—इति

छन्दांसि वा अग्नेर्वासः। छन्दांस्येष वस्ते। छन्दोभिरेवैनं परिददाति"—

इति मैत्रायणीयश्रुतावग्न्याच्छादनत्वेनाभिप्रेतस्यार्थस्य,

"छन्दांसि वै संवेश उपवेशः"—इति तैत्तिरीयश्रुतौ संप्राप्यावस्थानस्य तत्रैवासनस्य चार्थस्य,

"शिल्पानि शंसन्ति देवशिल्पानि । एतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते—हस्ती कंसो वासो हिरण्यमश्वतरीरथः शिल्पम्, (शिल्पं ह्यस्मिन्नधिगम्यते य एवं वेद ।) यदेव शिल्पानी"३—आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि-छन्दोमयं वा । एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते ।'

इत्यैतरेयश्रुतौ शिल्पभूतस्यार्थस्य च मानाद्यवच्छेदविलक्षणस्यापि च्छन्दस्त्वेन प्रतिज्ञानात् । इति चेदत्रोच्यते । दैवतकाण्डे निरुक्ते भगवता यास्केन भक्तिसाहचर्य्यनिर्वचनावसरे "यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकं तत्सर्वमग्नेः कर्म्म"—इत्येवं प्रतिजानानेन दार्ष्टिविषयिकाणां स्थानावरोधकानां सर्वेषामेवार्थानामग्निप्रधानत्वप्रतिबोधनात्तत्स्वरूपावच्छेदकानां दिग्देशकालसंख्यानानामेवानात्मधर्म्माणां छन्दस्त्वेनाभिप्रेतानामाच्छादकत्वसाधने मैत्रायणीयश्रुतेस्तावत्तात्पर्य्यमुपलभ्यते । संवेशोपवेशयोरप्यवयवसन्निवेशरूपतया तैत्तिरीयश्रुतेरपि परिमाणावच्छेदतात्पर्य्यकत्वमेवावसीयते ॥ अथ शिल्पं द्वेधा—अपूर्वकौशलकरणं प्रतिरूपकरणं च ।

येभिः शिल्पैः पप्रथानामदृंहद् येभिर्द्यामभ्यपिंशत् प्रजापतिः ।
येभिर्वाचं विश्वरूपां समव्ययत् तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि । १ ।

येभिरादित्यस्तपति प्रकेतुभिर्येभिः सूर्यो ददृशे चित्रभानुः
येभिर्वाचं पुष्कलेभिरव्ययत् तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि । २ ।

यत्ते शिल्पं कश्यपं रोचनावद् इन्द्रियावत् पुष्कलं चित्रभानुः ।
यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकं तस्मिन् राजानमधि विश्रयेमम् । ३ ।

इति मन्त्रवर्णकसिद्धमाद्यप्रकारं शिल्पं दैशिकावच्छेदरूपं वा स्यात्परिमाणावच्छेदरूपं वेति माप्रमयोरेवान्तर्भावः । यत्तु—"यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्"—(३।२।१।५) इति शतपथश्रुतिबोधितमनुकरणलक्षणं शिल्पं तत्पुनः प्रतिमानावच्छेदान्नातिरिच्यते इति सिद्धं मा-प्रमा-प्रतिमातिरिक्तस्यार्थस्य छन्दस्त्वं नास्तीति ॥

नन्वेवमपि परिच्छेदप्रतिष्ठातुलितकातिरिक्तस्यार्थस्य सर्वथा छन्दस्त्वं नास्तीत्यनवक्लृप्तम् । छन्दोविशेषाणां गायत्र्यादीनामेवमर्थव्यतिरेकेणैवाद्यापि भूयसोपचारदर्शनात् ।

(१) तथाहि—

स वा एति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति ।

पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति अर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह । १ ।

यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै प्राणः एत्युदानः । प्राणोदानावेवैत्तद्दधाति । तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह । २ ।

यद्वेवेति व प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेतः सिच्यते-एति प्रजायते । प्रेति पशवो वितिष्ठन्ते एति समावर्त्तन्ते । सर्वं वा इदमेति च प्रेति च । तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह । सोऽन्वाह 'प्र वो राजा अभिद्यव' इति तनु प्रेति भवति। 'अग्न आयाहि वीतये' इति तद्वेति भवति ।।

इति शतपथश्रुत्या एतिप्रेतिक्रियोपलक्षितस्यार्थस्य गायत्रीत्वमाख्यायते । १ । (२) एवमेव—"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या, वैश्यं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयत्" इति ।

गायत्रो वै ब्राह्मणः। त्रैष्टुभो वै राजन्यः । जागतो वै वैश्यः । इति इन्द्रो वै देवतया क्षत्रियो भवति त्रैष्टुभश्छन्दसा पञ्चदशः स्तोमेन सोमो राज्येन, राजन्यो बन्धुना, इति च ।

एवमादिभिरैतरेयादिश्रुतिभिश्च संस्कारस्य च्छन्दस्त्वं सुप्रतिपद्यते—

प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च ।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

इति निगमो भवति ।

गायत्र्या च्छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं, न केन चिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्य्यो विज्ञायते । त्रिष्वेव निवासः स्यात् सर्वेषाम् ।।"

इति वसिष्ठस्मरणे वाक्यशेषाद् ब्राह्मणादिविषयाणां संस्कारविशेषाणामेव गायत्र्यादित्वेनावधारणीयत्वात्—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हतीति"

मनुस्मरणे छन्दःप्रातिनिध्येन संस्कारशब्दप्रयोगाच्च । न च—

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्य्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ।
न केनचित् समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः ।।

इति मनुयमादिस्मरणे छन्दःशब्दस्य मन्त्रपरतया व्याख्यानात् ।

अयमेव विधिः प्रोक्तः शूद्राणां मन्त्रवर्जितः ।
अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते ।।

इति मरीचिवचने छन्दःप्रातिनिध्येन मन्त्रशब्दप्रयोगाच्च संस्कारपरत्वं दुर्वचमिति न भ्रमितव्यम् ।। संस्कारगुणभूतस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणत्वादिप्रयोजकत्वप्रतिपत्त्यपेक्षया तत्तन्मन्त्रोपलक्षितसंस्कारस्यैव तदौचित्यात् । मनुवचने हि पूर्वार्द्धे शूद्रत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकतयोत्तरार्द्धे पुनर्विधेयतावच्छेदकतया समानप्रतिपत्त्यभावेन तत्र छन्दःशब्दस्य मन्त्रपरत्वे मानाभावाच्च । मरीचिवचनेऽप्यमन्त्रस्येत्यस्य मन्त्रोपलक्षितसंस्कारायोग्यस्येत्येवार्थो युक्तियुक्तः शक्यते प्रतिपत्तुम् । अत एव—

चित्रकर्म यथानेकै रागैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ।।

इत्येवमाङ्गिरसात्तत्तन्मन्त्रोपलक्षितसंस्कारस्यैव ब्राह्मण्यप्रयोजकत्वं स्मर्य्यते । तस्मात्सिद्धं छन्दःशब्दस्य संस्कारपरत्वम् ।।२।।

(३) एवमेव—

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री । ब्रह्म गायत्री । ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप् । क्षत्रं त्रिष्टुप् । जागताः पशवः, इषमूर्जं रयिः पुष्टिश्च ।। इति भूयसा तेजःप्रभृतिषु तत्तदर्थविशेषेषु गायत्र्याद्युपचारेण द्रविणं छन्द इष्यते ।।३।।

तदित्थमागत्यप्रतिगच्छदर्थानां संस्काराणां द्रविणानां चानन्तर्भावादपर्य्याप्त-मेतच्छन्दोलक्षणं मन्यामहे। इति चेदुच्यते । आगत्यप्रतिगच्छदर्थानां गायत्रीत्वं तावद्द्वेधा प्रतिपद्यते देवतासाहचर्य्यभक्त्या च देवताहर्भक्त्या च । तदेतद्विज्ञान-सौकर्य्याय यास्कनिरुक्तं देवतानां भक्तिसाहचर्य्यं तावद्वयाख्यास्यामः—

तिस्र एवैता देवता भवन्ति-पृथिवीस्थानोऽयमग्निः, अन्तरिक्षस्थानोऽयमिन्द्रः, द्युस्थानोऽयमादित्यश्च । अग्नीन्द्रादित्या अग्निवायुसूर्य्या इत्यनर्थान्तरम् । नव नव चैतासां प्रत्येकं विभक्तयः—लोकः, सवनं, ऋतुः, छन्दः, स्तोमः, साम, समनुगता देवाः, संस्तविका देवाः, कर्म्म, चेति भेदात् ।

तत्र तावदग्निभक्तीनि—

अयं लोकः १ । प्रातः सवनम् २ वसन्त ऋतुः ३ गायत्री छन्दः ४ त्रिवृत् स्तोमः ५ रथन्तरं साम ६ प्रथमे स्थाने समाम्नाता देवगणाः प्रथमस्थानीयाः स्त्रियश्च । ७ इन्द्रः सोमः वरुणः पर्जन्य ऋतवः इत्येते संस्तविका देवाः । हविरप्याग्नावैष्णव-माग्नापौष्णं च ८।।

अथ यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकं तत्सर्वमग्नेः कर्म्म । हविषां वहनं च देवतानामावाहनं च ।।९।।

अथेन्द्रभक्तीनि—

अन्तरिक्षलोकः १ माध्यन्दिनसवनम् २ ग्रीष्मऋतुः ३ त्रिष्टुप् छन्दः ४ पञ्च-दशस्तोमः ५ बृहत् साम ६ मध्यमे स्थाने समाम्नाता देवगणाः मध्यमस्थानीयाः स्त्रियश्च ७ अग्निः, सोमः, वरुणः, पूषा, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, पर्वतः, कुत्सः विष्णुः—वायुः इत्येते संस्तविका देवाः । मित्रो वरुणेन संस्तूयते । पूष्णा रुद्रेण च सोमः । अग्निना च पूषा । वातेन च पर्जन्यः संस्तूयते ८।। अथ या च का च बलकृतिः सर्वं तदिन्द्रस्य कर्म्म । रसानुप्रदानं च वृत्रवधश्च ।।९।।

अथदित्यभक्तीनि—

असौ लोकः १ । तृतीयसवनम् २ । वर्षा ऋतुः ३ । जगती छन्दः ४। सप्तदश-स्तोमः ५ । वैरूपं साम ६ । उत्तमे स्थाने समाम्नाता देवगणाः, उत्तमस्थानीयाः

स्त्रियश्च ७ ।। चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः ८ ।। अथ यच्च किञ्चित् प्रवल्हितं तत्सर्वमादित्यस्य कर्म्म । रसादानं रश्मिभिश्च रसाधारणम् ।।९।।

भक्तिशेष:

एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दःस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत—शरद् ऋतुः । अनुष्टुप् छन्दः । एकविंशः स्तोमः । वैराजं साम । इति पृथिव्यायतनानि । हेमन्त ऋतुः । पंक्तिश्छन्दः । त्रिणवः स्तोमः । शाक्वरं साम-इत्यन्तरिक्षायतनानि । शिशिर ऋतुः । अतिच्छन्दाश्छन्दः । त्रयस्त्रिंशः स्तोमः । रैवतं साम— इति-द्युभक्तीनि।। इतीत्थंभूतया देवतासाहचर्य्यभक्त्या यावतामेव दार्ष्टिविषयिकाणामर्थानां देवागमनप्रतिगमनादीनां च कर्म्मणां गायत्रीछन्दोवदग्निभक्तित्वेनाभ्युपपत्तौ सिद्धमेवागत्यप्रतिगच्छदर्थानां गायत्रीत्वेन गायत्रीत्वं, ब्रह्मणो वाचो गायत्रत्वेन गायत्रीत्ववत् । अथैवं देवतानां भक्त्या दशाहप्रतिपत्तिमैतरेयसमाम्नातां व्याख्यास्यामः—

अग्निः १—प्रथममहर्वहति । त्रिवृत्स्तोमः, रथन्तरं साम, गायत्री छन्दः । एति च प्रेति च—युक्तवत्—रथवत्—आशुमत्-पिबवत्—प्रथमपदनिरुक्ता देवता—अयं लोकोऽभ्युदितः । राथन्तरम्, गायत्रम्, करिष्यत्, एतानि प्रथमस्याह्नो रूपाणि ।

इन्द्रः २—द्वितीयमहर्वहति—पञ्चदशः स्तोमः, बृहत् साम, त्रिष्टुप् छन्दः । नेति न प्रेति, यत् स्थितम्, ऊर्ध्ववत्, प्रतिवत्, अन्तर्वत्, वृषण्वत्, वृधन्वत्, मध्यमपदनिरुक्ता देवता—अन्तरिक्षमभ्युदितं, बार्हतं, त्रैष्टुभं, कुर्वत्, एतानि द्वितीयस्याह्नो रूपाणि ।।

विश्वेदेवाः ३—तृतीयमहर्वहति । सप्तदशः स्तोमः, वैरूपं साम, जगतीच्छन्दः । समानोदर्कं, अश्ववत्, अन्तवत् पुनरावृत्तं, पुनर्निवृत्तं, रथवत्, पर्यस्तवत्, त्रिवृत्, अन्तरूपं, उत्तमपदनिरुक्ता देवता—असौलोकोऽभ्युदितः, वैरूपं, जागतं, कृतं, एतानि तृतीयस्याह्नो रूपाणि ।।

वाक् ४—चतुर्थमहर्वहति । एकविंशः स्तोमः, वैराजं साम, अनुष्टुप् छन्दः । एति च प्रेति च, युक्तवत्, रथवत्, आशुमत्, पिबवत्, प्रथमपदनिरुक्ता देवता, अयं लोकोऽभ्युदितः, जातवत्, धनवत्, शुक्रवत्, वाचोरूपम्, वैमदम्, विरिफितम्, विच्छन्दाः, ऊनातिरिक्तम्, वैराजम्, आनुष्टुभम्, करिष्यत्, एतानि चतुर्थस्याह्नो रूपाणि ।।

गौः ५—पञ्चममहर्वहति । त्रिणवः स्तोमः, शाक्वरं साम, पङ्क्तिश्छन्दः, नेति न प्रेति, यत् स्थितम्, ऊर्ध्ववत्, प्रतिवत्, अन्तर्वत्, वृष-

ण्वत्, वृधन्वत्, मध्यमपदनिरुक्ता, देवता, अन्तरिक्षमभ्युदितम्, दुग्धवत्, ऊधवत्, धेनुमत्, पृश्निमत्, मद्वत्, पशुरूपम् ।

अध्यासवत्, (विक्षुद्रा इव हि पशवः)
जागतम् (जागता हि पशवः)
बार्हतम् (बार्हता हि पशवः)
पाङ्क्तम् (पाङ्क्ता हि पशवः)
वामम् (वामं हि पशवः)
हविष्मत् (हविर्हि पशवः)
वपुष्मत् (वपुर्हि पशवः)

शाक्वरम्, पाङ्क्तम्, कुर्वत्, एतानि पंचमस्याह्नो, रूपाणि ।।

द्यौः ६—षष्ठमहर्वहति-त्रयस्त्रिंशः स्तोमः, रैवतं साम, अतिच्छन्दाश्छन्दः, समानोदर्कम्, अश्ववत्, अन्तर्वत्, पुनरावृत्तं, पुनर्निवृत्तम्, रथवत्, पर्यस्तवत्, त्रिवृत्, अन्तरूपम्, उत्तमपदनिरुक्ता देवता, असौ लोकोऽभ्युदितः, पारुच्छेपम्, सप्तपदम्, नाराशंसः, नाभानेदिष्ठम्, रैवतम्, अतिच्छन्दाः, कृतम्, एतानि षष्ठस्याह्नो रूपाणि ।।

७—एति च प्रेति च, युक्तवत्, रथवत्, आशुमत्, पिववत्, प्रथमपदनिरुक्ता देवता, अयं लोकोऽभ्युदितः, जातवत्, अनिरुक्तम्, करिष्यत् । एतानि सप्तमस्याह्नो रूपाणि ।।

८—नेति न प्रेति, यत् स्थितम्, ऊर्ध्ववत्, प्रतिवत्, अंतर्वत्, वृषण्वत्, वृधन्वत्, मध्यमपदनिरुक्ता देवता, अन्तरिक्षमभ्युदितम्, द्व्यग्नि, महद्वत्, द्विहूतवत्, पुनर्वत्, एतान्यष्टमस्याह्नो रूपाणि ।।

९—समानोदर्कम्, अश्ववत्, अन्तर्वत्, पुनरावृत्तम् पुनर्निवृत्तम्, रथवत्, पर्यस्तवत्, त्रिवृत्, अन्तरूपम्, उत्तमपदनिरुक्ता देवता, असौलोकोऽभ्युदितः, शुचिवत्, सत्यवत्, क्षेतिवत्, गतवत्, ओकवत्, कृतम्, एतानि नवमस्याह्नो रूपाणि ।।

इदं नवरात्रम् ।

१०—पृष्ठ्य षडहमुपयन्ति । मुखमिव पृष्ठ्यः षडहः । यथान्तरं मुखस्य जिह्वा, तालु, दंताः, एवं छन्दोमाः । अथ येनैव वाचं व्याकरोति येन स्वादु चास्वादु च विजानाति तद्दशममहः ।।

नासिके इव पृष्ठ्यः षडहः-यथान्तरं नासिकयोरेवं छन्दोमा ।

अथ येनैव गन्धान् विजानाति तद्दशममहः । अक्षीव पृष्ठ्यः षडहः । यथान्तरमक्ष्णः कृष्णमेवं छन्दोमा । अथ यैव कनीनिका येन पश्यति तद्दशममहः ।

कर्ण इव सः । यथान्तरं कर्णस्य एवं छन्दोमा । अथ येनैव शृणोति तद्दशममहः, श्रीर्दशममहः ।।

इतीत्थं दशाहप्रत्तिपत्तिः श्रूयते । एतत्पदार्थनिरूपणं च वेदसमीक्षायां साधु कृतमिति ततः स्पष्टमवगन्तव्यम् । इह तु प्रायेण सर्वेषामेवार्थानां त्रैविध्येनाभ्युपगमादग्न्यहोरूपतया सिद्धमेवागत्यप्रतिगच्छदर्थानां समानभक्त्या गायत्रीत्वमित्यवगन्तव्यम् ।।

अथ संस्कारो द्रष्टव्यः । कस्यचित्कस्मिंश्चित्कर्मणि योग्यतासंपादनं हि संस्कारः । तत् त्रेधा-दोषापनोदनेन, अतिशयाधानेन, हीनाङ्गपूरणेन च । एभिः संस्कारैस्तत्तदर्थस्यादुष्टत्वं विशिष्टत्वं स्वरूपसत्त्वं च संसिद्धं भवति । अस्ति स संस्कारो यदभावे स्वरूपसन्नप्यसौ ब्राह्मणोऽधमतामेति न तु ब्राह्मण्यादपैति । तस्याप्ययोग्यत्वं कर्मविशेषे, प्रतिबन्धकसंनिधानेन कारणतानिरासादिति तदर्थः स संस्कारः शोधकः ।।१।।

अस्ति च स संस्कारो यदभावे स्वरूपसन्नप्यसौ ब्राह्मणो नोत्तमतामेति, न तु ब्राह्मण्यादपैति, तस्याप्ययोग्यत्वं कर्म्मविशेषे, सहकारिसंनिधानाभावेन कारणतानिरासादिति तदर्थः स संस्कारो विशेषकः ।।२।। एवमस्ति स संस्कारो यदभावे ब्राह्मण्यं नोपतिष्ठते, ब्राह्मण्यादपेतश्च कर्मविशेषायोग्यो भवति कारणासंनिधानादिति तदर्थः स संस्कारो भावकः (३) एषु च संस्कारशब्दस्य करणव्युत्पत्त्या संस्कारजनकक्रियापरत्वं द्रष्टव्यम् ।।

तत्र गर्भाधानं तावत्स्वरूपसंपादनोद्देशेन सहधर्मचारिणीक्षेत्रे गर्भाशयरूपे शारीराग्निसमीपे वा संस्कार्य्यस्य संस्थापनम् । सोऽयं गर्भभावकः संस्कारो द्रष्टव्यः । तथा च गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्म्माणि तत्र गर्भे ब्रह्मभावयोग्यतारूपातिशयाधायकत्वाद् विशेषकसंस्कारा भवन्ति ।

"गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति, पुंसवनात् पुंसीकरोति, फलस्नपनान्मातापितृजं पाप्मानमपोहतीति" हारीतस्मरणात् । त एतेऽन्तर्गर्भसंस्कारा उच्यन्ते ।। ततो बहिः शालायामिव गृहोदरबहिर्भूते गर्भे शुक्रशोणितोपगतदोषमार्जकत्वादुत्तरे जातकर्मनामकर्म्मनिष्क्रमान्नप्राशनकर्णवेधमुण्डनस्नानादीनि कतिपयकर्म्माणि शोधकसंस्कारा भवन्ति । "रेतोरक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणः-जातकर्म्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं, प्राशनेन तृतीयं, चूडाकरणेन चतुर्थं,स्नानेन प्रञ्चमम्, एतैरष्टभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति" हरीतस्मरणात्,

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

इत्यादिस्मृत्यन्तरेभ्यश्च । त एते गर्भशुद्धिसंस्कारा उच्यन्ते । सोऽयमेतावान् गर्भसंस्कारोऽनुव्रताद्युत्तरसंस्कारयोग्यतासम्पत्त्यर्थः पितृकर्तृकश्च । तत्र संस्कर्तृ-

निष्ठमधिकारितावच्छेदकं ब्राह्मणत्वादिघटितवर्णत्वघटितम् । संस्कार्य्यनिष्ठं तु ब्राह्मणादिवर्णजन्यत्वमेव नतु ब्राह्मणत्वादिकमपि तत्र फलोपधायकतारूपमपेक्ष्यते ।

अतः परमुपनयनं तावत् स्वरूपसम्पादनोद्देशेन सावित्रीक्षेत्रे ब्रह्मचर्य्यव्रतरूपे कर्म्माग्निसमीपे वा संस्कार्य्यस्य संस्थापनम् । सोऽयं वर्णभावकः संस्कारो द्रष्टव्यः ।। तथा चोपनयनव्रतादेशवेदारंभवेदाध्ययनानि सावित्राग्नेयशुक्रियौपनिषदशौल-भगोदानभौतिकमहानाम्नीव्रतोत्सर्गाः, केशान्तः, समावर्तनस्नानं चेत्येते तत्र ब्राह्मणादिवर्णे यज्ञक्रियायोग्यतारूपातिशयाधायकत्वाद् विशेषकसंस्कारा भवन्ति ।। "उपनयनाद्याभिरष्टाभिर्व्रतचर्य्याभिरन्तर्व्रतैश्चाष्टभिः स्वच्छन्दःसम्मितो ब्राह्मणः परं पात्रं देवपितृणां भवति छन्दसां पारं गच्छति छन्दसामायतनम्" इति हारीतस्मरणात्,

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया शुभैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।। (मनु. २।२८)

इत्यादिस्मृत्यन्तरेभ्यश्च । त एते आचार्य्यकर्तृका अनुव्रतसंस्कारा उच्यन्ते । यद्यपि—

"गार्भैर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते"—इति मनुस्मरणात्

"सावत्सरिकस्य चूडाकरणं तृतीये वा प्रतिहते, षोडश-वर्षस्य केशान्तः" इत्येवं पारस्करसूत्रे मुण्डनगोदानयोर्गर्भ-संस्कारप्रकरणोपात्तत्वादुपनयनकेशान्तयोरपि गर्भसंस्कारत्वमाक्षिपन्ति । अथापि दधिदर्शनन्यायेन संभवत्येव कतिपयानामुभयविधसंस्कारत्वमित्यतः प्रकरणातिरेको न दोषायेत्यनुसन्धेयम् ।

ततो बहिःशालायामिव पितृगृहं प्रत्यावृत्ते वर्णे ऋणपञ्चकसूनापंचकोपगतदोष-मार्जकत्वादुत्तरे नैमित्तिकवार्षिकमासिकाह्निकात्मकभेदचतुष्टयभिन्नाः शोधक-संस्कारा भवन्ति ।।

अतः परं द्विजातीनां संस्कृतिर्नियतोच्यते
संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम् ।।१।।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो बलिकर्म च
जातकृत्यं नामकर्म विश्रुतोऽन्नाशनं परम् ।।२।।

चौलकर्मोपनयनं तद्व्रतानां चतुष्टयम् ।
स्नानोद्वाहौ चाग्रयणमष्टकासु यथायथम् ।।३।।

श्रावण्यामाश्वयुज्यां च मार्गशीर्ष्यां च पार्वणम् ।
उत्सर्गश्चाप्युपाकर्म महायज्ञाश्च नित्यशः ।।४।।

संस्कारा नियता ह्येते ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
नैमित्तिकाः षोडशोक्ताः समुद्वाहावसानकाः ॥५॥

सप्तैवाग्रयणाद्याश्च संस्कारा वार्षिका मताः ।
मासिकं पार्वणं प्रोक्तमशक्तानां तु वार्षिकम्
महायज्ञास्तु नित्याः स्युः सन्ध्यावद्वाग्निहोत्रवत् ॥६॥
इत्याश्वलायनोक्तेः

अशुचिः स्त्रीविहीनश्च दैवे पित्र्ये च कर्म्मणि ।
यदह्ना कुरुते कर्म्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥ इति ब्राह्मोक्तेः ।

ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ॥१॥

यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्
पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ॥२॥

ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च ।
पितॄणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चमम् ॥३॥

देवानां च पितॄणां च ऋषीणां च तथा नरः ।
ऋणवान् जायते यस्मात् तन्मोक्षे प्रयतेत्सदा ॥४॥

देवानामनृणो जन्तुर्यज्ञैर्भवति मानवः ।
अल्पवित्तश्च पूजाभिरुपवासव्रतैस्तथा ॥५॥

श्राद्धेन प्रजया चैव पितॄणामनृणो भवेत् ।
ऋषीणां ब्रह्मचर्येण श्रुतेन तपसा तथा ॥६॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानः पतत्यधः ॥७॥

इत्यादि पुराणस्मृतिवचनेभ्यः,

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥८॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महात्मभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥९॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥१०॥

इत्येवं मन्वादिस्मृतिवचनेभ्यश्च तथावगमात् । त एते स्वकर्तृका धर्मशुद्धि-संस्कारा उच्यन्ते । सोऽयमेतावान् व्रतसंस्कारो यज्ञादिदैवसंस्कारयोग्यतासंपत्त्यर्थः । तत्र संस्कर्तृनिष्ठमधिकारितावच्छेदकं ब्राह्मणत्वादिघटितवर्णत्वघटितम् । संस्कार्य्य-निष्ठं तु पूर्वसंस्कारसंस्कृतत्वं वा,

> धृतिः क्षमा दया शौचमनायासोऽनसूयितम् ।
> अस्पृहत्वमकामत्वं ब्राह्मणानाममी गुणाः ।।१।।

इत्युक्तात्मगुणाष्टकवैशिष्ट्यं वा । तेषां पूर्वेषां संस्कारकर्म्मणामप्येतद्गुणाष्ट-करूपातिशयभावकत्वात् ।। विज्ञायते चैतदेषामष्टानां गुणानामपि संस्कारत्वम् ।। अष्टचत्वारिंशत्संस्कारानाचक्षाणेन भगवता गौतमेन चत्वारिंशत्संस्कारानाख्याय परिशेषे

> अष्टावात्मगुणाश्चेति" स्मरणात् ।
> संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।
> नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम् ।
> ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः ।।

इति शंखादिस्मरणाच्च धृत्याद्यात्मगुणानां ब्राह्मणत्वप्रयोजकत्वेनाभिधानात् ।

> 'अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो धैर्यमासीदर्धं माल्व्यम् ।
> यद्धैर्य्यं तत् पुरस्तात् कुरुत । यन्माल्व्यं तत् पश्चात्
> पर्य्यौहत । यद्धैर्य्यं, सोमो वै सः । ततो ब्राह्मणमसृजत ।।
>
> तस्माद् ब्राह्मणः सर्व एव ब्रह्माभिधीरः । यन्माल्व्यं,
> सुरा वै सा । ततो राजन्यमसृजत । तस्माज्ज्यायांश्च
> कनीयांश्च स्नुषा च श्वशुरश्च सुरां पीत्वा विलालपंत
> आसते । माल्व्यं हि तत् । पाप्मा वै माल्व्यम् । तस्माद् ब्राह्मणः
> सुरां न पिबेत् । पाप्मनात्मानं नेत् संसृजा इति" ।।

इत्येवं मैत्रायणीयश्रुत्यादिषु तत्र तत्र ब्राह्मणत्वप्रयोजकानां धृत्यादीनामाम्ना-नाच्च । तदित्थमेतावानयमुक्तो ब्राह्मसंस्कारः स स्मार्त्तो द्रष्टव्यः ।

अथातः परम् 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, आदित्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति वा व्रतोपायनं तावत् स्वरूपसम्पादनोद्देशेन सत्यक्षेत्रे देवव्रतरूपे गार्हपत्याहवनीयाग्निसमीपे वा संस्कार्य्यस्य स्वस्य संस्थापनम् ।। सोऽयं देवभावकः संस्कारो द्रष्टव्यः ।। तथाच व्रतोपायनमग्न्या-धेयं च पुरस्कृत्य कृतमग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, पिण्डपितृयज्ञः, आग्रयणेष्टिः, चातुर्मास्यं, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी चेत्येते सप्त हविर्यज्ञसंस्थाख्या यजमाने देवत्वयोग्यतारूपा-तिशयाधायकत्वाद् विशेषकसंस्कारा भवन्ति ।

"आरब्धयज्ञो वा एष आरब्धदेवतो यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते, इत्यैतरेयादि-श्रवणात् ।

अथ गृह्याग्निपरिग्रहः,पञ्चयज्ञानुष्ठानम्, अष्टका, पार्वणं,श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्र्याश्वयुजीत्येते सप्त पाकयज्ञसंस्थाः । औपासनहोमो वैश्वदेवं पार्वणमष्टका ग्रह-मासिकश्राद्धं बलिः श्रावणी चेति वा सप्त पाकयज्ञाः १ औपासनहोमः, २ वैश्वदेवः, ३ स्थालीपाकः, ४ आग्रयणम्, ५ सर्पबलिः, ६ ईशानबलिः, ७ अष्टकान्वष्टका चेत्येवं विभक्ता वा स्मार्त्ताग्निकृत्याः सप्त पाकयज्ञाः, यजमाने ऋणसंबन्धोपगतदोष-मार्जकत्वाच्छोधकसंस्कारा भवन्ति । "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते । ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः । एष वा अनृणी, यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वेति श्रवणात् । "ऋणं ह वै जायते योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः मनुष्येभ्यः । स यदेव यजेत-तेन देवेभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्यः एतत्करोति । यदेनान् यजते यदेभ्यो जुहोति ।।१।। अथ यदेवानुब्रुवीत-तेन ऋषिभ्यः ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत्करोति-ऋषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ।।२।। अथ यदेव प्रजा-मिच्छेत, तेन पितृभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत्करोति, यदेषां सन्तताव्वच्छिन्ना प्रजा भवति ।।३।। अथ यदेव वासयेत, तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोति यदेनान् वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति । स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्म्मा तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम्"—इति शतपथादिश्रवणेभ्यश्च पञ्चयज्ञादीनामृणशोध-कत्वेन प्रतिपत्तेः ।। सोऽयमेतावान् यजमानसंस्कारः सौम्यादिकाम्यसंस्कारयोग्य-तासम्पत्त्यर्थः । अत्र संस्कर्तृसंस्कार्य्ययोरेकत्वान्नाधिकारितावच्छेदकं भिद्यते ।

अतः परमग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोमः उक्थः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्र आप्तोर्या-मश्चेति सप्त सोमसंस्थाः । महाव्रतम्, राजसूयः, कुरुवाजपेयः, सर्वतोमुखम्, पौण्डरीकम्, अभिजित्, विश्वजित्, अश्वमेध-नरमेध-गोमेधाः, गवामयनाङ्गिर-सामयनादित्यानामयनविश्वसृजामयनानि सत्राणि, बृहस्पतिसवः, आङ्गिरसः, अष्टादशविधानि चयनानीत्येवमनेकविधा उत्तरक्रतवस्ततो अन्ये काम्यविधयश्चो-पतिष्ठन्ते । तेऽप्येते संस्कारा भवन्ति । अदृष्टोत्पादनद्वारा फलसिद्धावङ्गभावात् ।।

तदित्थमेतावानयमुक्तो दैवसंस्कारः स श्रौतो द्रष्टव्यः । इदं चात्रावधार्यते । सोमयागा द्विविधाः—आवृत्ता अनावृत्ताश्च । तत्रानावृत्ता एकाहाः । आवृत्ता अपि द्वेधा—अहीनरूपाः सत्ररूपाश्च । द्विरात्रमारभ्यैकादशरात्रपर्य्यन्ता अहीना एव । एकादशरात्रद्वादशरात्रौ तु द्वेधा—अहीनरूपौ सत्ररूपौ च । त्रयोदशरात्रमारभ्योप-रितनानि सर्वाणि सत्राण्येव । तान्यपि द्विविधानि—रात्रिसत्राणि अयनसत्राणि चेति । तत्र शतरात्रपर्य्यन्तानि रात्रिसत्राणि । संवत्सरसत्रमारभ्योपरितनान्ययनरूपाणि । तेषां च सर्वेषां प्रकृतिभूतं गवामयनम् ।।इति।।

इत्थं च निरूपितो द्विविधः संस्कारो ब्राह्मो दैवश्चेति । तत्र ब्राह्मेणार्षी तनुः क्रियते । दैवेन दैवी । तदुक्तं भगवता हारीतेन—"द्विविध एव संस्कारो भवति-

ब्राह्मो दैवश्च । गर्भाधानादिस्नानान्तो ब्राह्मः । पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैवः । ब्राह्मसंस्कारसंस्कृत ऋषीणां समानतां सायुज्यतां गच्छति । दैवेनोत्तरेण संस्कारेण नु संस्कृतो देवानां समानतां सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छतीति"

तदित्थं प्रतिपन्नेष्वात्मसंस्कारेषु कतिपयस्यैव च्छन्दस्त्वमिष्यते । आहोस्विदविशेषेण सर्वस्येति विचार्यते । किञ्चातः यदि कतिपयस्यैवोच्यते तर्त्तर्हि अर्द्धजरतीयत्वापत्तिः । संस्कारत्वाविशेषेऽपि कस्यचिच्छन्दस्त्वमन्यस्य नेत्यत्र विनिगमकाभावात् ।।

अथ यदि सर्वस्योच्येत तर्त्तर्हि शूद्रस्यापि सच्छन्दस्त्वमापद्यते ।।

द्विजानां षोडशैव स्युः शूद्राणां द्वादशैव तु ।
पञ्च मिश्रकजातीनां संस्काराः कुलधर्मतः ।।१।।

वेदव्रतोपनयनमहानाम्नीमहाव्रतम् ।
विना द्वादश शूद्राणां संस्कारा नाममन्त्रतः ।। इति शार्ङ्गधरोक्तेः ।।१।।

स्त्रिया जातकर्मनामकरणनिष्क्रमान्नप्राशनचूडाविवाहाः षट् । शूद्राणां तु षडेते पञ्च महायज्ञाश्चेत्येकादशेति मदनरत्नोक्तेः ।।२।।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ।।
त्रेताग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः ।।
नवैताः कर्णवेधान्ताः मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः ।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश इति व्यासोक्तेः-
विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा । इति ब्राह्मोक्तेश्च
कतिपयसंस्काराणां विवाहमात्रस्य वा तत्राप्यनुवर्त्तमानत्वात् ।।

आर्षक्रमेण सर्वत्र शूद्रा वाजसनेयिनः ।
तस्माच्छूद्रः स्वयं कर्म्म यजुर्वेदीव कारयेत् ।

इति शूद्राह्निकाचारतत्वधृतस्मृतिवचनेन शूद्राणामपि वेदसंबन्धात् । इति चेदत्रोच्यते । यथेच्छसि तथाऽस्तु उभयथाप्येतच्छक्यते प्रतिपत्तुं कतिपयस्य वा सर्वस्य वा छन्दस्त्वमस्तीति । ननुचोक्तमुभयत्रापि दूषणमिति चेन्नैतदस्ति । अस्ति ह्येतत्-यदारम्भे यदारम्भो, यदवसाये यदवसायो, यदभ्युच्चये यदभ्युच्चयो, यदवचये यदवचयस्तत्तदायतनमित्युच्यते । यदाश्रयेण वा यस्य प्रतिपत्तिः सा तस्य प्रतिष्ठाऽभिज्ञायते । तथा चायं तावत् ब्राह्मसंस्कारः साक्षात्परम्परया च ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्ववैश्यत्वानां प्रतिष्ठा भवति, तदधीनोपपत्तिकत्वात् । प्रतिष्ठायां च श्रूयते प्रमाशब्दः तस्मात् संसिद्धं प्रमालक्षणं छन्दस्त्वमेतस्य ।।

तत्र योग्यात्मनि संस्कारविशेषेण ब्रह्माधीयते, योग्यात्मनि च संस्कारविशेषेण क्षेत्रं विड् वा। अथोवस्यसं चेदं ब्रह्म रौद्रं क्षत्रं मारुत्यो विशः। आतश्चाग्नेयं ब्रह्म, ऐन्द्रं क्षत्रम्, वैश्वदेव्यो विशः। अग्नेस्तु छन्दो गायत्री सा चाष्टवर्णा, इन्द्रस्य त्रिष्टुबेकादशवर्णा, विश्वेषां देवानां जगती द्वादशवर्णा। आतश्च गायत्रं ब्रह्म, त्रैष्टुभं क्षत्रं, जागती विट्। तदित्थमष्टवर्णनिबन्धनं ब्रह्माधेयमेकादशवर्णनिबन्धनं चेदं क्षत्रं द्वादशवर्णनिबन्धना त्वेषा विडिति वर्णच्छन्दोबद्धतया त्रयो वर्णा उच्यन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य इति। शूद्रस्यैवमवर्णत्वेऽपि वर्णत्वमौपचारिकं द्रष्टव्यम्, अच्छन्दस्त्वस्यैव छन्दस्त्वेन विवक्षितत्वात्। तथा च यथाहि वाग्वर्णो गायत्रीछन्दास्त्रिष्टुप्छन्दाः जगतीछन्दाः विच्छन्दा वा भवति। एवमयं मनुष्यवर्णोऽपि चतुर्विधो भवति। सर्वोऽप्ययं प्राणिवर्गोऽप्राणिवर्गो वा तैरेतैर्वर्णच्छन्दोभिरेव सच्छन्दस्कतया वर्णो भवति—ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति ।। यथा च ग्राम्येषु पशुषु तावदजो ब्राह्मणः, अविः क्षत्रियः, गौर्वैश्यः, अश्वः शूद्र इति। यथा वान्यत्र स्थावरादिषु। एवमयं मनुष्येषु संस्कारसिद्धो भूत्वा गायत्रीछन्दा ब्राह्मणः, त्रिष्टुप्छन्दाः क्षत्रियः, जगतीछन्दा वैश्यः, प्राजापत्यच्छन्दा विच्छन्दा वा शूद्र इति ।।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत इति ।।

प्रजापतिरकामयत "प्रजायेयेति" स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवता अन्वसृजत, गायत्री छन्दो, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनाम् तस्मात्ते मुख्याः मुखतो ह्यसृज्यन्त ।। उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत, तमिन्द्रो देवतान्वसृजत, त्रिष्टुप् छन्दः, बृहत्साम, राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनाम्; तस्मात्ते वीर्यवन्तो, वीर्य्याद्ध्यसृज्यन्त ।। मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृजन्त, जगती छन्दो, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणाम्, गावः पशूनाम्; तस्मात्ते आद्याः अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त। तस्माद्भूयांसोऽन्येभ्यो, भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त। पत्त एकविंशं निरमिमीत, तमनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृजत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम्; तस्मात्तौ भूतसङ्क्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च। तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तो न हि देवता अन्वसृज्यत, तस्मात् पादावुपजीवतः,पत्तो ह्यसृज्येताम्। प्राणा वै त्रिवृत्, अर्द्धमासाः पञ्चदशः, प्रजापतिः सप्तदशः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः। तस्मिन् वै एते श्रिताः, एतस्मिन् प्रतिष्ठिताः। य एवं वेदैतस्मिन्नेव श्रयते एतस्मिन् प्रतितिष्ठति इति. (शत ७. १.१) इति मन्त्रब्राह्मणाभ्यां तथाम्नानात् ।।

यत्तु एवंविधादेव मन्त्रब्राह्मणाद्याम्नानात् सृष्टयादौ मनुष्याकारपरमेश्वरस्य मुखाद्यङ्गेभ्यश्चत्वारः सृष्टयादिभूता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा उत्पन्ना इति लभ्यते। ततश्चोत्पत्तिलभ्यमेव ब्राह्मणत्वादिकं न संस्कारलभ्यमित्याक्षिपन्ति तदज्ञानात् ।। "अर्द्धं वै प्रजापत्तेरात्मनो धैर्यमासीदर्द्धं माल्व्यम्। यद्धैर्य्यं सोमो वै सः—ततो

ब्राह्मणमसृजत। यन्माल्व्यम्-सुरा वै सा, ततोराज्यन्यमसृजत।" इत्यादिश्रुतिष्विवेहापि मुखाद्ब्राह्मणमसृजत, उरसः क्षत्रियमित्यादिनापेक्षितार्थविशेषपरत्वात्। तदित्थं सिद्धमग्न्यादिभक्तिसिद्धद्रविणसंयोगाद्ब्राह्मणादिसंस्कारविशेषाणामपि गायत्र्यादित्वमिति दिक्।

निरूपयिष्यते चैतदतिगभीरार्थोऽखिलवेदसारभूतोऽयमार्य्यावर्तस्य सर्वस्वभूतो धर्म्मो वैशद्येन धर्म्मसमीक्षायामितीदानीं विरम्यते॥

अथ द्रविणम्—

समिधमातिष्ठ, गायत्री त्वा छन्दसामवतु, त्रिवृत् स्तोमः, रथन्तरं साम, अग्निर्देवता ब्रह्म द्रविणम्। उग्रामातिष्ठ, त्रिष्टुप् त्वा छन्दसामवतु, पञ्चदशः स्तोमः, बृहत् साम, इन्द्रो देवता, क्षत्रं द्रविणम्॥—विराजमातिष्ठ, जगती त्वा छन्दसामवतु, सप्तदशः स्तोमः, वैरूपं साम, मरुतो देवताः, विड् द्रविणम्॥—॥ उदीचीमातिष्ठ, अनुष्टुप् त्वा छन्दसामवतु, एकविंशः स्तोमः, वैराजं साम, मित्रावरुणौ देवता, बलं द्रविणम्॥—॥ ऊर्ध्वामातिष्ठ, पङ्क्तिस्त्वा छन्दसामवतु, त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ, शाक्वररैवते सामनी, बृहस्पतिर्देवता, वर्चो द्रविणम् इति तैत्तिरीयश्रवणात्।

प्राचीमारोह, गायत्री त्वावतु, रथन्तरं साम, त्रिवृत् स्तोमो, वसन्त ऋतुः, ब्रह्म द्रविणम्॥ दक्षिणामारोह, त्रिष्टुप् त्वावतु, बृहत्साम, पञ्चदशः स्तोमो, ग्रीष्म ऋतुः, क्षत्रं द्रविणम्। प्रतीचीमारोह, जगती त्वावतु, वैरूपं साम, सप्तदशः स्तोमो, बर्षा ऋतुः, विड् द्रविणम्। उदीचीमारोह, अनुष्टुप् त्वावतु, वैराजं साम, एकविंशः स्तोमः, शरदृतुः, फलं द्रविणम्॥—ऊर्ध्वामारोह, पङ्क्तिस्त्वावतु, शाक्वररैवते सामनी, त्रिणत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ, हेमन्तशिशिरावृतू, वर्चो द्रविणम्।

इति माध्यन्दिनीयश्रवणाच्चाग्निभक्तं द्रविणं ब्रह्म, इन्द्रभक्तं द्रविणं क्षत्रं, तथा मरुद्भक्तं द्रविणं विट् प्रतिपद्यते। ब्रह्मशब्देन चात्र यज्ञः, क्षत्रशब्देन च राष्ट्रं विवक्ष्यते।

"ब्रह्म वा एष प्रपद्यते यो यज्ञं प्रपद्यते। ब्रह्म वै यज्ञः।
क्षत्रं वा एष प्रपद्यते यो राष्ट्रं प्रपद्यते। क्षत्रं हि राष्ट्रम्।

इत्यैतरेयादिश्रवणात्। यज्ञशब्दः पुनरत्र सोमसूर्याधिष्ठितत्रयीविद्यापरः।

'अयं वै यज्ञो योऽयं पवते। तदिमं यज्ञं सम्भृत्य एतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति। यज्ञेन यज्ञं संदधातीति।

'यज्ञं वा एष जनयति यो यजते सैषा त्रयी विद्या यज्ञः॥ तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः' इति।

'प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्। ब्रह्मक्षत्रे अनु द्वय्यः प्रजा असृज्यन्त—हुतादश्चाहुतादश्च। ब्रह्मैवानु हुतादः। क्षत्रमन्वहुतादः। एता

वै प्रजा हुतादो यद् ब्राह्मणाः। अथैता अहुतादो यद् राजन्यो वैश्यः शूद्रः इति ॥ यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। यज्ञात् प्रजायमाना मिथुनात् प्रजायन्ते। मिथुनात् प्रजायमाना अन्ततो यज्ञस्य प्रजायन्ते'।

इत्यैतरेयादिश्रुतिभ्यः सर्वजगदुत्पत्तिस्थितिक्रियापरिकरविद्याया एव यज्ञ-शब्दत्वव्यवस्थापनात्। ईदृशयज्ञार्थप्रतिपादनपरतयैव च सर्व एवैते वेदाः प्रवर्त्तन्ते इत्यप्यवधेयम्। तथा च—विद्यादयो ब्रह्मप्रकाराः ब्राह्मणस्य स्वं, तच्चाग्निभक्तं गायत्रीच्छन्दःसाध्यमतोऽग्निभक्तचा ब्रह्मणो गायत्रीत्वम्। राष्ट्रादयो हि क्षत्रप्रकारा राजन्यस्य स्वं, तच्चेन्द्रभक्तं त्रिष्टुप्छन्दःसाध्यमत इन्द्रभक्तचा क्षत्रस्य त्रिष्टुप्त्वम्। विडेव तु इषोर्जरयिपशुपुष्टचादिभेदभिन्ना वैश्यस्य स्वं, तच्च वैश्वदेवभक्तं जगती-च्छन्दःसाध्यमतो विश्वदेवभक्तचा विशो जगतीत्वमितीत्थं द्रविणानामपि संसिद्धं भक्तचा छन्दस्त्वमतो नातिरिक्तार्थत्वं प्रसज्यते, इत्यवधेयम्। तथा चागत्य-प्रतिगच्छदर्थेषु संस्कारेषु द्रविणेषु च छन्दःशब्दप्रयोगेऽपि नार्थान्तरतेति सिद्धम्।

स्यादेतत्। अथापि यदेतदाध्वर्य्यवे छन्दोभाषाम्नायते—'मा छन्दः, प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दः, अस्रीवयश्छन्दः, पङ्क्तिश्छन्दः, उष्णिक् छन्दो, बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो, विराट् छन्दो, गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती च्छन्दः ॥१॥

'पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो मनश्छन्दो वाक् छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः' ॥२॥

'एवश्छन्दौ वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दः आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो वाचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रं छन्दः सलिलं छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सन्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप्च्छन्दः काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दोऽक्षर-पङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभृज्वा छन्दः प्रच्छच्छन्दः पक्षश्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विशालं छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दश्छदिश्-छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः' इति ॥३॥

यच्च वाऽऽथर्वणे त्रयश्छन्दोविशेषा आख्यायन्ते—

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वियेतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥१॥ इति ॥

तेनातिरिच्यते छन्दःपदार्थः इति गम्यते इति चेन्न। यथाहि गायत्र्युष्णिग-नुष्टुबादयो विष्टारपङ्क्तिसतोबृहतीककुबादयश्च वाचिकच्छन्दोविशेषा उपदि-श्यन्ते। एवमेव सन्ति खलु मा-प्रमा-प्रतिमादयः एवोवरिवःशम्भ्वादयश्चा-र्थिकच्छन्दोविशेषास्तत्तदर्थव्यवस्थापका इत्यत्रैव छन्दोभाषातात्पर्य्याविगमात्। तत्र च सिद्धं परिच्छेदलक्षणं छन्दस्त्वमिति नार्थान्तरत्वप्रसक्तिः ॥ यत्पुनराथर्वणेऽ-बादीनां त्रयाणां छन्दस्त्वमुपदिश्यते तस्यायमाशयः-यदिदमनेकरूपं विश्वशब्देनाख्यातं

किञ्चिदद्दृश्यते तदेतत्सर्वं त्रेधा व्यवच्छिद्य गृह्यते आपश्च वाताश्चौषधयश्चेति । एतदेवान्यत्र तिस्र एव देवास्तेजोऽबन्नानीत्येवं देवताप्रकरणेनाम्नातम् ।। भवन्ति हि निविडावयवास्तरलावयवा विरलावयवाश्च पदार्थभेदा लोके । न चैतत्त्रैविध्यापचारेण किञ्चिदिहोपलभ्यते । तत्र निविडावयवा अन्नौषधिमृदादि-शब्दैस्तरलावयवा अप्शब्देन विरलावयवास्तु तेजोवाय्वादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते ओषध्यादिवातादीनां स्वानुगतभावोपलक्षकत्वात् । त्रयोऽप्येते भावा एकैकस्मिन्नर्थे प्रत्यर्पिता द्रष्टव्याः । सर्वस्याप्यर्थजातस्य मृदवस्थया अबवस्थया तेजोऽवस्थया च निमित्तानुरोधेन विपरिणमनात् । एतेष्वेव त्रिषु भावेषु विश्वमेतत्प्रतिष्ठितमित्यतः सिद्धमेषां प्रतिष्ठालक्षणं छन्दस्त्वमिति नार्थान्तरत्वप्रसक्तिः :।

यत्तु शब्दचन्द्रिकादौ छन्दःशब्दस्य विषपरत्वम्—"छन्दानुवृत्तिदुःसाधाः सुहृदो विमनीकृताः" इत्यादौ वा तस्य रहःपरत्वं व्यवह्रियते ।। यदपि वा—

"मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।
श्रूयताममभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद्विधीयताम् ।।" (रामा. २।९।७)

इत्यादौ रुचिपरत्वम्—

"वरदानात् पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो"

इत्यादिष्वभिलाषपरत्वम्,

"दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्त्तिषु"

इत्यादिषु वशतापरत्वम्,

"स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः"

इत्यादिषु स्वैराचारपरत्वम्—

"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा"

इत्यादिषु निष्प्रतिबन्धपरत्वम् "त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत् । राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ" इत्यादिषु विरेचनपरत्वं (छांट) वा प्रति-पद्यते । तावतापि नार्थान्तिरत्वमापादयितुं युक्तम् । विषस्य नाडीमार्गावरोधकतया दैशिकावच्छेदलक्षणत्वात् । छन्दानुवृत्तीति पदं तु द्वेधा व्याख्येयम् । छन्दःशब्दस्ये-च्छापरत्वे यथा सुहृदामिच्छा स्यात्तथानुवर्तनीयमिति कृत्वा त एते दुःखेन साधयितुं शक्या भवन्ति सर्वथा परेच्छानुवर्तनस्य दुःखरूपत्वात्, इत्येकोऽर्थः । छन्दःशब्दस्य परिच्छेदपरत्वे तु वाच्यमवाच्यं देयमदेयमित्येवं मर्य्यादया व्यवहारनियमेनानुवृत्तौ क्रियमाणायां सुहृदो दुःसाधा भवन्ति, मित्रतायाः परिच्छेदासहत्वादित्यन्योऽर्थः । तथाचेच्छापरत्वे वक्ष्यमाणलक्षणं परिच्छेदपरत्वे तूक्तलक्षणं छन्दस्त्वं सिद्धमिति नार्थान्तरम् ।। अथ 'श्रोतुं छन्दः' छन्दमृत्युरित्यादिषु तु सर्वत्रैवेच्छार्थकत्वं छन्दः-

शब्दस्येति न तावदनैकार्थ्यम् । रुच्यादीनामिच्छाविशेषरूपत्वात् । इच्छा चाभिप्रायो मनसश्छन्दः । तथा चाहुः कोशकाराः "अभिप्रायश्छन्द आशयः"—इति ।।

यद्यपि च विषयविशेषाभिमुख्येन मनसः प्रवृत्तिरेवाभिप्रायस्तथाप्युपचारभेदादसौ द्वेधा—मनोगृहीतविषयो वा विषयारूढमनो वा । अस्मिन् विषये कीदृशस्तवाभिप्रायः ? केनाभिप्रायेणागतोसि ? धनं नोभिप्रेतमित्येतत्सर्वं विषयाभिप्रायम् । धनाभिप्रायेणागतः, द्रष्टुं विज्ञातुं वा ममाभिप्रायः, किमत्राभिप्रैषीति मनोभिप्रायमितीत्थमुभयथा व्यवहारदर्शनात् । तत्र मनोगृहीतविषयस्य मनोऽवच्छेदकत्वात् मनश्छन्दस्त्वं भवति । अभिप्रायानुसारेणैव मनसः स्वरूपलाभात् तत्रैव तत्प्रतिष्ठानात् । अथ विषयसंक्रान्तमनसः खलु मनुष्यावच्छेदकत्वान्मनुष्यच्छन्दस्त्वं भवति । स्वसंयुक्तमनोऽनुरोधेन प्रवर्तमानस्यात्मन एव मनुष्यत्वात् तत्रैव तत्प्रतिष्ठानात् । अत एव यावानस्य देहः सांयौगिका वार्थाः ते सर्वे दीनमनसो दीना उदारमनसस्तूदारा भवन्ति । नीचमनसो नीचत्वं महाशयमनसस्तु महाशयत्वं प्रतिपद्यन्ते । अङ्गुल्य उत्तिष्ठन्तामित्यभिप्रयत एवास्याङ्गुलय उत्तिष्ठन्ते, हस्त उत्तिष्ठतामित्यभिप्रयतश्च हस्तः । गच्छेयमिति गच्छति तिष्ठेयमिति तिष्ठत्यव्यतिरेकेण । यत्र तु गच्छेयमिति न गच्छति, तत्रेयता कालेन गच्छेयमिति कालविशेषस्य विशेषणविधया विषयीभावो वा, न गच्छेयमित्येवमभिप्रायविशेषस्य नान्तरीयकसंश्लिष्टस्य प्रतिबन्धकाबिषयीभावो वा, सामर्थ्यापचयादिप्रतिबन्धकसद्भावो वा हेतुः समीक्षणीयः । अत एव आकूत्यै प्रजुजेऽग्नये स्वाहेति । आत्मना वा अग्रे आकुवते यजेयेति । तमात्मन एव प्रयुङ्क्ते यत्तनुते । ते अस्यैते आत्मन् देवते आधीते भवतः—आकूतिश्च प्रयुक् च । मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति । मेधायां वा मनसाभिगच्छति-यजेयेति । ते अस्यैते आत्मन् देवते आधीते भवतः—मेधा च मनश्चेत्यादिना । तथा—इमे वै प्राणा मनोजाता मनौयुजो दक्षक्रतवः, वागेवाग्निः, प्राणोदानौ मित्रावरुणौ, चक्षुरादित्यः, श्रोत्रं विश्वे देवाः—इत्येवमादिना सर्वव्यवहारप्रयोजकत्वं मनसः समाम्नायते' ।

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम्"—इति मनुना स्मर्यते च ।

एतदभिप्रायेणैव पुरुषेषु मनुष्य-मानुष-मानव-मनुजाः शब्दाः प्रवर्तन्ते । मनुमनुर्मनसामैकार्थ्यात् । अत एव—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ।

इति मन्त्रस्याथर्वणे 'पुनन्तु मनवो धियः इति पाठः संगच्छते । मनस्वीत्यादिशब्दानां व्यक्तिविशेषनिरूढानां मनःसंयुक्तयावदर्थपरत्वाभाववन्मनुष्यादिशब्दानामपि पशुपक्ष्यादिष्वनुपचारः प्राशस्त्याभिप्रायः । प्राशस्त्यं च वत्यष्टकबीजाङ्कुरयोग्यक्षेत्ररूपस्यास्य मनुषः सम्पूर्णात्मत्वेन द्रष्टव्यम् । अत एव मनुष्यवन्नैतेषु तिर्यग्योनिजेषु वृत्तयोऽष्टविधा उत्पद्यन्ते । तदुत्पत्तिक्षेत्रस्य मनुषस्तेषु खिलरूपेणै-

वानुवर्तमानत्वात्तदनुसारेण यत्किञ्चिद्वृत्तेरेव ततः समुदयात् ।। वृत्त्यष्टकं चेदमाथर्वणे समामनन्ति—"

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ।। इति

एतस्मिन्नेव मनुषि प्रयोजकादितादात्म्याभिप्रायेण कतिपये शब्दाः प्रवर्तन्ते । तथा च मनुः—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ।।१।।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।२।। इति

अथैतस्मिन् मनुष्यसामान्ये स्वस्वद्रविणाप्यायनसमर्थकसंस्कारविशेषोत्पत्तावन्यथान्यथाचारग्राही भवतीति कस्यचिद्ब्राह्मणत्वमन्यस्य क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं वा प्रवर्त्तते । तदेतदेवं तत्तद्विभिन्नप्रवृत्तिप्रयोजकानां तत्तदाशयगतसंस्कारविशेषाणां ब्राह्मणादिच्छन्दस्त्वमाख्यायते । दुराचारानुमितेन तादृशसंस्कारभ्रंशेनोन्मर्य्यादो ब्राह्मणः स्वरूपात् पततीति तादृशपातित्यप्रतिबन्धात् यथास्थितस्वरूपसंरक्षकस्य तादृशसंस्कारस्य ब्रह्मादिद्रविणस्य वा ब्राह्मणादिच्छन्दस्त्वोपपत्तेः । ब्राह्मणादीनां तत्रैव प्रतिष्ठितत्वाच्चेति । तथा च न तत्राप्यर्थान्तरतेति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्ष्यम् ।।

जडेष्वप्येवं स्वस्वप्रवृत्तिप्रयोजकस्य स्वस्वासाधारणधर्मस्य स्वस्वच्छन्दस्त्वमिति सर्व एव स्वकर्मणि स्वच्छन्दसो भवन्ति । वलवत्परधर्मसंक्रमे तु परच्छन्दसो जायन्ते, अन्याधीनप्रवृत्तिकत्वात् । यथा हि कपाटादिषु समवायिनोः काष्ठखण्डयोर्जटितयोरालम्बनस्य कीलितलौहादिशकलस्य कपाटच्छन्दस्त्वमन्यथा काष्ठखण्डद्वयविभागात्कपाटस्वरूपहानिः प्रसज्ज्यते । एवं पादद्वयावसक्तरश्मिना आच्छन्दितः पशुस्तदधीनवृत्तिको भवतीत्यसौ रश्मिश्छन्दः स्यात् । एवमेवान्यत्रान्यत्र सर्व एव जडश्चेतनो वा धर्मी स्वगतेन धर्मविशेषेण छन्दितस्तदधीनवृत्तिको भवतीत्यतस्तस्मिन् स्वधर्मे प्रतिष्ठानादस्य स्वच्छन्दस्त्वं, स्वरूपाननुगतेन च केनचिद्धर्म्मेणाच्छन्दने तस्य परच्छन्दस्त्वं भवतीति पर्य्यालोच्यम् । एतेन स्वच्छन्दोच्छलदच्छेत्यादयः प्रयोगा अपि सुव्याख्याताः । राज्येन छन्दयामासुरित्यादावपि विरेचनस्य व्यावर्त्तनापरपर्य्यायस्य संवित्परिच्छेदानतिरेकान्नार्थान्तरत्वमापद्यते ।। तदित्थमनेकधा निर्द्दिष्टं संस्कृतं छन्दःप्रतिष्ठातत्त्वम् । अथातः प्राकृतां छन्दःप्रतिष्ठामनुवर्तयामः ।

अस्ति हि सर्वेषामेवार्थजातानां काचिदाकारनिबन्धना मात्राभूमिर्ज्ञानदर्शनचारित्र्यशक्तिनिबन्धना च वृत्तभूमिः प्रातिस्विकभावेन प्रकृतिसिद्धा, या भूयोदर्शनेन परीक्षकबुद्धिनिरूढा भवति । तां तामेव भूमिं बुद्धिनिष्ठां छन्दःप्रतिष्ठामालोचमानः शिल्पी तत्साम्येन बहिरर्थमुत्पादयति । इमां च दार्शनिका यद्यप्यनुभवाहितसंस्कार-

रूपां विषयाकाराकारितान्तःकरणवृत्यनुशयरूपां वाचक्षाणा विषयोत्पत्त्यनन्तर-भाविनीमेवाभिप्रयन्ति । अथापि तद्वस्तूत्पत्तेस्तच्छन्दःप्रतिष्ठानिघ्नतया वस्तुतस्तस्या औत्पत्तिकत्वसंसिद्धिः । नहि खलु ह्रस्वचिकीर्षया कार्श्यं गमितस्यापि हस्तिनः, प्रोत्तुङ्गचिकीर्षया वा पोषं गमितस्यापि कीटस्य कपिशरीरमर्य्यादानुगमः शक्यते कर्त्तुम् । न वा तरुणकपिसमशरीरस्य मनुष्यशिशोर्म्महतापि प्रयत्नेन मुग्धत्वमपनोद्य तरुणकपिवद् गमनागमनप्रवृत्तिप्रौढिं कर्तुं पारयामः । पञ्चविंशतिवर्षाणि यावददृष्ट-वर्द्धनभावस्यापि नरशरीरस्य तदुत्तरमुपायपरम्परयापि वृद्धियोग्यत्वं न दृश्यते । एते चान्ये चैवंविधास्तस्या एव सृष्टयादौ परमेश्वरेच्छानियमितायाः प्रातिस्विक्याश्छन्दः-प्रतिष्ठाया महिमानो भवन्ति ।

वाचिकेष्वपि छन्दःस्वर्णसामिवाशयसाम्येनार्णानामपि नियतसंख्यावच्छि-न्नानां संवेशोपवेशाभ्यां गायत्र्यादिच्छन्दोविशेषस्वरूपोपलब्धेस्तत्संवेशोपवेशाधिष्ठा-नस्य प्रस्तारादिक्रियाभिनेयस्यामूर्तस्य छन्दःप्रतिष्ठात्वमवतिष्ठते । सा च मात्रासंख्याप्रधाना अक्षरसंख्याप्रधाना नियतमात्राक्षरस्थानप्रधाना चेति त्रिविधाऽप्य-निरुक्तपृथग्रूपा गायत्र्यादिशब्दैर्लक्ष्यते । तस्याश्चाक्षराणि धर्मा अक्षरेषु चेयमनुगतेति कृत्वा तस्याश्छन्दःप्रतिष्ठाया ब्रह्मत्वम् । तस्माच्छन्दस्तत्वविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति विज्ञेयम् ।।

अथान्यः प्रत्यवतिष्ठते । श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते । स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः । बहुलं छन्दसीत्येवमादिभिः सूत्रजातेषु, 'युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्द्ध-पञ्चमान् !' कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीतेत्येवमादिभिः स्मृतिजातेषु, आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिवेत्येवमादिभिः काव्यजातेषु, एवमन्यत्रान्यत्र च वेदविषयतया छन्दःशब्दः प्रयुज्यते । अनन्ताश्च वेदाः श्रूयन्ते इत्यनवच्छिन्नत्वेऽवच्छेदत्वानुपपत्त्या सिद्धमतिरिक्तवृत्तिकत्वं छन्दःशब्दस्य । इति चेदत्रोच्यते । पद्यगद्यगेयात्मकैस्त्रिविधैर्वाचिकच्छन्दोभिरेव सर्वस्य वेदस्य छन्दनात्तद्भेदादेव च भेदेन तत्प्रतिपत्तेस्तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यन्यायेन तत्र तदुपचार इष्यते । किञ्च—पृथिव्यादिलोकानामग्न्यादिदेवानां च तत्तच्छन्दश्छन्दितानामेव स्वरूपलाभात् कार्य्यकारित्वव्यवस्थापनाच्चेह द्यावापृथिवीधर्मनिरूपणे यज्ञवेदे भूयसा छन्दसामाम्रेडनाच्छन्दःप्राधान्याच्छन्दःशब्दोपचार इष्यते ।

उक्तं च सर्वेषां कार्य्यजातानामाधारभूतं प्राकृतं छन्दो ब्रह्माख्यम् । तदनुगतधर्म्म-प्रतिपादनपरो ग्रन्थश्छन्द उच्यते इति युक्तम्. सांख्यन्यायवेदान्तादिधर्मप्रतिपादन-परेषु ग्रन्थेषु सांख्यादिशब्दवत् । तथा च गौणवृत्या क्वचिदन्यत्र प्रयोगेऽपि मुख्य-वृत्त्याऽवच्छेद एव च्छन्द इति संसिद्धम् ।।

इत छन्दस्तत्ववादः ।।

छन्दोविभक्तिवादः

अथेदं छन्दः पञ्चधा—अनादिष्टच्छन्दः, बृहच्छन्दः, अतिच्छन्द, कृतिच्छन्दः, प्रचितिच्छन्दश्चेति भेदात् । तत्र पञ्चानादिष्टच्छन्दांसि-उक्तमत्युक्तं मध्यं प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा चेति । अथ सप्त बृहच्छन्दांसि गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्तिः, त्रिष्टुप्, जगती चेति । तथा सप्तातिच्छन्दांसि, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टिः, अत्यष्टिः, धृतिः, अतिधृतिरिति । एवं सप्तैव कृतिच्छन्दांसि—कृतिः, प्रकृतिः, आकृतिः, विकृतिः, संकृतिः, अभिकृतिः, उत्कृतिश्चेति भेदात् । अथात ऊर्ध्वं प्रचितिच्छन्दस्तन्न संख्यायते । नन्वेतद्बृहच्छन्दोऽभिप्रायेण सप्तैव च्छन्दांसि भवन्तीति भूयसा श्रूयते तत्कथमेतावान् प्रपञ्चश्छन्दसामाख्यायते । उच्यते । षोडशीप्रक्रमे—"छन्दसां यो रसोऽत्यक्षरत्—सोऽतिच्छन्दसमभ्यक्षरत् । तदतिच्छन्द-सोऽतिच्छन्दस्त्वम् । सर्वेभ्यो वा एष छन्दोभ्यः संनिर्मितो यत् षोडशी" इत्याम्नायते । तत्र छन्दसां रसश्चतुरक्षररूपः । "चतुरक्षराण्येव च्छन्दांस्यासन्" इतिच्छन्दोव्यूहन-श्रुत्युक्तेः । तथाहि छन्दोव्यूहने तावत्—चतुरक्षरा गायत्री त्रिष्टुब् जगती च । तत्र जगत्यास्त्रीण्यक्षराणि त्रिष्टुभएकमक्षरं च समादाय गायत्री तावदष्टाक्षरा क्रियते। इत्थं कृते अष्टाक्षरा गायत्री, त्र्यक्षरा त्रिष्टुप्, एकाक्षरा जगती सिद्धा ।। अथैवं सम्पन्नरूपा गायत्री स्वयं संयुज्य त्रिष्टुभं संपादयति । सा त्रिष्टुबेकादशाक्षरा संपद्यते । एवं सम्पन्ना च त्रिष्टुप् स्वयं संयुज्य जगतीं संपादयति । सा जगती द्वादशाक्षरा संपद्यते । गायत्री त्रिष्टुप् जगती चेति त्रीण्येव छन्दांसि सर्वाणि च्छन्दांसि भवन्ति ।। गायत्र्युष्णिग-नुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्याख्यानि । तत्रानुष्टुप्पङ्क्ती उष्णिक्-त्रिष्टुभौ गायत्रीजगत्यौ चेत्येवं द्वे द्वे संयुज्य द्वे द्वे बृहत्यौ संपादयत इत्येतेषां बृहती-रूपतया बृहच्छन्दःशब्देनाख्यानम् ।। तथा च श्रूयते बृहती वै छन्दसां स्वाराज्य-मानशे इति । तदित्थं छन्दःसिद्धौ तस्यैव चतुरक्षररूपस्य रसस्य जगत्यामत्याधाने षोडशाक्षरत्वं भवति तदत्याधानादतिच्छन्द इत्युच्यते । अथ पञ्चदशीसप्तदश्यौ चतुर्दशष्टादश्यौ त्रयोदश्यूनविंश्यौ चेत्येवं द्वे द्वे संयुज्य द्वे द्वे षोडश्यौ संपादयत इत्येतेषा-मतिच्छन्दोरूपतया अतिच्छन्दःशब्देनाख्यानम् । एवमूनविंश्युत्तरं पुनश्चतुरक्षराधाने त्रयोविंशत्यक्षरं भवति । तत्र कृतिशब्दः । तत्क्रियोत्तरं तज्जातीयक्रियान्तर-संनियोगे कृतिशब्दो दृष्टो वर्गवत् । तथा चेहापि द्वाविंशीचतुर्विंश्यौ एकविंशी-पञ्चविंश्यौ विंशीषड्विंश्यौ चेत्येवं द्वे द्वे संयुज्य द्वे द्वे त्रयोविंश्यौ संपादयत इति कृतिच्छन्दोरूपतया कृतिच्छन्दःशब्देनाख्यायन्ते । तदित्थं सति कृतिच्छन्दसामति-धृतावतिच्छन्दसां च जगत्यामन्तर्भावः सुवचः। प्रचितिच्छन्दांसि तु च्छन्दःसमुच्चय-रूपाणीति नातिरिच्यन्ते । अथानादिष्टच्छन्दसां गायत्र्यामन्तर्भावः । भुरिग्दैव्यां चतुरक्षरवृद्ध्या याज्युष्यास्तत्र स्वराजि चतुरक्षरवृद्ध्या साम्न्यास्तत्र स्वराजि चतुर-क्षरवृद्ध्या आर्च्यास्तत्र स्वराजि चतुरक्षरवृद्ध्या आर्ष्याः स्वरूपाधानात् । तदुक्तम्

'उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद्गायत्रीत्येव कथ्यते। यथा ह्यतिजगत्यादि त्वतिच्छन्दः प्रवर्ण्यते' इति। तथा चातिजगत्यादीनां जगत्यामुक्तादीनां तु गायत्र्यामन्तर्भावसंभवात् सप्तैव च्छन्दांसीति याज्ञिकानामभिमानः। तदिदं छन्दः पुनर्द्वेधा मात्राच्छन्दो वृत्तछन्दश्च। मात्राच्छन्दांस्युक्तानि गायत्र्यादीनि सप्तैव। तानि जातिभेदेन पृथग् व्यपदिश्यन्ते। अथ मात्राच्छन्दसां गायत्र्यादीनामेकैकेऽवान्तरविशेषा वृत्तच्छन्दांसि, तानि वृत्तिभेदेन पृथग् व्यपदिश्यन्ते। यथा मनुष्यविभाजिकाश्चतस्रो ब्राह्मणादिजातयः। एकैकब्राह्मणादिविभाजिकास्तु तत्तद्ब्राह्मणादिगता अवान्तरविशेषा वृत्तयः, इत्येवमाद्यूह्यमिति याज्ञिकानां प्राचामनुसारेण व्याख्यानम्। नव्यास्तु छान्दसिकाः पुनरन्यथान्यथा विभज्य व्याचक्षते। इति तत्सर्वं छन्दःशिक्षायामुपदर्शितं प्राक्।

॥ इति छन्दोविभक्तिवादः ॥

छन्दोलक्षणवादः

ननु गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यादयश्छन्दोविशेषा आम्नायन्ते। तत्र किन्तावदेषां गायत्र्यादीनां गायत्रीत्वादिकमित्युपतिष्ठते जिज्ञासा। न तावत् षडक्षरपादैश्चतुष्पदीत्वमष्टाक्षरपादैस्त्रिपदीत्वं वा गायत्रीत्वं संभवति। त्रिपात्त्वेन चतुष्पात्त्वेन वान्योन्यव्यभिचारात्। अथ षडक्षरपादत्वं चतुष्पाद्गायत्रीत्वमष्टाक्षरपादत्वं त्रिपाद्गायत्रीत्वमित्येवं भेदेन लक्षणं करिष्यते। दृश्यते हि त्रिपाद्गायत्र्या वेदमात्रगोचरत्वमथान्यस्याश्चतुष्पद्या लोकवेदोभयसाधारणत्वमित्यनयोर्भेदप्रतिपत्तेरिति चेन्न। गायत्रीसामान्यलक्षणस्य जिज्ञास्यत्वात्। नाप्येतदन्यतरत्वं गायत्रीत्वमित्यनेनापि निर्वाहः। पादनिचृतः सप्ताक्षरपादैस्त्रिपाद्गायत्रीत्वेन, पदपङ्क्तेः पञ्चाक्षरपादैः पञ्चपाद्गायत्रीत्वेनापि सुप्रसिद्धेः। किञ्च—षडक्षरकेतरपादाभावसमानाधिकरणं षडक्षरपादत्वं लक्षणमपेक्ष्यते, आहोस्वित् षडक्षरपादसम्बन्धमात्रम्। नाद्यः—अतिनिचृत्, प्रतिष्ठा, ह्रसीयसी, वर्द्धमानोष्णिगगर्भादीनां गायत्रीत्वानापत्तेः। नान्त्यः—'एकादशिनोः परः षट्कस्तनुशिराः' 'मध्ये चेत् पिपीलिकमध्येति' कात्यायनसूत्राभ्यामुष्णिक्त्वेन प्रतिपन्नयोरपि तनुशिरःपिपीलिकमध्ययोर्गायत्रीत्त्वापत्तेः। तस्मात् पादव्यवस्थाया अव्यवस्थितत्वान्न पादव्यवस्थाघटितं लक्षणं व्यवतिष्ठते इति स्थितम्॥ अस्तु तर्हि चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वं गायत्रीछन्दस्त्वमिति चेत्तदपि न। नवा एकेनाक्षरेण च्छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्यामिति श्रुतिप्रामाण्यसिद्धानां निचृद्भुरिगादीनां गायत्रीविशेषाणां चतुर्विंशत्यक्षरानवच्छिन्नतया गायत्रीत्वानापत्तेः। ननु 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ' 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' 'पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेदिति सूत्रोपदिष्टया व्यूहमर्य्यादया चतुर्विंशत्यक्षरकत्वं सेत्स्यतीति चेत् सत्यम्। एवमपि प्राजापत्यासुरीदैव्यादीनां गायत्रीविशेषाणां गायत्रीत्वासिद्धिस्तदवस्था स्यात्। तत्र व्यूहमर्य्यादयापि चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वासिद्धेः। न च चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वमार्षीगायत्रीछन्दस्त्वमथाष्टारावच्छिन्नत्वं प्राजापत्यागायत्रीत्वं पञ्चदशाक्षरावच्छिन्नत्वमासुरीगायत्रीत्वमित्येवमष्टानामपि गायत्रीविधानां प्रातिस्विकलक्षणानि भविष्यन्तीति वाच्यम्॥ चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वादीनां विभाजकतावच्छेदकत्वसिद्धावपि विभाज्यतावच्छेदकस्य गायत्रीत्त्वस्याद्ययावदसिद्धया तासामष्टानामपि विधानां गायत्रीविभाजकत्त्वासिद्धेः। छन्दस्त्वात्मकविभाज्यतावच्छेदकप्रसिद्धावपि विभाजकतावच्छेदकधर्म्माप्रसिद्धया सप्तच्छन्दांसीति सर्ववेदप्रसिद्धविभागानुपपत्तेश्च। तस्मादवश्यं गायत्रीसामान्यलक्षणं किञ्चिदपेक्षणीयमिति चेद्, अस्त्वेवम्—सर्वच्छन्दःकनिष्ठच्छन्दस्त्वं गायत्रीत्वमित्येवं तावदभिसंधास्यामः। गायत्रीपुरोगमानि हि चतुरुत्तराणि सर्वाणि च्छन्दांसि भवन्ति। तत्र गायत्र्याः सर्वच्छन्दोपेक्षया स्वल्पाक्षरघटितत्त्वात्कनिष्ठत्वं शक्यं वक्तुम्। नन्वेवंसत्यनादिष्टच्छन्दसामुक्तात्युक्तामध्या-

प्रतिष्ठासुप्रतिष्ठानां सर्वच्छन्दोपेक्षया स्वल्पाक्षरत्वाद् गायत्रीत्वमतिप्रसज्येत। वेदे गायत्र्यादीनामेव च्छन्दसां सुप्रसिद्धेस्तेषां छन्दस्त्वमेव नास्तीति तु नापाद्यम्। ताण्ड्यश्रुतौ—"चतुरुत्तरैरेव च्छन्दोभिरेतव्यमित्युक्त्वा एकां गायत्रीमेकाहमुपेयुरेकामुष्णिहमेकाहमेकामनुष्टुभमेकाहं, बृहत्या पञ्चमासम् ईयुः, पङ्क्तिमेकाहमुपेयुः, त्रिष्टुभा षष्ठं मासमीयुः, श्वो विषुवान् भवितेति जगतीमुपेयुः" इति सूत्रेण गायत्र्यादिभिरहःसाधनोक्त्या गायत्र्या अपि चतुरुत्तरछन्दस्त्वप्रतिपादनाद्विंशत्यक्षरायाः सुप्रतिष्ठायाश्छन्दस्त्वानभ्युपगमे गायत्र्याश्चतुरुत्तरत्वानुपपत्तेः। तथा च तेष्वतिप्रसक्तेर्नेदं गायत्रीलक्षणं साधीय इतिचेन्न। तत्र गायत्रीत्वस्य इष्टापत्तेः। तदुक्तं वेदार्थदीपिकायाम्।—

"उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद् गायत्रीत्येव कथ्यते।"

इति। तथा चेदं लक्षणं निर्दोषमिति चेन्न। सर्वच्छन्दःकनिष्ठच्छन्दस्त्वमित्यत्र हि कान्येतानि सर्वाणि च्छन्दांसि। किं तावद् गायत्र्युष्णिगनुष्टुबादीनि सप्त च्छन्दांसि, सप्तातिच्छन्दांसि, सप्त कृतिच्छन्दांसीत्येतावन्ति सर्वाणि च्छन्दांसि विवक्षितानि आहोस्वित् गायत्रीत्वजगतीत्वादिकमनपेक्ष्यैव मात्राक्षरसंख्यया नियता वाचो विवक्ष्यन्ते। तत्र न तावदाद्यः। आर्षीगायत्र्यपेक्षया प्राजापत्योष्णिहः स्वल्पाक्षरतया गायत्रीत्वापत्तेः। तदपेक्षयाधिकाक्षराया आर्षीगायत्र्या गायत्रीत्वानापत्तेश्च। न चार्षीभ्य उष्णिगादिभ्यः स्वल्पाक्षराया आर्षीगायत्रीत्वं प्राजापत्योष्णिगाद्यपेक्षया चाल्पाक्षरायाः प्राजापत्यागायत्रीत्वमित्येव वक्ष्यामः इति वाच्यम्। आसुरीभ्य उष्णिगादिभ्योऽनल्पाक्षराया एवासुरीगायत्रीत्वप्रसिद्ध्या तावताऽप्यनिर्वाहात्। गायत्रीत्वोष्णिक्त्वजगतीत्वादीनामिदानीं यावदसिद्ध्या तत्वेन विभागासम्भवादुष्णिगाद्यपेक्षया अल्पाक्षरत्वस्य गायत्रीपदार्थताच्छेदकत्वानुपपत्तेश्च॥ नाप्यन्त्यः। उक्ताया दैवीगायत्र्या वा गायत्रीत्वसिद्धावप्यन्यासां गायत्रीत्वानापत्तेः।. तस्मान्नेदं गायत्रीसामान्यलक्षणमिति चेदस्तु तर्हि गायत्रीपदेन याज्ञिकानां प्रसिद्धिरेव गायत्रीत्वम्। नैवम्—ज्ञानस्यैव प्रसिद्धिपदार्थत्वाद् गायत्रीपदप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव गायत्रीत्वमेतेनोक्तं भवति। तच्चायुक्तम्—गायत्रीपदनिष्ठसंकेतसंबन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितयाज्ञिकज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकत्वाप्रसिद्धौ तादृशविशेष्यताया उष्णिगादिष्वव्यावर्त्तमानतया तेषामपि सर्वेषा गायत्रीत्वातिप्रसक्तेः। तस्मात् यदवच्छेदेन गायत्रीपदप्रसिद्धिः सोऽतिरिक्तः कश्चन धर्म्मो वक्तव्य इति चेदस्तु तर्हि गायत्रीत्वमखण्डोपाधिः तदवच्छेदेनैव गायत्रीपदप्रसिद्धिरप्यास्तामिति चेत्तुच्छमेतत्। लोकप्रतीतपदार्थके हि विषये पदार्थतावच्छेदकस्याखण्डोपाधित्वेन कथंचिदभ्युपगमेऽपि साध्यधर्माणामखण्डोपाधित्वस्वीकारस्याप्रामाणिकत्वात्। तस्मादसिद्धं खलु गायत्रीत्वमिति चेदुच्यते—चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वं गायत्रीत्वमित्येव सिद्धान्तः पक्षः॥

यस्तु निचृद्भुरिगादिषु दर्शितो व्यभिचारः स तावदयुक्तः। एकेनाक्षरेण द्वाभ्यां वा न्यूनाधिकताया गायत्रीविकृतिप्रयोजकतया सत्यामपि तस्यां विकृतौ प्रकृतिलक्षणव्याघातासंभवात्। न हि कस्यचिदन्धत्वदोषेण सता प्राणिनश्चक्षुष्मत्वलक्षणं

व्याहन्यते। न वा लाङ्गूलच्छेदाद्विषाणभ्रंशाद्वा सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणित्व-रूपं गोलक्षणमलक्षणं भवति। तस्मात्सिद्धं चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वमेव गायत्रीत्वम्। अथ यदपि—प्राजापत्यासुरीदैव्यादिषु व्यभिचारदर्शनान्नेदं लक्षणमित्याख्यातं तदप्यत एव प्रत्याख्यातं भवति। तासामप्यार्षीविकृतिरूपत्वानतिरेकात्। तथाहि—

यद्गायत्रे अधिगायत्रमाहितं, त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥१॥

इति मन्त्राम्नानादेकस्मिन् छन्दसि छन्दोऽन्तराधानप्रतिपत्त्या तस्यामेवार्षी-गायत्र्यां चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नायामेकाक्षरावच्छेदेन दैवीत्वं पंचदशाक्षरावच्छेदेनासु-रीत्वमथाष्टाक्षरावच्छेदेन प्राजापत्यात्वमित्येवं विभागभेदात् त्रैविध्योपचारः। गायत्री-विभागजत्वाच्चैतासु गायत्रीशब्दो भाक्तः। अथ पादश्छंन्दसां द्विविधो भवति। विरतिसिद्धो विभागसिद्धश्च। आद्यो न्यूनाधिकाक्षरत्वेऽपि दृश्यते। परस्तु चतुर्थां-शात्मकः। तत्र चतुर्विंशत्यक्षरनियताया गायत्र्या विभागजैकपादहानावाच्यास्ता-दृशपादद्वयहानौ साम्न्याः पादत्रयहानौ याजुष्याः पादद्वयाधिक्ये तु ब्राह्मया व्यस्था-पनात्तासामप्यार्षीविकृतिरूपत्वावसायात्। तस्मान्न्यूनाधिकाक्षरत्वसंभवेऽपि सिद्धं चतुर्विंशत्यवयवघटितत्वं गायत्रीसामान्यलक्षणम्। एतेनोष्णिगादयोऽपि व्याख्याता इति दिक्॥

इति छन्दोलक्षणवादः।

अथ समासवादः

अत्र विप्रतिपत्तिः। एके तावत्—प्रस्तारसिद्धे स्वरूपे चत्वारो भागा भवन्ति प्रतिभागं वा यत्र तत्र यतिव्यवस्थाप्यनुवर्तते गतिसापेक्षा इतीच्छन्ति ।१। अन्येतु प्रस्तारसिद्धेषु स्वरूपेषु गतिसम्पन्नानां केषांचित्सजातीयचतुर्व्यूहः समवृत्तं भवति। सजातीयद्विसमुच्चयोऽर्द्धसमं भवति। अथैकमेव प्रस्तारसिद्धं स्वरूपं चतुर्भागावकल्पनया चतुष्पाद् भवतीति तद्विषमं वृत्तमितीत्थं समासासमासाभ्यां छन्दोभेदाः प्रकल्पन्ते इतीच्छन्ति ।।२।। परे पुनः सजातीयचतुर्व्यूहः समवृत्तं, विजातीयचतुर्व्यूहो विषमवृत्तमथ विजातीयद्विसमुच्चयो द्विः प्रयुक्तोऽर्द्धसमवृत्तं स्यादिति सर्वत्र समासेनैव छन्दःसिद्धिमिच्छन्ति ।३। अपरे तु न खलु पादव्यवस्था छन्दःसिद्धौ तन्त्रं किन्तर्हि सिद्धे छन्दसि यथेच्छं पादाः प्रकल्प्यन्ते। तत्र चतुर्थांशस्य पादत्वमिति लोकप्रसिद्धिमनुरुन्धानाः केवलं सर्वेष्वेव श्लोकेषु चतुरश्चतुर एव पादान् प्रकल्प्य तत्तल्लक्षणानुरोधेन समार्द्धसमविषमवृत्तत्वं व्यवस्थापयन्ति ।। अत एव श्लोकनिष्ठांश्चतुरोऽवष्टम्भानेवोपसमाधाय तदितरांस्तथैवानुभूयमानानपि पादव्यवस्थाप्रयोजकत्वेन नापेक्षन्ते सोऽयमेषां केषांचिच्छान्दसिकानां सामयिकोऽर्थः स्यात्।

वस्तुतस्तु संस्कृते पैङ्गले द्विदलतया सिद्धेष्वार्य्यादिमात्रावृत्तेषु यथैव द्वादशमात्रासु ततोऽष्टादशमात्रासु ततः पुनरेव द्वादशमात्रासु ततः खलु पञ्चदशमात्रासु यथेच्छं चतुरः पादान् प्रकल्प्य चतुःपदीत्वमार्य्याया व्यवस्थापितं प्राकृते पैङ्गले। यथा वा द्विदलायामपि दोधायामवष्टम्भानुरोधेन त्रयोदशैकादशमात्रयोः पादत्वं प्रकल्प्य चतुष्पदीत्वमिच्छन्ति तथैव शार्दूलविक्रीडितादीनामष्टपदीत्वं स्रग्धरादीनां द्वादशपदीत्वं त्रिभङ्ग्यादीनां षोडशपदीत्वमित्येवमवष्टम्भानुरोधेन यथायथं पादव्यवस्था द्रष्टव्या।। न खलु चतुर्थांशः पाद इति युज्यते वक्तुं छन्दोवेदे। वर्णमात्रयोर्न्यूनातिरेकेऽपि तद्व्यवहारदर्शनात्। किन्तर्हि पदमिति? विश्रामःपदं भवति। पदात्तु प्रतिपन्नः श्लोकखण्डः पाद इति वक्तव्यम्। अत एवैतेषु विश्रामपदेषु कस्यचिदेकस्यैव गतिस्वाभाव्यादितरविश्रामपदापेक्षयाऽधिकमात्रत्वेनानुभवात्, तत्र सन्ध्यादिविध्यवरोधाच्च सर्वेषामेव श्लोकानां द्विदलत्वं प्रतिपत्तुं युज्यते इत्यन्यदेतत्। एवं स्थिते यान्येतानि श्लोकखण्डान्याख्यातानि तेषामेकैकप्रस्तारस्वरूपत्वं पार्थक्येन प्रतिपत्तव्यम्। तथा च सप्ताक्षरकप्रस्तारसम्बन्धिनां सप्तदशचतुष्षष्टितमोनविंशानां स्वरूपाणां समासेन स्रग्धराच्छन्दःसिद्धिः। द्वादशाक्षरप्रस्तारसम्बन्धिनोऽष्टादशशतोत्तरैकाशीतितमस्वरूपस्य तथा सप्ताक्षरप्रस्तारसंबन्धिनः सप्तत्रिंशस्वरूपस्य च समासेन शार्दूलविक्रीडितसिद्धिः। इत्येवमेकैकप्रस्तारस्वरूपाणां पदत्वात्तत्समासेन तानि तानि च्छन्दांसि सम्पद्यन्ते इति द्रष्टव्यम्।।

अथ ब्रूयात्—मसयोर्जसयोरपि षडक्षरप्रस्तारस्वरूपविशेषतया पदत्वसंभवात्तयोरपि समासेन शार्दूलविक्रीडितभागसिद्धिः कस्मान्नाख्यायते इति। तत्रेदं वक्तव्यं यथा हि सङ्कटकशब्दे संघशब्दटकशब्दयोर्य्यथाकञ्चित्पदत्वसम्भवेपि कुतश्चित्कारणान्न तयोः समासेन सङ्कटकशब्दसिद्धिं मन्यन्ते वैयकरणाः, एवमिहापि स नेष्यते इति सन्तुष्यताम्। यथा वा शकारद्विवचनेन—"उदकम्पश्श्यति"—इति यत्र प्रयुज्यते तत्र उदकमिति पश्यतीत्येवमेकः पदच्छेदः, जलं निरीक्षते इत्यर्थात् ।१। अथ—उदकम्प इति श्यतीत्येवमन्यः पदच्छेदः जलकम्पनं तनूकरोतीत्यर्थात् ।२। एवमुदिति अकमिति पश्यतीति चान्यः पदच्छेदः, उपरिष्टाद्दुःखमालोचयतीत्यर्थात् ।३। तथा उइति-दकमिति-पशीति-अतीति चापरः पदच्छेदः। पश्शब्दप्रतिपाद्ये ह्रदाद्यर्थेऽतिशयेन जलं वितर्क्यते इत्यर्थात् ।४। इत्थमनेकधा सम्भवेऽपि स्वरविशेषात्पदविभागमध्यवस्यन्ति प्रेक्षावन्तस्तथेहापि गतिविशेषात्पदविभागाध्यवसायः क्रियते। यत्रैव काचिद्गतिः समाप्नोति तत्रावश्यमवष्टम्भो भवति। अनवष्टम्भे गतिरनुवर्त्तते इति तन्मध्ये प्रस्तारविशेषानुगतस्वरूपसम्भवमात्रेण नानेकपदत्वप्रतिपत्तिर्युज्यते। यथाहि उद इति-उदकमिति-दकमिति कमिति एतेषां समानार्थकपदत्वसंभवेपि नोदकशब्दे उदशब्दस्य दकशब्दस्य कशब्दस्य वा पदत्वं प्रतिपद्यन्ते इत्यवधारणीयम्॥

सचायं समासः पञ्चधा—नित्यसमासः १, विकल्पसमासः २, संकीर्णसमासः ३, प्रकीर्णसमासः ४, उपपदसमासश्च ५। तत्र समानप्रस्तारानुगतनियतस्वरूपाणामाम्रेडिते नित्यः। यथा वसन्ततिलकाचरणयोर्नित्यसमस्वरूपयोर्द्विरुक्तिः। यत्र तु समानप्रस्तारानुगतानियतस्वरूपाणां समुच्चयः तत्र विकल्पः। यथा पथ्यावक्त्रचरणयोरष्टाक्षरयोरपि भिन्नसंस्थानयोरभिनिवेशः। यदि तु विभिन्नप्रस्तारानुगतनियतस्वरूपाणां समुच्चयः तदा सङ्कीर्णः। यथा पुष्पिताग्राचरणयोर्द्वादशाक्षरत्रयोदशाक्षरप्रस्तारानुगतस्वरूपविशेषयोः समुच्चयः। यदि पुनर्विभिन्नप्रस्तारानुगतानियतस्वरूपाणां समुच्चयस्तदा प्रकीर्णः। यथा दोधाचरणोस्त्रयोदशैकादशमात्राप्रस्तारानुगतानियतस्वरूपाणां मध्ये यथेच्छमेकैकस्य सन्निवेशेन संसिद्धिः॥ अथ सोयमुपपदसमासो यत्र पदभेदेऽप्यखण्डपदवत् प्रतिपत्तिः। यथा उदकशब्दे उदिति निपातस्याश्वतिवृत्तेन समुच्चयेऽप्यखण्डवदुपचारः। यथा वा समुद्रशब्दे न निर्णीयते सशब्दमुद्राशब्दसमुच्चयो वा ।१। समुन्निपातयोर्द्रवतिवृत्तेन समुच्चयो वा ।२। समितिनिपातस्य जलार्थकोदशब्दस्य रातिवृत्तेन समुच्चयो वा ।३। समितिनिपातस्य उनत्तिवृत्तेन समुच्चयो वेति ।४। संज्ञाशब्दोऽयमखण्डवत् प्रतिपन्नः। अभिप्रायविशेषात्तु तं तं पदविभागमन्वाचक्षते नैरुक्ताः। एवमिहापि यथार्य्याजातौ षष्ठडकारादिभूतलकारादुत्तरस्य कलात्रयस्य नखान्यतररूपतयाभिनेतव्यस्य निपातरूपत्वाद्विभिन्नपदत्वमेवाधिगम्यते। अथाप्यखण्डवदुपचारः। एवमेवान्यत्रान्यत्रापि द्रष्टव्यम्॥

अथ प्रकारान्तरेणायं समासो द्वेधा—पादखण्डः पदखण्डश्च यत्र॥ समासारम्भकपदयोः पूर्वोत्तरपादत्वं तत्र पादखण्डः। अन्यत्र पदखण्डः। स चायं विवक्षाधीनः। तेन भक्षभक्षसमासत्य पादखण्डत्वेऽक्षरपङ्क्तिः सम्पद्यते, पदखण्डत्वे तु चम्पकमाला

स्यात् । तत्र पादखण्डः समासान्तरेण गर्भितश्चागर्भितश्च भवति । पदखण्डस्त्वगर्भित एव । अथ नित्यविकल्पाद्यन्यतमसमासेन समस्तयोर्द्वयोः प्रयोगादेकः श्लोको भवति । तदिदं मन्दंमन्दमित्यादिवत् द्विरुक्तिर्न समासः । अथ वैदिकानां तु समस्तैकदेशद्विरुक्त्याऽपि छन्दःसिद्धिः द्विर्वचनाभावेन समासाभावेन च । यथा त्रिपदा द्विपदा एकपदा ऋक् ।।

इति समासवादः ।।

छन्दोवादः

ननु किमिदं वाक्छन्द इति जिज्ञासायां गतियत्यध्वपरिच्छित्त्यतिरेकेण छन्दःस्वरूपं निरूप्यते तन्नावकल्पते । गतियत्यध्वपरिच्छित्तिच्छन्दसामनर्थान्तरत्वात् । न च वृत्तिर्लयो ध्वनिरिति गतेस्त्रयो भेदाः'—अवसायो विच्छेदो विरतिर्यतिरणुयतिरिति यतेः पञ्चभेदाः, लिप्यध्वपरिच्छित्तिर्गत्यध्वपरिच्छित्तिरित्यध्वयोगस्य द्वौ भेदौ, वर्णच्छन्दो गणच्छन्दो मात्राच्छन्दश्चेति छन्दसस्त्रयो भेदाः, इतीत्थमेषां चतुर्णां नितान्तवैषम्यं प्रतिपद्यते इति वाच्यम् । आपाततस्तेषां भेदकल्पनायामपि वस्तुतः स्वरूपानतिरेकात् । तथाहि—गतित्रैविध्ये वृत्तिध्वन्योर्वर्णवेदीयपदार्थत्वाच्छन्दसश्च वर्णोपलक्षितत्त्वेऽपि वर्णानात्मकत्वात्तत्र यद्यपि वृत्तिध्वन्योरप्रवेशः प्रतिपद्यते । अथाप्येष लयः खलु यतितारतम्यनिबन्धनो न यतेरतिरिच्यते । अयमेव तु लयो गत्यध्वपरिच्छित्तिरिति शब्दान्तरेणाप्याख्यायते । तयोर्विवेकानुपलम्भात् । मसजसततगेषु हि वर्णैरभिनीयमानेषूच्चारयितुरुच्चारणसामञ्जस्यमनुभूयते । जसयोः स्थाने तभयोः संनिवेशे त्ववश्यमुच्चारणक्लिष्टता भवति । तत्र चायं द्वितीयः सगणोऽवष्टम्भी विष्टम्भमजानताप्यभिनीयमानः स्वयमुपतिष्ठते । तदिदमवष्टम्भित्वं केन रूपेण द्वादशाक्षरत्वेन वा, शार्दूलविक्रीडितसम्बन्धित्वेन वा, सत्त्वेन वा, गणतुरीयत्वविशिष्टसत्त्वेन वा, मगणोत्तरत्वविशिष्टसगणोत्तरत्वविशिष्टजगणोत्तरत्वविशिष्टसत्त्वेन वा । नाद्यः मरभनययये षु नगणघटकस्य द्वादशाक्षरत्वेऽप्यवष्टम्भानपेक्षणात् । न द्वितीयः । तत्र मगणजगणादीनां विष्टिम्भनिरपेक्षत्वात् । न तृतीयः तत्रैव द्वितीयसगणस्यानवष्टम्भित्वात् । न तुरीयः-सजससगेषु तुरीयस्यापि तस्य तदनपेक्षणात् । तस्मात् मसजोत्तरसगणघटकत्वेनैव रूपेण तस्य द्वादशाक्षरस्यावष्टम्भित्वं वाच्यम् । तथा च मस्य सगणाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वेनावस्थानं, सस्य मगणोत्तरवृतित्वजगणपूर्ववर्त्तित्वाभ्यां, जस्य च सगणद्वयमध्यवर्त्तित्वेन, सस्य पुनर्जगणोत्तरवर्त्तित्वतगणप्राग्वर्त्तित्वाभ्यां चेत्येवमवस्थानक्रम एवाध्वपरिच्छित्तिः स्यात् । ततः क्रमात् प्रच्यवमानानां तेषामुच्चारणे क्लिष्टतानुभवात् । अथेत्थं पौर्वापर्य्येणोच्चारणमेवैषां लयगतिविशेषः स्यात्—निर्दिष्टरीत्या तेनैव रूपेणावष्टम्भसापेक्षत्वात् । अवष्टम्भापेक्षाप्रयोजकत्वाप्रयोजकत्वाभ्यामेव च लयगतिप्रत्यवमर्शात् । तदिदं पौर्वापर्य्यं च मसजसानां प्रत्येकस्य क्रमिकावस्थानलक्षणान्नातिरिच्यते । इति लयगतेरनतिरिक्ताध्वपरिच्छित्तिः । यतश्च मसजोत्तरसघटकत्वेन यतिमत्त्वं दृश्यते, ततो यतिमत्त्वव्याप्यतया मसजोत्तरसघटकत्वरूपाया लयगतेरध्वपरिच्छित्तेर्वा यद्यप्यर्थान्तरत्वमापाततः प्रतिभाति ।

अथाप्यवष्टम्भप्रयोजकत्वाप्रयोजकत्वोपलक्षितपौर्वापर्य्यस्यैव गतिरूपत्वप्रतिपत्त्या अन्वयव्यतिरेकाभ्यामस्यावष्टम्भस्य गतिस्वरूपसम्पादकतया गतिग्रहणे

तद्ग्रहणसम्भवः। तस्मादासां गतियतिपरिच्छित्तीनां नैकान्ततोऽर्थान्तरत्वमुपलभामहे इति सिद्धमासामैकार्थ्यम् ।। एवमेवावष्टम्भप्रयोजकत्वाप्रयोजकत्वोपलक्षित-पौर्वापर्येणावस्थितानां मसजादिगणानामेव छन्दस्त्वादस्य छन्दसो यद्यप्यर्थान्तरत्वमा-पाततः प्रतिभाति। अथापि स राजा संवृत्तः स पाचको जातः स नेदानीं कुण्डली न दण्डीत्यादिषु विधिनिषेधयोर्विशष्य व्यपदिष्टयोरपि विशेषणमात्रविश्रान्तिवदिहापि लाघवान्मसजादिगणसमवेतस्य तत्पौर्वापर्य्यस्यैव छन्दस्त्वसिद्धया छन्दसो गतियतिप-रिच्छित्यनतिरिक्तत्त्वं फलतीत्यलं छन्दसोऽर्थान्तरत्वपरिष्कारेणेति चेद्—

अत्रोच्यते—मसजोत्तरसगणचरमावयवोत्तरत्वावच्छेदेन ततगाव्यवहितपूर्वत्वा-वच्छेदेन च वर्तमानतयाऽवष्टम्भस्तावन्नगतिर्नचाध्वपरिच्छित्तिर्न वा छन्दः। गत्यादीनामवष्टम्भवद्देशविशेषे नियतत्वाभावात्। अथ गतिस्तावन्नावष्टम्भः—अवष्टम्भप्रयोजकत्वोपलक्षितपौर्वापर्य्यस्य गतिरूपतया तस्य गतिस्वरूपसंपादकत्वेऽपि तत्त्वासम्भवात्। न चाध्वपरिच्छित्तिः—गतेर्हि स्वमार्गात् प्रच्यवमानायाः क्लिष्टत्वं कुरूपत्वमनुभूयते, यतश्च तस्याः सौकर्य्यं सौन्दर्य्यं वा सिद्धयति साध्वपरिच्छित्ति-रिति गत्यवयवसन्निवेशविशेषरूपायास्तस्या गतित्वासम्भवात्। यथा स्थूलत्वकृशत्व-साम्येनानुच्चावचशीर्षपादादिसाम्येन दिक्साम्येन च वर्णादिलिपीनां सौन्दर्य्यं वाचन-सौकर्य्यं चानुभूयते। तदभावेन च बालकादिलिपीनां कुरूपत्वं वाचनक्लिष्टत्वं च। तथा च तत्र लिप्यध्वपरिच्छित्तेर्लिप्यतिरिक्तत्ववदिहापि गत्यध्वपरिच्छित्तेर्गत्यतिरिक्तत्वं सुवचमिति द्रष्टव्यम्। न वा छन्दः—विलक्षणगणपौर्वापर्य्यनिबन्धनायां गतौ मात्रा-व्यवस्थानिबन्धनच्छन्दस्त्वासंभवात्। अथेयमध्वपरिच्छित्तिर्नावष्टम्भो नवा गतिः विशेषस्य संसाधितत्वात्। न वा छन्दः—गत्यवयवसंनिवेशविशेषरूपायामध्वपरि-च्छित्तौ मात्राव्यवस्थानिबन्धनच्छन्दस्त्वस्याप्यसंप्राप्तेः। अत एव चेदं छन्दो गतियतिपरिच्छित्तिभ्योऽतिरिच्य प्रतिपद्यते इतीत्थमेषामर्थान्तरत्वं संसिद्धम्। अत एव—न वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्वादित्येवं पूर्वपक्षीकृत्य 'न लक्षणस्य पृथक्त्वादिति' समाहितं वामनेन काव्यालङ्कारसूत्रेषु। यत्तु केचिदन्येषा-मर्थान्तरत्वेऽपि च्छन्दोगत्योरैकार्थ्यमेवाभ्युपगच्छन्ति, तदसत्। गतेश्छन्दोर्धमिकत्व-संभवेऽपि च्छन्दस्त्वासंभवादित्यलम् इति च्छन्दसोऽर्थान्तरतावादः।

।। इति छन्दोवादः ।।

वैदिकान्यत्ववादः

ननु वैदिकलौकिकभेदाच्छन्दसां द्वैविध्यमुपदिशन्ति । तत्र न ज्ञायते । किन्निबन्धनोऽयमतिरेक इति । वेदे तावत्सप्त च्छन्दांसि सप्तातिच्छन्दांसि सप्त कृतिच्छन्दांसि चोपदिश्यन्ते तान्येव पुनर्लौकिका अप्युपजीवन्ति । यद्यपि प्राकृतपिङ्गलोक्तविधया मात्राछन्दांसि वेदे नोपदिश्यन्त इति सिद्धमेषां लौकिकत्वमथापि वेदोपदिष्टानां लोकेऽप्यनुवर्त्तनाल्लोकातिरेकेण वैदिकं न पश्यामः । उच्यते । त्रिविधः खल्वपि छन्दोविभागः प्रयोगभेदात् प्रतिपद्यते । मात्राछन्दः, अक्षरच्छन्दः, क्रमच्छन्दश्चेति । यत्र मात्रासमष्टिसंख्या न च्यवते अथाक्षरसंख्या गुरुलघुसंनिवेशक्रमश्च पर्य्यायेषु त्रिलक्षणतामेति तत्र मात्राणां प्रगृह्यतया मात्राछन्दोव्यवहारः । यथौपच्छन्दसिकादिषु यथा वा शिखामालादिषु ।। अथ यत्राक्षरसमष्टिसंख्या न च्यवते मात्रासंख्या गुरुलघुसंनिवेशक्रमश्च पर्य्यायेषु विलक्षणतामेति तत्राक्षराणां प्रगृह्यतयाऽक्षरच्छन्दोव्यवहारः । यथा न्यङ्कुसारिणी-विष्टारबृहती-विष्टारपङ्क्त्यादिषु ।। एवं यत्र क्रमस्यैव प्रगृह्यतया गुरुलघुसंनिवेशो नियतपौर्वापर्य्यकस्तत्र सर्वेष्वेव पर्य्यायेषु नाक्षरसंख्या च्यवते नापि वा मात्रासंख्या, तस्यैतस्य क्रमच्छन्दस्त्वं भवति यथा सिंहोद्धता-मन्दाक्रान्ता-शार्दूलविक्रीडितादिषु ।। तदित्थं भूयसातिरेकेण सिद्धेऽपि त्रैविध्ये मात्राछन्दोभिर्वैदिकव्यवहारादर्शनाल्लोके च भूयसा व्यवहारात्तेषां लौकिकत्वोपचारः ।। अक्षरच्छन्दोभिश्च लौकिकानामनुपचाराद्यज्ञे वेदे चानुपदं प्रातिस्विकभावेन तदुपयोगात्तेषां वैदिकत्वोपचारः ।। अथ क्रमच्छन्दसां नियतस्थानावस्थितगुरुलघ्वक्षरनिबन्धनतया अक्षरच्छन्दस्त्वानतिरेकाल्लोके तथैव चिरादुपचाराच्च वैदिकसाधर्म्याद्वैदिकत्वमथ मात्राछन्दोवल्लोकमात्रे तत्प्रयोगदर्शनाल्लौकिकसाधर्म्याल्लौकिकत्वमित्येवमेषामुभयसाधारणत्वं पश्यन्ति समीक्षादक्षाः ।। अत एव पिङ्गलादिप्रोक्तेषु च्छन्दोविचित्यादिग्रन्थेषु वैदिकच्छन्दोऽनुदर्शनतया प्रतिपन्नेषु शुद्धवैदिकच्छन्दोऽनुशासनानन्तरमथार्वाचीनप्रोक्तेषु छन्दोभाषाप्राकृतपैङ्गलादिग्रन्थेषु लौकिकच्छन्दोऽनुदर्शनतया प्रतिपन्नेषु शुद्धलौकिकच्छन्दोऽनुशासनानन्तरमुभयत्रापि क्रमच्छन्दसामनुविधानमुपलभ्यते । इति द्रष्टव्यम् ।।

यद्यप्यत्र मात्राच्छन्दांस्यौपच्छन्दसिकादीनि, मात्रागणच्छन्दांस्यार्य्यादीनि, अक्षरच्छन्दांसि न्यङ्कुसारिण्यादीनि, तथाक्षरगणच्छन्दांसि सिंहोद्धतादीनीत्येवं चतुर्धा विभाजयितुमुचितं तथैव तत्प्रतिपत्तेः । तथापि प्रकृते वैदिकत्व-लौकिकत्व-साधारणत्व-विवेकप्रसङ्गे तदवच्छेदकतया अक्षरच्छन्दस्त्व-मात्राच्छन्दस्त्व-क्रमच्छन्दस्त्वधर्म्माणां विवक्षणादित्थं विभाग इत्यवधेयम् ।।

नवेतावता प्रयोगसंप्रदायस्थितिरेवानुरुध्यते आहोस्वित् वैदिकसमाख्याबलाद्विध्यन्तरमुपस्थाप्यते एषां वेदे एव प्रयोगः कर्त्तव्यो नतु लोकेऽपीति । यद्यच्यते वेदमात्रे

प्रयोगोपलब्ध्या वैदिकत्वमेषामनूद्यते यदि वा वैदिकसमाख्यया लोके प्रयोगप्राप्तिः प्रतिविधीयते ।

उभयथाऽपि नोपपद्यते । वैदिकाक्षरच्छन्दःप्रतिपन्नानामनुष्टुब्विशेषाणां पथ्यावक्त्रविपुलादीनां वेदापेक्षयापि लोके बहुलोपचारस्य दृश्यमानत्वात् । इतरेषां च त्रिष्टुब्-जगती-भेदानां रामायणमहाभारतभागवतादिषु प्रायेण प्रयुज्यमानत्वात् । तस्मान्मात्राच्छन्दःक्रमच्छन्दसोरेकान्तलौकिकत्वेऽक्षरच्छन्दसस्तु लोकवेदोभयसाधारणत्वे संसिद्धेऽपि शुद्धवैदिकविषयता सर्वथा दूरपरास्तैव । अत्रोच्यते-पुराणेतिहासादिषु तावत्प्रबन्धवाचकानां पवित्रतासम्पत्त्युद्देशेन वैदिकच्छायावर्त्तिष्णुभिर्मुनिभिः शाखान्तरप्रसिद्धाः मन्त्रविशेषा एवानूद्यानूद्य पठिता इति नानुवादे लौकिकत्वं प्रसज्ज्यते । अनुष्टुब्विशेषाणां तु पथ्यावक्त्रविपुलादीनां वैदिकत्वेऽपि विषमत्वसमत्वार्द्धसमत्वात्मकभेदत्रयविभक्तेषूभयसाधारणत्वेन प्रतिपन्नेषु च्छन्दोजातेष्वन्तर्भावाल्लौकिकोपचारो न विरुध्यते । तस्मादुभयथापीदमुपपद्यते—वेदमात्रे प्रयोगोपलब्ध्या वैदिकानां वैदिकत्वमिहानूद्यते वैदिकसमाख्यया लोके प्रयोगप्राप्तिश्च तेषां प्रतिविधीयते इति ।। नन्वेवमुभयसाधारणानां त्रेधा प्रतिपत्तौ पथ्यावक्त्रवदितरेषामपि शुद्धवैदिकत्वेनाभिप्रेतानां गायत्र्यादीनां विषमत्वेनोपसंग्रहाल्लौकिकत्वप्रसक्तिरिति चेन्मैवम् । छन्दोव्याकृतिग्रन्थे—

"तत्रादौ विषमं व्याख्यास्यामः । स चतुर्द्धा-वक्त्रं पदचतुरूर्ध्वमुद्गतिकोपस्थितप्रचुपितं च ।" इति सूत्राभ्यां परिगणनस्य वक्ष्यमाणतया तदितरेषां विषमाणामुभयसाधारणत्वनिराकरणात् । तस्मात् परिगणितातिरिक्तानां विषमाणां वेदमात्रे प्रयोगोपलब्ध्या सिद्धमेकान्तवैदिकत्वमिति निष्कर्षः ।।

।। इति वैदिकान्यत्ववादः ।।

———

छन्दःपदवादः

अथातः पदप्रतिपत्तौ जिज्ञासा समुपतिष्ठते—किं तावत् प्रस्तारसिद्धस्वरूपेषु पदत्वेनाभ्युपगतेषु द्वयोश्चतुर्णां वा सजातीयानां विजातीयानां वा समवायेन छन्दः-सिद्धिरस्ति, किं वा प्रस्तारसिद्धस्वरूपे छन्दस्त्वेनाभ्युपगते विच्छेदविरतियत्यपेक्षं पदविशेषव्यवस्थानमस्तीति ।। कुत एतत् उभयथा ह्यत्र प्राचां व्यवहारा उपलभ्यन्ते लौकिकास्तावत्—विषमार्द्धसमसमत्वेनाभ्युपगतेषु वृत्तेषु विजातीयानां सजातीयानां वा विरतिमत्पदानां द्विर्वाकेन चतुर्वाकेन वा छन्दःसिद्धिं मन्यन्ते, यतिमत्पदानां तु विजातीयानां समुच्चयेन छन्दःसिद्धिं नाभ्युपगच्छन्ति । तत्रेयं विप्रतिपत्तिः—यदि द्विदले विच्छेदवत्पदस्य द्विर्वाकेन चतुष्पद्यां विरतिमत्पदस्य चतुर्वाकेन वा छन्दः साध्यते तर्त्हि यतिमत्पदस्य षड्वाकेनाष्टवाकेन वा कस्माच्छन्दःसिद्धिरपोह्यते । यदितूपदेशलाघवायाधिगमसौकर्य्याय वा विरतिमत्पदे यतिव्यवस्थाऽपेक्ष्यते तर्त्हि वरमस्मिन् छन्दस्येव विच्छेदविरतियतिभेदानपेक्षं यतयः प्रकल्प्यन्तामलमर्द्ध-जरतीयाभ्युपगमेन ।।

अथ वैदिकाः पुनश्चतुरुत्तराणि च्छन्दांस्यभ्युपगच्छन्तश्चतुर्विंशत्यक्षरादिकाया वाचो गायत्रीत्वादिकमभिख्यापयन्तश्छन्दस्येव विच्छेदविरतियतिभेदानपेक्षं यतिव्यवस्थया पदसिद्धिं मन्यन्ते । अन्तरेणापि तु यतिं पदव्यवस्थामास्थाय छन्दः-स्वरूदसिद्धिं प्रतिजानते । तत्रेयं विप्रतिपत्तिः—

"सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः ।
सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः ।।

"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि
प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ।।"

इत्यनयोर्माध्यन्दिनाभ्युपगतयोर्जगत्यनुष्टुभोर्विच्छेदो दृश्यते विरतिर्नास्ति । "सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्म्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" इत्यस्यां माध्यन्दिनीयानामार्ष्यां निचृदनुष्टुभि न विच्छेदो न विरतिः ।

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।१।।

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षतः ।
श्येनं पतत्रिणं सिंहं सेमं पात्वंहसः ।।१।।

इत्यनयोरार्ष्योर्निचृदनुष्टुबुष्णिहोरव्यवस्थिते विच्छेदविरती दृश्येते ।

ततो नु खलु विज्ञायते सर्वत्रैव छन्दःसिद्धौ विच्छेदविरत्यपेक्षा नास्तीति ।।
अथ पुनः—

"क्षत्रस्य योनिरसि, क्षत्रस्य नाभिरसि, मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः", इत्यत्र विराड्गायत्रीत्वमस्वीकृत्य द्विपदां विराजमभ्युपगच्छन्ति । ततः खलु सर्वत्रैव च्छन्दः-सिद्धौ विच्छेदापेक्षा लभ्यते ।।

अथानुष्टुभः सर्वच्छन्दस्त्वं प्रतिपादयितुं मैत्रायणीयानामाम्नायते—

"अनुष्टुभो वा एतस्याः सत्यास्त्रीण्यष्टाक्षराणि पदानि—एकं सप्ता-क्षरम् । यत् सप्ताक्षरं तस्य चत्वार्य्यक्षराणि एकस्मिन् पदे उपयन्ति त्रीण्येकस्मिन् । यत्र चत्वार्य्युपयन्ति सा जगती । यत्र त्रीणि सा त्रिष्टुप् । यदष्टाक्षरं तेन गायत्री । यदनुष्टुप्—तेनानुष्टुप् । सर्वैरे-वास्य छन्दोभिर्हुतं भवति । छन्दःप्रतिष्ठानो वै यज्ञः । छन्दःसु वा वास्यैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयामः" । इति

८ । ८ । ८ । ७

८ । ८ । ८
० । ३ । ४

८ । ११ । १२

इत्येवमाचक्षाणेन गायत्र्यादीनां पादव्यवस्थानिर्भरत्वसमाख्यानात् सर्वत्र छन्दः-सिद्धौ विरतेरप्यपेक्षाऽस्तीत्युपगम्यते ।। तदित्थमसमञ्जसमेतत् । यत्तु ब्रूयात् नास्त्यसामञ्जस्यम् । उभयथाऽप्युपपत्तेः । इदं तावत् ब्रूमः—अस्त्येव सर्वत्र नियमेन छान्दसिकविच्छेदविरतिप्रक्लृप्तिरिति । सवितुस्त्वेत्यादौ सुमित्रियेत्यादौ चार्थिक-पदानुपलम्भेऽपि छान्दसिकपदस्याक्षरगणनासिद्धस्यापलापायोग्यत्वात् । यत्र त्वक्षर-गणना न समाप्नोति तत्रापि "क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेद्"—इति कात्याय-नोक्तदिशा उच्चारणसौकर्य्यानुकूल्येन व्यूहनाद् गणना द्रष्टव्या । यथा—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु धारय ।।
रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम् ।।

इत्यादौ हिकारेकारस्य ह्यकाराकारस्य वा अविद्यमानवद्भावादष्टाक्षरत्वम् ।।
तथा—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।१।।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।२।।

इत्यादौ भावियमित्येवं वह इत्येवं च वर्णाभ्युच्चयेनोच्चारणादष्टाक्षरत्वम् ।। तदित्थं वैदिकानां व्यवहारे पादपूरणानुरोधेन व्यूहः यवहस्वराणामितरवर्णसमभिव्यारानुकूल्यप्रातिकूल्यतारतम्यसापेक्षमभ्युच्चयेनाविद्यमानवद्भावेन वेति छान्दसी परिभाषा द्रष्टव्या ।। इत्थं व्यूहोऽपि सिद्धो वेदपुरुषाणामुच्चारणे, सिद्धान्वाख्यानं च शास्त्रं न शक्नोति चिरन्तनव्यवहारसिद्धमर्थमपलपितुम् । अत एव पृथ्वीशब्दस्य पृथिवीपृथवीरूपाभ्यामुच्चारितस्यापि दृश्यते विधायकं वैयाकरणवचनम् । यत्र तु न दृश्यते विधिवचनं, सोऽयमन्वाख्यापकदोषो भवति न तु व्यवहर्तृणामाद्यानां स्वतन्त्राचार्य्याणां नापि वा चिराद् व्यवह्रियमाणस्यार्थस्येति दिक् ।। अथान्यथा ब्रूमः—

नास्त्येव सर्वत्र नियमेनार्थिकविच्छेदविरतिप्रक्लृप्तिरिति । अनुष्टुभः सर्वच्छन्दस्त्वोपपादकमैत्रायणीयश्रुतौ यजुर्मन्त्राणामनुक्रमणिकोक्तच्छन्दोव्यवहारे चानपेक्ष्यैवार्थिकं पदं छन्दःस्वरूपोपपादनात् । तस्मादुपपन्नो वैदिकव्यवहार इति चेत्तन्न । छन्दःस्वरूपसिद्धौ सर्वथैवार्थानपेक्षायां छन्दःसाङ्कर्य्यप्रसक्तेः—

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या
यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी
रायस्पोषेण समिषा मदेम ।
इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः
ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः ।।

इत्यस्यां सप्तत्यक्षरायां विराड्रूपायां ब्राह्मीजगत्यामेकादशाक्षरैश्चतुर्भिरार्ष्यास्त्रिष्टुभस्त्रयोदशाक्षराभ्यां चासुर्य्योरनुष्टुभोरपि संभवात् । उपलक्षणमेतत् । द्वादशाक्षराभ्यामेकादशाक्षराभ्यां च षट्चत्वारिंशदक्षराया विराडार्षीजगतीत्वेऽभ्युपगते चतुर्विंशत्यक्षरावशेषादार्षीगायत्रीत्वसंसिद्धेः । न च देवतादितश्चेत्याद्यनुशासनादिष्टसिद्धिः । ब्राह्मीजगत्यामार्षीजगतीत्वादिना साङ्कर्य्यस्येदानीमप्यनिरोधात् । तस्माद् गतिसिद्धमार्थिकं विरतिमत्पदमनुरुध्यैव तत्तच्छन्दोऽवयवभूतानां पदानां पादाख्यानां व्यवस्था शक्या प्रतिपत्तुमतस्तदवस्थमसामञ्जस्यम् ।

अत्रोच्यते लौकिकच्छन्दसि तावद्गतिस्तन्त्रम् । गतिबलापतिता हि यतिर्गत्यनुगमानुरोधादेव पञ्चधा स्वरूपं धत्ते । अयतिः, यतिः, विरतिः, विच्छेदः, अवसायश्चेति । तत्र यावता पुनरावृत्तिः प्रायेण तत्रैव विरतेर्दृश्यमानतया तदनुरोधाद् द्विदलत्वं चतुष्पदत्वं षट्पदत्वं वा व्यवस्थाप्यते । अत एव तत्र नियता पादानुरोधिनी छन्दःसिद्धिः । पादत्वं च पुनरावर्त्तमानत्वे सन्ति विरतिमत्पदत्वम् ।। यतिमत्पदस्यावृत्तेर्विरत्यन्तरिततया विरतिमत्पदेतरतया च नैतस्य पादत्वमभ्युपगच्छन्ति । अर्द्धसमविषमादौ तु पादव्यवहारो रजकाय वस्त्रं ददातीत्यादौ दानव्यवहारवद्भाक्तः । पुनरावर्त्तमानत्वाभावेपि विरतिमत्पदत्वानुवर्त्तनात्तत्वोपपत्तेः । अतो नास्ति लौकिकानामनुपपत्तिः ।।

अथ वैदिकच्छन्दसि—

अश्विभ्यां प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम् ।
वैश्वदेव्यं सरस्वत्या तृतीयमाप्तं सवनम् ।।१।।

इत्येवमनुष्टुबादौ गत्यभावेऽपि च्छन्दःसिद्धिदर्शनादक्षरगणनैव तन्त्रं न गतिः । अत एत गतिबलापतितायाः पञ्चविधाया यतेरपि नैवापेक्षा । दैविकार्थविज्ञानसापेक्षं हि वैदिकानां प्रवृत्तेस्तत्र देवस्वरूपसिद्ध्युपयुक्ताक्षरगणनापेक्षौचित्त्येऽपि श्रुतिरञ्जनोपयुक्ताया गतेरनुपयोगात् । तस्मादप्रसक्ते गतियती नार्थ्येते, प्रसक्ते तु ते न निवार्य्येते । पादव्यवस्था तु यत्यनपेक्षायामपि नूनमपेक्ष्यते ।

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

इत्यादिभिर्देवेश्वपि पादव्यवस्थाया दृश्यमानत्वात् । तत्र च पादश्छन्दसो भक्तिविशेषः, स च स्थलभेदेन संपूर्णं छन्द एव वा द्वितीयस्तृतीयश्चतुर्थः पञ्चमादिको वा यथाविवक्षमपेक्ष्यते ।। तदनुरोधेनैव गायत्र्यादीनामेकपदी द्विपदी त्रिपदीत्यादिभिः शङ्कुमती-ककुम्मती-यवमध्या-भुरिगादिभेदैश्चानेकधात्वसंसाधनात् । तथा च नास्त्येव वैदिकानामप्यनुपपत्तिरिति भाव्यम् ।।

।। इति छन्दःपदवादः ।।

यतिदोषवादः

ननु विभक्तिकृतानां पदानां विभक्तेः प्राक् क्रियमाणाया यतेर्दुष्टत्वमन्वाख्यायते तन्नावकल्पते दुष्टत्वहेत्वलाभात् । तत्तच्छन्दोवृत्ते नियतस्थानेष्वेव हि यतिमन्वाचक्षते छान्दसिकाः । स्थाननियमश्च वर्णमात्रान्यतरनिबन्धनो न तु विभक्तिपौर्वापर्य्य-निबन्धनः सम्भवति । विभक्त्यादीनां वैयाकरणपदार्थत्वेन छन्दःशरीरे तदप्रवेशेन च छन्दःस्वरूपसिद्धौ तदनपेक्षणात् । ऊनविंशत्यक्षरपादे शार्दूलविक्रीडिते द्वादशाक्षरस्य यतिमत्वमन्वाख्यायते । तदिदं यदि त्रयोदशाक्षरे कृतं स्यात्तर्हि युक्तो वक्तुं दोषः । द्वादशाक्षरे तु कृतया यत्या छन्दःस्वरूपसम्पादने विभक्तिपूर्वत्वमप्रयोजकमप्रति-बन्धकं चेति । न च व्याकरणानुसारेणाप्ययं दोषः संभवति । तत्र विभक्तेः प्राग्यति-करणप्रतिषेधाननुशासनात् । नापि व्युत्पत्तिशास्त्रानुमतोऽयं दोषः । तत्र पदयोः स्वप्रयोज्यपदार्थोपस्थित्यव्यवहितोत्तरजायमानशाब्दबुद्धौ यद्यप्याकाङ्क्षायोग्यता-दिवदासत्तेः कारणत्वमन्वाख्यायते, यतिश्चासत्तिप्रतिबन्धिनी, तथापि तावता शाब्दबोधप्रतिबन्धः स्यान्न च्छन्दसः स्वरूपहानिः । तत्र यतेरिष्टत्वात् । अथवा नेयं यतिरासत्तिविरोधिनी—एतावद्विलम्बेऽप्यर्थावबोधप्रतिबाधादर्शनात् । इतरथा कुत्रापि यतिमता वृत्तेनार्थावगतिर्न स्यादासत्तिप्रतिबाधात् ।। अत एव परम-संनिकर्षात्मकसंहितानिबन्धनं सन्धिकार्य्यमपि न विरुध्यते । तस्मादस्त्येव नामविभक्त्यात्मकयोः पदयोर्यत्यवरुद्धयोरप्यासत्तिरर्थबोधोपयोगिनीति न व्युत्पत्ति-शास्त्रविरोधः ।। अथाप्रयुक्तिदोषदुष्टत्वं स्यादिति चेत्तदपि न ।

> यस्मात् क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भे-
> ऽहङ्कारोऽभूत् खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च ।।
> ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद् विरिञ्चे-
> र्विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्म तत्तत्त्वमाद्यम् ।।१।।

इत्यादिष्वभियुक्तकर्तृकप्रयुक्तिविषयतादर्शनात् । तस्माद्विभक्तिकृतपदे यति-प्रतिषेधो निर्म्मूल इति चेदत्रोच्यते ।

इह हि छन्दोवृत्तजाते मात्रावर्णान्यतरनियतस्थाने यतिः कर्त्तव्या इत्येको विधिः । सा च यतिर्नाम विभक्तिमध्यवर्त्तिनी यथा स्यात्तथा विभक्तिकृतपदं न प्रयोज्य-मित्यपरो विधिः । तत्र छन्दःस्वरूपं स्वाभिव्यञ्जकवर्णपरम्परामात्रसापेक्षं यद्यपि तत्तद्वर्णसमष्टेरर्थं नापेक्षते इति पूर्वेणैव विधिना छन्दःसिद्धिः कृतार्था भवति । तथापि सार्थकपदविन्यासेन छन्दःस्वरूपं सम्पिपादयिषून् प्रत्ययमपरो विधिरुपतिष्ठते यत्यवरुद्धं विभक्तिकृतपदं न प्रयोज्यमिति । अयं भावः । पदं द्विविधं यतिकृतमर्थ-कृतं च । तदुभयविधमेवानवच्छिन्नवर्णपरम्परासापेक्षमित्यवश्यं यतियोग्यस्थाने वि विभक्तिकृतपदप्रयोगे विप्रतिषेधः प्राप्नोति ।।

अर्थानुरोधिनी हि पदयतिर्विभक्त्यन्ते स्थानं लभते इत्यवश्यं विभक्तेः प्रागनवच्छेदमपेक्षते। अथ च्छन्दोऽनुरोधिनी पदयतिस्तत्र विभक्तेः प्रागेव स्थानं लभते इत्यवश्यं विभक्तिविभक्तिमतोरनवच्छेदं प्रतिषेधति। तत्रेदं द्वैधमिव स्यात्—अर्थगतिमनपेक्षमाणो हि प्रयोजयिता छन्दःस्वरूपमात्रदिदर्शयिषया प्रवर्तमानोऽवश्यं छान्दसयतिप्राधान्याद् विभक्तेः प्रागेव च्छन्दोनियताक्षरे यतिमासादयेदित्यर्थमपेक्षमाणस्य श्रोतुरमनोरञ्जनं स्यात् ॥१॥

अथार्थबुबोधयिषयैव प्रवर्तमानस्तु नूनमर्थानुरोधेनैव छन्दोवृत्तं प्रयोजयन्नार्थिकयतिप्राधान्याद् विभक्त्यन्ते यतिमासादयेदिति च्छन्दोयाथात्म्यमपेक्षमाणस्य श्रोतुरमनोरञ्जनं स्यात् ॥२॥

सेयमनवक्लृप्तिरतः स्थाने कृतं विभक्तिकृतपदे यतिप्रतिषेधशास्त्रमिति दिक्।

इति यतिदोषवादः

एवमेवान्येऽपि वादा यथायथमुत्थाप्य पर्य्यालोचनीयाः॥

इति जल्पकल्पप्रकरणम्॥

।। अथ छन्दोव्याकरणम् ।।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।।१।।

काश्यपं क्रौष्टुकिं यास्कं रात—माण्डव्य—सैतवान् ।
ताण्डिनं पिङ्गलं छन्दोवेदाचार्य्यान् स्मराम्यहम् ।।२।।

वेद एव प्रयुक्तानां दृष्टानां लोकवेदयोः ।
लोक एव च गीतानां व्याकृतिश्छन्दसामिह ।।३।।

शुद्धं वैदिकमादौ स्यान्मध्ये साधारणं ततः ।
शुद्धं लौकिकमित्येवं परिच्छेदा इह त्रयः ।।४।।

वैदिकं चाथ विषमं सममर्द्धसमं ततः ।
मात्राजातिश्च पञ्चैते परिच्छेदाः क्रमादिह ।।५।।

(वैदिकपरिच्छेदः)

देवाधीनं जगत्सर्वं देवाश्छन्दोऽनुरोधिनः ।
तस्माच्छन्दांसि दिव्यानि तानि तानि विभावयेत् ।।६।।

तत्र तावद् वेदमात्रप्रसिद्धं छन्दो व्याख्यायते । तच्च त्रेधा । छन्दःसप्तकमतिच्छन्दःसप्तकं कृतिच्छन्दःसप्तकं च । तत्र गायत्री; उष्णिग्; अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्तिः, त्रिष्टुप्, जगती, चेति सप्तच्छन्दांसि भवन्ति । तान्यष्टधा आर्षी—आर्ची—साम्नी—याजुषी—ब्राह्मी—प्राजापत्या—दैवी—आसुरी—चेति—।। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री ततः क्रमेण चतुरक्षरवर्द्धिता उष्णिगनुष्टुब्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुब्जगत्य आर्ष्यः (१) आर्षीणामेकैकतुरीयांशापचये त्वार्च्यो द्विद्वितुरीयांशापचये साम्न्यस्त्रित्रितुरीयांशापचये याजुष्यः स्युः (२) आर्ची-साम्नी-याजुषी-समष्टचा ब्राह्म्यः (३) आर्षीभ्यः प्रत्येकं षोडशापनये प्राजापत्याः स्युः (४) षोडशसु चैक—द्वि—त्रि—चतुः—पञ्च—षट्—सप्ताक्षराः क्रमेण दैव्यस्ततोऽवशिष्टाः क्रमेणासुर्य्यः (५) तथा च दैव्यासुरीप्राजापत्यानां समष्टचा ता आर्ष्यः ।।६।।

छन्दश्चक्रम्

	दैवी	आसुरी	प्राजापत्या	आर्षी	आर्ची	साम्नी	याजुषी	ब्राह्मी
गायत्री	१	१५	८	२४	१८	१२	६	३६
उष्णिग्	२	१४	१२	२८	२१	१४	७	४२
अनुष्टुप्	३	१३	१६	३२	२४	१६	८	४८
बृहती	४	१२	२०	३६	२७	१८	९	५४
पङ्क्तिः	५	११	२४	४०	३०	२०	१०	६०
त्रिष्टुप्	६	१०	२८	४४	३३	२२	११	६६
जगती	७	९	३२	४८	३६	२४	१२	७२

अथ पादव्यवस्था

तत्र तावद् गायत्री विराट् त्रिष्टुप् जगती चेति चत्वारि वेदे सर्वच्छन्दांसि परिभाष्यन्तेऽनुष्टुप् च ।। अविशेषोक्तावष्टाक्षरा गायत्र्या दशाक्षरा विराज एकादशाक्षरास्त्रिष्टुभो द्वादशाक्षरा जगत्याः पादाः । अत एव द्वादशैकादशदशाक्षराः पादाः क्रमेण जागतत्रैष्टुभवैराजसंज्ञा भवन्ति ।। नवकाष्टकसप्तकानामपि बार्हत-गायत्रौष्णिहसंज्ञा आहुरेके । ईदृशैः पादैरेकपद्यो द्विपद्यस्त्रिपद्यश्चतुष्पद्यो वा गायत्र्यादयः स्युः ।।

अथैषां सप्तानामपि च्छन्दसां पादव्यवस्थाभेदात् प्रत्येकमनेकभेदा भवन्ति । तद्यथा गायत्र्या नवभेदाः—गायत्री, पदपङ्क्तिः, उष्णिग्गर्भा, पादनिचृत्, अतिनिचृत्, यवमध्या, वर्द्धमाना, प्रतिष्ठा, ह्रसीयसी—इति ।। उष्णिहोऽष्टौ भेदाः—उष्णिक्, पुरउष्णिक्, ककुप्, ककुब्न्यङ्कुशिराः, तनुशिराः, पिपीलिकमध्या, अनुष्टुब्गर्भा, उष्णिक्, इति ।। अनुष्टुभः सप्त भेदाः—अनुष्टुप्, महापदपङ्क्तिः, कृतिः, पिपीलिकमध्या, काविराट्, नष्टरूपा, विराट्—इति ।। बृहत्या नव भेदाः—बृहती, पुरस्ताद्बृहती, न्यङ्कुसारिणी, उपरिष्टाद्बृहती, विष्टारबृहती, ऊर्ध्वबृहती, पिपीलिकमध्या, विषमपदा, बृहती, इति । पङ्क्तेरष्टौ भेदाः—पङ्क्तिः, विराट्,सतो-बृहती, विपरीता, प्रस्तारपङ्क्तिः,विष्टारपङ्क्तिः, आस्तारपङ्क्तिः, संस्तारपङ्क्तिः, इति ।। त्रिष्टुभो दश भेदाः—त्रिष्टुप्, अभिसारिणी, विराट्स्थाना, विराट्रूपा,

पुरस्ताज्ज्योतिः,मध्येज्योतिः, उपरिष्टाज्ज्योतिः, महाबृहती, यवमध्या, पङ्क्त्युत्तरा इति ।। जगत्यास्त्रयो भेदाः—जगती, महासतोबृहती, महापङ्क्तिः, इति ।। इत्थमेषां सप्तानामपि छन्दसां चतुःपञ्चाशद्भेदाः सर्वानुक्रमण्यामुक्ताः । एतेऽपि सर्वे प्रत्येकं चतुर्विधाः—एकेनाक्षरेण न्यूना अधिका वा । तथा द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूना अधिका वा । तदित्थं षोड़शाधिकं द्विशतं छन्दसां द्रष्टव्यम् । अन्ये तु न्यूनाधिकमप्यत्र मन्यन्ते । तत्रादौ गायत्रीभेदाः—गायत्रीपादैः षडक्षरैश्चतुष्पादष्टाक्षरैस्त्रिपाच्च, सप्ताक्षरैस्त्रिपात् पादनिचृत्, षडष्टसप्ताक्षरपादा तद्विपरीता चातिपादनिचृत्, षट्कगर्भौ तु सप्तकावतिनिचृत्, वैराजगर्भौ तु सप्तकौ यवमध्या ।।२।। षट्सप्ताष्टाक्षरपादा वर्द्धमाना, तद्विपरीता प्रतिष्ठा ।।३।। षण्नवनवाक्षरपादा वाराही, तद्विपरीता नागी ।।४।। षट्षण्नवाक्षरपादा पथ्या, षण्नवषडक्षरपादा न्यङ्कुसारिणीत्येके ।।५।। षट्सप्तैकादशाक्षरपादा तूष्णिग्गर्भा गायत्री, । षट्कौ सप्तकश्चेति ह्रसीयसी, द्वादशाष्टाक्षरौ पादौ द्विपाद्विराडेकादशाक्षरैस्त्रिभिः पादैस्त्रिपाद्विराडिति ।।६।। षडक्षरपादोत्तराश्चत्वारः पञ्चाक्षरपादाः पदपङ्क्तिः, पञ्चाक्षरपादत्रयादूर्ध्वं चतुष्कषट्कौ वा ।।

अत्रोल्लिखितैरङ्कैः पादाक्षरसंख्या द्रष्टव्याः

छन्दोभेदसंज्ञाः			गायत्रीभेदाः १४			छन्दोऽक्षराणि
गायत्री चतुपात्	६	६	६	६	०	२४
गायत्री त्रिपात्	८	८	८	०	०	२४
यवमध्या	७	१०	७	०	०	२४
पादनिचृत्	७	७	७	०	०	२१
अतिनिचृत्	७	६	७	०	०	२०
अतिपादनिचृत्	६	८	७	०	०	२१
” ”	७	८	६	०	०	२१
वर्द्धमाना	६	७	८	०	०	२१
प्रतिष्ठा	८	७	६	०	०	२१

वाराही	६	९	९	०	०	२४
नागी	९	९	६	०	०	२४
पथ्या	६	६	९	०	०	२१
न्यङ्कुसारिणी	६	९	६	०	०	२१
उष्णिग्गर्भा	६	७	११	०	०	२४
ह्रसीयसी	६	६	७	०	०	१९
द्विपाद्विराट्	८	१२	०	०	०	२०
द्विपाद् विराट्	१२	८	०	०	०	२०
त्रिपाद्विराट्	११	११	११	०	०	३३
पद पङ्क्तिः	५	५	५	५	६	२६
,,	५	५	५	४	६	२५

अथोष्णिग्भेदाः । सप्ताक्षराश्चत्वारः पादा उष्णिक् (१) द्वयोः पादयोरष्टाक्षरयोरन्यो द्वादशाक्षरः पादः प्रथमश्चेत् पुरउष्णिक्, मध्यमश्चेत् ककुप्, चरमश्चेत् परोष्णिक् त्रिपदा (२) त्रैष्टुभजागतचतुष्काः ककुब्न्यङ्कुशिराः । षट्कस्त्रैष्टुभयोरुत्तरस्तनुशिराः, मध्यः पिपीलिकमध्या, पञ्चकाद्यास्त्रयोऽष्टका अनुष्टुब्गर्भा ।।

उष्णिग्भेदाख्याः	१ पादाक्ष.	२ पादाक्ष.	३ पादाक्ष.	४ पादाक्ष.	छन्दोऽक्ष.
उष्णिक्	७	७	७	७	२८
पुरउष्णिक्	१२	८	८	०	२८
ककुप्	८	१२	८	०	२८
परोष्णिक्	८	८	१२	०	२८
ककुब्न्यङ्कुशिराः	११	१२	४	०	२७

तनुशिराः	११	११	६	०	२८
पिपीलिकमध्या	११	६	११	०	२८
अनुष्टुब्गर्भा	५	८	८	८	२९

अथानुष्टुब्भेदाः ।। अष्टाक्षराश्चत्वारः पादा अनुष्टुप् (१) द्वादशाक्षरौ द्वौ पादावेकोऽष्टाक्षरः चरमश्चेत् कृतिः । मध्यमश्चेत् पिपीलिकमध्या प्रथमश्चेदनुष्टुप् ह्रस्वमुखी (२) नवकयोर्मध्ये जागतः काविराट् (३) नवकवैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपा (४) दशकास्त्रयो विराडेकादशका वा (५) षट्कोत्तराः पञ्च पञ्चका महापदपङ्क्तिः ।।६।।

अनुष्टुब्भेदाख्याः	१ पादाक्ष.	२ पादाक्ष.	३ पादाक्ष.	४ पादाक्ष.	५ पादाक्ष.	६ पादाक्ष.	छन्दोऽक्षराणि
अनुष्टुप्	८	८	८	८	०	०	३२
अनुष्टुप् ह्रस्वमुखी	८	१२	१२	०	०	०	३२
अनुष्टुप् पिपीलिकमध्या	१२	८	१२	०	०	०	३२
अनुष्टुप् कृतिः	१२	१२	८	०	०	०	३२
काविराट्	९	१२	९	०	०	०	३०
नष्टरूपा	९	१०	१३	०	०	०	३२
विराट्	१०	१०	१०	०	०	०	३०
,,	११	११	११	०	०	०	३३
महापदपङ्क्तिः	५	५	५	५	५	६	३१

अथ बृहतीभेदाः । नवाक्षराश्चत्वारः पादा बृहती (१) त्रिषु पादेष्वष्टाक्षरेष्वन्यो द्वादशाक्षरः प्रथमश्चेन् पुरस्ताद्बृहती, द्वितीयश्चेदुरोबृहती, तृतीयश्चेत् पथ्याबृहती, चतुर्थश्चेदुपरिष्टाद्बृहती (२) उरोबृहती स्कन्धोग्रीवी न्यङ्कुसारिणीत्यनर्थान्तरम् (३) द्वौ दशाक्षरौ द्वौ पुनरष्टाक्षरौ बृहती, अष्टकयोर्मध्ये दशकौ

विष्टारबृहती (४) द्वादशाक्षरास्त्रयः पादा महाबृहती वा सतो बृहतो वोर्ध्वा बृहती वा (५) त्रयोदशिनोर्मध्येऽष्टकः पिपीलिकमध्या (६) नवकाष्टकैकादशाष्टिनो विषमपदा (७)

बृहतीभेदाख्याः	१ पादाक्षराणि	२ पादाक्षराणि	३ पादाक्षराणि	४ पादाक्षराणि	छन्दोऽक्षराणि
बृहती	९	९	९	९	३६
पुरस्ताबृहती	१२	८	८	८	३६
उरो वृहती / स्कन्धो ग्रीवी / न्यङ्कुसारिणी	८	१२	८	८	३६
पथ्या वृहती	८	८	१२	८	३६
उपरिष्टाद्बृहती	८	८	८	१२	३६
बृहती	१०	१०	८	८	३६
विष्टारबृहती	८	१०	१०	८	३६
महाबृहती / ऊर्ध्वाबृहती / सतो बृहती	१२	१२	१२	०	३६
पिपीलिकमध्या	१३	८	१३	०	३४
विषमपदा	९	८	११	८	३६

अथ पङ्क्तिभेदाः—दशाक्षराश्चत्वारः पादा विराट् (१) दशाक्षरा विराडेकपदा (१) विंशत्यक्षरा दशाक्षरपादा विराड् द्विपदा (२) त्रिंशदक्षरा दशाक्षरपादा विराट् त्रिपदा (३) एकादशाक्षरपादापि विराट् त्रिपदा (४) चत्वारिंशदक्षरा दशाक्षरपादा विराट् चतुष्पदा (५) चतुष्पद्याद्वयोरष्टाक्षरयोरन्यौ द्वौ द्वादशाक्षरौ प्रथमौ चेत्प्रस्तारो मध्यमौ चेत् विष्टारश्चरमौ चेदास्तारः प्रथमचरमौ चेत् संस्तारो वियुग्मौ चेत्सतः

पङ्क्तिस्सतो बृहती वा, युग्मौ चेदसतः पङ्क्तिरसतो बृहती वा (२) पञ्चाक्षराश्चत्वारः पादा अक्षरपङ्क्तिर्द्वौ पादौ वा (३) पञ्चपादाः पञ्चाक्षराः पदपङ्क्तिः। प्रथमद्वितीययोश्चतुःषडक्षरत्वविशेषेऽपि। (४) अष्टाक्षराः पञ्चपादाः पथ्यापङ्क्तिः ॥५॥

पङ्क्तिभेदाख्याः	१ पादाक्षराणि	२ पादाक्षराणि	३ पादाक्षराणि	४ पादाक्षराणि	५ पादाक्षराणि	षट्पादाक्षराणि	छन्दोऽक्षराणि
विराट्	१०	१०	१०	१०	—	—	४०
एकपदाविराट्	१०	—	—	—	—	—	१०
द्विपदाविराट्	१०	१०	—	—	—	—	२०
त्रिपदाविराट्	१०	१०	१०	—	—	—	३०
चतुःपदाविराट्	१०	१०	१०	१०	—	—	४०
त्रिपदाविराट्	११	११	११	—	—	—	३३
प्रस्तारपङ्क्तिः	१२	१२	८	८	—	—	४०
विष्टारपङ्क्तिः	८	१२	१२	८	—	—	४०
आस्तारपङ्क्तिः	८	८	१२	१२	—	—	४०
संस्तारपङ्क्तिः	१२	८	८	१२	—	—	४०
सतः पङ्क्तिः / सतो बृहती वा	१२	८	१२	८	—	—	४०
असतः पङ्क्तिः / असतो बृहती वा	८	१२	८	१२	—	—	४०
अक्षरपङ्क्तिः	५ ५	५ ५	५	५	—	—	२० १०
पदपङ्क्तिः	५	५	५	५	५	०	२५
पद पङ्क्तिः	४	६	५	५	५	—	२५
पथ्या पङ्क्तिः	८	८	८	८	८	—	४०

अथ त्रिष्टुब्भेदा:-एकादशाक्षराश्चत्वारः पादास्त्रिष्टुप् (१) द्वौ तु जागतौ यस्याः सा जागते जगती त्रैष्टुभे त्रिष्टुप् (२) वैराजौ जागतौ चाभिसारिणी। नवकौ वैराजत्रैष्टुभौ च विराट्स्थाना वैराजौ नवकत्रैष्टुभौ वा। अष्टकोत्तरास्त्रयस्त्रैष्टुभा विराड्रूपा। द्वौ द्वादशाक्षरौ त्रयोऽष्टाक्षराः विराट्पङ्क्तिः, पङ्क्तिविराड्वा। चत्वारोऽष्टका जागतश्च महाबृहती। मध्यजागताश्चत्वारोऽष्टका यवमध्या। त्रिषु जागतेषु एको गायत्रः प्रथमश्चेत् पुरस्ताज्ज्योतिर्मध्यमश्चेन्मध्येज्योतिश्चरमश्चेदुपरिष्टाज्ज्योतिरिति त्रिविधा ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्।

त्रिष्टुब्भेदाख्याः	१ पादाक्ष.	२ पादाक्ष.	३ पादाक्ष.	४ पादाक्ष.	५ पादाक्ष.	छन्दोक्षराणि
त्रिष्टुप्	११	११	११	११	०	४४
त्रिष्टुप् जगती वा	११	११	१२	१२	०	४६
अभिसारिणी	१०	१०	१२	१२	०	४४
विराट्स्थाना	९	९	१०	११	०	३९
विराट्स्थाना	१०	१०	९	११	०	४०
विराड्रूपा	११	११	११	८	०	४१
विराट् पङ्क्तिः	१०	१०	८	८	८	४४
महाबृहती	८	८	८	८	१२	४४
यवमध्या	८	८	१२	८	८	४४
ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् पुरस्ताज्ज्योतिः	८	१२	१२	१२	०	४४
मध्येज्योतिः	१२	१२	८	१२	०	४४
उपरिष्टाज्ज्योतिः	१२	१२	१२	८	०	४४

अथ जगतीभेदाः। द्वादशाक्षराश्चत्वारः पादा जगती ॥१॥ षड्भिर्गायत्रैर्महापङ्क्तिरष्टकौ सप्तकः षट्को दशको नवकश्चेति वा ॥२॥ गायत्रास्त्रयो जागतौ द्वौ महासतोबृहती ॥३॥

जगतीभेदाख्याः	१ पादाक्ष.	२ पादाक्ष.	३ पादाक्ष.	४ पादाक्ष.	५ पादाक्ष.	६ पादाक्ष.	छन्दोऽक्ष.
जगती	१२	१२	१२	१२	०	०	४८
महापङ्क्तिः	८	८	८	८	८	८	४८
महापङ्क्तिः	८	८	७	६	१०	९	४८
महासतोबृहती	०	८	८	८	१२	१२	४८

अथ साधारणनियमाः-गायत्र्यादयः पञ्चाक्षरैकपादत्वे शङ्कुमत्यः षडक्षरैकपादत्वे तु ककुम्मत्यः ।।१।। मध्यपादस्याल्पाक्षरत्वे पिपीलिकामध्या बह्वक्षरत्वे तु यवमध्या ।।२।।

यथा—एकः पञ्चाक्षरः पादस्त्रयः षडक्षराः शङ्कुमती गायत्री । एकः षडक्षरः पादो द्वावष्टाक्षरौ ककुम्मती गायत्री । प्रथमतृतीयावष्टाक्षरौ द्वितीयस्त्रिचतुराक्षरः पञ्चषाक्षरो वा पिपीलिकमध्या गायत्री । प्रथमतृतीयावष्टाक्षरौ द्वितीयो नवाधिकाक्षरो यवमध्या गायत्री ।।

एकेनाक्षरेण न्यूना निचृतोऽधिका भुरिजो द्वाभ्यां तु न्यूना विराजोऽधिकाः स्वराजः ।।३।।

यथा—त्रयोविंशत्यक्षरा गायत्री निचृत्, पञ्चविंशत्यक्षरा तु भुरिक् । द्वाविंशत्यक्षरा गायत्री विराट्, षड्विंशत्यक्षरा तु स्वराट् । इत्थमेवोष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम् ।। शाङ्खायनस्तु—"एकेन द्वाभ्यामित्यूनके निचृत् । अतिरिक्ते भुरिक्"—इति सूत्रयन् विराट्स्वराजोरपि निचृद्भुरिग्भ्यामेव व्यपदेशमिच्छति ।।

विराड्रूपा विराट्स्थानाश्च बह्वूना अपि त्रिष्टुबधिकारोक्तास्त्रिष्टुभ एवेत्युद्देशः ।।४।।

विराट्स्थान-विराड्रूपयोस्त्रिष्टुप्त्वातिदेशो निचृत्पङ्क्तित्व[३८] पङ्क्तित्व[४०] भुरिक्[४१]पङ्क्तित्वप्रतिषेधार्थः । उपलक्षणमेतत् । तेन सप्तकत्रयघटितायाः पादनिचृत एकविंशत्यक्षरत्वेऽपि षट्कगर्भितसप्तकद्वयघटिताया अतिनिचृतो विंशत्यक्षरत्वेऽपि न गायत्रीत्वव्याघातः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।।

बृहती पूर्वा सतोबृहत्युत्तरा स द्व्यृचो बार्हतः प्रगाथः (१) ककुप्पूर्वा सतोबृहत्युत्तरा स द्व्यृचः काकुभः प्रगाथः (२) महाबृहती पूर्वा महासतोबृहत्युत्तरा स द्व्यृचो महाबार्हतः प्रगाथः (३) बृहतीपूर्वा विपरीतसतोबृहत्युत्तरा स द्व्यृचो विपरीतोत्तरः प्रगाथः (४) अनुष्टूप् पूर्वा गायत्र्यावुत्तरे स तृच आनुष्टुभः प्रगाथः (५)—

प्रगाथानां शस्यधर्म्माः शाङ्खायनसूत्रे सप्तमाध्याये शस्त्राधिकारेणोक्ताः, ते प्रकृतानुपयुक्तत्वादिहोपेक्ष्यन्ते इति बोध्यम् ।।

शस्त्रे गायत्र्युष्णिक् पुरउष्णिक् ककुभो विराट् च पूर्वा त्रिपदा एव । अनुष्टुब् बृहती सतोबृहती त्रिष्टुब् जगत्यो विराट् चोत्तरा चतुष्पदाएव (४) पङ्क्तेः पञ्चपादाः षट् सप्तेत्यतिच्छन्दसाम् (५) द्वौ द्विपदायाः (६) पादास्त्वासामष्टाक्षरा एव प्रायेण (७) द्वादशाक्षरास्तु सर्वे जगत्यास्तृतीयावुष्णिग्बृहत्योः, प्रथमतृतीयौ सतो बृहत्याः प्रथमः पुर उष्णिहो मध्यमः ककुभः (८) एकादशाक्षरास्त्रिष्टुब्विराजोः (९) उत्तरस्या दशाक्षरास्तामक्षरपपङ्क्तिरित्यप्याचक्षते (१०) पञ्चभिः पञ्चाक्षरैः पदपङ्क्ति (११) षडप्यष्टाक्षरा जगत्या इति (१२) ।

पादपूरणार्थं तु तत्रतत्र क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत् ।। यथा—

त्र्यम्बकं, त्रियम्बकम् । भाव्यं, भावियम् । स्पृत्वात्यतिष्ठत्, स्पृत्वा अत्यतिष्ठत् इत्यादि ।।

संपाद्यपादभागेनाहार्यस्यर्चः सम्मितास्तस्य पादभागेन संपन्ना इति शाङ्खायनः ।

यथा-बृहत्यां संपादयितव्यायां नवभिर्गायत्रीभिः षड् बृहत्यो भवन्ति ।
तथा नवभिरुष्णिग्भिः सप्त बृहत्य इत्येवमादि योज्यम् ।।

अथ षड्विंशत्यक्षरं छन्दः स्वराड्गायत्री वा स्याद् विराडुष्णिग् वा इतीत्थं सन्देहे सर्वत्र प्रथमपादान्निर्णयः कार्य्यः । प्रथमपादो गायत्रश्चेत् गायत्री, औष्णिहश्चेदुष्णिक् । इत्थं छन्दोऽन्तरेऽपि सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।।—देवतादितो वा निर्णयः कार्य्यः । अग्निर्देवता चेद् गायत्री । सविता चेदुष्णिक् । एवं सर्वत्र । तथा चेत्थं गायत्र्यादीनामक्षरदेवतागोत्रस्वरवर्णानाचक्षते ।१। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, ततः क्रमेण चतुरक्षरर्वाधिता उष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः आर्ष्यः इत्यक्षरप्रतिपत्तिः ।। अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्वरुणः इन्द्रो विश्वेदेवाः देवताः । इष्यते तु क्वचिदनुष्टुभः प्रजापतिर्विश्वेदेवा वा । पङ्क्तेर्मित्रावरुणौ मरुतो वा । जगत्या आदित्या वा । विराजो मित्रः, स्वराजो वरुणः । अतिच्छन्दसः प्रजापतिर्विच्छन्दसो वायुर्द्विपदायाः पुरुष एकपदाया ब्रह्मा । सर्वा ऋच आग्नेय्यः—सर्वाणि यजूंषि वायव्यानि, सर्वाणि सामानि सौराणि, सर्वाणि ब्राह्मणानि च । स्वाहाकारस्याग्निर्वषट्कारस्य विश्वेदेवाः इति देवताप्रतिपत्तिः (३) अथाग्निवेश्य-काश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठा गोत्राणि । कात्यायनस्तु—सर्वमाग्नेयं गायत्रं गौतमीयम् । सर्वं सावित्रमौष्णिहं भारद्वाजीयम् । सर्वं सौम्यमानुष्टुभमाथर्वणिकम् । सर्वं बार्हस्पत्यं बार्हतमाङ्गिरसम् । सर्वं वारुणं पाङ्क्तमालम्बायनीयम् । सर्वमैन्द्रं त्रैष्टुभं याज्ञवल्क्यीयम् । सर्वमादित्यदैवतं जागतं कौत्समिति माध्यन्दिनाम्नाये परिभाष्यते इति गोत्रप्रतिपतिः (४) षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः स्वरा इति स्वरप्रतिपत्तिः ५ सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः ।।

अथातिच्छन्दांसि श्यामानि, कृतिच्छन्दांसि तु रोचनाभानि इति वर्णप्रतिपत्तिः ।।६।।

तथा च प्रदर्शिनी ।

छन्दः	अङ्काः	देवताः	गोत्रः	गोत्रः	स्वरः	वर्णः
गायत्री	२४	अग्निः	आग्निवेश्यः	गौतमः	षड्जः	सितः
उष्णिक्	२८	सविता	काश्यपः	भरद्वाजः	ऋषभः	सारङ्गः
अनुष्टुप्	३२	सोमः	गौतमः	अथर्वा	गान्धारः	पिशङ्गः
बृहती	३६	बृहस्पतिः	आङ्गिरसः	आङ्गिरसः	मध्यमः	कृष्णः
पङ्क्तिः	४०	वरुणः	भार्गवः	आलंबायनः	पञ्चमः	नीलः
त्रिष्टुप्	४४	इन्द्रः	कौशिकः	याज्ञवल्क्यः	धैवतः	लोहितः
जगती	४८	विश्वेदेवाः	वासिष्ठाः	कुत्सः	निषादः	गौरः
—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—
१ अतिच्छन्दांसि	—	प्रजापतिः	—	—	—	श्यामानि
कृतयः	—	—	—	—	—	रोचनाभाः
—	—	—	—	—	—	—

जगतीशक्वर्य्यष्टिधृतयः अतिपूर्वाः सप्तातिच्छन्दांसि जगत्याः क्रमेण चतुरक्षरवर्द्धितानि (१) अतिच्छन्दसां पादव्यवस्थाऽनुक्रमण्यां श्लोकैः प्रदर्श्यते ॥—

पादा अतिजगत्यां तु त्रयो द्वादशकाः परौ ।
अष्टकौ, शक्वरीपादाः सप्तैवाष्टाक्षरास्तु ते ।१।
अतिशाक्वरपादौ द्वावादितः षोडशाक्षरौ ।
जागतोऽथाष्टकावष्टिपादाः षोडशकास्त्रयः ।२।
अष्टकौ चात्यष्टिपादौ जागतौ चाष्टकास्त्रयः ।
जागतश्चाष्टकश्चाथ धृतिपादास्तु जागतौ ।३।
पादास्त्रयोऽष्टकाश्चाथ षोडशाक्षर एव च ।
अष्टकश्चाथातिधृतौ द्वौ पादौ जागतौ ततः ।४।
त्रयोऽष्टका जागतश्च तथाष्टाक्षरकावपि ।
पूर्वसप्तकपादास्तु प्रसङ्गात् स्वयमीरिता: ।५।

अतिच्छन्दांसि										
जगती	—	—	—	—	—	—	—	—	—	४८
अतिजगती	१२	१२	१२	८	८	—	—	—	—	५२
शक्करी	८	८	८	८	८	८	८	—	—	५६
अतिशक्करी	१६	१६	१२	८	८	—	—	—	—	६०
अष्टिः	१६	१६	१६	८	८	—	—	—	—	६४
अत्यष्टिः	१२	१२	८	८	८	१२	८	—	—	६८
धृतिः	१२	१२	८	८	८	१६	८	—	—	७२
अतिधृतिः	१२	१२	८	८	८	१२	८	८	—	७६

शुद्धप्राविसमत्युत्पूर्वाः कृतयः सप्त कृतिच्छन्दांस्यतिधृतेः षट्सप्तत्यक्षरायाः क्रमेण चतुरक्षरवर्द्धितानि ॥२॥

कृतिच्छन्दांसि	
कृतिः	८०
प्रकृतिः	८४
आकृतिः	८८
विकृतिः	९२
संकृतिः	९६
अतिकृतिः	१००
उत्कृतिः	१०४
०	०

तथा च चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री चतुरधिकशताक्षरा तूत्कृतिस्तदन्तरे सर्वाणि च्छन्दांसि यतिविशेषात् संज्ञाविशेषैर्यथायथं भाव्यानि ।। ननु छन्दसामतिच्छन्दसां कृतिच्छन्दसां च सप्तकेपूपदिष्टेष्वपि चतुरक्षरकादिर्विंशत्यक्षरकान्तच्छन्दःपञ्चकस्यानुपदेशान्न्यूनतापत्तिः । तेषामपि कथंचिदुदाहरणोपलब्धेरिति चेन्न । विराट्-स्थान-विराड्रूपयोस्त्रैष्टुभत्वोद्देशन्यायेन तेषां बहूनत्वेऽपि गायत्रीत्वोपचारेण संग्रहणात् । तदुक्तं वेदार्थदीपिकायाम् ।।

उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद् गायत्रीत्येव कथ्यते ।
यथा ह्यतिजगत्यादि त्वतिच्छन्दः प्रवर्ण्यते"—इति ।।

अथ शाकल्यशाखानुसारिण्यां दाशतय्यां छन्दःसंख्यानमाह भगवान् शौनकः ।

एकपंचाशदृग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके ।
सहस्रद्वितयं चैव चत्वार्येव शतानि तु ।१।

त्रीणि शतानि सैकानि चत्वारिंशत्तथोष्णिहः ।
अनुष्टुभां शतान्यष्टौ पञ्चाशत् पञ्चसंयुता ।२।

बृहतीनां शतं ज्ञेयमेकाशीत्यधिकं बुधैः ।
शतानि त्रीणि पङ्क्तीनां द्वादशाभ्यधिकानि तु ।३।

पंचाशत् त्रिष्टुभः प्रोक्तास्तिस्रश्चैव ततोऽधिकाः ।
सहस्राण्येव चत्वारि विज्ञेयं तु शतद्वयम् ।४।

चत्वारिंशत् तथाष्टौ च तथा चापि शतत्रयम् ।
जगतीनामियं संख्या सहस्रं तु प्रकीर्तितम् ।५।

दशैवातिजगत्योऽपि तथा सप्त न संशयः ।
शक्वर्योऽपि तथैवोक्तास्तथा नव विचक्षणैः ।६।

नव चैवातिशक्वर्यः षडष्टयः प्रकीर्तिताः ।
अशीतिश्च चतस्रश्च तथात्यष्टिऋचाः स्मृताः ।७।

धृतिर्द्वयं विनिर्दिष्टमेकातिधृतिरेव च ।
एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दश सप्त च ।८।

प्रगाथा बार्हता येऽत्र तेषां शतमुदाहृतम् ।
चतुर्नवतिरेवोक्तास्तद्वद्द्वृचास्त्वसंशयः ।९।

काकुभानां तु पञ्चाशद् विज्ञेया पञ्चसंयुता ।
महाबार्हत एवैक एवं सार्द्धं शतद्वयम् ।१०।

एवं दशसहस्राणि शतानां तु चतुष्टयम् ।
ऋचां द्व्यधिकमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।११।

भगवान् लाटचायनस्त्वाह—

चतुःशत (१०४) मैन्द्रा बार्हताः प्रगाथा दशतयीषु ।१०।६।३

एकोनत्रिंशत् सातोबार्हतास्तृचाः । १०।६।६॥

तदित्थमेतानि वैदिकानि च्छन्दांस्यनुक्रान्तानि । अतः परं लौकिकानि च्छन्दांसि दर्शयितव्यानि ।

देवाधीनं जगत्सर्वं देवाश्छन्दोऽनुरोधिनः ।
तस्माच्छन्दांसि दिव्यानि तानि तानि विभावयेत् ।

इति शुद्ध-वैदिक-परिच्छेदः

तथा च प्रदर्शिनीचक्रम्

छन्दांसि	छन्दसामृक्सख्या	छन्दोऽक्षरसंख्या
गायत्र्य:	२४५१	२४
उष्णिह:	०३४१	२८
अनुष्टुभ:	०८५५	३२
बृहत्य:	०१८१	३६
पङ्क्तय:	०३१२	४०
त्रिष्टुभ:	४२५३	४४
जगत्य:	१३४८	४८

अतिजगत्य:	००१७	५२
शक्वर्य्य:	००१९	५६
अतिशक्वर्य:	०००९	६०
अष्टय:	०००६	६४
अत्यष्टय:	००८४	६८
धृतय:	०००२	७२
अतिधृतय:	०००१	७६

एकपदाः	०००६	१०
द्विपदाः	००१७	२०
बार्हताः प्रगाथाः	०१००	
द्वय्‌चाः	००९४	
काकुभाः प्रगाथाः	००५५	
महाबार्हताः	०२५१	
समष्टिः	१०४०२	

साधारणपरिच्छेदः ।

अथ वर्णमात्रोभयनियमवत् साधारणं छन्दोवृत्तमुपक्रम्यते । तत्त्रेधा समं विषम-मर्द्धसमं चेति । यस्य चत्वारः पादाः समानलक्षणाक्रान्तास्तत्समं, यस्य तु विभिन्न-लक्षणाक्रान्तास्तद्विषमम् ।। यत्र तु युग्मायुग्मपादयोर्वैरूप्येऽपि पूर्वार्द्धेनोत्तरार्द्ध-सारूप्यं तदर्द्धसमम् ।।

(२) अथातो विषमं व्याख्यास्यामः ।१। तत् पञ्चधा वक्त्रं पदचतुरूर्ध्वमु-द्गतिकमुपस्थितप्रचुपितमुपजातिसामान्यञ्च ।२। तदष्टाक्षरपादं वक्त्रं यस्य प्रथमा-क्षरादयुग्मपादे सनेतरत्रिकं युग्मे तु सनरेतरत्रिकमत ऊर्ध्वं यः सर्वत्र ।।३।। तदष्टाक्षरपादं पथ्यावक्त्रं यस्य प्रथमाक्षरादयुग्मपादे सनेतरत्रिकं यस्तदूर्ध्वं, युग्मे तु सनरेतरत्रिकं जस्तदूर्ध्वम् ।।४।। तत्र यजत्रिकयोः पादवैपरीत्येनावस्थानेऽपि पथ्याव-क्त्रमेकेषाम् ।।५।। पथ्यावक्त्रस्यायुग्मपादीयचतुर्थाक्षराद्गुरोरूर्ध्वं यस्थाने जमसभरत-नान्यतमप्रयोगे लमसभरतनलक्षिता विपुला ।।६।। पथ्या-वक्त्रपादीयचतुर्थाक्षरादूर्ध्वम-युग्मपादे नो युग्मे यश्चपला ।।७।। (१०) ।। अत्र कदाचित् समत्वार्द्धसमत्वयोरुप-लब्धावप्यौचित्याद्विषमोपदेशः ।।८।। अत एव वेदप्रयुक्तानि सर्वाण्येव च्छन्दांसि प्रायेण वक्त्रसामान्याद् वर्णावृत्तोपजातिविशेषा एव भवन्तीति बोध्यम् ।।

इति वक्त्राधिकारः ।

अष्ट - द्वादश - षोडश - विंशत्यक्षरपादमुत्तरोत्तरचतुरक्षरक्रमवर्द्धितपादत्वात् पदचतुरूर्ध्वं नाम ।१। नुक्षो नालक्षो निघक्षो निनुक्ष आपीडः (२) क्षनुः क्षनालः क्षनिघः क्षनिनुः प्रत्यापीडः ३ क्षहक्षः क्षहुक्षः क्षहाक्षः क्षहिक्षः प्रत्यापीड उभयापीडो वा ।४। पदचतुरूर्ध्वपादानां प्रथमस्याष्टाक्षरस्प द्वितीयेन विपर्य्यासे मञ्जरी, तृतीयेन विपर्य्यासे लवली, चतुर्थेन विपर्य्यासेऽमृतधारा नाम ।४। आपीडप्रत्यापीडोभयापी-डानामप्येवं मञ्जरीलवल्यमृतधाराः स्युः ।५। पदचतुरूर्ध्वापीडप्रत्यापीडानां पादविपर्य्ययप्रस्तारात् प्रत्येकस्य चतुर्विंशतिविकल्पाः संभवन्ति ।६। तत्र शोऽष्टाक्षरः षो द्वादशाक्षरः सः षोडशाक्षरो हो विंशत्यक्षर इति पादसंज्ञाः ।।

शषसह—शसषह—शहसष—शषहस—शसहष—शहषस =
षशसह—षसशह—षहसश—षशहस—षसहश—षहशस =
सषशह—सशषह—सहशष—सषहश—सशहष—सहषश =
हषसश—हशसष—हषशस—हसशष—हसषश—हशषस = इति—

इति पदचतुरूर्ध्वाधिकारः २

सजसले प्रथमे हजरे द्वितीये सजसलरे चतुर्थे तृतीयपादश्चेद् गजसुः सौरभं, गनसुरुद्गतिका, गहसुरुद्गता, घहसुर्ललितम् ।।१।।

उद्गतायाः प्रथमतृतीयपादव्यत्यासे मन्थरा ।।२।।

इत्युद्गताधिकारः ३

मसजभक्षे प्रथमे घभसजक्षे द्वितीये घहुभक्षे चतुर्थे तृतीयपादो हुगश्चेदुपस्थित-प्रचुपितं, हुगहुगश्चेद्वर्द्धमानं, गतका चेच्छुद्ध-विराड् ऋषभम् ।।१।।

इत्युपस्थितप्रचुपिताधिकारः ४

अथ चतुर्णां छन्दसां मिश्रणे एकस्य पादस्य स्थायितां कल्पयित्वा तदितरत्रयाणां पादानां स्वस्वेतरद्वाभ्यां व्यत्ययकल्पनात् प्रतिस्थायिपादं षड् विकल्पा इति तच्च-तुष्ट्वाच्चतुर्विंशतिर्विषमा भवन्ति । ते चैवं कटपयशब्दैः प्रस्तार्य्याः । इत्थं छन्दश्च-तुष्टयसंमिश्रणसिद्धेषु नानोपजातिविकल्पेष्वेवान्तर्भूता अपि पदचतुरूर्ध्वादयो विषमा ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेनादरार्थं पृथगुक्ताः ।। इदं च छन्दःसाङ्कर्य्यं वर्णच्छन्दसामिव मात्राच्छन्दसामप्युपपद्यते इत्युपजातिः पुनर्द्वेधा वर्णोपजातिर्मात्रोपजातिश्च । तत्रो-दाहरणानि यथायथमूह्यानि ।।

इत्युपजातिसामान्याधिकारः ।।५।।

अथ द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा येषां केषांचिदेव छन्दसामन्योन्यपादसम्प्रयोगे सति गतिसौकर्य्ये उपजातिर्नाम छन्द आख्यायते । सा द्वेधा—सजातीयानामने-कवृत्तानां साङ्कर्य्ये वृत्तोपजातिः । यथेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरिन्द्रवंशावंशस्थयोर्वा । विजातीयानां छन्दसां साङ्कर्य्ये तु जात्युपजातिश्छन्दउपजातिर्वा संज्ञायते । यथेन्द्रवज्रे-न्द्रवंशयोरुपेन्द्रवज्रावंशस्थयोर्वा । वृत्तोपजातौ पादाक्षरसंख्यान्यूनाधिक्याभावेऽपि तदन्तर्गलस्थानानि भिद्यन्ते । जात्युपजातौ तु पादाक्षरसंख्यापि भिद्यते इति विशेषः ।। तत्र द्वयोश्छन्दसोः पादानां मिश्रणे चतुर्द्दश विकल्पाः स्युः । चतुरक्षरप्रस्तारे षोडशविकल्पसिद्धावप्याद्यन्तयोः समानच्छन्दःपादैरेव कृतत्वात् तत्त्यागे चतुर्द्दशा-नामेवावशेषात् । तथा च प्रस्तारः ।—

क क क क	०
ट क क क	१
क ट क क	२
ट ट क क	३
क क ट क	४
ट क ट क	५
क ट ट क	६
ट ट ट क	७
क क क ट	८
ट क क ट	९
क ट क ट	१०
ट ट क ट	११

क क ट ट १२
ट क ट ट १३
क ट ट ट १४
ट ट ट ट ०

तत्र इन्द्रवज्रेन्द्रवंशयोरुपेन्द्रवज्रावंशस्थाभ्यां संमिश्रणे सिद्धाश्चतुर्दश विकल्पाः प्रसिद्धतराः प्रस्तारक्रमेणैव—"कीर्त्तिर्वाणी माला शाला हंसी मायाजाया बाला आर्द्रा भद्रा प्रेमा रामा ऋद्धिर्बुद्धिः संज्ञा एताः ।१।" इत्येवमाभिः संज्ञाभिराख्यायन्ते ।। अतएव चासामुपजातीनामाद्यक्षरभूतलगविन्यासे कृते लघुस्थिताङ्कयोगात् प्रस्तारविकल्पसंख्याविज्ञानेन संज्ञाविज्ञानं प्रसिध्यतीति बोध्यम्। एषु चतुर्दशसु द्वयोरर्द्धसमत्वाददर्द्धसमप्रकरणप्रवेशादवशिष्टा द्वादशैव विषमाः स्युः ।। एवं त्रयाणां छन्दसां मिश्रणेऽपि द्वादश विषमा भवन्ति। तथाहि सजातीयद्वयस्य समुच्चितस्य विजातीययोरादौ मध्ये चान्ते च संनिवेशाद्—विजातीयपादद्वयस्य मिथः पूर्वत्व-परत्वव्यत्यासेन द्वैविध्याच्च षड् रूपाणि। एवं सजातीयद्वयस्य विशकलितस्यादिमध्य-योर्मध्यान्तयोराद्यन्तयोश्च संनिवेशात् षड् रूपाणीत्येवं द्वादश। यथा—

क क ट प
क क प ट
ट क क प
प क क ट
ट प क क
प ट क क
क ट क प
क प क ट
ट क प क
प क ट क
क ट प क
क प ट क

(१) तत्रादौ समवृत्तमनुक्रमिष्यामः ।१। तत् पञ्चधा—अनादिष्टच्छन्दः-छन्दः—अतिच्छन्दः—कृतिच्छन्दः—दण्डकजातिच्छन्दश्चेति भेदात्। अत्र दण्डक-जातिभिन्नानां पर्य्यातकजातित्वेनेष्यते व्यवहारः ।२। उक्ताऽत्युक्तामध्याप्रतिष्ठा-सुप्रतिष्ठाः पञ्चानादिष्टच्छन्दांसि ।३। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्-जगत्य आर्ष्यः सप्त च्छन्दांसि।४। अतिजगतीशक्वर्य्यतिशक्वर्य्यष्टयत्यष्टिधृत्यतिधृतयः सप्तातिच्छन्दांसि ।५। कृतिप्रकृत्याकृतिविकृतिसंकृत्यतिकृत्युत्कृतयः सप्त कृति-च्छन्दांसि ।६। तदूर्ध्वं समजातयो दण्डकाः ।७। एषां वृत्तानि यावदुपदिष्टमनु-लक्ष्यन्ते ।८।

गः श्रीः ।१। क्षः स्त्री कामो वा। को मही, खश्चारु लता वा, घो मधु ।२। मो नारी ताली वा। यः शशी। रो मृगी प्रिया वा ।३। सतजभनाः क्रमेण रमणपञ्चाल-

मृगेन्द्रमन्दरकमलाख्याः ।४। अरिहारिराजीवबन्धुरविनोदरजोण्मनाकहिता इति जगन्नाथस्य ।५। मगः कन्या कीर्णा तीर्णा वा । नगः सती, जगो नगालिका नगाणिका वा (६) रलो वारि श्लिष्टं वा, नल आकरः ।७। उदीचां तु क्षकखघैः क्रमेण क्षात् कन्यावलानन्दालीकहितावरप्रियाः, काद् वीणारुतलोकरताः दूत्यः, खाद् विनाद-राजहिताश्लिष्टमहिताः, घान्मोहितादोलादारुणाकराः स्युः ।।८।।

भक्षः पङ्क्तिरक्षरयुक्तिर्वा वतंसो वा हंसो वा । तक्षो हारी, मक्षः सम्मोहासारः, सकः प्रिया, नघो यमकः ।

पञ्चानामित्थमाख्याताऽनादिष्टच्छन्दसामपि ।
अर्वाचामनुरोधेन वृत्ताख्यालक्षणावली ।।
इत्यनादिष्टच्छन्दोऽधिकारः ।।

अथ गायत्रीछन्दसि भाषा (६४) वृत्तानि । तत्र

(६) मुर्विद्युल्लेखा, युः सोमराजी, र्रुविज्जोहा स्रग्विणी वा, सुस्तिलका, तुर्मन्थानं, जुर्मालतिका, भुर्भद्रा, नुर्द्दमनकम् ।१। शेषा शङ्खधारी, चन्द्रस्तुला,-कोटिरुद्धत उत्तमोऽभिलाषवर्द्धन इत्येषामन्याख्याः ।२। विजोहा विक्षोभा विमोहेति वा । मसः सोमकुलं, तसो वसुमती, तयस्तनुमध्या, मयः कामलतिका, नयः शशिवदना चतुरङ्गा वा ।३।

अथोष्णिक्छन्दसि हीरक (१२८) वृत्तानि । तत्र—

(७) मुगः शीर्षा, नुगो मधुमती ।१। मसगो मदलेखा, जसगः कं नक्षं वा कु-मारललिता ।२। तभगश्चूडामणिः, सरगो हंसमाला, रजगः समानिका ।३। नसलः करहञ्चिर्नजलः सुवासकः ।४।

अथानुष्टुप्छन्दसि तोमरवृत्तानि (२५६) तत्र—

(८) मगंमगो विद्युन्माला, क्षमुर्वा मक्षमो वा मुक्षो वा विद्युन्माला ।१। भुक्षश्चित्रपदा, नुक्षस्तुरङ्गा तुङ्गा वा ।२। नभको गजगतिर्नसकः कमलम् ।३। भगंभगो माणवकं माणवकाक्रीडं वा ।४। मनक्षो हंसरुतं, तरको नाराचकम् ।५। जरकः प्रमाणिका नगरूपिणी वा ।६। रजखः समानिका मल्लिका वा ।७। कुद्वित्वे प्रमाणी, खुद्वित्वे समानी, क्षघयोर्घक्षयोः क्षकयोर्घखयोर्वा द्वित्वे वितानानि चत्वारीत्येके ।।८।।

अथ बृहतीच्छन्दसि रोपणवृत्तानि (५१२) तत्र—

(९) मा रूपामाली, रा महालक्ष्मीः ।१। नुगंक्षो भुजगशिशुयुता भुजगसृता वा, नुमो भुजगशिशुभृता, नुसः कमला ।२। मभसः पवित्रा, भमसो मणिमध्यं, भक्षंभगो मणिबन्धः ।३। नयसः सारङ्गिका, नसयो बिम्बम् ।४। सयुस्तोमरः, सजरो भुजङ्ग-सङ्गता, रजरः कामिनी ।५। रनरो भद्रिका, रंनसो हलमुखी ।६।

अथ पङ्क्तिच्छन्दसि भरनय (१०२४) वृत्तानि । तत्र—

(१०) भागः सारवती, भमजगो दीपकमाला ।१। भमसगश्चम्पकमाला रुक्मवती रूपवती वा ।२। नजनगस्त्वरितगतिरमृतगतिर्वा ।३। मभनगो हंसी, रजरगो मयूरसारिणी ।४। नरजगो मनोरमा, मसजगः शुद्धविराट् ।५। तयभगःसुषमा, सजुगः सङ्गतिका संयुता वा ।६। तजुगो वा क्षंसुको वोपस्थिता ।७। मघंघमः पणवं, क्षुंनयो मत्ता ।८। रंजुगः सिंहलेखा ।९।

अथ त्रिष्टुप्छन्दसि हावनख (२०४८) वृत्तानि । तत्र—

(११) माक्षो मालती, ताक्षो लयग्राहि विध्वङ्कमाला वा ।१। भाक्षो दोधकं बन्धुर्वा ।२। रधजयः स्वागता । रघजरो रथोद्धता ।३। जसतक्षः शिखण्डितमुपस्थितं वा ।४। नुरक्षः कुपुरुषजनिता, नयभक्षोऽनवसिता ।५। सुजक्ष एकरूपा, तुजक्ष इन्द्रवज्रा, जतजक्ष उपेन्द्रवज्रा ।६। क्षजसुरुत्थापिनी, साको विदुष्युपचित्रं वा ।७। घनजरो भद्रिका, क्षसा मोटनकम् ।८। नाको दमनकं, रजरकः श्रेणी श्येनी सेनिका वा ।९। खयनयोऽनुकूला, खयं नयः श्रीः कुड्मलदन्ती वा, भक्षंनयो मौक्तिकमाला, भक्षंनजः सान्द्रपदम् ।१०। घसंसुः सुमुखी ।११। क्षुं रुगः शालिनी, क्षुं नुगो भ्रमरविलसिता ।१२। क्षुंसरगो वातोर्मी, हं हमो वृत्ता ।१३।

अथ जगतीच्छन्दसि तद्धनभ (४०९६) वृत्तानि । तत्र—

(१२) र्मिविद्याधरः सिता वा, यिर्भुजङ्गप्रयातं, रिः स्रग्विणी लक्ष्मीधरो वा, सिस्तोटकम् ।१। तिः सारङ्गं विनीतो वा, जिर्मौक्तिकदाम, भिर्मोदकं लतागहनं वा, निस्तरलनयनं नूपुरध्वनिर्वा ।२। जतजरो वंशस्तनितं वंशस्थबिलं वंशस्थं वा । तुजर इन्द्रवंशा ।३। तभजरो ललिता, नभजरः प्रियंवदा, जरजरः पञ्चचामरम् ।४। कुखका मालिनी ।५। नभुर उज्ज्वला, नुमरो ललितं, नुक्षंतगस्ततम् ।६। नभजयो द्रुतपदं, नजुयस्तामरसं ललितपदं वा ।७। नयनयः कुसुमविचित्रा, सयंसयः केकिरवम् ।८। तयंतयो मणिमाला, जसंजसो जलोद्धतगतिः ।९। नुरुर्म्मन्दाकिनी चञ्चलाक्षिका वा, नुंरुः प्रमुदितवदना, नुगंकरः प्रभा, नुखंगरो गौरी ।१०। नुगंक्षयो नुक्षंगयो वा पुटः श्रीपुटो वा ।११। नकंलभयो नजखंलयो वा वनमालिका ।१२। मक्षंगयुर्वैश्वदेवी, भक्षंगसुर्भक्षंनुगो वा ललना ।१३। नजलंखरो यमुना, नकंलजरो मालती, नजुरो वरतनुः ।१४। सकंलसुः प्रमिताक्षरा, लसुंसको द्रुतविलम्बितं सुन्दरी वा ।१५। रनखंलसः खुंसघसो वा चन्द्रवर्त्म ।१६। क्षुंहक्षुः कान्तोत्पीडा जलधरमाला वा ।१७।

तदित्थमेतान्युक्तानि सप्तानां छन्दसामिह ।
कतिचिद्वृत्तभेदाख्यालक्षणानि यथोदितम् ।।

।। इति च्छन्दोऽधिकारः ।।

अथातिजगतीच्छन्दसि राधकहू (८१९२) वृत्तानि । तत्र—

(१३) यिलः कन्दुकं कन्दो वा, सिगस्तारकम् ।१। सजसजगः कलहंसः सिंहनादो वा ।२। लमुयुश्चञ्चरीकावली, भघुभुः पङ्कावली, कुभका मञ्जुहासिनी, कनमनक्ष

उपस्थितम् ।३। नजुरगो मृगेन्द्रमुखं, नुसुगश्चण्डी, नुतुग उत्पलिनी, नुगंरुः क्षमा विद्युच्चन्द्रिका कुटिलगतिर्वा, नुलंजयश्चण्डिका ।४। घरभखरः सुदन्तं, घरनखरः प्रबोधिता, घरंनखरो मञ्जुभाषिणी कनकप्रभा सुनन्दिनी वा, घरनगंलरो नन्दिनी ।५। कुंनका रुचिरा, मंनकागः प्रहर्षिणी ।६। गरंनका प्रभावती, गमंभतयो मत्तमयूरो माया वा ।७। नसंरुगश्चन्द्रलेखा, नकुंसरः कुटजगतिः, नुतुगः कुटिलगतिः ।८।

अथ शक्वरीच्छन्दसि विदालीतट (१६३८४) वृत्तानि । तत्र—

(१४) तभजुक्षो वसन्ततिलकमुद्धर्षिणी शोभावती सिंहोद्धता मधुमाधवी वा ।१। क्षमघुक्षमो वासन्ती, गनगनगनक्षो वरसुन्दरीन्दुवदना वा, मघमजयो लक्ष्मीः ।२। क्षुनुतगश्चन्द्रौरसः, घुखुसुः प्रमदा, नरनरकः सुकेसरम्, गनिगश्चक्रपदम् ।३। क्षुं नुक्षुः कुटिल, क्षुं नुक्षुर्मध्यक्षामा हंसश्येनी कुटिलं वा ।४। क्षमंनुमोऽसंबाधा, घरंनरुर्मञ्जरी ।५। नुगंनुगः प्रहरणकलिका, नुगंजुगोऽपराजिता, नुगंरुगो नान्दीमुखी वसन्तो वा, नुगंभरगो नदी ।६। मघक्षंमघक्षोऽलोला, घृखुंसुः कुररीरुता, घुखुंसयः कुमारी, नुघंनयः सुपवित्रम् ।७।

अथातिशक्वरीच्छन्दसि हतसारग (३२७६८) वत्तानि तत्र—

(१५) सासुर्नलिनी भ्रमरावली वा ।१। नसनरुर्विपिनतिलकं, सजसुयो वृषभः ।२। खाखिगस्तूणकं चामरो वा । खुसाको रमणीयकः ।३। गनगनगनरो निशिपालकं, घरघरघरो मानसहंसो मनोहंसो वा, घरं घिक्ष एला ।४। लनरनरकः सुखेलकं, लनरंनरकः प्रभद्रकम् ।५। मायुश्चित्रा, मामुः कामक्रीडा, क्षुंक्षुंमुगो लीलाखेलः सारङ्गीवा ।६। रुगंगरुगश्चन्द्रकान्ता, मरगंगरुगश्चन्द्रलेखा ।७। नुक्षंरुगो मालिनी, नुक्षंजुग उपमालिनी ।८। नुघं नुगो मणिगुणनिकरो नुलंनुकश्चन्द्रावर्त्ता शशिकला वा, नं नुसो माला, ह्रासः शरभा ।९।

अथाष्टिच्छन्दसि तुलाममता (६५५३६) वृत्तानि । तत्र—

(१६) गसासुः अश्वगतिर्नीलं वा, गमामुर्ब्रह्मरूपं वा ।१। खिखाक्षश्चित्रं चित्रसङ्गं चञ्चला वा, किकिः पञ्चचामरं नराचं वा ।२। यमहयुः प्रवरललितं, हरनरुर्गरुडरुतं, हरनरयो वाणिनी, हरयसुर्मणिकल्पलता ।३। गसजसा शैलशिखा, गसजसजसो धीरललिता, गसजतनसो वरयुवतिः ।४। गसजंनुसो गजतुरगविलसितमृषभगजविलसितं वा ।५। क्षुंनसंतसो मदनललिता, गहमंमहगश्चकिता, हुंहुरचलधृतिः ।६।

अथात्यष्टिच्छन्दसि रथानुपालक (१३१०७२) वृत्तानि । तत्र—

(१७) यमंहयनगः शिखरिणी, कनरंनरुः पृथ्वी, लहरनरुर्मालाधरः ।१। क्षुनसंरुगो मन्दाक्रान्ता, क्षुनसंजुगो भाराक्रान्ता, क्षुनसंतुगो हारिणी ।२। नसंक्षुंजुगो हरिणी, नुंक्षुंजुगो हरिः ।३। कक्षंनसंजुगः कान्ता, कक्षुंनसंभकः शिखरिणी ।४। हरनभुगो नर्दटकमवितथं वा, हरंनभुगो नर्कुटकं, हरंनभंभगो वा, हखुं धभं भगो

वा कोकिलकम् ।५। सुकुंनरगं चित्रलेखाऽतिशायिनी वा, गसजसंहसो वंशपत्रपतितं वंशदलं वा ।६। किकिलः पञ्चचामरम् ।७।

अथ धृतिच्छन्दसि भावाकरतीर (२६२१४४) वृत्तानि । तत्र—

(१८) याया क्रीडाचन्द्रः, भाभुसोऽश्वगतिर्भरनासो भ्रमरपदकम् ।१। कक्षुंनसंतसः सुधा, मक्षंनसंरुगः कुसुमितलतावेल्लिता, मक्षं तयं रुगः सिंहविस्फूर्जितम् ।२। मलं हयं युगश्चित्रलेखा, क्षुंहसंरुगश्चन्द्रलेखा, क्षुंहसंजुगश्चलं, क्षुंहसंतुगः केसरम् ।३। मसजसंरमः शार्दूलं, मसजसंतसः शार्दूलललितम् ।४। नुरिर्महामालिका, नाराचं, लालसा वा, नुरगंधरुर्गजेन्द्रलता, ननरगंकरुर्लालसा, हरनगंलरुर्नन्दनम् ।५। मघरंघरं घरो हरिणप्लुतस्, रघरंघरंघरो हरनर्त्तनम्, रघरंघरघरो विबुधप्रिया, रघरघरघरश्चर्चरी ।६। क्षुमघमघमगो मञ्जीरा, गहगहगहरो होरकम् ।७।

अथातिधृतिच्छन्दसि दहरभराम (५२४२८८) वृत्तानि । तत्र—

(१९) कक्षुंनसंरुगो मेघविस्फूर्जिता विस्मिता वा । कक्षुंनसंजुगो मकरन्दिका, कक्षुंनसंतुगश्छाया ।१। मक्षं हसंरुगः फुल्लदाम पुष्पदाम वा, मक्षं हसंतुगो विम्बम्, ।२। मसजसंतुगः शार्दूलविक्रीडितं शार्दूलशाटकं वा ।३। यभनयंजुगो मणिमञ्जरी ।४। क्षुयं हसंखसः सुरसा, रगनरंरुसः सिद्धा, हरनगं भरको रचना ।५। कनरं नगं तुगो वा कनरं नगं तभगोवा समुद्रतता ।६।—निहसो धवलाङ्गं, नाजनहश्चन्द्रमाला, घमघमघमगमः शम्भुः, नुखाखागः पञ्चचामरः ।७।

तदित्थमुदिता वृत्तभेदाख्या लक्षणावली
इहातिच्छन्दसामेषां सप्तानां सूरिसूचिता

इत्यतिच्छन्दोऽधिकारः ।।

अथ कृतिच्छन्दसि तथामहाघनाक (१०४८५७६) वृत्तानि । तत्र

(२०) कक्षुंहसंरुगः शोभा, क्षुयं हसंतसः सुवदना, सभरनगं तुगो मत्तेभविक्रीडितम् ।१। क्षुयहया सुवंशा, घरघरघरघरो गीतिका, खिखिखुर्वृत्तम् ।२।

अथ प्रकृतिच्छन्दसि रमाकथाधिनर (२०९७१५२) वृत्तानि । तत्र

(२१) क्षुयं हसं रुगः स्रग्धरा ।१। हरं लसुं सलरो धृतश्रीः, हखुसाकुः सरसी सिंहकं सिद्धकं सलिलनिधिर्वा ।२।

अथाकृतिच्छन्दसि भानुलाभाधिकभ (४१९४३०४) वृत्तानि । तत्र

(२२) घरयंहसंरुगो महास्रग्धरा, मुक्षंनिक्षो हंसी ।१। मसरसक्षसघसो लालित्यं, गसजसंजसजसो भद्रकम् ।२। भाभिगो मदिरा ।३।

अथ विकृतिच्छन्दसि हानितद्रूहगद (८३८८६०८) वृत्तानि । तत्र

(२३) क्षिहासो मत्ताक्रीडा वाजिवाहनं वा, सुगहमसा सुन्दरिका ।१। घसजसंजसजसोऽश्वललितं, घसजसजसजसोऽद्रितनया ।२। भाभिक्षो मालती

मत्तगजेन्द्र ऐन्दवो वा, भाभिखश्चित्रपदा चकोरो वा, लभाभिगो मतल्लिका मल्लिका मानिनी सुमुखी वा ।३।

अथ संकृतिच्छन्दसि तपोरसथूततपो (१६६७७२१६) वृत्तानि । तत्र

(२४) भक्षंहसंभुनयस्तन्वी ।१। भिभिः किरीटं, सिसिर्दुर्मिलकं, यियिर्भुजङ्गो रिरिर्लक्ष्मोः तितिराभारो जिजिश्चन्द्रपदी मञ्जरी मुक्तहरा माधवो वा ।२। जाजियो माधविका, भाभिरोऽलसा ।३।

अथातिकृतिच्छन्दसि रागभावांशुमूलग (३३५५४४३२) वृत्तानि । तत्र

(२५) भक्षं भक्षं नुघंनुगः क्रौञ्चपदा ।१। सिसिगः कमला सुखदा सुन्दरी माधवो वा, सिसिलः सुधाऽरविन्दो वा ।२।

अथोत्कृतिच्छन्दसि भूतदहनकथाति (६७१०८८६४) वृत्तानि । तत्र

(२६) क्षिहृसंजुगो भुजङ्गविजृम्भितं, मनुंनुंनुंघमोऽपवाहम् ।।१।।
सिसिघो ललिता मालती सुखः सावनो वा ।२।

इत्थं कृतिच्छन्दसामप्याख्यातानीह कानिचित् ।
सप्तानां वृत्तभेदाख्यालक्षणानि यथायथम् ।। १ ।।
एतेऽनादिष्टदिव्यातिकृतिच्छन्दोविशेषकाः ।
पर्य्यातकाभिधा उक्ता वक्ष्यन्ते दण्डकाभिधाः ।।२।।

।। इति कृतिच्छन्दोऽधिकारः ।।

अथ दण्डकच्छन्दसि वृत्तानि

कपरम्परयाऽनङ्गशेखरः, खपरम्परयाऽशोकपुष्पमञ्जरी ।१। यपरम्परया सिंहविक्रीडो रपरम्परया मत्तमातङ्गलीलाकरः, सपरम्परया कुसुमस्तवकः ।२। नुपूर्वेषु येषु सिंहविक्रान्तो रेषु चण्डवृष्टिप्रयातः ।३। अर्णोऽर्णवव्यालजीमूतलीलाकरोद्दामशंखादयो भोगावलीविरुदावलीमेघमालाकुसुमस्तरणोत्तरकामबाणादयः सर्वतोभद्रादयश्च प्रचितकविशेषाः यथायथं रगणयगणादिवृद्ध्या द्रष्टव्याः ।।४।।

एकोनसहस्राक्षरपर्य्यन्ता दण्डकाङ्घ्रयः प्रोक्ताः ।।
वर्णत्रिकगणवृद्ध्या नद्वितयाद्या महामतिभिः ।।१।।

इति दण्डकाधिकारः ।।

।। सम्पूर्णश्चायं समवृत्तपरिच्छेदः ।।३।।

---

(२) अथातो विषमं व्याख्यास्यामः ।

समं तावत्कृत्वः कृतमर्धसमम् । अर्थात् यावती समवृत्तसंख्या । तयैव गुणितं तावत्कृत्वः कृतमुच्यते । एतदुक्तं भवति समवृत्तसंख्यागुणिते समवृत्तसंख्यायाः पिण्डे या संख्या निष्पद्यते तावत्संख्यमर्धसमं वेदितव्यम् । तत्र गायत्रे समवृत्तसंख्या चतुषष्टिः (६४) तस्यां चतुःषष्टिसंख्यागुणितायामर्धसमवृत्तसंख्या निष्पद्यते— चत्वारि सहस्राणि षण्नवतिश्च वृत्तानि । (६४×६४)=४०९६ । अर्धसमं तावत्कृत्वः

कृतं विषमं भवति। अर्थात् अर्धसमसंख्या (४०९६) अर्धसमवृत्तसंख्यया (४०९६) गुणिता विषमवृत्तसंख्या सम्पदचते-एकाकोटि:,सप्तषष्टिर्लक्षाणि,सप्तसप्ततिसहस्राणि, द्वे शते षोडशोत्तरे (१६७७७२१६) इति।

(३) अथातोऽर्द्धसमं व्याख्यास्यामः ।१। तदद्वेधा समोपजातिमात्रोपजातिभेदात् ।२। यत्रोक्तानां वर्णवृत्तपादानामन्योन्यसम्प्रयोगेण सामञ्जस्यं सा समोपजातिः ।३। याः एव इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरिन्द्रवंशावंशस्थयोः स्रग्धरामन्दाक्रान्तयो रुक्मवतीकुसुमविचित्रयोरेवमितरेषां चेतरेतरपादसंप्रयोगाच्चतुर्द्दश चतुर्द्दशोपजातयः स्युः। तासु पञ्चमदशमस्वरूपयोरर्द्धसमत्वम् ।।५।। तत्रार्द्धस्यार्द्धलक्षणसाम्यादर्द्धसमत्वमित्यर्द्धे लक्षणानि ।५। क्षयसयः कयसयः स्यादाख्यानकी, विपर्यासे तु विपरीताख्यानकी ।६। कयसयत्रित्वादेकेनैव क्षयसयेनाख्यानकीमाह कश्चित्तदनार्षम् ।७। अन्योपजातिविशेषसंज्ञानुपदेशेऽप्याख्यानकीस्मृतिः प्रायोपचारात्।

इति समोपजात्यधिकारः ।।

अथौपच्छन्दसिकवैतालीयापातलिकादिमात्रावृत्तविशेषा एवार्द्धसमत्वे मात्रोपजातयः स्युः ।१। साको लसाको हरिणप्लुता ।२। साको गसाग उपचित्रकम् ।३। सागो गसागो वेगवती ।४। गसागो घसागो द्रुतमध्या ।५। नुभुर्नुरुः कौमुदी ।६। निनिनको निनिनुगः शिखान्ता, विपर्यासे खञ्जा ।७।

सघरयः सभरयो मालभारिणी वसन्तमालिका वा, ससजक्षः सगसजक्षो वा ।१। हघरयो हभरयः पुष्पिताग्रा, हसजक्षो हगसजक्षो वा ।२। गभरयः क्षभरयो भद्रविराट्, क्षसजक्षः क्षगसजक्षो वा ।३। गसजरयगो रजरयः षट्पदा खजरजमो गजरजक्षो वा ।४। रजरजो लरजरयो यवमत्यमरावती वा गजरजखः कजरजक्षो वा ।५। रजरजो गरजरयो मृगी जवानी वा गजरजखः क्षजरजक्षो वा ।६। लजभयः खजभयः केतुमती सजसगो गसजसगो वा ।७। हलजरो हखजरोऽपरवक्रं हसजगो हगसजगो वा ।९।)२

सलजरः सखजरः सुन्दरी प्रबोधिता वा सगजगः सगसजगो वा ।८।)२

नलभरकः सलभगरको मञ्जुसौरभं घससजगो घरसगजगो वा ।१०।

खभरो घखभरो ललिता रसको घरसको वा ।११।

मात्रावृत्तविशेषाणामप्येषां वर्णवृत्तेषूपदेशोऽक्षरसाम्योपाचारात् ।१२।

यथा वा वेगवत्यापातलिका स्यादेवमयुग्मपादे प्रथमाक्षरहीनं दोधकमपि स्यात्

हरिणप्लुता चायुग्मपादे प्रथमाक्षरहीनं द्रुतविलम्बितं स्थात् ।।१४।।

न त्वेवैकाक्षरापचये छन्दस्तत्वहानिरिति श्रूयते ।।१५।।

तत्साम्याच्चेतरेषां वर्णवृत्तत्वम् ।।१६।।

इति मात्रोपजात्यधिकारः

सम्पूर्णश्चायमर्द्धसमवृत्तपरिच्छेदः ।।४।।

इत्थं साधारणच्छन्दोविशेषा गणसञ्ज्ञताः ।।
समेन विषमेणार्द्धसमेनोक्ता विभज्य च ।।१।।

इति समविषमार्द्धसमप्रविभक्तसाधारणच्छन्दःपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।।

अथ लौकिकपरिच्छेदः

अथ लोकमात्रप्रसिद्धा छन्दोजातिर्दर्शयितव्येत्युपक्रम्यते ।। यथाहि वर्णसंख्याप्रधानं वैदिकं छन्दः समाम्नातम् । एवमिदं मात्रासंख्याप्रधानं लौकिकं छन्दो निर्दिश्यते । तच्चतुर्द्धा—आर्य्या, औपच्छन्दसिकं, सपदिका कवित्वं, प्राकृतं च । यद्यपि प्राकृतं लौकिकमित्यनन्यार्थत्वान्नार्य्यादीनि प्राकृताद् भिद्यन्ते तथापि संस्कृतभाषारचनाप्रधानैरार्य्यैः पुरा यावन्ति मात्रावृत्तानि लोके व्यवहृतानि तत्रार्य्याशब्दः प्रवृत्तः । यत्र च मात्रावृत्ते वैदिकच्छन्दःसमधर्म्मिता कथंचिदनुभूयते, तत्रौपच्छन्दसिकशब्दः प्रवृत्तः । एवं सपदिकानां मात्रावृत्तत्वाविशेषेण प्राकृतैः प्रयोगेऽपि वर्णगणवृत्तत्वमथ कवित्वस्य वर्णवृत्तत्वमस्तीति कथंचिदितरप्राकृतछन्दोऽपेक्षया तत्र विशेषो द्रष्टव्यः । सपदिकाशब्दश्च तत्र समानकतिपयगणसमवायादुपचर्य्यते । अथ प्राकृतभाषारचनाप्रधानैः प्राकृतैरेव सूतमागधवन्दिचारणादिभिः प्रायेण व्यवह्रियमाणत्वादेषु प्राकृतशब्द इत्येवं विशेषाभिधित्सया लौकिकं छन्दश्चतुर्द्धा विभज्य व्याख्यायते ।। एतदुपयुक्ताश्चतुष्कलाः पञ्चगणाः क्षसजभहाख्याः द्रष्टव्याः । तत्रार्य्या तावत् पञ्चधा—गाथा गीतिरुपगीतिरुद्गीतिरार्य्यागीतिश्च ।।

यत्रार्द्धे सप्तगणा गश्चैकः साऽऽर्य्या गाथा ।।१।। तत्र विषमगणो जगणेतरः, षष्ठस्तु जहान्यतरः पूर्वार्द्धे, परार्द्धे त्वेककलः षष्ठः ।।२।। षष्ठे हे द्वितीयाक्षराद्येव पदं, सप्तमे हे प्रथमाक्षराद्येव पदम्, परार्द्धे तु पञ्चमे हे प्रथमाक्षराद्येव पदमित्यणुयतिनियमः ।।

पूर्वार्द्धसमानं परार्द्धं चेत्सा गीतिः ।।१।।
परार्द्धसमानं पूर्वार्द्धं चेत्सोपगीतिः ।।२।।
पूर्वार्द्धपरार्द्धे विपरीते चेत्सोद्गीतिः ।।३।।
यत्रार्द्धेऽष्टगणाः स्युः सार्य्यागीतिः ।।४।।

अथेयं गाथा तावच्चतुर्द्धा-पथ्या, मुखविपुला, जघनविपुला, महाविपुला च । चतुर्द्धापि त्रेधा—मुखचपला, जघनचपला, महाचपला चेति । तदित्थं चपला द्वादशधा । पूर्वाभिरचपलाभिः सहिताः षोडशार्य्यागाथाः ।। एवं षोडश गीतयः । षोडशोपगीतयः । षोडशोद्गीतयः । तथा षोडशार्य्यागीतयश्चेति सर्वसमष्टया तस्या आर्य्याया अशीतिर्भेदा भवन्ति ।।

तथा चोक्तम्

एकैव भवति पथ्या--विपुलास्तिस्रस्ततश्चतस्रस्ताः ।
चपलाभेदैस्त्रिभिरपि भिन्ना इति षोडशार्य्याः स्युः ।।१।।

गीतिचतुष्टयमित्थं प्रत्येकं षोडशप्रकारं स्यात् ।
साकल्येनार्य्याणामशीतिरेवं विकल्पाः स्युः ।।२।।

पूर्वार्द्धे च परार्द्धे च तृतीयगणेन पादपूर्त्तौ सार्य्या पथ्या ।।१।। पूर्वार्द्धे तृतीयगणेन पादपूर्त्यभावे सार्य्या मुखविपुला विपुलपथ्या वा ।२। परार्द्धे तृतीयगणेन पादपूर्त्यभावे सार्य्या जघनविपुला पथ्याविपुला वा ।३। परार्द्धे च परार्द्धे च तृतीयगणेन पादपूर्त्यभावे सार्य्या महाविपुला विपुला वा ।४। द्वितीयचतुर्थगणस्थानयोर्जगणौ गुरुमध्यगतौ चेत्सा चपला सा च त्रेधा ।१। सप्तसु पूर्वार्द्धगणेष्वादितः पञ्चगणाः क्रमेण सजमजभा दृश्यन्ते सा मुखचपला । सप्तसु परार्द्धगणेष्वादितः पंचगणाः क्रमेण सजमजभा दृश्यन्ते सा जघनचपला । पूर्वार्द्धे च परार्द्धे चादितः पंचगणाः क्रमेण सजमजभा दृश्यन्ते सा महाचपला ।

गाथा १६

पथ्या ४	मुखविपुला ४	जघनविपुला ४	महाविपुला ४
अचपला	० अचपला	० अचपला	० अचपला
मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला
जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला
महाचपला	० महाचपला	० महाचपला	० महाचपला

गीतिः १६

पथ्या	विपुलापथ्या	पथ्याविपुला	विपुला
अचपला	० अचपला	० अचपला	० अचपला
मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला
जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला
महाचपला	० महाचपला	० महाचपला	० महाचपला

उपगीतिः १६

पथ्या	विपुलापथ्या	पथ्याविपुला	विपुला
अचपला	० अचपला	० अचपला	अचपला
मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला
जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला
महाचपला	० महाचपला	० महाचपला	० महाचपला

उद्गीतिः १६

पथ्या	विपुलापथ्या	पथ्याविपुला	विपुला
अचपला	० अचपला	० अचपला	० अचपला
मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला
जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला	जघनचपला
महाचपला	० महाचपला	० महाचपला	० महाचपला

आर्य्यागीतिः १६

पथ्या	विपुला पथ्या	पथ्याविपुला	विपुला
अचपला	० अचपला	० अचपला	० अचपला
मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला	० मुखचपला
जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला	० जघनचपला
महाचपला	० महाचपला	० महाचपला	० महाचपला

इत्यार्य्याप्रकरणम्

यत्रायुग्मपादः पिण्डप्रायश्चतुर्दशमात्रो युग्मस्तु षोडशमात्रस्तथा मात्रासु युग्माः परापिण्डितास्तत्र पादान्ते नियमेन खरगश्चेदौपच्छन्दसिकं, खरश्चेद् वैतालीयं, खयश्चेदापातलिका स्यात् ॥१॥ अयुग्मपादे द्वितीयतृतीयमात्रापिण्डे सत्युदीच्यवृत्तिर्युग्मपादे तु चतुर्थपञ्चममात्रापिण्डे प्राच्यवृत्तिस्तदुभयवृत्तिलक्षणप्राप्तौ प्रवृत्तकम् ॥२॥

सर्वे पादाश्चतुर्दशमात्रास्तृतीयेन पूर्वस्य योगश्च सा चारुहासिनी, सर्वे षोडशमात्राः पञ्चमेन पूर्वस्य योगश्च सा अपरान्तिकेति मात्रासमकद्वयम् ॥३॥ मात्रासमके परापिण्डनाललस्वरूपत्वं नवमद्वादशयोश्चेद् वानवासिका, पञ्चमाष्टमयोश्चेद् विश्लोकः, पञ्चमाष्टमनवमानां चेच्चित्रा, नवमी परपिण्डिता चेदुपचित्रा ॥ ४ ॥ मात्रासमकवानवासिका-विश्लोक चित्रोपचित्रान्यतमपादैः पादाकुलकम् ॥५॥

षोडशलवर्णकृतपादा गीत्यार्य्या ॥६॥ द्वात्रिंशल्लवर्णकृतपूर्वार्द्धा षोडशगवर्णकृतपश्चार्द्धा ज्योतिःशिखा, तद्विपर्यासे तु सौम्यशिखाऽनङ्गक्रीडा वा ॥७॥ पूर्वार्द्धे सप्तविंशतिलोत्तरं गश्चैकः परार्द्धे तूनत्रिंशल्लोतरं गश्चैकश्चूलिका ॥८॥

औपच्छन्दसिकाधिकारः १२

डाद् रयो णडाभ्यां रय औपच्छन्दसिकम् ।१। णडाभ्यां रको डाभ्यां रको वैतालीयम् ।२। णडाभ्यां खयो डाभ्यां खय आपातलिका ।३। डस्य जत्वमयुग्मे चेदुदीच्यवृत्तिर्युग्मे चेत् प्राच्यवृत्तिरुभयत्र चेत् प्रवृत्तकम्, नोभयत्र चेत् प्रकृष्टकम् ।४। अयुग्मवद् युग्मं चारुहासिनी युग्मवदयुग्मं चेदपरान्तिका ।५।

औपच्छन्दसिकम्	।।।।—ऽ।ऽ।ऽऽ	।।।।।।—ऽ।ऽ।ऽऽ
वैतालीयम्	।।।।।।—ऽ।ऽ।ऽ	।।।।।।।।—ऽ।ऽ।ऽ
आपातलिका	।।।।।।—ऽ।।ऽऽ	।।।।।।।।—ऽ।।ऽऽ
औ० उदीच्यवृतिः	।ऽ।—ऽ।ऽ।ऽऽ	।।।।।।—ऽ।ऽ।ऽऽ
औ० प्राच्यवृत्तिः	।।।।—ऽ।ऽ।ऽऽ	।।ऽ।—ऽ।ऽ।ऽऽ
औ० प्रवृत्तकम्	।ऽ।—ऽ।ऽ।ऽऽ	।।ऽ।—ऽ।ऽ।ऽऽ

चारुहासिनी सर्वे (चत्वारः) पादाश्चतुर्दशमात्रा। ।
अपरान्तिका सर्वे (चत्वारः) पादाः षोडशमात्राः ।

इत्यौपच्छन्दसिकप्रकरणम्

सपदिकाधारः ।

अथ सपदिकाऽनुक्रम्यते । साच पर्य्यातकत्वात् समवृत्तप्रकरणे तत्र तत्र प्रायेणोक्ताऽपीदानीं लोके भूयः प्रचारानुरोधेन पृथक्कृत्य पुनरुच्यते ।।

सप्तसु सजातीयगणेषु सत्सु परतो वर्णसत्वे विच्छित्तिविशेषनिबन्धना सपदिका ।।१।। भिन्नगणोपदेशेऽप्यत्र प्रायेण भपदविन्यासे सौष्ठवम् ।।२।। अष्टभिरष्टभीरयतैर्लक्ष्मीभुजङ्गाभारा जसभैश्चन्द्रपदीदुर्मिलाकिरीटाः ।।३।। अष्टसु जेष्वधिके गे शृङ्गा, ले सहजा ।।४।। अष्टसु सेष्वधिके गे कमला, ले सुधा, घे ललिता ।।५।। सप्तसु भेष्वधिके हे मधुरा ।।६।। सप्तसु भेष्वष्टमे रेऽलसा, ये वन्दिनी, से कामिनी, क्षे मालती, खे चित्रपदा, गे मदिरा ।।७।। सप्तसु सेष्वष्टमे भे भामती, क्षे मञ्जुली, के सरला, घे विमला, गे सुभगा ।।८।। सप्तसु जेष्वष्टमे ये माधवी, के मल्लिका, ले लघ्वी, गे साध्वी ।।९।।

तदित्थमन्यथापि—यथासम्भवं सपदिका द्रष्टव्या ।।१०।। लक्ष्मीभुजङ्गाभाराणां रयतनिवन्धनत्वात्तेषां च मात्रागणत्वाभावान्न सपदिकात्वमुशन्ति बहवः सपदिकाया मात्राजातित्वाभिमानात् ।।११।। चन्द्रपदी मञ्जरी मुक्तहरा माधवानां, दुर्मिला-दुर्मिलकयोश्चैकार्य्यम् ।।१२।। कमला सुखदा सुन्दरी माधवानां, सुधारविन्दयोः, ललिता मालती सावनसुखानां चैकार्थ्यम् ।।१३।। मालत्यन्दवमत्तगजेन्द्राणां, चित्रपदा-चकोरयोः, माधवी मञ्जरी वामानां, मल्लिका मतल्लिका मानिनी सुमुखीनां चै-कार्थ्यम् ।।१४।।

१ र लक्ष्मी ऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽ २४

२ त आभार: ००ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ| २४

३ य भुजङ्गः ०|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ|ऽऽ २४

ज चन्द्रवदी ००|ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ| मञ्जरी, माधवी मुक्तहरा, २४

स दुर्मिला ०||ऽ||ऽ||ऽ|ऽ|ऽ||ऽ||ऽ||ऽ० दुर्म्मिलकम् २४

भ किरीट: ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|| २४

ज {
साध्वी |ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|,ऽ०० २२
लघ्वी |ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|,|०० २२
मल्लिका |ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|,|ऽ० मतल्लिका, मानिनी, सुमुखी २३
माधवी |ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|,|ऽऽ मञ्जरी, वामा, २४
शृङ्गा |ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|,ऽ २५
सहजा |ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ|,| २५
}

स {
सुभगा ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,ऽ०० २२
मङ्गली ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,ऽऽ० २३
सरला ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,|ऽ० २३
विमला ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,||० २३
भामती ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,ऽ|| २४
कमला ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,ऽ० सुखदा, सुन्दरी माधवः २५
सुभ्रा ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,|० अरविन्दः २५
ललिता ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ,|| मालती, सावनसुखा २६
}

भ {
मदिरा ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०ऽ००० २२
मालती ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०ऽऽ०० ऐन्दवः मत्तगजेन्द्रः २३
चित्रपदा ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०ऽ|०० चकोरः २३
अलसा ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०ऽ|ऽ० २४
कामिनी ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०||ऽ० २४
वन्दिनी ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०|ऽऽ० २४
मधुरा ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||ऽ||०|||| २५
}

सपदिकाः सप्तविंशतिः २७

२२	२३	२४	२५	२६	वर्णाः
४	६	११	५	१	इयत्यः

सपदिकाः सप्तविंशतिः

ज	स	भ	र	य	त	गणाः
७	९	८	१	१	१	इयत्यः

अथ कवित्वं त्रेधा—घनाक्षरी, मनोहरः, रूपकघनाक्षरी चेति ।। त्रीण्यष्टकान्यक्षराणां सप्तकं च लान्तमित्येकत्रिंशदक्षरपादा घनाक्षरी ।१। त्रीण्यष्टकान्यक्षराणां सप्तकं च गान्तमित्येकत्रिंशदक्षरपादो मनोहरः ।२। चत्वार्यष्टकान्यक्षराणामिति लान्तपादा रूपकघनाक्षरी ।।

घनाक्षरी ८।८।८।७ लः
मनोहरः ८।८।८।७ गः
रूपकघनाक्षरी ८।८।८।८ लः इति रूपाणि ।।

इति सपदिका-कवित्वप्रकरणम् ३

अथ प्राकृतं छन्दोऽनुक्रम्यते—

तच्च षोढा—कनिष्ठजातिः, मध्यमजातिः, बृहज्जातिः, विरूपजातिः, बहुपदजातिः, लम्बकजातिश्चेति । एता एव निकृष्टसाधारणोत्कृष्टद्विरूपोत्तरदीर्घशब्दैरप्युच्यन्ते । तथाहि—द्वित्रगणपादाः कनिष्ठाः । चतुःपञ्चगणपादा मध्यमाः । षट्सप्ताष्टगणपादा बृहत्यः । विषमा अर्द्धसमाः समा वा द्विपदीप्रधाना विरूपजातयः। षट्पद्यष्टपदीनवपद्यादयो बहुपद्यः ।। नवभिर्दशभिरधिकैर्वा गणैः कृतपादा लम्बकाः ।। तत्र विषमेषु वृत्तेषु पर्य्याप्य लक्षणानि, अर्द्धसमेषु चार्द्धे, समेषु तु पादे इति पर्य्यालोच्यम् ।। तत्रादौ—

मधुभाराधिकारः

डजो मधुभारः (८)।। डलडलो दीपकम् (१०) ।। डढज आभीरष्टडल आभीरकष्टडढ आभीरी (११) ।। जक्षान्यडागः काहलिर्जान्यडागो वा । काहलिपादेष्वेकादशैकादशदशदशाक्षराण्याचार्य्याणाम् (१४) ।। टठजः सौरभः (१५) ।।

इति कनिष्ठजातयश्चतुष्पद्यः ।।१।।

अथ पादाकुलकाधिकारः २

षोडशमात्रपादं पादाकुलकम् ।। पादाकुलके निर्जे हभयोस्तुरीयत्वे यमकिते चालिल्लिहोऽडिल्ला वा ।। सक्षयोस्तुरीयत्वे सजहानां तृतीयत्वे च विचित्रिता । मात्रासमकं त्वेकेषाम् ।। जहयोर्द्वितीयत्वे सजहानां तृतीयत्वे च चित्रा ।। जहयोर्द्वितीयत्वे विश्लोकस्तृतीयत्वे वानवासिका भक्षयोस्तृतीयत्वे तूपचित्रा ।। डासः सिंहावलोको जभक्षशून्यः ।। डाजः पज्झटिका ।। पज्जटिका प्रक्षरिका पत्रक्षरिका पत्रझरिका पत्रशरिकेत्यनन्यार्थाः ।। डिर्जशून्यः प्रज्ञाटिका पज्झटिकैव वा ।। अडिल्लादीनां पादाकुलकविशेषत्वमिष्यते ।। (१६) ।।

वर्णविषमाधिकारः ३

सप्तदशाक्षरावयुक्पादौ युग्मौ त्वष्टादशाक्षरावर्द्धसमाऽप्यनियतमात्रा यमकितयुगयुक्पादा गन्धा गन्धाना गन्धानकं वा ।।(१७)।।

प्लवङ्गमाधिकारः ४

टठडकुः प्लवङ्गमः (२३) खनं खनं खनं रो हीरकम् (२३)।।

इति मध्यमजातयश्चतुष्पद्यः ।।२।।

अथ रोलाधिकारः ५

डुढंठंडुरिति चतुर्विंशतिमात्रपादा रोला त्रयोदशधा। त्रयोदशाक्षरपादकादीनां चतुर्विंशत्यक्षरपादकान्तानां रोलाविशेषाणां कुन्दादयः संज्ञाः ।।

कुन्दकरतालमेघास्तालङ्ककालरुद्रकोकिलकाः।
कमलेन्द्रशम्भुचामरगणेश्वरा अथ सहस्रशेषौ च ।।१।।

करतालेन्द्रसहस्रशब्दानां करतलेन्दुसहस्राक्षशब्दैः पर्य्यायिता पाठभेदादवगम्यते ।।

अङ्कः	गुरुः	लघुः	नाम
१२	१२	०	कुन्दः
१३	११	२	करतालः
१४	१०	४	मेघः
१५	९	६	तालङ्कः
१६	८	८	कालरुद्रः
१७	७	१०	कोकिलः
१८	६	१२	कमलः
१९	५	१४	इन्द्रः
२०	४	१६	शम्भुः
२१	३	१८	चामरः
२२	२	२०	गणेश्वरः
२३	१	२२	सहस्राक्षः
२४	०	२४	शेषः

मतान्तरे तु नैषां पादाक्षरपर्य्यवसायित्वं किन्तु छन्दसि निष्ठा द्रष्टव्या। तथा च त्रयोदशगुरुसत्त्वे लघुसप्तत्या कुन्दसिद्धिः। प्रदर्शनी यथा—

अक्षरः	गुरुः	लघुः	नाम
८३	१३	७०	कुन्दः
८४	१२	७२	करतालः
८५	११	७४	मेघः
८६	१०	७६	तालङ्कः
८७	९	७८	कालरुद्रः
८८	८	८०	कोकिलः
८९	७	८२	कमलः
९०	६	८४	इन्द्रः
९१	५	८६	शम्भुः
९२	४	८८	चामरः
९३	३	९०	गणेश्वरः
९४	२	९२	सहस्राक्षः
९५	१	९४	शेषः

उभयथापीदं भेदाख्यानमनादेयमतिरेकोपलब्धेः ।।

(२४) टडुजटष्टडुहटो वा प्रकाव्यं कवित्वं वस्तु वा ।।१।। गडठं ढडुगष्टडिणो वा काव्यं वास्तुकं वा पञ्चचत्वारिंशद्विधम् २ द्वापञ्चाशदक्षरकादीनां षण्णवत्यक्षर-कान्तानां काव्यविशेषाणां षण्णवतिमात्रानियतानां भृङ्गान्धहरिणादयः संज्ञाः ।।३।।

शक्रः शम्भुः सूरो गण्डः स्कन्धोऽथ विजयदर्पौ च ।
ताराङ्कसमरसिंहाः शीर्षोऽथोत्तेजना च फणी रक्षः ।।१।।
परिधर्मोऽथ मरालो मृगेन्द्रदण्डौ च मर्कटो मदनः ।
अनुबन्धश्च वसन्तः कण्ठमयूरबन्धभ्रमरभिन्नाः ।।२।।
महाराष्ट्रो बलभद्रो राजा वलितोमयूखमन्थानौ ।
बलिमोहसहस्राक्षा बालो दृप्तश्च शरभदम्भाहाः ।।३।।
उद्दम्भो वलिताङ्गस्तुरङ्गहारहरिणान्धभृङ्गाश्च ।
काव्यस्यैते भेदा निर्गुरुकैकगुरुकक्रमतः ।।४।।

शाल्मलिप्रस्तारो यथा

गु०	ल०	नाम	गु०	ल०	नाम	गु०	ल०	नाम
०	९६	शक्रः	१५	६६	मरालः	३०	३६	मयूखः
१	९४	शम्भुः	१६	६४	मृगेन्द्रः	३१	३४	मन्थानः
२	९२	शूरः	१७	६२	दण्डः	३२	३२	बलिमोहः
३	९०	गण्डः	१८	६०	मर्कटः	३३	३०	सहस्राक्षः
४	८८	स्कन्धः	१९	५८	अनुबन्धः	३४	२८	बालः
५	८६	विजयः	२०	५६	वसन्तः	३५	२६	दृप्तः

६	८४	दर्पः	२१	५४	कण्ठः	३६	२४	शरभः
७	८२	ताराङ्कः	२२	५२	मयूरः	३७	२२	दम्भाहः
८	८०	समरः	२३	५०	बंधः	३८	२०	उद्दम्भः
९	७८	सिंहः	२४	४८	भ्रमरः	३९	१८	वलिताङ्गः
१०	७६	शीर्षः	२५	४६	भिन्नः	४०	१६	तुरंगः
११	७४	उत्तेजः	२६	४४	महाराष्ट्रः	४१	१४	हारः
१२	७२	फणी	२७	४२	बलभद्रः	४२	१२	हरिणः
१३	७०	रक्षः	२८	४०	राजा	४३	१०	अन्धः
१४	६८	परिधर्मः	२९	३८	वलितः	४४	८	भृङ्गः

गगनाधिकारः (६)

(२५) डांडुरो विंशत्यक्षरं गगनाङ्गणं मदनान्तकं वा ॥ (२८) टं ट ठं ठुगो हरिगीता ॥ (२९) ट डं डुं डुखो महाराष्ट्रया ॥ (३०) ट डं डुं डा सुरभी चतुष्पदिका ॥

सपदिकाधिकारः (७)

सप्तभिर्डैः सजातीयैः सपदिका विजातीयैर्विपदिका ॥
णोत्तरैर्म्मदना ढोत्तरैः श्रान्ता डोत्तरैः क्रुष्टा ॥१॥

शृङ्गाधिकारः (८)

ट डं डुं ट डौ नो धाता । द्विः कृता शृङ्गा ॥ (३१) टणखं नजं टडौनो घातानन्दो द्विः कृतः शृङ्गाटिका ॥ (३२) डि डि र्लीलावती गणाक्षरानियता ॥ (३२) डि ट डु गो दण्डकाहलो दण्डकला वा ॥ (३२) ट डं डुं डागो दुर्मिलिका जशून्या ॥ (३२) ट डं डुं डुं डगस्त्रिभङ्गी जशून्या ॥ (३२) ट डं डुं टडसः पद्मावती ॥ (३२) ट डं डुं टडसो जनहरणं जशून्यं लप्रायम् ॥ (३४) डां डुं टडसो द्वारावती ॥

इत्युत्कृष्टजातयश्चतुष्पद्यः ॥

अथ शिखाधिकारः ॥९॥

हिहुजो हिहाजः शिखा हिहागो हिहासश्चान्या शिखा, हिहासो हिहूनक्षः खञ्जा, हिहिहरक्षो गाथोत्तरार्द्धं च माला । ज्योतिःशिखा सौम्यशिखा चूलिका च प्रागुक्ताः इहाप्यधिक्रियन्ते ॥

पेशलाधिकारः ॥१०॥

टलजं लजः पेशला ॥१॥ टडलणं जशून्यं टडलो दोहा द्विपथा वा ॥२॥ दोहाविपर्य्यासात् सौराष्ट्रा ॥३॥ षड्विंशत्यक्षरकादीनामष्टचत्वारिंशदक्षरकान्तानां त्रयोविंशतिभेदभिन्नानां दोहाविशेषाणामष्टचत्वारिंशन्मात्रानियतानां भ्रमरादयः संज्ञाः ॥४॥

भ्रमर भ्रामर शरभाः श्येनो मण्डूकमर्कटौ करभः।
नर इति मरालमधुकरपयोधराश्च वलवानरत्रिकलाः ॥१॥
कच्छपभ्रषशार्दूलाहिवरव्याघ्रा विडालकः श्वानः॥
उन्दुरसर्पा वैते दोहाभेदा गुरुह्रासात् ॥२॥
पञ्च विप्रा भ्रमरतः क्षत्रिया मर्कटादयः॥
पयोधरादयो वैश्याः शूद्रास्त्वष्टौ झषादयः ॥३॥

अक्षराणि	गुरवः	लघवः	मात्राः	भेदाः	संज्ञाः	अक्षराणि	गुरवः	लघवः	मात्राः	भेदाः	संज्ञाः
२६	२१	४	४८	१	भ्रमरः	३८	१०	२८	४८	१३	वानरः
२७	२१	६	४८	२	भ्रामरः	३९	९	३०	४८	१४	त्रिकलः
२८	२०	८	४८	३	शरभः	४०	८	३२	४८	१५	कच्छपः
२९	१९	१०	४८	४	श्येनः	४१	७	३४	४८	१६	मत्स्यः
३०	१८	१२	४८	५	मण्डूकः	४२	६	३६	४८	१७	शार्दूलः
३१	१७	१४	४८	६	मर्कटः	४३	५	३८	४८	१८	अहिवरः
३२	१६	१६	४८	७	करभः	४४	४	४०	४८	१९	व्याघ्रः
३३	१५	१८	४८	८	नरः	४५	३	४२	४८	२०	विडालः
३४	१४	२०	४८	९	मरालः	४६	२	४४	४८	२१	श्वानः
३५	१३	२२	४८	१०	मधुकरः	४७	१	४६	४८	२२	उन्दुरः
३६	१२	२४	४८	११	पयोधरः	४८	०	४८	४८	२३	सर्पः
३७	११	२६	४८	१२	वलः	—	—	—	—	—	—

डाढं टडढ उल्लाला ( ) ॥ डिडा द्विपदी शाखिनी वा ( ) ॥ दोहादलान्ते ठवृद्धया चूलिका ( )॥ डि ट डुरिति गान्ता त्रिंशत्कलाकृतदला चतुर्बला चतुष्पदिका रुचिरा वा ( )॥ चतुर्घनं द्विर्घनं घजरः खञ्जपदी ( )॥ टडडुं टडौ नो घाता ( ) ॥ टणखं नजं टडौ नो घातानन्दः ( ) ॥ ठुं ठुं ठु ढ क्षो झल्लणा ( ) ॥

गाथाधिकारः ॥११॥

गाथाजातिषु पादावयुग्मौ द्वादशमात्रानियतौ युग्मौ तु पञ्चदशाष्टादशविंशतिमात्राविकल्पितौ भवतः ॥२॥ पञ्चदशमात्रौ गाथः पञ्चदशाष्टादशमात्रौ विगाथोऽष्टादशपञ्चदशमात्रौ गाथाष्टादशमात्रावुद्गाथः ॥२॥ अष्टादशविंशतिमात्रौ गाथिनी, विंशत्यष्टादशमात्रौ सिंहनी, विंशतिमात्रौ स्कन्धकम् ॥४॥ गाहविगाहगाहोद्गाहगाहिनीसिंहनीस्कन्धकानामेवोपगीत्युद्गीत्यार्य्यागीतिललिता - वलगुगीत्यार्य्यागीतयः संज्ञाः ॥५॥ उक्ता अप्येताः पुनरुच्यन्ते विशेषोपदेशात् ॥६॥ जेन कुलीना, जाभ्यां कुलटा, जैर्वेश्या, विषमस्थजेन गुर्विणी, जश्शून्या तु रण्डा गाथा-

स्याज्जस्यात्र नायकत्वात् ।।७।। हंसीगतिवन्मन्थरः, सिंहविक्रमवदुद्धतो राजगति-वल्ललितः सर्पगतिवच्चञ्चलः क्रमतो गाथापादाः ।।८।। त्रिंशदक्षरकादीनां षट्-पञ्चादक्षरकान्तानां गाथाविशेषाणां सप्तपञ्चाशन्मात्रानियतानां सप्तविंशतिमितानां लक्ष्म्यादयः संज्ञाः ।।

लक्ष्मी ऋद्धिर्बुद्धिर्लज्जा विद्या क्षमा च देही च।
गौरी धात्री चूर्णा छाया कान्तिर्म्महामाया ।।१।।

अथ कीर्त्तिसिद्धिमानिनी रामाथो गाहिनी च विश्वा च।
अथ वासिता च शोभा हरिणी चक्री च सारसी कुररी ।।२।।

सिंही हंसीत्येते गाथाभेदाः प्रकीर्त्तिता भमिताः (२७)।
ते त्रिंशदवरवर्णाः षट्पञ्चाशत्सुवर्णपरमाश्च ।।३।।

षट्त्रिंशदक्षरकादीनां त्रिषष्टयक्षरकान्तानां स्कन्धकविशेषाणां चतुःषष्टि-मात्रानियतानामष्टाविंशतिमितानां क्रमेण नन्दभद्रशेषसारंगादयः संज्ञाः ।।

नन्दो भद्रः शेषः सारङ्गशिवौ च ब्रह्मवारणवरुणाः।
नीलमदनतालाङ्काः शेखरशरगगनशरभविमतिक्षीरम् ।।
नगरनरौ च स्निग्धः स्नेहमदकलौ च भूपालः
शुद्धः सारिच्च कुम्भः कलशश्च शशीति भेदाःस्युः ।।

गाथाभेदाः

अ०	गु०	ल०	नाम	अ०	गु०	ल०	नाम
३०	२७	३	लक्ष्मीः	४४	१३	३१	सिद्धिः
३१	२६	५	ऋद्धिः	४५	१२	३३	मानिनी
३२	२५	७	बुद्धिः	४६	११	३५	रामा
३३	२४	९	लज्जा	४७	१०	३७	गाहिनी
३४	२३	११	विद्या	४८	९	३९	विश्वा
३५	२२	१३	क्षमा	४९	८	४१	वासिता
३६	२१	१५	देहो	५०	७	४३	शोभा
३७	२०	१७	गौरी	५१	६	४५	हरिणी
३८	१९	१९	धात्री	५२	५	४७	चक्री
३९	१८	२१	चूर्णा	५३	४	४९	सारसी
४०	१७	२३	छाया	५४	३	५१	कुररी
४१	१६	२५	कान्तिः	५५	२	५३	सिंही
४२	१५	२७	महामाया	५६	१	५५	सी
४३	१४	२९	कीर्त्तिः	—	—	—	—

स्कन्धकभेदाः

अ०	गु०	ल०	नाम	अ०	गु०	ल०	नाम
३६	२८	८	नन्दः	५०	१४	३६	शरभः
३७	२७	१०	भद्रः	५१	१३	३८	विमतिः
३८	२६	१२	शेषः	५२	१२	४०	क्षीरम्
३९	२५	१४	सारङ्गः	५३	११	४२	नगरम्
४०	२४	१६	शिवः	५४	१०	४४	नरः
४१	२३	१८	ब्रह्म	५५	९	४६	स्निग्धः
४२	२२	२०	वारणः	५६	८	४८	स्नेहः
४३	२१	२२	वरुणः	५७	७	५०	मदकलः
४४	२०	२४	नीलः	५८	६	५२	भूपालः
४५	१९	२६	मदनः	५९	५	५४	शुद्धः
४६	१८	२८	तालाङ्कः	६०	४	५६	सारित्
४७	१७	३०	शेखरः	६१	३	५८	कुंभः
४८	१६	३२	शरः	६२	२	६०	कलशः
४९	१५	३४	गगनः	६३	१	६२	शशी

इति विरूपजातयः ॥

अथोत्कच्छाधिकारः ॥३॥

ड ढ उत्कृष्टोत्कलाललितमुत्कच्छा रसिका वाष्टविधा ।३। अष्टत्रिंशतश्चतुश्चतुरक्षराधिक्येन षट्षष्टियावदक्षराणां कालरुद्राण्यादयः संज्ञा रविकरस्य ॥४॥

अथ लोहाङ्गिनी हंसी रेखा-तालङ्कि-कम्पिका: ।
गंभीरा कालिका कालरुद्राणीत्यगुरुक्रमात् ॥१॥

अ०	गु०	ल०	नाम
६६	०	६६	लौहाङ्गिनी
६२	४	५८	हंसी
५८	८	५०	रेखा
५४	१२	४२	तालङ्की
५०	१६	३४	कम्पी
४६	२०	२६	गम्भीरा
४२	२४	१८	काली
३८	२८	१०	कालरुद्राणी

लक्ष्मीनाथस्य त्वेकैकगुरुवृद्धया लघुद्वयह्रासेनोत्कच्छाभेदा इष्यन्ते। तथा चैकगुरुर्हंसी द्विगुरू रेखा त्रिगुरुस्तालङ्किनीत्यादि। प्रदर्शनी यथा—

अक्षराणि	गुरु	ल०	नाम
६६	०	६६	लौहाङ्गिनी
६५	१	६४	हंसी
६४	२	६२	रेखा
६३	३	६०	तालङ्किनी
६२	४	५८	कम्पी
६१	५	५६	गम्भीरा
६०	६	५४	काली
५९	७	५२	कालरुद्राणी

काव्यपादचतुष्केनोल्लालपादद्विकेन षट्पदमेकसप्ततिविधम् ॥५॥

द्वयशीत्यक्षरकपादादीनां द्वापञ्चाशदधिकशताक्षरपादान्तानां षट्पदभेदानां द्वापञ्चाशदधिकशतमात्रानियतानां क्रमेण जयविजयादयः संज्ञाः—

अजय विजय वलिकर्णा वीरो वेतालको वृहन्नलकः
मर्कट हरिहर ब्रह्मा इन्दुश्चन्दन-शुभङ्करःशालः १
अथ सिंहः शार्दूलः कूर्मः कोकिलखरौ च कुञ्जरकः
मदनो झषतालाङ्कौ शेषः सारङ्गकः पयोधरकः २
कुन्दः कमलं वारण शरभौ वै जङ्गमो द्युतीष्टं च
दाता शरश्च सुशरः समरः सारसकशारदाविति च ३
मेरुमदकरमृगाः स्युः सिद्धिर्बुद्धिश्च करतलस्तद्वत्
कमलाकरधवलावपि मनो ध्रुवः कनककृष्णशकञ्जनम् ४
मेधाकरोऽथ ग्रीष्मो गरुडः शशिसूर्य्यशल्यनवरङ्गाः
अथ च मनोहरगगने रत्नं नरहीरकभ्रमराः ५
शेखरकुसुमाकरकौ दीपः शंखश्च वसुशब्दौ
एकाग्रसप्तति (७१) मिताः षट्पदभेदा गुरुह्रासात् ६

अ०	गु०	ल०	नाम	अ०	गु०	ल०	नाम
८२	७०	१२	अजयः	११८	३४	८४	शारदः
८३	६९	१४	विजयः	११९	३३	८६	मेरुः
८४	६८	१६	बलिः	१२०	३२	८८	मदकरः
८५	६७	१८	कर्णः	१२१	३१	९०	मृगः
८६	६६	२०	वीरः	१२२	३०	९२	सिद्धिः
८७	६५	२२	वेतालः	१२३	२९	९४	बुद्धिः
८८	६४	२४	वृहन्नलः	१२४	२८	९६	करतलः

८९	६३	२६	मर्कटः	१२५	२७	९८	कमलाकरः
९०	६२	२८	हरिः	१२६	२६	१००	धवलः
९१	६१	३०	हरः	१२७	२५	१०२	मृतकः
९२	६०	३२	ब्रह्मा	१२८	२४	१०४	ध्रुवकः
९३	५९	३४	इन्दुः	१२९	२३	१०६	वलयः
९४	५८	३६	चन्दनः	१३०	२२	१०८	कृष्णः
९५	५७	३८	शुभङ्करः	१३१	२१	११०	शकः
९६	५६	४०	शालः	१३२	२०	११२	जनः
९७	५५	४२	सिहः	१३३	१९	११४	मेधाकरः
९८	५४	४४	शार्दूलः	१३४	१८	११६	ग्रीष्मः
९९	५३	४६	कूर्मः	१३५	१७	११८	गरुडः
१००	५२	४८	कोकिलः	१३६	१६	१२०	शशी
१०१	५१	५०	खरः	१३७	१५	१२२	सूर्य्यः
१०२	५०	५२	कुञ्जरः	१३८	१४	१२४	शल्यः
१०३	४९	५४	मदनः	१३९	१३	१२६	नवः
१०४	४८	५६	मत्स्यः	१४०	१२	१२८	तुरगः
१०५	४७	५८	तालाङ्कः	१४१	११	१३०	मनोहरः
१०६	४६	६०	शेषः	१४२	१०	१३२	गगनम्
१०७	४५	६२	सारङ्गः	१४३	९	१३४	रत्नम्
१०८	४४	६४	पयोधरः	१४४	८	१३६	नरः
१०९	४३	६६	कुन्दः	१४५	७	१३८	हीरः
११०	४२	६८	कमलम्	१४६	६	१४०	भ्रमरः
१११	४१	७०	वारणः	१४७	५	१४२	शेखरः
११२	४०	७२	शरभः	१४८	४	१४४	कुसुमाकरः
११३	३९	७४	जङ्गमः	१४९	३	१४६	दीपः
११४	३८	७६	शरः	१५०	२	१४८	शंखः
११५	३७	७८	सुशरः	१५१	१	१५०	वसुः
११६	३६	८०	समरः	१५२	०	१५२	शब्दः
११७	३५	८२	सारसः	—	—	—	—

तत्राजये चतुश्चत्वारिंशद्गुरवः काव्यस्य षड्विंशतिगुरवस्तूल्लालस्येत्येवं द्रष्टव्यम् ।। दोहा-काव्याभ्यां शृङ्खलायमकलाटानुप्रासवती कुण्डलिका दोहा-रोलाभ्यां वा दोहा काव्योल्लालेभ्यो वा दोहासौराष्ट्रकाव्येभ्यो वा कुण्डलिकासिद्धि मन्यन्ते ।। दोहायाश्चतुष्पदीत्वाभिमानादष्टपदीत्वमाहुः कुण्डलिकायाः ।।—

गगनाधिकारः ।।१०।।

(२५) डांडुरो विंशत्यक्षरं गगनाङ्गणं मदनान्तकं वा ।। (२८) ठं टठं ठुगो हरिगीता ।। (२९) टडं डुं डुखो महाराष्ट्रचा ।। (२९) टडं डुंडा सुरभी चतुष्पदिका ।।

सपदिकाधिकारः ।।११।।

अथ शृङ्गाधिकारः ।।१२।।

(३०) टडं डुं टडौ नो घाता ।। (३१) टणखं नजं टडौ नो घातानन्दः ।। (३२) द्विः कृता शृङ्गा ।।

(३३) द्विः कृता शृङ्गाटिका ।। (३३) डिडिर्लीलावती गणाक्षरानियता ।। (३४) डिटडुगो दण्डकाहलो दण्डकला वा ।। (३५) टडं डुं डागो दुर्मिलिका जशून्या ।। (३६) टडं डुं टडसः पद्मावती ।। (३७) टडं डुंडुं डगस्त्रिभङ्गी जशून्या ।। (३८) टडं डुं टडसो जनहरणं जशून्यं लप्रायम् ।। (३९) डां डुं टडसो द्वारावती ।

इत्युत्कृष्टजातयश्चतुष्पदयः ।

रड्डाधिकारः ।।१४।।

दोहातः प्राक्पञ्चभिः पादैर्नवपदी रड्डा सप्तधा ।।२।।

युग्मपादयोरेकादशमात्रस्यायुग्मपादेषु त्रयोदशमात्रत्वे करभी, चतुर्दशमात्रत्वे नन्दा, पञ्चदशमात्रत्वे चारुसेना, ऊनविंशतिमात्रत्वे मोहिनी ।३। युग्मपादयोर्द्वादशैकादशमात्रस्यायुग्मेषु पञ्चदशमात्रत्वे राजसेना, षोडशमात्रत्वे तालङ्किनी ।४। युग्मयोर्द्वादशमात्रस्यायुग्मेषु पञ्चदशमात्रत्वे भद्रा ।५।

इति बहुपदजातयः ।।४।।

अथ लक्ष्म्यधिकारः ।।१५।।

अष्टभिरष्टभी रयतैर्लक्ष्मीभुजङ्गाभाराः प्रागुक्ताः ।१। ट डं डुं ट ड सं ड सो मदनहरा मदनगृहं वा जशून्यम् ।।२।। ट डं डुं ट ड सं सुं सु मङ्गलमोदः ।।३।। सुरभीचतुष्टयेनैकाऽमृतचतुष्पदिका ।४।

इति लम्बकजातयः ।।६।।

अथैवं लक्षितानामेषां प्राकृतछन्दसामुट्टवणिकाप्रदर्शनी यथा--

१ मधुभाराधिकारः—	मधुभारः	८।८।८।८
६	दीपकम्	१०।१०।१०।१०
	आभीरः	११।११।११।११
	आभीरी	१३।१३।१३।१३
	काहलिः	१४।१४।१४।१४
	सौरभः	१५।१५।१५।१५
२ गाथाधिकारः—	गाथः	१२।१५।१२।१५
७	विगाथः	१२।१५।१२।१८

	गाथा	१२।१८।१२।१५
	उद्गाथः	१२।१८।१२।१८
	गाथिनी	१२।१८।१२।२०
	सिंहिनी	१२।२०।१२।१८
	स्कन्धकः	१२।२०।१२।२०
३ पादाकुलकाधिकारः—	पादाकुलकम्	१६।१६।१६।१६
९	अडिल्ला	१६।१६।१६।१६
	मात्रासमकम्	१६।१६।१६।१६
	चित्रा	१६।१६।१६।१६
	विश्लोकः	१६।१६।१६।१६
	वानवासिका	१६।१६।१६।१६
	उपचित्रा	१६।१६।१६।१६
	सिंहावलोकः	१६।१६।१६।१६
	पज्झटिका	१६।१६।१६।१६
४ प्लवंगमाधिकारः—	प्लवङ्गमः	२१।२१।२१।२१
२	हीरकम्	२३।२३।२३।२३
५ रोलाधिकारः—	रोला	२४।२४।२४।२४
३	वास्तूकप्रकाव्यं	२४।२४।२४।२४
	४५ काव्यं	२४।२४।२४।२४
६ गगनाधिकारः—	गगनाङ्गणं	२५।२५।२५।२५
६	हरिगीता	२८।२८।२८।२८
	महाराष्ट्रचा	२९।२९।२९।२९
	सुरभीचतुष्पदा	३०।३०।३०।३०
	घाता	३१।३१।३१।३१
	घातानन्दः	३१।३१।३१।३१
७ लीलावत्यधिकारः—	लीलावती	३२।३२।३२।३२
६	पद्मावती	३२।३२।३२।३२
	दुर्मिलका	३२।३२।३२।३२
	त्रिभङ्गी	३२।३२।३२।३२
	दण्डकाहलः	३२।३२।३२।३२
	मदनहरा	४०।४०।४०।४०
८ विषमाधिकारः—	गन्धाना	१७।१८।१७।१८
१		

इति चतुष्पदीजातयः चत्वारिंशत् ४०

सपदिकाधिकारः—		
	लक्ष्मी	४०।४०।४०।४०
	भुजङ्गः	४०।४०।४०।४०
	आभारः	४०।४०।४०।४०
	चन्द्रपदी	३२।३२।३२।३२
	दुर्मिलका	३२।३२।३२।३२
	किरीटः	३२।३२।३२।३२
	सहजा	३३।३३।३३।३३
	शृङ्गा	३४।३४।३४।३४
	सुधा	३३।३३।३३।३३
	ललिता	३४।३४।३४।३४
	कमला	३४।३४।३४।३४
	मधुरा	३२।३२।३२।३२
	अलसा	३२।३२।३२।३२
	वन्दिनी	३२।३२।३२।३२
	कामिनी	३२।३२।३२।३२
	मालती	३२।३२।३२।३२
	चित्रपदा	३१।३१।३१।३१
	मदिरा	३०।३०।३०।३०
	भामती	३२।३२।३२।३२
	मञ्जुली	३२।३२।३२।३२
	सरला	३१।३१।३१।३१
	विमला	३०।३०।३०।३०
	सुभगा	३०।३०।३०।३०
	माधवी	३३।३३।३३।३३
	मल्लिका	३१।३१।३१।३१
	लघ्वी	२९।२९।२९।२९
	साध्वी	३०।३०।३०।३०

७ शृङ्गाधिकारः

शृङ्गा			
शृङ्गाटिका			
लीलावती			
पद्मावती			
दुर्मिलिका			
त्रिभङ्गी			
दण्डकला			

९ शिखाधिकारः

शिखा			
शिखा			
खञ्जा			
माला			

१० पेशलाधिकारः

पेशला	११।५।।११।५	१६।१६	३२
द्विपथा	१३।११।।१३।११	२४।२४	४८
सौराष्ट्रा	११।१३।।११।१३	२४।२४	४८
उल्लाला	१५।१३।।१५।१३	२८।२८	५६
द्विपदी	१६।१२।।१६।१२	२८।२८	५६
चूलिका	१३।१६।।१३।१६	२९।२९	५८
चतुर्वला	१६।१४।।१६।१४	३०।३०	६०
खञ्जपदी	२०।२१।।२०।२१	४१।४१	८२

घाता	१०।८।।१०।८	३१।३१	६२
घातानन्दः	११।७।१३।।११।७।१३	३१।३१	६२

११ गाथाधिकारः

गाथः	१२।१५।।१२।१५	२७।२७	५४
विगाथः	१२।१५।।१२।१८	२७।३०	५७
गाथा	१२।१८।।१२।१५	३०।२७	५७
उद्गाथः	१२।१८।।१२।१८	३०।३०	६०
गाथिनी	१२।१८।।१२।२०	३०।३२	६२
सिंहिनी	१२।२०।।१२।१८	३२।३०	६२
स्कन्धकः	१२।२०।।१२।२०	३२।३२	६४

१२ औपच्छन्दसिकाधिकारः

औपच्छन्दसिकः			
वैतालीयम्			
आपातलिका			
चारुहासिनी			
अपरान्तिका			

१३ उत्कच्छाधिकारः

रसिका			
षट्पदम्			
कुण्डलिका			

१४ रड्डाधिकारः

करभी			
नन्दा			
चारुसेना			
मोहिनी			
राजसेना			
तालङ्किनी			
भद्रा			

१४ लक्ष्म्यधिकारः

लक्ष्मीः			
भुजङ्गः			
आभारः			
मदनगृहम्			
अमृतचतुष्पदिका			

इति प्राकृतं प्रकरणम्

लौकिकच्छन्दसामित्थं दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ।
कस्तु शक्नोति सर्वाणि परिच्छेत्तुमियत्तया ।।१।।
तत्तद्देशेषु तद्भाषाभेदेन व्यवहारिभिः ।।
अनेकधा प्रयुज्यन्ते मात्राछन्दांसि सूरिभिः ।।२।।
तदस्मिन् भारते वर्षे संस्कृता प्राकृता च या ।
सर्वसाधारणी भाषा तच्छन्दांसि न्यदर्शयम् ।।३।।

इति वैदिकपरिच्छेद-साधारणपरिच्छेद-लौकिकपरिच्छेदैः कृतावयवं छन्दोव्याकरणं सम्पूर्णम्

अथ छन्दःकल्पः

शिक्षा-गणित-निरुक्ति-व्याकृतयश्छन्दसामुक्ताः
अधुना छन्दःकल्पः प्रकल्पते छन्दसां क्लृप्त्यै ॥
छन्दः कल्पे त्वभिनयकर्म्म च दोषाश्च मर्मचिन्ता च ।
कविकर्पटीकरचना छन्दोमालेति विषयाः स्युः ॥

अथाभिनयक्रियां व्याख्यास्यामः ।—

लक्षणादितः प्रतिपादितानां छन्दसां सम्यक् प्रतिपत्त्यर्थमभिनयकर्म्मापेक्ष्यते । तत्र तावदर्थचिन्ताक्लेशासहिष्णूनां बालानामभ्यासार्थमियमक्षरपरिपाटी विधीयते । यस्य कस्याप्येकजातीयस्यानेकजातीयस्य वा ककारादेर्व्यञ्जनस्य ह्रस्वदीर्घस्वराभ्यां संप्रयोगेण तत्तच्छन्दःस्वरूपं संसाध्यम् । तत्र—

अ आ—इत्याभ्यां प्रथमः पादः । इ ई—इत्याभ्यां द्वितीयः ।
उ ऊ—इत्याभ्यां तृतीयः । अं अः—इत्याभ्यां चतुर्थः इति संप्रदायः

यथा—इन्द्रवज्रायाः—ऽऽ।. ऽऽ।. ।ऽ।ऽऽ

काकाककाका कका काका कीकीकिकीकीकिकिकीकिकीकी ॥
कूकूकुकूकू कुकुकू कुकूकू—कंकंककंकं ककं ककंकः ॥१॥

अथ शालिन्याः—ऽऽऽऽ—ऽ।ऽ. ऽ।ऽऽ

काकाकाका—काकका—काककाका ॥ कीकीकीकी—कीकिकी—कीकिकीकी ॥
कूकूकुकू—कूकुकू—कूकुकूकू ॥ कंकंकंकं—कंकं—कंककंकः

अथ प्रहर्षिण्याः—ऽऽऽ—।।।।ऽ—।ऽ।ऽऽ
काकाका—कककककका—ककाककाका ।
कीकीकी—किकिकिकिकी—किकीकिकीकी ।
कूकूकू—कुकुकुकुकू—कुकूकुकूकू ।
कंकंकं—कककककं—ककंककंकः

इत्येवमन्येषां चान्येषां च यथायथमभिनयः कार्य्यः ॥

इत्यभिनयकर्म्मप्रकरणम् ॥

अथ फलोपयुक्तिः

अथातः फलक्रियानुक्रम्यते । तत्रादौ वर्णशुद्धिर्द्रष्टव्या । सा चैकपद्यात्मके काव्ये तस्यैवाद्यक्षरानुगता स्यादनेकपद्यात्मके तु स्तवकाव्यादौ प्रथमस्यैव पद्यस्याद्यक्षरानुगता साम्प्रदायिकैरिष्यते न त्वन्यत्र । तत्र तावद् भरतः—

अ. क. च. ट. त. प. य. श. वर्गाः,
आयुः कीर्त्तिमपकीर्त्तिसौभाग्ये ।
जनताधिकारसम्मृति—
सर्वस्वापायमादधते ॥१॥

इत्येवं वर्गानुसारेण वर्णानां शुभाशुभफलप्रयोजकत्वमाचष्टे ॥

तत्र भवान् भामहस्त्वेवमाह—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति, मुदिवर्णाद्, धनशता—
न्युवर्णादख्यातिः सरभसमृवर्णाद् वरहितात् ॥
तथा ह्यचः सौख्यं ङञणरहितादक्षरगणात् ।
पदादौ विन्यस्ताद् भरवहलपूर्वैर्विरहितात् ॥१॥

अत्र पूर्वशब्देन भ. ट. ठ. ढ. थ. फ. म. षाणां ग्रहणम् । तेन—

ङं भं ञं टं ठ ढं णं थं
फं वं भं मं र लं व ळं
षं ह् मे ता न् ॠकारं च
संयुक्तांश्चादितस्त्यजेत् ॥१॥

एतदूनविंशतिवर्णभिन्नानां कादीनां पद्यादौ विन्यासाच्छुभं भवतीत्यभिप्रायः ॥

अन्ये तु प्रत्येकं वर्णशुद्धिफलमाहुः ॥—

कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा चः सुख छः ।
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठो खेददुःखे ॥
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं ।
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखान् पवर्गः ॥१॥

यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं षश्च खेदं ।
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च ळः क्षः समृद्धिं करोति ॥
संयुक्तश्चेह न स्यात् सुखभरणपटुर्वर्णविन्यासयोगः ।
पद्यादौ गद्यचक्रे बचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥२॥

तदित्थमाख्याता वर्णशुद्धिः । अतः परं गणशुद्धिराख्यायते ॥—

सा चेयं गणशुद्धिरपि वर्णशुद्धिवत् प्रथमस्यैव पद्यस्य प्रथमगणानुरोधेनैवा-स्थीयते नान्यत्रेति विज्ञेयम् ।। तत्रोक्ता वर्णगणा मयरसतजभनसंज्ञाः । तेषां क्रमेण भूमि—जल—वह्नि—वायु—व्योम—रवि—चन्द्र—यजमानाख्याः शिवस्याष्टौ मूर्त्तयो देवता भवन्ति । अतस्तदनुसारेण श्रीर्वृद्धिर्मृत्युर्विदेशः शून्यं रोगो यशः सुखमित्येतानि फलान्यादिश्यन्ते । तदुक्तम्—

मो भूमिः श्रियमातनोति य जलं वृद्धिं र वह्निर्मृतिं,
सो वायुः परदेशदूरगमनं त व्योम शून्यं फलम् ।।
जः सूर्यो रुजमादधाति विपुलां भेन्दुर्यशो निर्मलं
नो नागश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः ।।

मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियं दिशति यो वृद्धिं जलं चादिलो,
रोऽग्निर्मध्यलघुर्विनाशमनिलो देशाटनं सोऽन्तगः ।।
तो व्योमान्तलघुर्धनापहरणं, जोऽर्को रुजं मध्यगो,
भश्चन्द्रो यश उज्ज्वल मुखगुरुर्नो नाक आयुस्त्रिलः ।।१।।

अत्र तनयोः फलभेदो दृश्यते । प्राकृतपैङ्गलेऽपि तत्रतत्र फलातिरेको लक्ष्यते ।

गाथा दोहाकाव्ये मगणः स्थिरकार्य्यमृद्धिं च । सुखसंपदं तु यगणो रगणो मरणं समादिशति ।१। सः सहवासान्नितरां विवासयति तः फलं वदति शून्यम् । जः खर-किरणान् विकिरति भगणः कुशलानि सन्तनुते ।२। यदिचेन्नगणः प्रथमो भवति तर्द्धिश्च बुद्धिरास्फुरति । तरति स नूनं समरं राजकुलं दुस्तरं तरति ।।३।।
अत्र मनयोर्भयोश्च विशेषः ।।

मः संपदं वितनुते, नगणो यशांसि, श्रेयः करोति भगणो यगणो जयं च ।।
देशाद् विवासयति सो रगणो निहन्ति राष्ट्रं विनाशयति जस्तगणोऽर्थहन्ता ।।१।।

इति भूषणोक्तं सजयोर्विपर्य्यासकरणात् पाठाशुद्धचा राष्ट्रस्य पूर्वान्वयित्व-करणादन्वयाशुद्धचा चाभ्युपगम्य वृत्तदर्पणे ।।

मिश्रभीष्मस्त्वन्यथैव फलानि कल्पयति—

मः सम्पत्तिकरो, यशांसि नगणो दद्यात्तथा, भः शिवं,
कुर्य्याद्, यो विजयं करोति, रगणो राज्यस्य नाशं तथा,
देशत्यागजदुःखदो हि जगणो, हन्ता च द्रव्यस्य तः,
स्वात्मानं सगणो विनाशयति, चेत् पद्यादिगो नान्यथा ।।१।।

तदेतदस्य प्रामादिकत्वादनादेयम् ।। एषां च याथार्थ्यं परीक्षयैवानुसन्धेयम् ।।
प्रदर्शनी यथा—

गणाः	म	य	र	स	त	ज	भ	न
चिह्नानि	SSS	ISS	SIS	IIS	SSI	ISI	SII	III
देवताः	पृथ्वी	जलम्	अग्निः	वायुः	आकाशः	सूर्यः	चन्द्रः	आत्मा
फलानि	ऋद्धिः सम्पद् स्थिर-कार्यम्	वृद्धिः सुखसंपद् विजयः	मृत्युः	विदेशः	शून्यं द्रव्यनाशः	रोगः राष्ट्रनाशः	यशः कुशलम्	आयुः, ऋद्धिः बुद्धि, सुखं, प्रौढ़ता, यशः
भीष्मोक्त फलानि	संपत्ति	विजयः	राज्यनाशः	स्वात्मनाशः	द्रव्यनाशः	देशत्यागज-दुखम्	शिवः	यशः

इदं च पद्यावयवप्रदेशावच्छेदेन सतामेषां फलविशेषप्रयोजकत्वमलौकिकी शक्तिः। एतत्फलविशेषतारतम्यानुरोधेनैव चैतेषां मित्रादिसंज्ञया व्यवहारोऽनुवर्त्तते। तदुक्तम्।

मनौ मित्रे, भयौ भृत्यावुदासीनौ जतौ स्मृतौ।
रसावरी नीचसंज्ञौ फलं नामाऽनुसारतः ॥१॥

अथ गणद्वयवशेनापि फलमादिश्यते—

मित्रान् मित्रादयः स्युर्यदि धनमुदयं शून्यकं बन्धुपीड़ां,
भृत्यान् मित्रादयश्चेद् धृतिमधिकगुणं हानिशोकौ च कुर्य्युः।
औदास्यार्थाच्च मित्रादय इह कुसुखं धैर्य्यमीर्ष्याञ्च वैरं,
शात्रोर्मित्रादयश्चेद् भ्रममधिगृहिणी नाशमाधि विनाशम् ॥१॥

अत्राप्यन्यथा भीष्मस्य फलादेशः—

मित्रान् मित्रे कृते सिद्धिर्भृत्ये तस्मात् कृते यशः।
उदासीने कृते न श्रोः पोडा शत्रौ कृते सति ॥१॥

भृत्यान् मित्रे फलं सम्यक् कृते भृत्ये च शासनम्।
उदासीने कृते हानिर्भृत्याच्छत्रौ च हारवः ॥२॥

उदासीनोत्तरं मित्रे फलं साधारणं स्मृतम्।
उदासीनोत्तरं भृत्ये चापत्तिः सर्वतोमुखी ॥३॥

उदासीनादुदासीने फलाभावः प्रकीर्त्तितः॥
उदासीनोत्तरं शत्रौ विरोधः स्यात् परस्परम् ॥४॥

शत्रूत्तरं कृते मित्रे सर्वं निष्फलतां व्रजेत्।
शत्रूत्तरं कृते भृत्ये स्त्रीनाशो जायते ध्रुवम् ॥५॥

शत्रूत्तरमुदासीने सर्बनाशः प्रजायते॥
शत्रूत्तरं कृते शत्रौ जायते नायकक्षयः ॥६॥

तस्मात्पूर्वोत्तरत्वे तु विचार्य्यं गणयोः सदा ।।
यावद्गणद्वयं श्लोकः कर्त्तव्यः सर्वसूरिभिः ।।७।।

अत्रापि मतभेदे याथार्थ्यं परीक्षयैवावसातव्यम् ।। प्रदर्शनीचक्रं यथा—

	मित्रे		भृत्ये		समे		शत्रौ	
मित्रात्	धनम्	सिद्धिः	उदयः	यशः	शून्यम्	अश्रीः	बन्धु पीडा	पीडा
भृत्यात्	धृतिः	सुफलम्	आधिक्यम्	शासनम्	हानिः	हानिः	शोकः	शोकः
समात्	कुसुखम्	सामान्य-फलम्	धैर्य्यम्	आपत्ति-र्महती	ईर्ष्या	नफलं	वैरम्	वैरम्
शत्रोः	भ्रमः	निष्फलम्	स्त्रीनाशः	स्त्रीनाशः	आधिः	सर्व-नाशः	विनाशः	नायक-क्षयः

अत्रैकगणफलादेशे वृत्ते यदयं गणद्वयफलादेशः प्रवर्तते तन्मतान्तरमिति प्राञ्चः । नव्यास्तु पूर्वगणस्य दुष्टत्वे तत्परिहारतयोत्तरगणफलादेशमिच्छन्ति । ततश्च पूर्वगणापेक्षयोत्तरगणस्याधिकफलजनकत्वातिदेशात् पूर्वविधिना प्राप्तोऽपि सामान्यभूतो गणदोषः परगणशुद्धिवशेन तिरस्क्रियते इत्यर्थः सिद्धः । तदुक्तम्—

यदि दुष्टफलश्चादौ गणो दैववशाद् भवेत्
तदा तद्दोषशान्त्यर्थं शोध्यः स्यादपरो गणः १

तथा चैषां मते गणद्वयसमष्टिभावस्याप्रयोजकत्वात् केवलं द्वितीयगणस्यैव प्राधान्यं पर्य्यवसीयते ।

प्रामाणिकास्तु यत्र पद्यादौ गणद्वयं न सम्भवति तत्रासावेकगणसत्तामात्रनिबन्धनः पूर्वोक्तसामान्यविधिरेवोपतिष्ठते । यत्र तु गणद्वयसत्त्वेऽपि गणत्रयं न सम्भवति तत्र गणद्वयनिबन्धनफलादेशस्य विशेषविधेरेवापवादविधया प्रवृत्तिर्नतु फलद्वयसमुच्चयः । पूर्वगणस्योत्तरगणजन्यफलसिद्धौ विशेषाधायकत्वेन पर्युपयुक्ततया पार्थक्येन फलप्रदाने व्यापारालाभात् । तथा चैकगणनिरूढेन सामान्यविधिना प्राप्तोऽपि गणदोषो गणद्वयनिरूढेन विशेषविधिनाऽपोद्यते इति सिद्धम् ।। अत एव प्रथमगणस्य शुद्धत्वेऽपि द्वितीयगणस्य दुष्टत्वे पीडाशोकादीनि, द्वितीयगणस्य शुद्धत्वेऽपि प्रथमगणस्य दुष्टत्वे भ्रमस्त्रीनाशादीन्यनिष्टफलान्यभिधीयमानान्युपपद्यन्ते । शुद्धस्य द्वितीयस्य प्रथमगणप्रयोज्यदोषोषशमकत्वाभ्युपगमे तु तदनुपपत्तिः स्पष्टैव । तस्मान्न तत्रैकगणनिबन्धनः फलादेशः प्रवर्तते । गणत्रयसंभवे तु प्रथमगणे प्रथमो विधिः ।तदुत्तरगणद्वये चोत्तरो विधिरित्येवमुभयथापि फलादेशः शक्यो वक्तुम् । सति सामञ्जस्ये फलसमुच्चयस्थापरिहार्य्यत्वात् । तत्र प्राथमिकैकगणापेक्षया परस्य

गणद्वयस्य बलवत्त्वात्पूर्वस्य दुष्टत्वेऽप्युत्तरस्य शुद्धत्वे प्रयोगानुज्ञानार्थं 'यदि दुष्टफलश्चादाविति शास्त्रमप्युपपद्यते इति सर्वं समञ्जसमित्याहुः ।।

इदं चात्रावधेयम् । गणशुद्धौ यद्यप्येते वर्णगणा एवाख्यातास्तथापि नैतावता वर्णवृत्तगतैवेयं गणशुद्धिर्न मात्रावृत्ते इति भ्रमितव्यम् । फलाभिसन्धित्साया उभयत्र तुल्यतया वर्णगणैरेयोभयत्रफलनिरूपणसंभवेन च तत्र तत्त्यागे मानाभावात् । वर्णगणानां मात्रावृत्तरचनोपयोगिव्यवहारानौपयिकत्वेऽपि पद्यादौ लगविन्यासविशेष-निबन्धनफलसम्पत्तिप्रयोजकताख्यानस्य मात्रावृत्तेऽप्यबाधितत्त्वात् ।। तस्मादेष सर्वविधपद्यजातिसाधारणो धर्मः इति साम्प्रदायिकाः । केचित्तु मात्रावृत्ते पथ्यावक्त्रादिसजातीयवर्णवृत्तेऽपि वा सेयं गणशुद्धिर्नतु वर्णवृत्तेऽपि । तत्र गणानां स्थाननियमादन्यथा कर्त्तुमशक्यतया अशक्ये ह्यर्थेऽननुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यापत्त्या तत्र विध्यप्राप्तेः । दुष्टगणवत्पद्यस्य काव्यादौ प्रयोगनिषेधेन शास्त्रचारितार्थ्येऽपि तद्घटितेन्द्रवज्रादीनां सघटितदुर्मिलादीनां च मुक्तकतया सर्वथैव रचनोच्छेदप्रसङ्गा-पत्तेश्च । "यदि दुष्टफलश्चादौ गणो दैववशाद् भवेत् । तदा तद्दोषशान्त्यर्थं शोध्यः स्यादपरो गणः',--इत्येवमादीनां सामान्यवचनानां सङ्कुचितविषयकत्वकल्पनेऽ-र्थान्तरतात्पर्य्यकत्वकल्पने वा स्वारस्यभङ्गापत्तेश्च इत्याकलयन्ति । परे त्वविशेषात् सर्वत्रैव गणफलमादिशन्ति ।। इदं च फलं यत्र नायको वर्ण्यते तत्र तद्गतं स्यादन्यथा तु कविगतमेव । एवं यत्र साक्षादुपमया वा देवता वर्ण्यते देवतावाचि शुभाशंसि वा किञ्चित्पदमादौ प्रयुज्यते तत्रेयं फलोपयुक्तिः कुत्रापि नोपकल्पते तदुक्तम्—

वर्ण्यते नायको यत्र फलं तद्गतमादिशेत् ।
अन्यथा तु कृते काव्ये कवेर्दोषावहं फलम् ।।१।।
देवता वर्ण्यते यत्र क्वापि काव्ये कवीश्वरैः ।
मित्रामित्रविचारो वा न तत्र फलकल्पना ।।२।।
देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ।।३।।

तदित्थं निरूपिता साम्प्रदायिकाभिप्रेता फलोपयुक्तिः ।।—

इति फलप्रकरणम्

अथ मर्मचिन्ता

यत्किञ्चिदतिरेकेणैव तच्छन्दश्छन्दोऽन्तरं भवतीति परिबोधयितुमितश्छन्दो-मर्मचिन्ता विधीयते । सा द्विविधा । वृत्तद्वयमर्मचिन्ता पादद्वयमर्मचिन्ता च । तत्र समवृत्तानामाद्या । अर्द्धसमादीनां त्वन्या । सा पुनर्द्वेधा—समासारम्भकपदपरिवृत्ति-कर्मणा वर्णक्षयोपचयकर्म्मणा च । तथाहि—

१ पदसाम्यप्रकारः १

(१) प्रतिपादं रुगपदमन्तिमं चन्द्रलेखापद्मस्रग्धरामन्दाक्रान्तानां मालिनी-शालिन्योश्च ।।१।। तद्विपरीतं तु गरुपदमन्तिमं शार्दूलविक्रीडितचन्द्रोद्योत-ज्योत्स्नानां केसररोहिणीहारिणीछायानां च ।।२।। जुगपदमन्तिमं चलहरिणी-मकरन्दिकानां जयोपमालिन्योश्च ।।३।। गभकं पदमन्तिमं मदनललितासुवदनयोः ।।४।। तदा गहान्या भकं पदमन्तिमं शिखरिण्याः ।।५।।

अथ लनसपदं मध्यमं स्रग्धराचन्द्रलेखाचलकेसरसुवदनानाम् ।।१।। तदा लिहान्या नसपदं मध्यमं शिखरिणीमन्दाक्रान्तामकरन्दिकानां मदनललिताहारिणी-छायानाम् ।।२।। मगं तु मध्यमं पदं पद्मरोहिणीहारिणीनाम् ।।३।। अथ मगं पदमादिमं मन्दाक्रान्ता-चन्द्रलेखा-मदनललिता-हारिणीचलकेसराणां शालिन्याश्च ।।१।। मगयं पदमादिमं स्नग्धरासुवदनयोर्जयाज्योत्स्नयोश्च ।।१।। यमं तु पदमादिमं शिखरिणी-मकरन्दिका-छायानाम् ।।३।। नसं पदमादिमं पद्मरोहिणीहरिणीनाम् ।।४।। लनसगं पदमादिमं चन्द्रोद्योतोपमालिनीमालिनीनाम् ।।५।।

इति पदसाम्यप्रकारः—१—।।

---

२ सामान्यविशेषप्रकारः २

(२) उत्तरतो रुगेण सामान्येऽपि पूर्वतो गमेन शालिनी, लनसगेन मालिनी, ।।१।। उत्तरतो गरुणा सामान्येऽपि पूर्वतो गमयेन ज्योत्स्ना, लनसगेन चन्द्रोद्योतः ।।२।। उत्तरतो जुगेन सामान्येऽपि पूर्वतो गमयेन जया लनसगेनोपमालिनी ।।३।। पूर्वतो गमयेन सामान्येऽप्युत्तरत्तो जुगेन जया, गरुणा ज्योत्स्ना ।।४।।—पूर्वतो लनसगेन सामान्येऽप्युत्तरतो जुगेनोपमालिनी, रुगेण मालिनी, गरुणा चन्द्रोद्योतः ।५।

इति सामान्यविशेषप्रकारः ।।२।।

आदेशप्रकारः ॥३॥

(३) अथ—स्नग्धरान्त्यपदस्य रुगस्य स्थाने गभकादेशे सुवदना ॥१॥ स्नग्धरामध्यपदस्य नुगस्य लोपेऽथान्त्यस्य रुगस्य स्थाने जुगादेशे जया, तुगादेशे ज्योत्स्ना ॥२॥ स्नग्धरादिपदस्य गमयस्य यलोपे चन्द्रलेखा ॥३॥

अथ—चन्द्रलेखान्त्यपदस्य रुगस्य स्थाने जुगादेशे चलं, तुगादेशे केसरम् ॥१॥ चन्द्रलेखामध्यमपदस्य नुगस्य लोपे शालिनी ॥२॥ चन्द्रलेखादिपदस्य गमस्य लोपे मध्यमस्य नुगस्योत्तरं गागमे मालिनी ॥३॥ चन्द्रलेखामध्यमपदस्य लनसस्य ललोपे मन्दाक्रान्ता ॥४॥

अथ—मन्दाक्रान्तान्त्यपदस्थयो रुगयोर्विपर्य्यासे हारिणी ॥१॥ केसरमध्य पदस्य लनसस्य ललोपे हारिणी ॥२॥ हारिण्यन्तपदस्य तक्षकस्य क्षस्थाने लादेशे मदनललिता ॥३॥ हारिण्यन्तपदस्थयोर्गर्वोर्विपर्य्यासे मध्यादिपदयोर्व्यत्यासे च पद्मम् ॥४॥

अथैवं—स्रग्धरामध्यपदस्य लनसस्य ललोपे चित्रमाला, नलोपे काञ्ची, सर्वलोपे लक्ष्मीरथादिगुरुस्थाने लाभ्यां महास्रग्धरा ॥१॥

अथ—शार्दूलविक्रीडितान्ते सलगैर्विभ्रमगतिरन्त्यस्य तक्षकस्य क्षस्थाने लादेशे शार्दूलललितमथादिगुरुस्थाने लाभ्यां मत्तेभविक्रीडितम् ॥२॥

अथ—मन्दाक्रान्तामध्यपदस्य लोपे शालिनी स्यादादौ गागमे तु कुसुमितलतावेल्लिता, लागमे चन्द्रलेखा, अथादिपदस्यादौ कागमे मेघविस्फूर्जिता ॥३॥

अथ—चन्द्रलेखामध्यपदस्य नुगस्य स्थाने मगादेशे चित्रा अथादिपदस्यादौ कागमे शोभा ॥४॥

अथ—शिखरिणीप्रान्तसस्य क्षादेशे जयानन्दम् ॥१॥ वसन्ततिलकानलोपादिन्द्रवज्रा ॥२॥ वसन्ततिलकेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राणामन्तक्षस्य रादेशे मृदङ्गकेन्द्रवंशावंशस्थाः ॥३॥ वंशस्थस्यादौ लागमे सुदन्तमथ जतोत्तरं कस्य सादेशे मञ्जुभाषिणी ॥४॥ स्वागतारथोद्धतयोरादौ घागमे कुटजनन्दिन्यौ, गागमे तु मधुराललिते ॥५॥ रथोद्धतान्तकलोपे भद्रिका ॥६॥

इत्यादेशप्रकारः ॥३॥

अथ द्वैगुण्यप्रकारः ४

किः प्रमाणी, खिःसानी, वितानमन्यत् ॥१॥

प्रमाणीद्वैगुण्ये नाराचम्, समानीद्वैगुण्ये चञ्चला ॥२॥

चञ्चलान्सलोपे तु चामरः ॥३॥

इति द्वैगुण्यप्रकारः ॥४॥

अथ यतिप्रकारः ५

निसश्चन्द्रावर्ता, तस्याः षष्ठेऽक्षरे यतौ माला, सप्तमे सरभा, अष्टमे मणिगुणनिकरः।

इति यतिप्रकारः ॥५॥

विपर्यासप्रकारः ६

सकपदाल्लसुपदे प्रतिमाक्षरा तद्विपर्यासे द्रुतविलम्बितम् ॥७॥

इति विपर्यासप्रकारः ॥६॥

पादवैशेष्यप्रकारः ॥७॥

अथैवं—पादयोरपि । यथा पुष्पिताग्रायां नलोत्तरं घरयस्यायुग्मत्वं युग्मत्वं च भरयस्य ॥१॥

इति पादवैशेष्यप्रकारः ॥७॥

इत्थमितरेषामपि यथायथमूहनीयम् ॥

अक्षरविनिमयप्रकारः ॥८॥

(८) अथेत्थं लौकिकच्छन्दसि सपदिकायां लक्ष्म्याः प्रथमाक्षरस्यान्तन्तो निवेशे भजङ्गत्वं, भुजङ्गस्यापीत्थंकारे आभारत्वमाभारस्यापीत्थंकारे लक्ष्मीत्वम् ॥१॥ अथवा लक्ष्म्याः प्रथमाक्षरद्वयस्यान्ततो निवेशे आभारत्वमाभारस्येत्थंकारे भुजङ्गत्वं भुजङ्गस्येत्थंकारे लक्ष्मीत्वम् ॥२॥ अथवा लक्ष्म्या अन्त्याक्षरस्यादितो निवेशे आभारत्वमाभारस्येत्थंकारे भुजङ्गत्वं भुजङ्गस्येत्थंकारे लक्ष्मीत्वम् ॥३॥ एवं चन्द्रपदीकिरीटदुर्म्मिला व्याख्याताः ॥४॥

इत्यक्षरविनिमयप्रकारः ॥८॥

अक्षरयोगायोगप्रकारः ॥९॥

अथ मदिरादीनां गणविनिमयः समुन्नीयते—

(९) भाभिगो मदिरा, भाभिक्षो मालती, भाभिखश्चित्रपदा, भिभिः किरीटम् । मदिरादीनामादौ लयोगे मल्लिका, माधवी, चन्द्रपदी, सहजाः, घयोगे तु दुर्म्मिला, कमला, सुधा, ललिताः ॥१॥

जाजिको मल्लिका, जाजियो माधवी, जिजिश्चन्द्रपदी, जिजिलः सहजा । मल्लिकादीनामादौ लयोगे दुर्म्मिला, कमला, सुधा, ललिताः । लवियोगे तु मदिरा, मालती, चित्रपदा, किरीटाः ॥२॥

सिसिर्दुर्मिला, सिसिगः कमला, सिसिलः सुधा, सिसिघो ललिता । दुर्म्मिलादीनामादौ घवियोगे मदिरा, मालती, चित्रपदा, किरीटाः । लवियोगे तु मल्लिका, माधवी, चन्द्रपदी, सहजाः ॥३॥

तदित्थं मदिरादीनां द्वादशानामपि सपदिकानां भकारेणैव जकारेणैव सकारेणैव वा सिद्धिं समधिगच्छन्ति ॥४॥

तथा च प्रदर्शिनी चक्रम्—

० भाभिगो मदिरा	० जाजिको मल्लिका	० सिसिर्दुर्मिला
० भाभिक्षो मालती	० जाजियो माधवी	० सिसिगः कमला
० भाभिखश्चित्रपदा	० जिजिश्चन्द्रपदी	० सिसिलः सुधा
० भिभिः किरीटः	० जिजिलः सहजा	० सिसिघो ललिता

ल	भाभिगो मल्लिका	ल	जाजिको दुर्मिला	ग	सासिर्मदिरा
ल	भाभिक्षो माधवी	ल	जाजियः कमला	ग	सासिगो मालती
ल	भाभिखश्चन्द्रपदी	ल	जिजिः सुधा	ग	सासिलश्चित्रपदा
ल	भिभिः सहजा	ल	जिजिलो ललिता	ग	सासिघः किरीटः

घ	भाभिगो दुर्मिला	ख	जाजिको मदिरा	क	सासिर्मल्लिका
घ	भाभिक्षः कमला	ख	जाजियो मालती	क	सासिगो माधवी
घ	भाभिखः सुधा	ख	जिजिश्चित्रपदा	क	सासिलश्चन्द्रपदी
घ	भिभिः ललिता	ख	जिजिलः किरीटः	क	सासिघः सहजा

इत्यक्षरयोगावोगप्रकारः ॥९॥

इत्थमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

इति च्छन्दोमर्माणि ॥

एवमेव दण्डकेष्वक्षरयोगायोगप्रकारो द्रष्टव्यः। तत्रोक्तानामष्टादशानां दण्डकानां यगणेनेव सिद्धिर्यथा—

(१) १ नुमयाया मेघमाला
२ नुमयायाको महानिधिः
३ नुरयाया रत्नाकरः
४ नुरयायाको विनेता
५ नुगयायाकश्चण्डवृष्टिः

१ नुयायिः राजी
२ नसयायिर्भरुः
३ नसयायिकश्चन्द्रबाला
४ नलयायिको मठः
५ नक्षयायिको गुणाकरः

१ नक्षयियि : प्रमथनाथः
२ नक्षयियिलो भैरवः
३ नगयियिः खलपूः
४ नगयियिलश्चापः
५ नघयियिर्महाधनः

६ नधयियिलो रणः
७ नलयियिः प्रतीतिः
८ नलयियिलः सर्वदः

अथ रगणेनैव सिद्धिर्यथा—

१ नुकरारागो राजी
२ नुखरारागो रत्नाकरः
३ नुक्षरारागो मेघमाला
४ नुगराराखो रणः

१ नुरारिश्चण्डवृष्टिः
२ नुखरारिर्विनेता
३ नुक्षरारिर्महानिधिः
४ नुक्षकरारिर्गुणाकरः
५ नसकरारिश्चन्द्रवालः
६ नसरारिर्मठः
७ नसरारिखः सर्वदः
८ नसरारिगः प्रतीतिः
९ नुगरारिगो महाधनः

१ नरिरिखः चापः
२ नगरिरिखो भैरवः
३ नरिरिगः खलपूः
४ नगरिरिगः प्रमथनाथः
५ नघरिरिगो भरुः

एवमेव तगणेनापि साधनमुन्नेयमिति दिक् ॥—

कविकर्पटी

अथ कविकर्पटीकरचनामुपक्रमिष्यामः। सा च श्लोकरचनाकौतुकव्यासक्तमनसां मृदुमतीनां बालानामभ्यासदार्ढ्याय नितान्तमुपयुज्यते। तस्मात् शंखोक्तप्रकारेणासौ निर्दिश्यते। तथाहि—

आदौ तावदनुष्टुब्वृतेन शुक्लकृष्णादिवस्तुवर्णनमारभ्यते ॥

तत्र तावत् प्रथमपादे

पञ्चाक्षरम् (शुक्लवर्णने)

कर्पूरव्रात। हिन्डीरपिन्ड। रजनीकर। सम्बूककण्ठ। गङ्गाप्रवाह। मृडालनाल। शंखसञ्चय। मल्लिकाचय। कैरवव्रात। चन्दन इव। नीहारहार। कैलासकाश।

सुधासञ्चयः। मल्लिकापुष्पम् । केतकीपत्रम् । प्रालेयजालम् । वर्षोपलौघः । कुन्दसन्दोहः। स्फटिकोत्पलम्। शालितण्डुलम्। केतकीगर्भ :। कदलीसारः। मृडालसूत्रम्। शरदम्भोदः। नवनीतौघः। शुभ्राभ्रद्युतिः। शफरीचयः ।।

अथ (कृष्णवर्णने)

यमुनातीर। कालिन्दीजल। नीलनीरद। नवजीमूत। मसीसञ्चय। कामिनीकेश। भ्रमरश्रेणी। निर्वाणालात। घनसन्दोह। अतसीपुष्प। यामाङ्गीगात्र। कोकिलश्रेणी ।।

अथ (लोहितवर्णने)

बन्धूकपुष्पम्। रक्तचन्दनम् । किंशुकोत्करः। जपाकुसुमम्। मञ्जिष्ठरागः। गैरिकद्रवः। प्रवालजालम्। दाडिमीबीजम्। तप्तकाञ्चनम् ।।—

अथ (पीतवर्णने)

सुवर्णचारु। मञ्जुकाञ्चनम्। चारुचम्पकः। कूष्माण्डपुष्पम्। कर्पासपुष्पम्। हरिद्राद्रवः। हेमपङ्कजम्। कनकद्रवः। गौराङ्गीगात्रम्। शणप्रसूनम्। विद्युत्सञ्चयः। कानकाम्भोजः ।।

पुनस्तत्र त्र्यक्षरम्

नीकाशम्। सङ्काशम्। संप्रख्यम्। तुल्यश्रीः। तुल्याभः। संस्पर्द्धी। विध्वंसी। प्रमाथी। विद्वेषी। सम्पर्की।

द्वितीयपादे द्वयक्षरम्

कान्तिः। तेजः। दीप्तिः। प्रभा। द्युतिः। रोचिः। शोचिः। भानुः। रश्मिः वपुः ।। एषामग्रे द्वयक्षरं पदं योज्यम् यस्य, तस्य।

पुनर्द्वितीयपादे चतुरक्षरम्

प्रसाद्यते। विलोक्यते। प्रतीयते। प्रतीक्ष्यते। प्रगीयते। प्रणीयते।

तृतीयपादे त्र्यक्षरम्

चन्द्रोऽयम्। घटोऽयम्। प्रासादः। मेघोऽयम्। सुवर्णः। पर्वतः। समीरः। समुद्रः ।।

पुनस्तृतीयपादे पञ्चाक्षरम्

राजते रम्यः। शोभते चन्द्रः। भासते भास्वान्। शोभते भद्रः। प्रेक्षते भूयः। दृश्यते नूनम्। वीक्ष्यते लोके ।।

चतुर्थपादे त्र्यक्षरम्

नितान्तम्। नियतम्। सर्व्वदा। सततम्। सुतराम् ।।

पुनश्चतुर्थपादे पञ्चाक्षरम्

लोचनप्रियः । कामिनीप्रियः । जनवल्लभः ।। इत्यादि योज्यम् ।।

पुनरनेनैव वृत्तेन किञ्चिद् भण्यते ।

प्रथमपादे चतुरक्षरम्

पुण्यधाम । महाबुद्धिः । सानुरागः । निष्कलङ्कः । दयासिन्धुः । जगत्ख्यातः। सभाशूरः । महावीरः । महासूरिः । मित्रचन्द्रः । दुष्टकालः ।

द्वितीयपादे चतुरक्षरम्

पण्डितौघः । नित्याचारः । वेदशास्त्रम् । श्रीवेदान्तः ।।

पुनर्द्वितीयपादे चतुरक्षरम्

निजाश्रयम् । निकेतनम् । सुमन्दिरम् । निजालयम् ।

चतुर्थपादे त्र्यक्षरम्

विश्रुतः । विख्यातः । प्रख्यातः । प्रसिद्धः । कीर्तितः । प्रश्रुतः ।

पुनरत्रैव पञ्चाक्षरम्

पृथिवीतले । भुवनोदरे । सर्वदा क्षितौ । भूतले सदा । सुतरां भुवि । इत्यादि योज्यम् ।।

अतः परमनेनैव देवद्विजगुरुवर्णनमारभ्यते ।।

तत्र प्रथमपादे चतुरक्षरम्

वासुदेवः । देवराजः। महादेवः । महाकीर्तिः। महाबुद्धिः । विशुद्धात्मा। कृपायुक्तः।

पुनरत्रैव

जगत्येषः । विभात्येषः । कृती नूनम् । महाप्रज्ञः । प्रसन्नात्मा ।।

द्वितीयपादे त्र्यक्षरम्

कृपया । धर्मेण । सुखेन । विद्यया । वपुषा । सुकृता । कलया ।।

पुनरत्रैव पञ्चाक्षरम्

समलंकृतः । सुरभीकृतः । परिरक्षितः । गुरुपण्डितः । नन्दितःसदा ।

तृतीयपादे त्र्यक्षरम्

आनन्दः । भुवनम् । सुकृतम् । सुनीतिः । सुमनाः ।

पुनः त्र्यक्षरम्

कीर्यते । दृश्यते । दीप्यते । इत्यादि ।

पुनरत्रैव येनेत्यादि यथासंभवं तृतीयान्तादिकं योज्यम्

चतुर्थपादे—

निश्चितम् । सर्वदा । सन्ततम् । इत्यादि ।

पुनरत्रैव

खलु सर्वदा । समनन्तरम् । पृथिवीतले । विश्वमण्डलम् । क्षणमात्रतः । दर्शनादिह । दृष्टिमात्रतः ॥

पुनरनेनैव वृत्तेन भण्यते—

(१) प्रथमपादे चतुरक्षरम्

वासुदेवः । वागीश्वरः ।

पुनः

सदा वन्दे । सदा नौमि । चिरं नौमि । नमस्यामि । भृशं स्तौमि ॥

(२) द्वितीयपादे त्र्यक्षरम्

कृपया । दयया । मेधया ।

पुनः पञ्चाक्षरम्

परिराजितम् । द्योतिताक्षरम् ।

(३) तृतीयपादे त्र्यक्षरम्

प्रसादः । संतोषः । सुरभिः । सुजातः । सुकृतिः । सुतेजाः । सुपादम् ।

पञ्चाक्षरम्

शोभते भद्रः । राजते रम्यः । वीक्ष्यते लोके । दृश्यते नूनम् । दीव्यते येन । नीयते येन । जन्यते येन । क्षयितं येन ।

(४) चतुर्थपादे चतुरक्षरम्

नीरजेन । वारिदेन । इन्द्रनीलैः । इन्दीवरैः ।

पुनः

ससम्भ्रमम् । प्रतिभ्रमम्

पुनरनेनैव वृत्तेन—

(१) प्रथमपादे त्र्यक्षरम्

प्रतीयात् । प्रेमवान् । अहिंसुः । सोदयः ।

पुनः चतुरक्षरम्

सर्वसत्वेषु । सर्बलोकेषु । मित्रवर्गेषु ।

(२) द्वितीयपादे पञ्चाक्षरम्

पुण्यकर्म्माणि । धर्म्महेतुषु । देवपूजादि । गुरुगौरवम् । सर्वसौहित्यम् ।

पुनस्त्र्यक्षरम्

तत्परः । निष्ठितः । लालसः । लम्पटः ।।

(३) तृतीयपादे पञ्चाक्षरम्

रूपवानपि । तेजस्वानपि । बलवानपि ।।

पुनस्त्र्यक्षरम

निर्लोभः । निष्कामः । नम्रात्मा । सस्नेहः । सप्रेमा ।।

(४) चतुर्थपादे चतुरक्षरम्

सौख्ययुक्तः । शौर्यख्यातः । वीरश्रेष्ठः । गुणरत्नम् । महाप्राज्ञः । गुणागारः । तपोज्योतिः ।।

पुनश्चतुरक्षरम्

महाश्रुतिः । महामतिः । गुणालयः । गुणाकरः । तमोपहः इत्यादियोज्यम् ।।

पुनरनेनैव वृत्तेन भण्यते ।।

(१) प्रथमपादे चतुरक्षरम्

युक्तायुक्त । हिताहित । गुणागुण । कार्याकार्य । देयादेय । क्षयाक्षय । क्षमाक्षम । क्षेमाक्षेम । योग्यायोग्य । धर्म्माधर्म । कर्म्माकर्म ।।

पुनश्चतुरक्षरम्

विशेषज्ञः । विवेकज्ञः । विभागज्ञः ।।

(२) द्वितीयपादे चतुरक्षरम्

मुनिराजः । गुणधाम । यतिराजः । द्विजप्रियः । भिन्नगोत्रः ।।

पुनश्चतुरक्षरम्

कृतादरः । कृतोदयः । कृतप्रियः । कृताश्रयः । प्रियम्वदः । गुणप्रियः । कृतस्थितिः ।।

(३) तृतीयपादे त्र्यक्षरम्

तपस्वी । प्रतापी । तेजस्वी । दयालुः ।।

पुनः पञ्चाक्षरम्

सोमदेवोऽयम् । भद्रकालोऽयम् । देवदत्तोऽयम् ।।

(४) चतुर्थपादे त्र्यक्षरम्

सर्वदा । सुतराम् । सन्ततम् ।।

पुनः पञ्चाक्षरम्

परिराजिते । परिशोभते । स विराजते । राजते क्षितौ । परिदृश्यते ।।

पुनरनेनैव वृत्तेन भण्यते

(१) प्रथमपादे पञ्चाक्षरम्

नीलनीरदः । नवजीमूतः । अतसीपुष्पम् । चन्द्रलाञ्छनम् ।।

पुनस्त्र्यक्षरम्

नीकाशम् । तुल्यश्रिः । तुल्याभम् । संस्पर्द्धि । संप्रख्यम् । संकाशम् ।।

(२) द्वितीयपादे त्र्यक्षरम्

लोचनं । प्रेक्षणम् । वीक्षणम् ।।

पुनः पञ्चाक्षरम्

शशभृन्मुखी । आरमणीयः । मधुराधरा ।।

(३) पुनस्तृतीयपादे त्र्यक्षरम्

व्रजन्ती । तिष्ठन्ती । शयाना । आसीना ।।

पुनः पञ्चाक्षरम्

सुभगागारम् । नवनारीयम् । सुन्दरी बाला ।।

(४) पुनश्चतुर्थपादे द्व्यक्षरम्

चेतः । स्वान्तम् । मनः ।।

पुनश्चतुरक्षरम्

उद्धरते । मोदयते । स्वीकुरुते । स्तम्भयते ।।

पुनः द्व्यक्षरम्

तव । मम । भृशम् । इत्यादि योज्यम् ।।

पुनरनेनैव वृत्तेन

(१) प्रथमपादे चतुरक्षरम्

महोदयः । विशुद्धात्मा । समप्रज्ञः । संप्रज्ञातः । समालोकः । सरिन्नाथः ।

पुनः

महाम्भोदः । नदीनाथः । पारावारः । पयस्तोमः । जलव्रातः । पयोभारः । जलजात ।।

(२) द्वितीयपादे चतुरक्षरम्

श्लाघनीयः । महनीयः । तुलनीयः । दर्शनीयः । रमणीयः ।।

पुनः

परिस्थितम् । परिक्रमः । गुणोत्कर्षः ।।

(३) तृतीयपादे चतुरक्षरम्

सर्वक्लेशः । सर्वदोषः । सर्वदुःखः । दोषसंघः । दुःखसंघः । पापसंघः । क्लेशलेशः । वैरभावः ।।

पुनश्चतुरक्षरम्

विवर्जितः । विदुःखहा । विदुष्टता । विनाशनः । विनाशकृत् । निकेतनम् । निवारणम् । विहारकृत् ।। विनिर्मुक्तः । परित्यक्तः । विहीनात्मा ।

(४) चतुर्थपादे

राजतेऽसौ । राजते यः । पातु वोऽयम् । चिरञ्जीव्यात् ।।
देवदेव । ब्रह्मदेव । जगन्नाथ । काशीनाथ । जगद्धाम । जगद्योनि । भक्तप्रेम ।

पुनः

मुनीश्वरः । शिवापतिः । महेश्वरः । जनार्दनः ।। इत्यादि योज्यम् ।।

इत्यनुष्टुब्वृत्तं समाप्तम् ।।

अधुना इन्द्रवज्रावृत्तेन भण्यते

(१) प्रथमपादे द्वयक्षरम्

दान । त्याग । पुण्य । धर्म्म । शौर्य्य । शील ।।

पुनस्त्र्यक्षरम्

प्रसिद्धः । प्रयुक्तः । प्रगीतः । प्रशस्तः ।।

पुनः षडक्षरम्

महनीयधामा । कमनीयसूत्रः । सततापनिद्रः । जगतीसुपूज्यः । चरतां दयालुः । कृपया निगूढः । दययार्द्रचित्तः । भुवनैकसिन्धुः । करुणाप्रसादः ।।

(२) द्वितीयपादे पञ्चारक्षम्

विद्याविशेषैः । यशोऽनुकूलैः । कीर्त्या सदृक्षः ।।

पुनः षडक्षरम्

गुणवान् निधिश्रीः ।।

(३) तृतीयपादे पञ्चाक्षरम्

युक्तः प्रतापैः । युक्तो गुणौघैः । विद्याप्रसिद्धः । विशिष्टविद्यः । प्रशस्तविद्यः । लोकानुरागी । मुक्तो हि दोषैः । प्राज्ञानुरक्तः । विद्वद्वरेण्यः । विचारदक्षः ।।

पुनः षडक्षरम्

कृपया प्रतीतः । शशिगौरकान्तिः । शशिकान्तवक्त्रः । विनयादिसिन्धुः । स्मरतुल्यरूपः । मदनाङ्गयष्टिः । चतुराङ्गयष्टिः ।।

(४) चतुर्थपादे अष्टाक्षरम्

जीव्याद्भवान् प्रीतिकरः । जीव्याद्भवान् क्षेमकरः । सुशोभसे त्वं सुजनः । धीरो भवान् ज्ञानवताम् । रूपादयं कान्तिमताम् । भूयःप्रभुस्त्वं जगताम् ।।

पुनस्त्र्यजरम्

प्रसिद्धः । विशुद्धः । महात्मा । महाधीः ।।

पुनरन्यप्रकारेण भण्यते

(१) प्रथमपादे त्र्यक्षरम्

सुदेवः । रराज । विभाति । प्रतीतः । प्रभावः । विभावः । विरामः ।।

पुनर्द्व्यक्षरम्

दानी । मानी । ज्ञानी । युक्तः । बुद्धिः । विद्वान् ।।

पुनः षडक्षरम्

परिराजमानः । परिभूषितो यः । सुकृती जनानाम् । गुणिनां गरीयान् । व्रतिनां महात्मा ।।

द्वितीयपादे पञ्चाक्षरम्

धर्म्मप्रभावैः । कीर्त्या विशुद्धैः । शुद्धो यशोभिः । तुल्योऽङ्गनाभिः ।।

पुनः षडक्षरम्

परिराजमानः । परिभूषितो यः । स चिरं समेतः । महतां महीयान् ।।

तृतीयपादे षडक्षरम्

विनाशितं येन । विपाटितं येन । विषन्तितं येन । तिरोहितं येन ।।

पुनः पञ्चाक्षरम्

समस्तदैत्यः । सदारिचक्रः । सदारिशौर्य्यः । द्विषत्कदम्बः ।।

चतुर्थपादे पञ्चाक्षरम्

लीलारविंदैः । पयोधरौधैः । मेघप्रतानैः । कदापिदानैः । कलाविचारैः ।।

पुनः षडक्षरम्

सदृशः प्रशस्तः । सदैव सुतरां । ।।

पुनः

प्रतितुल्यमूर्त्तिः । समदीप्तियुक्तः । इत्यादि योज्यम् ।।

इदानीं वसन्ततिलकावृत्तेन किंचिद् भण्यते ।।

प्रथमपादे सप्ताक्षरम्

प्रफुल्लनीलोत्पल । अनिन्दितेन्दीवर । तिर्य्यक्कृतखञ्जन ।।

पुनः पञ्चाक्षरम्

बुध्नकद्युतिः । लोललोचना । चारुलोचना । मञ्जुलेक्षणा ।।

अथातो व्याकृतस्वरूपाणां छन्दसामुदाहरणानि प्राचामुक्तान्येव प्रायेण प्रदर्शयिष्यामः । तत्रादौ वैदिकप्रकरणे गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसामार्ष्याद्यष्टसंज्ञाभिः षट्पञ्चाशद् भेदा भवन्ति ।। ५६

छन्दः	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती
दैवी	१	२	३	४	५	६	७
आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

तेषामुदाहरणानि यथोपलब्धं कानिचित् प्रदर्श्यन्ते ।

दैवी गायत्री—ओं ।।
दैवी उष्णिक्—भुवः ।।
दैवी अनुष्टुप्—०
दैवी बृहती—भूर्भुवः स्वः
दैवी पङ्क्तिः—०
दैवी त्रिष्टुप्—०
दैवी जगती

आसुरी गायत्री—आपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम् ।।
आसुरी उष्णिक्—०
आसुरी अनुष्टुप्—०
आसुरी बृहती—०
आसुरी पङ्क्तिः—०
आसुरी त्रिष्टुप्—०
आसुरी जगती—०

प्राजापत्या गायत्री—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः ।।-
प्रजापत्योष्णिक्—०
प्राजापत्याऽनुष्टुप्—०
प्राजापत्या बृहती—०
प्राजापत्या पङ्क्तिः—०
प्राजापत्या त्रिष्टुप्—०
प्राजापत्या जगती—०

याजुषी गायत्री—०
याजुषी उष्णिक्—०
याजुषी अनुष्टुप्—०
याजुषी बृहती—०
याजुषी पङ्क्तिः—०
याजुषी त्रिष्टुप्—०
याजुषी जगती—०

साम्नी गायत्री—अग्निर्ज्योतिः सूर्य्यो ज्योतिः प्रजापतिर्ज्योतिः ।।१।। इत्येका।
पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि ।।२।। इत्यन्या।

साम्नी उष्णिक्—०
साम्नी अनुष्टुप्—०
साम्नी बृहती—०
साम्नी पङ्क्तिः—०

साम्नी त्रिष्टुप्—ऋग्वेदे=महि राधो विश्वजन्यं दधानान्।
भारद्वाजान् सार्ञ्जयो अभ्ययष्ट ।।१।। (ऋ. ६।४७।२५)

साम्नी जगती—०

आर्ची गायत्री—अग्ना३इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा ।।
आर्ची उष्णिक्—०
आर्ची अनुष्टुप्—०
आर्ची बृहती—०
आर्ची पङ्क्तिः—०

आर्ची त्रिष्टुप्—सामवेदे=अग्निं नरो दीधितिभिररण्यो हस्तच्युती जनयत
प्रशस्तम्। दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम् ।।

आर्चीजगती—०
ब्राह्मी गायत्री—०
ब्राह्मी उष्णिक्—०
ब्राह्मी अनुष्टुप्—०
ब्राह्मी बृहती—०
ब्राह्मी पङ्क्तिः—०

ब्राह्मी त्रिष्टुप्—परैतु मृत्युरमृतं म आगात्, वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु।
परं मृत्योअनुपरेहि पन्थां, यस्त अन्य इतरो देवयानात्
चक्षुष्मते शृण्वते ब्रवीमि मा नः प्रजा रीरिषो मोत वीरान् ।।

ब्राह्मी जगती—०

अथैषां वैदिकानां छन्दसां विज्ञानसौकर्य्यार्थं छन्दोऽक्षरसंख्यया विशेषसंज्ञा-विज्ञानं निर्घण्टेनोच्यते । तत्रादौ गायत्रीभेदाः—

१	दैवी०	१५	आसुरी
२	दैवी भुरिक्०	१६	आसुरी भुरिक्
३	दैवी स्वराट्०	१६	आर्ची विराट्
४	याजुषी विराट्०	१७	आसुरी स्वराट्
५	याजुषी निचृत्०	१७	आसुरी निचृत्
६	याजुषी० ०	१८	आर्ची
७	याजुषी भुरिक्०	१९	आर्ची भुरिक्
७	प्राजापत्या निचृत्०	२०	आर्ची स्वराट्
८	प्राजापत्या०	२१	पादनिचृत्
९	प्राजापत्या भुरिक्०	२२	आर्षी विराट्
१०	प्राजापत्या स्वराट्०	२३	आर्षी निचृत्
१०	साम्नी विराट्०	२४	आर्षी
११	साम्नी निचृत्०	२५	आर्षी भुरिक्
१२	साम्नी०	२६	आर्षी स्वराट्
१३	साम्नी भुरिक्०	३४	ब्राह्मी विराट्
१३	आसुरी विराट्०	३५	ब्राह्मी निचृत्
१४	साम्नी स्वराट्०	३६	ब्राह्मी
१४	आसुरी निचृत्०	३७	ब्राह्मी भुरिक्
		३८	बाह्मी स्वराट्

एवमुष्णिगादीनामनया रीत्याक्षरसख्योहनीया ।।

अथार्षीछन्दसां सविशेषाणां कानिचिदुदाहरणानि लक्ष्यन्ते ।।—
तत्रादौ गायत्र्यधिकारः—

चतुष्पाद् गायत्री

इन्द्रः शचीपतिर्बलेन वीलितः । दुश्च्यवनो वृषा, समत्सुसामहि ।

सप्ताक्षरपाद् गायत्री

युवाकु हि शचीनां, युवाकु सुमतीनां, भूयाम वाजदाव्नाम् ।।

अतिपादनिचृत्

प्रेष्ठं वो अतिथिम्, स्तुषे मित्रमिव प्रियम् । अग्निं रथं न वेद्यम् ।

नागी गायत्री

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ।

विपरीता वाराही गायत्री

अग्ने मृड महां असि य ईमा देवयुं जनम् । इयेथ बर्हिरासदम् ।

वर्द्धमाना गायत्री

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ।।

प्रतिष्ठा गायत्री

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम । ज्योक् च सूर्यं दृशे ।।

द्विपाद् विराड् गायत्री

नृभिर्येमानो हर्य्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रियः ।।

विराड् गायत्री

पूर्णहोमं यशसे जुहोमि योऽस्मै जुहोति वरमस्मै ददाति । वरं वृणे यशसा भामि लोके ।।

इति गायत्र्यधिकारः

अथ—उष्णिगधिकारः

उष्णिक् ककुप्

सुदेवः समहासति सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः । यं त्रायध्वे स्याम ते ।।

पुर उष्णिक्

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये । देवा भवत वाजिनः ।।

परोष्णिक्

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो । अस्मै धेहि जातवेदो महि श्रवः ।

चतुष्पादुष्णिक्

नदं व ओदतीनां, नदं यो युवतीनां । पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ।।

इत्युष्णिगधिकारः

अथानुष्टुबधिकारः

अनुष्टुप्

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।१।।

त्रिपादनुष्टुप्

पर्यू षु प्रधन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः । द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे ।

मध्येऽन्त्ये वा

मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो मा कुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः । स्तनाभुजो अशिश्वीः ।।

इत्यनुष्टुबधिकारः

अथ बृहत्यधिकारः

पथ्या बृहती

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ।।

न्यङ्कुसारिणी बृहती (स्कन्धोग्रीबी) (उरोवृहती)

मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः ।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ।।

उपरिष्टाद् बृहती

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः ।।
अप्रोषिवान् गृहपतिर्महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ।।

पुरस्ताद् बृहती

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः ।
भर्ता ; वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ।।

बृहती

तं त्वा वयं पितो वाचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम । देवेभ्यस्त्वा सधमाद-मस्मभ्यं त्वा सधमादम् ।।

वैराजगायत्रमिलिता बृहती

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य । आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ।।

महाबृहती (सतो वृहती वा)

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।। सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ।।

इति बृहत्यधिकारः

अथ पङ्क्त्यधिकारः

पङ्क्तिः

सतः पङ्क्तिः

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।। यं कण्वो मेध्यातिथि-र्धनस्पृतम् यं वृषा यमुपस्तुतः ।।—

विपरीता

य ऋष्वः श्रावयत्सखा विश्वेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुतः । तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः ।।

आस्तारपङ्क्तिः

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे ।। (ऋ. १०।२५।१)

प्रस्तारपङ्क्तिः

भद्रमिद् भद्रा कृणवत् सरस्वत्य कवारी चेतति वाजिनीवती ।
गृणाना जमदग्निवत् स्तुवाना च वसिष्ठवत् ।। (ऋ. ७।९६।३)

विस्तारपङ्क्तिः

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्च्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं, दधासि दाशुषे कवे ।। (ऋ. १०।१४०।१)

संस्तारपङ्क्तिः

पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रतिदध्मो यजामसि ।।
उषा अप स्वसुस्तमः संवर्त्तयति वर्त्तनिं सुजातता ।। (ऋ. १०।१७२।३-४)

अक्षरपङ्क्तिः

प्र शुक्रैतु देवी मनीषा । अस्मत्सुतष्टो रथो न वाजी ।। (ऋ. ७।३४।१)

पदपङ्क्तिः

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम् । तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ।। (ऋ. ४।१०।६)

पञ्चपदा पङ्क्तिः

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ।। (ऋ. ४।१०।२)

पथ्यापङ्क्तिः

अक्षन्नमीदन्त ह्यव प्रिया अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ।। (ऋ.१।८२।२)

जागतपङ्क्तिः

महि यो महतामवो वरुण मित्र दाशुषे ।
यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशदनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ।।
(ऋ. ८।४७।१)

इति पङ्क्त्यधिकारः

अथ त्रिष्टुबधिकारः

त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती

जगती ज्योतिष्मती

पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप् ।

तमु ष्टुहीन्द्रं यो ह सत्वा यः शूरो मघवा यो रथेष्ठाः ।
प्रतीचश्चिदयोधीयान् वृषण्वान् ववव्रुषः चित्तमसो विहन्ता ।। (ऋ. १।१७३।५)

पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती ।

अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा ।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत् पृथक् ।। (ऋ. १।१५७।१)

मध्येज्योतिः त्रिष्टुप् ।

इमन्तमुपस्थं मधुना सं सृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम् ।
तेन पुंसोऽभिभवासि सर्वान् कामान् वशिन्यसि राज्ञी ।।

उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप् ।।

स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाजमर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः ।
त्वं देवत्रा सदा पुरूवसो विश्वा वामानि धीमहि ।। (ऋ. ८।१०३।५)

उपरिष्टाज्ज्योतिः जगती ।

नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणां । सर्वासामग्रभं नामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ।। (ऋ. १।१९१।१३)

इति त्रिष्टुब् जगत्यधिकारः

भुरिगनुष्टुप्

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ।।

भुरिक् त्रिष्टुप्

प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीडे ।
ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि परिद्यां सद्यो अपसो बभूवुः ।। (ऋ. ४।३३।१)

भुरिक् जगती

हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि तां वहामि प्रतरणीमवस्युवम् ।
नास्या वश्मि विमुचं नावृतं पुनर्विद्वान् पथः पुर एत ऋजु नेषति ।। (ऋ. ५।४६।१)

इति भुरिजः ।।१।।

विराट् गायत्री

अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम् । शतम्भवास्यूतिभिः ।। (ऋ. ४।३१।३)

विराड् उष्णिक्

श्रुतं गायत्रं तकवानस्याहं चिद्धि रिरेभाश्विना वाम् । आक्षी शुभस्पती दन् ।।
(ऋ. १।१२०।६)

विराड् अनुष्टुप्

यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः । आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ।। (सामवेद पू,प्र. २ द. ३ मं. २)

विराड् बृहती

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्यं ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ।। (ऋ. १।४४।१)

विराट् त्रिष्टुप्

परिधत्त वाससैनां दीर्घायुषीं कृणुत दीर्घमायुः ।
शतं च जीव शरदः सवर्च्चा वसूनि चार्य्ये विभजासि जीवन् ।।

विराड् जगती

यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना ।
द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वयः ।। (ऋ, ४।३६।८)

इति विराजः ।।२।।

स्वराड् गायत्री

विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वानित्थापरो अचेताः । नूचिन्नुमर्ते अक्रौ ।। (ऋ. १।१२०।२)

स्वराड् अनुष्टुप्

लवणाम्भसि जातोऽसि उग्रोसि हृदयं तव ।
लवणस्य पृथिवी माता लवणस्य वरुणः पिता ।।

स्वराड् बृहती

वितर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोर्यो विपो जनानाम् ।
उपक्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ।। (ऋ. ८।१।४)

स्वराट् त्रिष्टुप्

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीव जिन्वतम् ।। (ऋ. ७।१०४।६)

तदित्थमेषां गायत्र्यादीनां दैव्यासुर्य्यादिभेदैर्व्याकृतानामुदाहरणानि प्रदर्शितानि । अथेदानीमनादिष्टच्छन्दः, छन्दः, अतिच्छन्दः, कृतिच्छन्दः, प्रगाथच्छन्दश्चेत्येवं प्रकारान्तरेण परिच्छिद्य व्याकृतानां क्रमेणोदाहरणानि प्रदर्शयिष्यन्ते । तत्र केषांचित्पौनरुक्त्येऽपि प्रकरणान्तरसङ्गत्यनुरोधात् सन्तोष्टव्यम् । तत्र तावदनादिष्टच्छन्दसामुक्तादीनां पञ्चानामुदाहरणानि ।।

उक्ता

१।१।१।१

नूनमथ ।।१।। (इत्येकपदा ऋ. ८, ४६; १५)

अत्युक्ता

२।२।२।२

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः ।।२।। (इति द्विपदा-साम-११-१-१)

मध्या

३।३।३।३

अग्निर्ज्योतिः । सूर्य्यो ज्योतिः । प्रजा ज्योतिः ।। ३ ।। (इति त्रिपदा)

प्रतिष्ठा

४।४।४।४

अग्ना ३ इ पत्नीवंत्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब ।। ४ ।। (इति त्रिपदा) (य. ७।१०)

सुप्रतिष्ठा

५।५।५।।५

पुरूतमं पुरूणां स्तोतृणां विवाचि । वाजेभिर्वाजयताम् ।। ५ ।।

(इति त्रिपदा ऋ. ६-४५-२९)

अथ गायत्र्यादीनां सप्तच्छन्दसामुदाहरणानि—तत्रादौ गायत्रीप्रकरणम् ।

त्रिपाद् गायत्री

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।। होतारं रत्नधातमम् ।१। (ऋ.१।१।१)

पदपङ्क्तिः गायत्री

५।५।५।५।६

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः । रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ।।

(ऋ. ४।१०।२)

द्वितीया

५।५।५।४।६

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ।

(ऋ. ४।१०।१)

उष्णिग्गर्भा

६।७।११

ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना ।

उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा । (ऋ. ८।२५।२३)

पादनिचृत्
७।७।७
युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम् ।
भूयाम वाजदाव्नाम् ॥ (ऋ. १।१७।४)

द्वितीया
७।७।७
अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतिभिः ॥ (ऋ. ४।३१।३)

अतिनिचृत्
७।६।७
पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि ।
वाजेभिर्वाजयताम् ॥ (ऋ. ६।४५।२९)

अतिपादनिचृत्
६।८।७
प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्निं रथं न वेद्यम् ॥ (ऋ. ८।८४।१)

यवमध्या
७।१०।७
स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम् ।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ (ऋ. ९।१०८।१३)

वर्धमाना
६।७।८
त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य ।
अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥ (ऋ. ८।११।२)

द्वितीया
६।७।८
त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ (६।१६।१)

प्रतिष्ठा
८।७।६
त्वमग्ने व्रतपा असि, देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ (ऋ. ८।११।१)

ह्रसीयसी
६।६।७
प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यसावातिथिम् ।
अग्निं रथानां यमम ॥ (ऋ. ८।१०३।१०)

———

अथ उष्णिगधिकारः

परोष्णिक्

८।८।१२

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
येना हंसि न्यत्रिणं तमीमहे ।। (ऋ. ८।१२।१)

पुर उष्णिक्

१२।८।८

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये ।
देवा भवत वाजिनः ।। (ऋ. १।२३।१९)

उष्णिक् ककुप्

(८।१२।८)

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ।। (ऋ. ८।२१।१)

ककुब् न्यङ्कुशिराः

(११।१२।४)

ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् । नूनमथ ।। (ऋ. ८।४६।१५)

तनुशिराः

(११।११।६)

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे, यया वाचा यजति पज्रियो वाम् ।
प्रैषयुर्न विद्वान् ।। (१।१२०।५)

पिपीलिकमध्या

(११।६।११)

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानुशेपा ।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन् ।। (ऋ० १०।१०५।२)

अनुष्टुब्गर्भा

(५।८।८।८।)

पितुं नु स्तोषं, महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो वियोजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ।। (ऋ० १।१८७।१)

उष्णिक्

(७।७।७।७)

नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम् ।
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ।। (ऋ० ८।६९।२)

अन्या
(७।७।७।६)
मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन् ।
मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् ।। (ऋ० १०।२६।४)

अथाऽनुष्टुप्प्रकरणम् ।
अनुष्टुप्
८।८।८।८
गायन्ति त्वा गायत्रिणोर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ।। (ऋ० १।१०।१)

द्वितीया
(८।८।८।८)
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ।। (ऋ० १।११।१)

महापदपङ्क्तिः
(५।५।५।५।५।६)
तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः ।
श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके । (ऋ० ४।१०।५)

कृतिः
(१२।१२।८)
मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः ।
स्तनाभुजो अशिश्वीः ।।४।। (ऋ० १।१२०।८)

पिपीलिकमध्या
(१२।८।१२)
पर्यूषु प्र धन्व वाजसातये, परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे ।।५।। (ऋ० ९।११०।१)

काविराट्
(९।१२।९)
ता विद्वांसा हवामहे वां, ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य ।
प्रार्चद् दयमानो युवाकुः ।।६।। (ऋ० १।१२०।३)

नष्टरूपा
(९।१०।१३)
वि पृच्छामि पाक्या न देवान् वषट् कृतस्याद्भुतस्य दस्रा ।
पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः ।।७।। (ऋ० १।१२०।४)

विराट्
(१०।१०।१०)
पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यन्ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥८॥ (ऋ० ७।२२।१)

द्वितीया विराट्
(११।११।११)
दुहीयन् मित्रधितये युवाकु, राये च नो मिमीतं वाजवत्यै ।
इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै ॥ (१।१२०।९)

अथ बृहतीप्रकरणम्
बृहती
(८।८।१२।८)
अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥ (ऋ० ७।३२।२२)

द्वितीया
(८।८।१२।८)
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उप प्रयन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥२॥ (ऋ० १।४०।१)

पुरस्ताद्बृहती
(११।८।८।८)
महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः ।
भर्त्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥३॥ (ऋ० १०।२२।३)

कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते ॥
ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा ॥३॥ (ऋ. १०।२२।१)

उरोबृहती—स्कन्धोग्रीवी—न्यङ्कुसारिणी वा
८।१२।८।७।८
मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः ॥
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥४॥ (ऋ. १।१७५।१)

उपरिष्टाद् बृहती
(८।८।८।१२)
न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् ।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः ।५। (१०।१२६।१)

विष्टारबृहती

(८।१०।१०।८)

युवं ह्यास्तं महो रन्युवं वा यन्निरततंसतम् ।
ता नो वसू सुगोपा स्यातं नो वृकादघायोः ।६। (ऋ० १।१२०।७)

महाबृहती-ऊर्ध्वबृहती-सतोबृहती वा

(१२।१२।१२)

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ।।७।। (ऋ. ९।११०।४)

दिवः पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव आ निरधुक्षत ।।
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ।।८।। (ऋ. ९।११०।८)

पिपीलिकमध्या

(१३।८।१३)

अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम् ।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ।।९।। (ऋ. ८।४६।१४)

बृहती विषमपदा

(९।८।११।८)

सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत ।
प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम् ।।१०।। (ऋ. ८।४६।२०)

बृहती

(९।९।९।९)

तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम ।
देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम् ।।११।। (ऋ. १।१८७।११)

अथ पङ्क्तिप्रकरणम्

पङ्क्तिः

(८।८।८।८।८)

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् (ऋ. १।८१।१)

द्वितीया

(८।८।८।८।८)

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् । (ऋ. १।८०।१)

विराट्

(१०।१०।१०।१०)

ऋतस्य पथि वेधा अपायि श्रिये मनांसि देवासो अक्रन् ।
दधानो नाम महो वचोभिर्वपुर्दृशये वेन्यो व्यावः ।३। (ऋ. ६।४४।८)

सतो बृहती

(१२।८।१२।८)

न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ।४। (ऋ. ७।३२।२३)

असतो बृहती

(८।१२।८।१२)

य ऋष्वः श्रावयत्सखा विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः ।
तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः ।।५।। (८।४६।१२)

प्रस्तारपङ्क्तिः

(१२।१२।८।८)

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवी मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ।।६।। (ऋ. १०।१८।११)

आस्तारपङ्क्तिः

(८।८।१२।१२)

अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वि वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे ।। (ऋ. १०।२१।१)

संस्तारपङ्क्तिः

(१२।८।८।१२)

पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रतिदध्मो यजामसि ।।
उषा अप स्वसुस्तमः संवर्त्तयति वर्त्तनिं सुजातता (ऋ. १०।१७२।३)

विष्टारपङ्क्तिः

(८।१२।१२।८)

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
वृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे । (ऋ. १०।१४०।१)

अक्षरपङ्क्तिः

(५।५।४।५)

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तम् ।
नमो युजानं नमो वहन्तम् ।। (ऋ. १।६५।१)

पदपङ्क्तिः
(५।५।५।५।६)

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम् ।
तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ।। (ऋ. ४।१०।६)

पथ्या पङ्क्तिः
(८।८।८।८।८)

यो अर्यो मर्तभोजनं परादादाति दाशुषे ।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ।। (ऋ. १।८१।६)

अथ त्रिष्टुप्प्रकरणम्
त्रिष्टुप्

पुरा यत् सूरस्तमसो अपीतेस्तमद्रिवः फलिगं हेतिमस्य ।
शुष्णस्य चित् परिहितं यदोजो दिवस्परि सुग्रथितं तदादः ।। (ऋ. १।१२१।१०)

जागतसूक्तस्था जगती
(१२।१२।१२।१२)

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव (ऋ. १।९४।१)

त्रिष्टुप् सूक्तस्था त्रिष्टुप्
(११।११।११।१२)

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्य्यम् ।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव (ऋ. १।९४।२)

त्रैष्टुभसूक्तस्था त्रिष्टुप्
(११।१२।११।१२)

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति ।
ये चार्वते पचनं सम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इन्वतु (ऋ. १।१६२।६)

अभिसारिणी
(१०।१०।१२।१२)

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः (ऋ. १०।२३।५)

विराट्स्थाना
(६।९।१०।११)

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।६। (ऋ. १।८९।६)

अन्या विराट्स्थाना

(१०।९।१०।११)

श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः स्याम ते दावने वसूनाम् ।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः (ऋ. २।११।१)

विराड्रूपा

(११।११।११।८)

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य ।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर । (ऋ. ३।२१।४)

अन्या विराट् रूपा

(११।११।११।८)

श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदने विश्वतः सीम् ।
श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रा सिन्धुरद्भिः ।। (ऋ. १।१२२।६)

अपरा विराट् रूपा

(११।११।११।८)

आ वो रुवण्युमौशिजो हुवध्यै घोषेव शंसमर्जुनस्य नंशे ।
प्रवः पूष्णे दावन आँ अच्छा वोचेय वसुतातिमग्नेः ।। (ऋ. १।१२२।५)

पुरस्ताज्ज्योतिः त्रिष्टुप्

११।८।८।८

कृधी नो अह्रयो देव सवितः स च स्तुषे मघोनाम् ।
सहो न इन्द्रो वह्निभिर्न्येषां चर्षणीनां चक्रं रश्मिं न योयुवे ।। (ऋ. १।९३।९)

जगती

(१२।१२।१२।१२)

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ।। (ऋ. १।५७।४)

मध्येज्योतिः जगती

(१२।८।१२।१२)

यद्वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत्काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा ।। (ऋ. ८।१०।२)

अन्या मध्ये ज्योतिः

ताभिरायातं वृषणोप मे हवं विश्वप्सुं विश्ववार्य्यम् ।
इषा मंहिष्ठा पुरुभूतमा नरा याभिः क्रिविं वावृधुस्ताभिरागतम् (ऋ. ८।२२।१२)

उपरिष्टाज्ज्योतिः

(१२।१२।१२।८)

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा ।
सजोषसा उषसा सूर्य्येण च सोमं पिबतमश्विना (ऋ. ८।३५।१)

उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्

८।८।८।८।११

संवेशिनीं संयमिनीं ग्रहनक्षत्रमालिनीम् ।
प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीं भद्रे पारमशीमहि भद्रे पारमशीमह्यों नमः ।।

उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती

८।८।८।८।१२

लोकं पृण छिद्रं पृण । अथो सीद शिवा त्वम् । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिः ।
अस्मिन् योनावसीषदन् । तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ।। यजु. तै. ब्रा.

द्वितीया

(१२।१२।१२।८)

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा (ऋ. १०।१४०।६) ।।

पुरस्ताज्ज्योतिर्जगती

(१२।८।८।८।८)

नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य पीतये ।
आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे (ऋ. ८।३५।२२)

महाबृहती

(८।८।८।८।१२)

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ।। (ऋ. ९।११०।४)

यवमध्या

(८।८।१२।८।८)

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी ।।
(ऋ. १।१०५।८)

पङ्क्त्युत्तरा, विराट्पूर्वा वा

(१०।१०।८।८।८)

एवेन्द्राग्निभ्यामहा वि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः ।
ता सूरिषु श्रवो बृहद्रयिं गृणत्सु दिधृतमिषं गृणत्सु दिधृतम् (ऋ. ५।८६।६)

अथ जगती प्रकरणम्

जगती

(१२।१२।१२।१२)

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव (ऋ. १।९४।१)

महासतोबृहती
(८।८।८।१२।१२)

आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि ।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा (ऋ. ६।४८।६)

महापङ्क्तिः
(८।८।७।६।१०।९)

सूर्य्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे ।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ।।
(ऋ. १।१९१।१०)

महापङ्क्तिः
(८।८।८।८।८।८)

अव द्वके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा ।
क्षमा चरिष्णवेककं भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किंचनाममत् ।।
(ऋ. १०।५९।९)

अन्या
(८।८।८।८।८।८)

सेहान उग्र पृतना अभि द्रुहः शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः (ऋ. ८।३७।२)

अपरा
(८।८।८।८।८।८)

अस्मा ऊ षु प्रभूतये वरुणाय मरुद्भ्योऽर्चा विदुष्टरेभ्यः ।
यो धीता मानुषाणां पश्वो गा इव रक्षति नभन्तामन्यके समे । (ऋ. ८।४१।१)

अन्या महापङ्क्तिः
(८।८।८।८।८।८)

उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव ।
महान्तं त्वां महीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ।।
(ऋ. १०।१३४।१)

।। अथ-अतिच्छन्दसामुदाहरणानि ।।

अतिजगती
(१२।१२।१२।८।८)

प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत् ।
प्र शर्धाय प्रयज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे । (ऋ. ४।८७।१)

शक्करी

(८।८।८।८।८।८।८)

प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत । अभीके चिदु लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा-स्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु (ऋ. १०।१३३।१)

अतिशक्करी

(१६।१६।१२।८।८)

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः । दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः । (ऋ. २।२२।३)

सुषुमा यातमद्रिभिर्गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे । आ राजाना दिविस्पृशास्मत्रा गन्तमुप नः । इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरः सोमाः शुक्रा गवाशिरः ।।४।। (ऋ० १।१३७।१)

अष्टिः

(१६।१६।१६।८।८)

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथा-वशत् । स ईं ममाद महि कर्म्म कर्त्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ।।५।। (ऋ० २।२२।१)

अत्यष्टिः

(१२।१२।८।८।८।१२।८)

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषा जुह्वानस्य सर्पिषः ।। (ऋ० १।१२७।१)

अन्या

(१२।१२।८।८।८।१२।८)

अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः । धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः । विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभि-ऋर्क्वभिः ।। (ऋ० ९।१११।१)

धृतिः

(१२।१२।८।८।८।१६।८)

अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषां अद्रिवो घृणान्न भीषाँ अद्रिवः । शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे । अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्व-भिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः । (ऋ० १।१३३।६)

अन्या

(१२।१२।८।८।८।१६।८)

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या। अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु। तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि। (४।१।३)

अतिधृतिः

(१२।१२।८।८।८।१२।८।८)

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः। आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा। अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम्। (ऋ० १।१२७।६)

अथ कृतिच्छन्दसामुदाहरणानि दर्श्यन्ते

कृतिः

(८।८।८।८।८।८।८।८।८।८)

त्रिशुग्धर्मो विभातु मे। आकूत्या मनसा सह। विराजा ज्योतिषा सह। यज्ञेन पयसा सह। ब्रह्मणा तेजसा सह। क्षत्रेण यशसा सह। सत्येन तपसा सह। तस्य दोहमशीमहि। तस्य सुम्नमशीमहि। तस्य भक्षमशीमहि॥

(तैत्तिरीयारण्यके ४।२१।१)

प्रकृतिः

१८।६।८।८।८।८।८।१०।१०

अग्निश्च मा मन्युश्च मनुष्यपतयश्च मन्युकृतेभ्यः (१) पापेभ्यो रक्षन्ताम् (२)। यदह्ना पापमकार्षम् (३) मनसा वाचा हस्ताभ्याम् (४) पद्भ्यामुदरेण शिश्ना (५)। अहस्तदवलुम्पतु (६)। यत्किं च दुरितं मयि (७)। इदमहं माममृतयोनौ (८)। सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा (९)। (तै. आ. प्र. १० अ. २४)

आकृतिः

(१५।८।८।८।८।८।९।९।१०।६)

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। नन्दाम शरदः शतम्। मोदाम शरदः शतम्। भवाम शरदः शतम्। शृणवाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्॥ अजीताः स्याम शरदः शतम्। ज्योक् च सूर्यं दृशे इति॥—३ (तै. आर. ।४।४२।२२)

विकृतिः

(८।८।८।८।८।८।८।८।८।८।११)

इमे सोमाः सुरामाणः। छागैर्न मेषैर्ऋषभैः। सुताः शष्पैर्न तोक्मभिः। लाजैर्महस्वन्तो मदा। मासरेण परिष्कृताः। शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः। प्रस्थिता वो मधु-

श्चुतः। तानश्विना सरस्वती। इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा। जुषन्तां सोम्यं मधु। पिबन्तु मदन्तु वियन्तु सोमम्॥ इति दशाष्टाक्षराः पादा एक एकादशाक्षरः।

(वाजस. सं॰ २१।४२)

संकृतिः

(७।८।८।८।११।८।११।११।८।१५)

देवो अग्निः स्विष्टकृत्। सुद्रविणा मन्द्रः कविः। सत्यमन्मा यजी होता। होतुर्होतुरायजी यान्। अग्ने यान् देवानयाद्। याँ अपि प्रेः। ये ते होत्रे अमत्सत॥ ताँ ससनुषीं होत्रां देवंगमाम्। दिवि देवेषु यज्ञमेरयेमम्। स्विष्टकृच्चाग्ने होताभूः। वसुवने वसुधेयस्य नमो वाके वीहि इति॥—५ (तै. ब्रा. ३।६।१४।१)

अभिकृतिः

(८।८।८।८।८।८।८।८।८।८।८।८।८)

देवो अग्निः स्विष्टकृत्। देवान्यक्षद्यथायथम्। होताराविन्द्रमश्विना। वाचा वाचं सरस्वतीम्। अग्निं सोमं स्विष्टकृत्। स्विष्ट इन्द्रः सुत्रामा। सविता वरुणो भिषक्। इष्टो देवो वनस्पतिः। स्विष्टा देवा आज्यपाः। इष्टोऽअग्निरग्निना। होता होत्रे स्विष्टकृद्। यशो न दधदिन्द्रियम्। ऊर्जमपचितिं स्वधाम्। इति त्रयोदश गायत्रपादाः।

(वाज. मं. २१।५८)

उत्कृतिः

छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणां शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽगादंगादवत्तानां करत एवाश्विना जुषेतां हविः इति। (वाज. सं. २१।४३)

अथ प्रगाथप्रकरणम्

॥ बार्हतः प्रगाथः ॥

(८।८।१२।८।१२।८।१२।८)

(बृहती)—अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोम ऋतावृधा ।
तमश्विना पिबतं तिरो अह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥ १ ॥

(ऋ. १।४७।१)

(सतोबृहती)—त्रिबन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेनायातमश्विना ।
कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे तेषां सु शृणुतं हवम् ॥ (ऋ. १।४७।२

काकुभः प्रगाथः

(८।१२।८।१२।८।१२।८)

(बृहतीकाकुभः)—वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥ (ऋ. ८।२१।१)

(सतोबृहती)—उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥

(ऋ. ८।२१।२)

महाबार्हतः प्रगाथः

(८।८।१२।८।८।८।८।१२।८)

(महासतोबृहती द्वौ)—यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ (ऋ. ६।४८।१)
बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि
द्युमत्पावक दीदिहि ॥ ४ ॥ (ऋ. ६।४८।७)

विपरीतोत्तरः प्रगाथः

(८।८।८।८।।८।१२।८)

(बृहती विपरीता)—त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।४६।१)

(सतोबृहती)—नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन्नू चिदद्रिवो धियो वाजेभिराविथ ॥ (ऋ. ८।४६।११)

आनुष्टुभः प्रगाथः
(८।८।८।८।।८।८।८।८।८।८)

अनुष्टुप्
आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते ।। (ऋ० ८।६८।१)

गायत्री—तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
आ पप्राथ महित्वना ।। (ऋ० ८।६८।२)

गायत्री—यस्य ते महिना महः परि ज्यायन्तमीयतुः ।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ।। (ऋ. ८।६८।३)

साधारणी छन्दोमाला

अथातः साधारणच्छन्दसां विषमसमार्द्धसमवृत्तानां हलायुधाद्युक्तान्युदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते । तत्र तावद्विषमोदाहरणानि ।

वक्त्रम्—

नवधाराम्बुसंसिक्त—पृथ्वीसुगन्धिनिःश्वासम् ।
किञ्चिदुन्नतघोणाग्रं—मही कामयते वक्त्रम् ।।१।।

नीलोत्पलवनेष्वद्य—चरन्तश्चारुसंरावाः ।
श्यामकौशेयसंवीताः—प्रनृत्यन्तश्च कादम्बाः ।।२।।

दुर्भाषितेऽपि सौभाग्यं—प्रायः प्रकुरुते प्रीतिः ।
मातुर्मनो हरन्त्येव—दौर्ललित्योक्तिभिर्बालाः ।।३।।

पथ्या—

नित्यं नीतिनिषण्णस्य—राज्ञो राष्ट्रं न सीदति ।
न हि पथ्याशिनः काये—जायन्ते व्याधिवेदनाः ।।१।।

विपरीतपथ्या—

भर्त्तुराज्ञानुवर्तिनी—या स्त्री स्यात् सा गृहे लक्ष्मीः ।
स्वप्रभुत्वाभिमानिनी—विपरीता परित्याज्या ।।१।।

ल—विपुला—

सैतवेन पथार्णवं—तीर्त्वा दशरथात्मजः ।
रक्षःक्षयकरीं पुनः—प्रतिज्ञां स्वेन बाहुना ।।

म—विपुला—

सर्वातिरिक्तं लावण्यं बिभ्रती चारुविभ्रमा ।
स्त्री लोकसृष्टिस्त्वन्यैव निःसामान्यस्य वेधसः ।।१।।

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशाम्पतिम् ।
सूनुः सूनृतवाक् स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ।।२।।

अदूरवर्त्तिनीं सिद्धिं राजन् विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्त्तित एव यत् ।।३।।

स—विपुला—

जये तु लभ्यते लक्ष्मी मृते वापि वराङ्गना ।
क्षणविध्वंसिनि काये का चिन्ता मरणे रणे ।।३।।

भ—विपुला—

इयं सखे चन्द्रमुखी—स्मितज्योत्स्नावमानिनी ।
इन्दीवराक्षी हृदयं—दन्दहीति तथापि मे ।।१।।

वटे वटे वैश्रवणश्चत्वरे चत्वरे शिवः ।
पर्वते पर्वते रामः सर्वत्र मधुसूदनः ।।२।।

देवः स जयति श्रीमान् दण्डधारो महीपतिः ।
यस्य प्रसादाद् भुवनं शाश्वतं पथि तिष्ठति ।।१।।

उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ।
नारायणं स्तौमि सदा भक्तानां भवनाशनम् ।।२।।

र—विपुला—

लक्ष्मीपतिं लोकनाथं रथाङ्गधरमीश्वरम् ।
यज्ञेश्वरं शार्ङ्गपाणिं प्रभजामि त्रयीतनुम् ।।१।।

महाकविं कालिदासं वन्दे वाग्देवतां गुरुम् ।
यद्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ।।२।।

कामिनीभिः सह प्रीतिः कस्मै नाम न रोचते।
यदि न स्याद्वारिवीचिचञ्चलं हन्त जीवितम् ।।३।।

त—विपुला

वन्दे देवं सोमेश्वरं जटामुकुटमण्डितम् ।
खट्वाङ्गधरं चन्द्रमःशिखामणिविभूषितम् ।।१।।

वन्दे कविं श्रीभारविं लोकसन्तमसच्छिदम् ।
दिवा दीपा इवाभान्ति यस्याग्रे कवयोऽपरे ।।२।।

लोकवत् प्रतिपत्तव्यो लौकिकोऽर्थः परीक्षकैः ।
लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बालपण्डितौ ।।३।।

न- विपुला—

यस्या विभाति विपुला मन्मथस्थानपिण्डिका ।
या चतुःषष्टिचतुरा सा स्त्री स्यान्नृपवल्लभा ॥१॥

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना ॥२॥

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥३॥

सङ्कीर्णविपुला—

क्वचित्काले प्रसरता क्वचिदापत्य निघ्नता ।
शुनेव सारङ्गकुलं त्वया भिन्नं द्विषां कुलम् ॥१॥

चपला

क्षीयमाणाग्रदशना—वक्रनिर्मांसनासाग्रा ।
कन्यका वाक्यचपला—लभते धूर्तसौभाग्यम् ॥
विपुलानां चतुर्थो वर्णः प्रायेण गुरुर्भवतीत्याम्नायः ॥

※ इति वक्त्राधिकारः ※

पदचतुरूर्ध्वम्—८-१२-१६-२०

तस्याः कटाक्षविक्षेपैः—
कम्पिततनुकुटिलैरतिदीर्घैः—
तक्षकदष्ट इवेन्द्रियशून्यः क्षतचैतन्यः—
पदचतुरूर्ध्वं न चलति पुरुषः पतति सहसैव ॥

आपीडः८-१२-१६-२०

कुसुमितसहकारे—
हतहिममहिमशुचिशशाङ्के—
विकसितकमलसरसि मधुसमयेऽस्मिन्
प्रवससि पथिकहतक यदि भवति तव विपत्तिः ॥१॥

प्रत्यापीडः ८-१२।१६-२०

चित्तं मम रमयति—
कान्तं वनमिदमुपगिरिनदि—
कूजन्मधुकरकलरवकृतजनधुति—
पुंस्कोकिलमुखरितसुरभिकुसुमचिततरुतति ॥१॥

उभयापीडः ८-१२-१६-२०

कान्तावदनसरोजं—
हृद्यं धनसुरभिमधुरसाढ्यम्—
पातुं रहसि सततमभिलषति मनो मे—
किञ्चिन्मुकुलितनयनमविरतमणितरमणीयम्।।१।।

मञ्जरी १२-८-१६-२०

जनयति महतीं प्रीतिं हृदये—
कामिनां चूतमञ्जरी—
मिलदलिचक्रचञ्चूपरिचुम्बितकेसरा—
कोमलमलयवातपरिनर्तिततरुशिखरस्थिता ।।१।।

लवली १६-१२-८-२०

विरहविधुरहूणकाङ्गनाकपोलोपमं—
परिणतिधरं पीतपाण्डुच्छवि—
लवलीफलं निदाघे—
भवति जगति हिमकरशीतलमतिस्वादूष्णहरम् ।।१।।

अमृतधारा २०-१२-१६-८

यदि वाञ्छसि कर्णरसायनं सततममृतधाराभिः ।
यदि हृदि वा परमानन्दरसं ।
चेतः शृणु धरणीधरवाणीममृतमयीं ।
तत्काव्यगुणभूषणम् ।

इति पदचतुरूर्ध्वाधिकारः

सौरभम्—

।।ऽ।ऽ।।।ऽ।.... ।।।।।ऽ।ऽ।ऽ.... ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽ.... ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ

विनिवारितोऽपि नयनेन—तदपि किमिहागतो भवान्
एतदेव तव सौरभकं—यदुदीरितार्थमपि नावबुध्पते ।।
अपि धूतफुल्लशतपत्र—लवविहितगन्धविभ्रमा
कस्य हृन्न हरतीह हरे—मुखपद्मसौरभकला तवाद्भुता ।।

उद्गतिका—

।।ऽ।ऽ।।ऽ।.... ।।।।।ऽ।ऽ।ऽ. ऽ।।।।।।।ऽ. ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ

विनिवारितोऽपि नयनेन—तदपि किमिहागतो भवान्
एतदपि तव सौरभकं—यदुदीरितार्थमपि नावबुध्यते ।।

विललास गोपरमणीषु—तरणितनयाप्रभोद्गता
कृष्णनयनचकोरयुगे—दधती सुधांशुकिरणोर्म्मिविभ्रमम् ।।

उद्गता

।।ऽ।ऽ।।।ऽ।....।।।।।ऽ।ऽ।ऽ. ऽ।।।।।ऽ।।ऽ. ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ

मृगलोचना शशिमुखी च । रुचिरदशना नितम्बिनी
हंसललितगमना ललना—परिणीयते यदि भवेत् कुलोद्गता ।।

ललितम्—

।।ऽ।ऽ।।।ऽ।....।।।।।ऽ।ऽ।ऽ. ।। ।।।। ।।ऽ ।।ऽ. ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ

ललितं प्रियम्वदमुदारममलहृदयं गुणोत्तरम्
सुललितमतिकमनीयतनुं—पुरुषं त्यजन्ति न तु जातु योषितः ।।

व्रजसुन्दरीसमुदयेन । मुदितमनसा स्म पीयते
हिमकरगलितमिवामृतकं—ललितं मुरारिमुखचन्द्रविद्रुतम् ।।

मन्थरा—

ऽ।।।।।।ऽ।।ऽ....।।।।।ऽ।ऽ।ऽ. ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।. ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ—

यः सुखमभिलषतीह परं । भवतु मधुसाधुभाषणः
श्रमतः करोतु निजकर्म्मं—नहि कल्पते कृतिरतीव मन्थरा ।।

यः सुखमभिलषतीह परं । स भवतु मधुसाधुभाषणः
श्रमतः करोतु निजकर्म्मं—नहि कल्पते कृतिरतीव मन्थरा ।।
इत्येवं द्वितीयपादो लघुवृद्ध्यापीष्यतेऽन्या मन्थरेति विज्ञेयम् ।।

※ इत्युद्गताधिकारः ※

उपस्थितप्रचुपितम्

ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।ऽ।।ऽऽ....।।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽऽ. ।।।। ।।।।ऽ. ।।।।।। ।।।।ऽ।।ऽऽ

रामा काममखस्थली कुशेशयजाङ्घ्री ।
हृदयं हरति पयोधरावनम्रा—
इयमतिशयसुभगा—
बहुविधनिधुवनकुशला ललिताङ्गी ।।—

वर्द्धमानम्—

ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।ऽ।।ऽऽ. ।।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽऽ. ।।।।।।।।ऽ।।।।।।।।ऽ. ।।।।।। ।।।।ऽ।।ऽऽ

विम्बोष्ठी कठिनोन्नतस्तनाऽविकलाक्षी ।
हरिणी शिशुनयना नितम्बगुर्वी
मदकलकरिगमना परिणतशशिवदना—
जनयति मम मनसि मुदं मदिराक्षी ।।

शुद्धविराड् ऋषभम्

SSSI।SISISI।SS. ।।SI।।।SISISS. SSI।SISIS. ।। ।।।। ।।।।SI।SS—

कन्येयं कनकोज्ज्वला मता रसिकानाम् ।
शशिनिर्मलवदना विशालनेत्रा—
पीनोरुनितम्बशालिनी
सुखयति हृदयमतिशयं तरुणानाम् ।।

❋ इत्युपस्थितप्रचुपिताधिकारः ❋

उद्गतासु सर्वासूपस्थितप्रचुपितेषु च सर्वेषु प्रथमपादमितरपादत्रयविश्लिष्टं पठित्वा त्रिपदीं संश्लिष्य पठेदित्याम्नायः ।।—

इति साधारणपरिच्छेदे विषमवृत्तपरिच्छेदः समाप्तः ।।

अथातः समवृत्तेषूपक्रम्यमाणेषु तावदनादिष्टच्छन्दोवृत्तानि दर्श्यन्ते ।।—

श्रीः—S—श्रीः सा या धीः ।।१।।

कामः SS विद्या सिद्धा कामः सिद्धः ।।१।।

मही ।S इयं मही दिवस्तनुः ।।२।।

चारु S। चारु कर्म्म विद्धि शर्म्म ।।३।।

मधु ।। मधु वद मधु वद ।।४।।

नारी SSS सम्पत्त्या आपत्त्याः । किं मूलं नारीयम् ।।१।।

शशी ।SS शशी न स्वभासा । विभातीति बोध्यम् ।।२।।

सुप्रिया S।S यस्य वाक् सुप्रिया । तस्य कः स्यादरिः ।।३।।

रमणं ।।S न यदि श्रमणम् । न तदा रमणम् ।।४।।

पञ्चालः SS। पञ्चाल-देशस्य । किं किं न संभाति ।।५।।

मृगेन्द्रः ।S। यथाच तथाच । मृगेन्द्र विभासि ।।६।।

मन्दरः S।। मन्दर एव हि । मन्थन-कर्मणि ।।७।।

कमलः ।।। कमलमिव तु । भुवनमवति ।।८।।

कन्या ऽऽऽऽ यस्मै कस्मै कन्या दत्ता । हा धिक् शोच्यं स्वानां दौष्टयम् ।।१।।
वलानन्दः ऽऽ।ऽ धन्योऽबलानन्दो गृहे । धन्यो वलानन्दो रणे ।।२।।
आलोकहिता ऽऽऽ। नालोके तु सा लोकेत । या लोके दृगौलूकस्य ।।३।।
वरप्रिया ऽऽ।। सा सम्प्रति बुद्धिर्म्मम । किन्नु श्लथभूता वद ।।४।।
वीणा ।ऽऽऽ गृहं वीणादिवादित्रैः । कृतामोदं शुभाय स्यात् ।।५।।
नगालिका ।ऽ।ऽ शुभाशुभे विचिन्तिते । रुतं शुभं शुभप्रदम् ।।६।।
लोकरता ।ऽऽ। नता लोकरता यस्य । मतिः सोऽत्र सुखी नाम ।।७।।
दूती ।ऽ।। दयस्व हि महोदय । शुभं मम सदा कुरु ।।८।।
विनादः ऽ।ऽऽ मेघनाद त्वां विनादः । किं विदूरज्याविनोदः ।।९।।
राजहिता ऽ।।ऽ लोकहितं राजहितं सर्वहितं कर्म कुरु ।।१०।।
श्लिष्टम् ऽ।ऽ। मङ्गलासु विग्रहेण । श्लिष्टदेह पाहि पाहि ।।११।।
महिता ऽ।।। श्रीमहित साधुजन । पुण्यमिह कर्म कुरु ।।१२।।
मोहिता ।।ऽऽ यदि सत्ये मतिरिद्धा । नहि दुःखं भविता ते ।।१३।।
सती ।।।ऽ तव सती यदि मतिः । तव तदा नहि परः ।।१४।।
दारुणा ।।ऽ। इह साधु कुरु कर्म । भविता हि तव शर्म ।।१५।।
आकरः ।।।। जय जय भगवति कुरु मम सुखमति ।।१६।।

अक्षरपङ्क्तिः ऽ।।ऽऽ आद्यचतुर्थं पञ्चमकं चेत् । यत्र गुरुः स्यात् साक्षर-पङ्क्तिः ।

हारी ऽऽ।ऽऽ पूर्वं गुरू द्वौ पश्चाद् गुरू द्वौ मध्ये लघुर्यत्पादे स हारी ।

संमोहासारः ऽऽऽऽऽ गाद्यन्तो मश्चेत् क्षोगः क्षो वा चेत् पञ्च स्युर्गाश्चेत् संमोहासारः ।

प्रिया ।।ऽ।ऽ अनुरक्तदृग् यदि वीक्षते । सकला क्रिया भवति प्रिया ।
यमकः ।।।।। ननु जयति भव भवति । किमिह मम भयमभय ।।५।।

।। इति चतुस्त्रिंशदनादिष्टच्छन्दोवृत्तानि ।।

अथ गायत्रीप्रकरणम्

विद्युल्लेखा । शेषराजो वा

ऽऽऽ.ऽऽऽ मु:

संसारेऽस्मिन् लोकैर्धर्म्मो नित्यं सेव्यः ।।
ईशे भक्तिः कार्य्या पापं नित्यं त्याज्यम् ।।

सोमराजी—शङ्खसारी वा

ISS. ISS यु:

हरे सोमराजी समा ते यशः श्रीः । जगन्मण्डलस्य छिनत्त्यन्धकारम् ।।१।।

(विज्जोहा विमोहा वा)

SIS. SIS रु:

कैर्मुदा कौमुदी भुज्यते सुन्दरी सुप्रिया सङ्गगा विद्यते येषु तैः ।।

तिलका तिल्लना

IIS. IIS. सु:

विदुषा विदुषो धनिना धनिनः । गुणिना गुणिनो महती सखिता ।।

मन्थानम्

SSI. SSI तु:

विद्या ददात्यर्थमभ्यासपक्वा हि ।। मानेन सार्द्धं च भद्रं यशो भूरि ।।

सुमालतिका

ISI. ISI. जु:

स्वरस्ति सुधेति मुधैव लपन्ति । सुधातु इहास्तिरसालफले हि ।

भद्रा

SII. SII भु:

दमनकम्

III. III नु:

अघमपहर हर मम शिव ।। मदन दहन शमन शमन ।।

सोमकुलम्

SSS. IIS मस:

वसुमती

SSI. IIS तः सः

बिम्बोष्ठि रमणं सन्तोषय सदा । वाचा मधुरया दृष्ट्या करुणया ।।

तनुमध्या

SSI. ISS तय:

धन्या त्रिषु नीचा कन्या तनुमध्या । श्रोणीस्तनगुर्वी भूयात् पतिभोग्या ।।

कामलतिका

SSS. ISS मय:

शशिवदना चतुरङ्गा वा

।।।. ।ऽऽ नयः

शशिवदनानां व्रजतरुणीनाम् ।। अधरसुधोर्म्मिम् मधुरिपुरैच्छत् ।।

इति

अथोष्णिक्प्रकरणम्

शीर्षा

ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽ मुगः

चित्राम्बा देवी गङ्गा क्षोण्यां व्याघ्रीरूपा या ।
अंहःपुत्रान् लोकानां दृष्ट्वैवाऽश्नात्यत्राद्धा ।

मधुमती

।।।. ।।।. ऽ नुगः

रविदुहितृतटे वनकुसुमततिः । व्यधित मधुमती मधुमथनमुदम् ।।

मदलेखा

ऽऽऽ. ।।ऽ. ऽ मसगः

रङ्गे बाहुविरुग्नाद्दन्तीन्द्रान्मदलेखा । लग्नाऽभून्मुरशत्रौ कस्तूरीरसचर्चा ।

कुमारललिता

।ऽ।. ।।ऽ. ऽ जसगः (।ऽ. ।।।. ऽऽ कं न क्षं वा)

यदीरयति भूमौ विभाति तिलकाङ्कः ।
कुमारललिताऽसौ कुलात् पतति नारी ।।

चूडामणिः

।।ऽ. ऽ।।. ऽ सभगः

हंसमाला

।।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ सरगः

तनुते कामिनीनां किमु चित्रं तनुश्रीः ।
हरते दृष्टमात्रा तरुणानां मनांसि ।।

समानिका ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽ रजगः

भक्तपापनाशिनी कालभीतिखण्डिनी ।
सा नृपाऽस्तु ते सदा कालिका सुशर्म्मदा ।।

करहंचिः ।।।. ।।ऽ. । नसलः

हिमकिरणभास सुहृदयविलास ।
अपनय गिरीश वृजिनततिमाशु ।।

सुवासक: ।।।. ।ऽ।. । नजल:
अपनय हृद्गततिमिरचयं मम । सुतिमिरबालक कलुषविनाशक ।

।। अथानुष्टुप् प्रकरणम् ।।

विद्वन्माला ऽऽऽ. ऽ. ऽऽऽ. ऽ मगंमग:

विद्युन्माला ऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ क्षमु:
ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽ ममक्ष:
ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽ मुक्षो वा

विद्युन्मालालोलान् भोगान् मुक्त्वा मुक्तौ यत्नं कुर्यात् ।।
ध्यानोत्पन्नं नि:सामान्यं सौख्यं भोक्तुं यद्याकाङ्क्षेत् ।।

चित्रपदा ऽ।।. ऽ।।. ऽऽ भुक्ष:

यस्य मुखे प्रियवाणी चेतसि सज्जनता च ।
चित्रपदापि च लक्ष्मीस्तं पुरुषं न जहाति ।।

तुरङ्गा ।।।. ।।।. ऽऽ नुक्ष:

शिशुशशियुतभालं कलुष-निवह-कालम् ।।
नम नम शिवमीशं तपनजभयनाशम् ।।

गजगति: ।।।. ऽ।।. ।ऽ नभक:

अवतु वो गिरिसुता शशिभृत: प्रियतमा ।
वसतु मे हृदि सदा भगवत: पदयुगम् ।।

कमलम् ।।।. ।।ऽ. ।ऽ नसक:

स जयति जनार्द्दनो दितिजकुलनाशन: ।
गरुडवरवाहन: कलिकलुषनाशक: ।।

माणक्कं-माणवका क्रीडं वा ऽ।।. ऽ. ऽ।।. ऽ भगं भग:

माणवकाक्रीडितकं य: कुरुते वृद्धवया: ।
हास्यमसौ याति जने भिक्षुरिव स्त्रीचपल: ।।

हंसरुतम् ऽऽऽ. ।।।. ऽऽ मनक्ष:

लावण्यं वपुषि कान्ते लोकातीतमति सौम्यम् ।
नैष्ठुर्य्यं मनसि यत्ते द्वैविध्यं किमिति धत्से ।।

नाराचकम् ऽऽ।. ऽ।ऽ. ।ऽ तरक:

कङ्कालमालभारिणं कन्दर्पदर्पहारिणम् ।
संलारबन्धमोचनं वन्दामहे त्रिलोचनम् ।।

प्रमाणिका-नगस्वरूपिणी वा ।ऽ।. ऽ।ऽ. ।ऽ जरक:

पुनातु भक्तिरच्युता सदाच्युताङ्घ्रिपद्मयोः ।
श्रुतिस्मृतिप्रमाणिका भवाम्बुराशितारिका ।।

समानिका-मल्लिका वा ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽ। रजखः

वासवोपि विक्रमेण यत्समानतां न याति ।
तस्य वल्लभेश्वरस्य केन तुल्यता क्रियेत ।।

अथ बृहतीप्रकरणम्

रूपामाली ऽऽऽ. ऽऽऽ. ऽऽऽ. मा

पूर्णं यः सौख्यं यद्याकाङ्क्षेत् साधोः सङ्गं नित्यं कुर्यात् सः ।
मूलं धर्माणां संसारेऽस्मिन् सत्सान्निध्यं शास्त्रे विश्वासः ।।

महालक्ष्मीः ऽ।ऽ. ऽ।ऽ. ऽ।ऽ रा

मुण्डमाला गलालम्बिनी, खड्गहस्तातितीव्राऽसिता ।
घोररूपापि भीनाशिनी, भुक्तिदा मुक्तिदा कालिका ।।

भुजगशिशुयुता-भुजगसृता वा ।।।. ।।।. ऽ. ऽऽ. नुगंक्षः
इयमधिकतरं रम्या विकच-कुवलयश्यामा ।
रमयति हृदयं यूनां भुजगशिशुसृता नारी ।।

भुजगशिशुभृता ।।।. ।।।. ऽऽऽ नुमः

कमला ।।।. ।।।. ।।ऽ नुसः
भव-जलनिधितरणिं प्रणतजनभय-हरम् ।
जनितयदुकुलसुखं प्रणम नर नरहरिम् ।।

पवित्रा ऽऽऽ. ऽ।।. ।।ऽ मभसः
गाङ्गं वन्द्यं जयति जलं श्री गोविन्दांघ्रिकमलजम् ।
संसारक्ष्वेडभयततिं स्नानात् पानात् शमयति यत् ।।

मणिमध्यम् ऽ।।. ऽऽऽ. ।।ऽ भमसः
कालियभोगाभोगगतस्तन्मणिमध्यस्फीतरुचा ।
चित्रपदाभो नन्दसुतश्चारु ननर्त्त स्मेरमुखः ।।

मणिबन्धः ऽ।।. ऽऽ. ऽ।।. ऽ भक्षं भगः

सारङ्गिका ।।।. ।ऽऽ. ।।ऽ नयसः
नवघनभासं मनसा स्मर नर कृष्णं सहसा ।
हृदयजतापस्तरसा क्षयमपि गन्ता जनुषाम् ।।

बिम्बम् ।।।. ।।ऽ. ।ऽऽ नसयः
हिमकिरणगर्वनाशं तव मुखमुमेत्वकार्षीत् ।
यदिदममलं, कलङ्को विलसति विधोस्तु बिम्बे ।।

तोमरः ।।ऽ. ।ऽ।. ।ऽ। सजुः
मनुजास्तु ये न विदन्ति तव पादपद्मरसस्य ।
अतुलं महत्त्वमुमेश कलुषावृताः खलु ते हि ।।

भुजङ्गसङ्गता ।।ऽ. ।ऽ।. ऽ।ऽ सजरः
तरला तरङ्गरिङ्गितैर्यमुना भुजङ्गसङ्गता ।
कथमेतु वत्सचारकश्चपलः सदैव तां हरिः ।।

कामिनी ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽ।ऽ रजरः

भद्रिका ऽ।ऽ. ।।।. ऽ।ऽ रनरः

हलमुखी ऽ।ऽ. ।।।. ।।ऽ रनसः
गण्डयोरतिशयकृशं यन्मुखं प्रकटदशनम् ।
आयतं कलहनिरतं तां स्त्रियं त्यज हलमुखीम् ।।

अथ पङ्क्तिप्रकरणम्

सारवती ऽ।।. ऽ।।. ऽ।।. ऽ भागः
भक्तजनोद्धतपापहरं, नन्दकिशोरमनादिहरिम् ।
व्योमलतामलकम्बुगलं, नौमि विभूषितभालतलम् ।।

दीपकमाला ऽ।।. ऽऽऽ. ।ऽ।. ऽ भमजगः

रूपवती-रुक्मवती-चम्पकमाला वा ऽ।।. ऽऽऽ. ।।ऽ. ऽ भमसगः
कायमनोवाक्यैः परिशुद्धैर्यस्य सदा कंसद्विषि भक्तिः ।
राज्यपदं हर्म्यालिरुदारा रुक्मवती विघ्नः खलु तस्य ।।

सङ्गतम् ।।ऽ ।ऽ। ।ऽ। ऽ सजुगः
रमणीषु रागवशं गतं कुरुते मनो मम तन्मयम् ।
जरसीह नैति शमं च तत् तमसा विलुप्तविशुद्धिकम् ।।

त्वरितगतिः अमृतगतिर्वा ।।।. ।ऽ।. ।।।. ऽ नजनगः
क्षितिविजितिस्थितिविहितिव्रतरतयः परगतयः ।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ।।

(हंसी ऽऽऽ. ऽ।।. ।।।.ऽ मभनगः)

(मयूरसारिणी ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽ।ऽ. ऽ रजरगः)
या वनान्तराण्युपैति गन्तुं, या भुजङ्गभोगसक्तचित्ता ।
या द्रुतं प्रयाति सन्नतांसा, तां मयूरसारिणीं विजह्यात् ।।

(मनोरमा ।।।. ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽ नरजगः)
तरणिजातटे विहारिणी व्रजविलासिनीविलासतः ।
मुररिपोस्तनुः पुनातु नः सुकृतशालिनी मनोरमा ।।

(शुद्धविराट् ऽऽऽ. ।।ऽ. ।ऽ।. ऽ मसजगः)
विश्वं तिष्ठति कुक्षिकोटरे वक्त्रे यस्य सरस्वती सदा ।
अस्मद्वंशपितामहो गुरुर्ब्रह्मा शुद्धविराट् पुनातु नः ।।

(सुषमा ऽऽ।. ।ऽऽ. ऽ।।. ऽ तयभगः)
दीने कुरु कारुण्यं मयि ते दीनोद्धरणे ह्यास्ते दृढता ।
काश्यां हर जीवेभ्यो मरणान्मुक्तिं ददसे घोरात्तमसः ।।

(सङ्गतिका ।।ऽ. ।ऽ।. ।ऽ।. ऽ सजुगः)
तरला तरङ्गसुरिङ्गितैर्यमुना भुजङ्गमसङ्गता ।
कथमेतु वत्सकचारकश्चपलः सदैव स तां हरिः ।।

(उपस्थिता ऽऽ।. ।ऽ।. ।ऽ।. ऽ तजुगः)
(ऽऽ. ।।ऽ. ।।ऽ. ।ऽ क्षंसुको वा)
एषा जगदेकमनोहरा कन्या कनकोज्ज्वलदीधितिः ।
लक्ष्मीरिव दानवसूदनं पुण्यैर्नरनाथमुपस्थितम् ।।

(पणवम् ऽऽऽ. ।।।।. ऽऽऽ मघंघमः)
मीमांसारसममृतं पीत्वा शास्त्रोक्तिः कटुरितरा भाति ।।
एवं संसदि विदुषां मध्ये जल्पामो जयपणबन्धत्वात् ।।

(मत्ता ऽऽ.ऽऽ.।।।.।ऽऽ क्षुंनयः)
स्वैरोल्लापैः श्रुतिपुटपेयैर्गीतक्रीडासुरतविशेषैः ।
वासागारे कृतसुरतानां मत्ता नारी रमयति चेतः ।।
(सिंहलेखा ऽ।ऽ.।ऽ।.।ऽ।.ऽ रंजुगः)

अथ त्रिष्टुप् प्रकरणम्

(मालती ऽऽऽ.ऽऽऽ.ऽऽऽ.ऽऽ माक्षः)
भूयास्तां वैकुण्ठाङ्घ्री मे दुःखारी दूरीकुर्य्याद्विष्णुर्मे घोरं पापम् ।
जीयान्मे भाग्यं वृद्धं लोकातीतं मा भूज्जन्मास्मिन् मे घोरे संसारे ।।

(लयग्राहिः—विध्वङ्क्माला वा ऽऽ।.ऽऽ। ऽऽ।.ऽऽ ताक्षः)

(दोधकम्—बन्धुर्वा ऽ।।.ऽ।।.ऽ।। ऽऽ भाक्षः)

देव सदोर्ध्वकदम्बतलस्थ श्रीधर तावकनामपदं मे ।
कण्ठतलेऽसुविनिर्गमकाले स्वल्पमपि क्षणमेष्यति योगम् ।।

(स्वागता ऽ।ऽ.।।.।ऽ।.।ऽऽ रघजयः)

बिम्बितं भृतपरिश्रुति जानन् भाजने जलजमित्यबलायाः ।
घ्रातुमक्षि पतति भ्रमरः स्म भ्रान्तिभाजि भवति क्व विवेकः ।।

(रथोद्धता ऽ।ऽ.।।.।ऽ।.ऽ।ऽ रघजरः)

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ।।

(शिखण्डितम्—उपस्थितं वा ।ऽ।.।।ऽ.ऽऽ।.ऽऽ जसतक्षः)

उपस्थितवरं चार्वङ्गि हित्वा कथं त्वमपरं धूर्त्तं पुमांसम् ।
करोषि रमणं शेषे सदोषो भविष्यति सदा वज्रात् सुघोरः ।।

(कुपुरुषजनिता ।।।.।।।. ऽ।ऽ ऽऽ नुरक्षः)

(अनवसिता ।।।.।ऽऽ.ऽ।।.ऽऽ नयभक्षः)

(इन्द्रवज्रा ऽऽ।.ऽऽ।.।ऽ।.ऽऽ तुजक्षः)

श्रद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन् संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ।।

उपेन्द्रवज्रा ।ऽ।.ऽऽ।.।ऽ। ऽऽ जतजक्षः)

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षाः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः ।।

(विलासिनी ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽऽ जरजक्षः

विलासिनीविलोकितः स कामी द्रुतं प्रियामनश्लथं वितन्वन् ।
प्रवृद्धमन्मथस्वसत्वबोधं चकार कर्म तद्रसैकभावम् ।।

(उत्थापिनी ऽऽ.।ऽ।.।।ऽ ।।ऽ क्षजसुः)

(विदुष्यपवित्रम् ।।ऽ.।।ऽ.।।ऽ.।ऽ साकः)

स्मर नन्दसुतं तरुणीयुतं व्रजभूमिगतं मुरलीधरम् ।
द्विभुजं भजतां शरणं परं भवसागरतारणकारणम् ।।

(भद्रिका ।।.।।।.।ऽ।.ऽ।ऽ घनजरः)

कुरु भगवति कालिके कृपां मयि मतिरहिते जने तव ।
न कथमपि कृपां विना क्षमा सुरनरदनुजादिचेतना ।।

(मोटनकम् ऽऽ.।ऽ.।।ऽ.।।ऽ क्षसा)

रङ्गे खलु मल्लकलाकुशलश्चाणूरमहाभटमोटनकम् ।
यः केलिलवेन चकार स मे संसाररिपुं प्रतिमोटयतु ।।

(दमनकम् ।।।.।।।.।।।.।ऽ नाकः)

वरजलनिधिजलशयनं सुरमुनिगणभयहरणम् ।
बहुदितिसुतकुलमरणं भजतु भजतु हरिममलम् ।।

(श्येनी ऽ।ऽ.।ऽ।.ऽ।ऽ.।ऽ रजरकः)

क्रूरदृष्टिरायताग्रनासिका चञ्चला कठोरतीक्ष्णनादिनी ।।
युद्धकांक्षिणी सदामिषप्रिया श्येनिकेव सा विगर्हिताङ्गना ।।

(अनुकला ऽ।.।ऽऽ.।।।.।ऽऽ खयनयः)

बल्लववेशा मुररिपुमूर्त्तिर्गोपमृगाक्षीकृतरतिपूर्त्तिः ।
वाञ्छितसिद्धौ प्रणतिपरस्य स्पादनुकूला जगति न कस्य ।।

(श्रीः, कुड्मलदन्ती वा, ऽ।.।ऽऽ.।।।.।ऽऽ खयंनयः)

कुङ्मलदन्ती विकटनितम्बा, किन्नरकण्ठी लघुतरमध्या ।
बिम्बफलोष्ठी मृगशिशुनेत्रा, मित्र ! भवन्तं सुखयतु कान्ता ।।

मौक्तिकमाला ऽ।।-ऽऽ.।।।.।ऽऽ भक्षंनयः)

(अनुकूलोदाहरणमेव मौक्तिकमालाया अपि

(सान्द्रपदम् ऽ।।.ऽऽ.।।।.।ऽ। भक्षंनजः)

(सुमुखी ।।.।।ऽ.।।ऽ.।।ऽ घसंसुः)

परिधृतकृत्तिकचन्द्रधरं विधिहरिवन्दितपादयुगम् ।
नम नम भूधरजाधरपं जप शिवनाम च दुःखहरम् ।।

(शालिनी ऽऽ.ऽऽ.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ.ऽ क्षंरुगः)

अंहो हन्ति ज्ञानवृद्धिं विधत्ते धर्मं दत्ते काममर्थं च सूते ।
मुक्तिं दत्ते सर्वदोपास्यमाना पुंसां श्रद्धाभाविनी विष्णुभक्तिः ।।

(भ्रमरविलसिता ऽऽऽऽ.।।।.।।।.ऽ क्षंनुगः)

प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः प्रौढ़ध्वान्तं दिनमिह जलदाः ।
दोषामन्यं विदधति सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः ।।

(वातोर्मी ऽऽऽऽ.।।ऽ.ऽ।ऽ.ऽ क्षंसरगः)

ध्याता मूर्त्तिः क्षणमप्यच्युतस्य श्रेणी नाम्नां गदिता हेलयाऽपि ।
संसारेऽस्मिन् दुरितं हन्ति पुंसां वातोर्मी पोतमिवाम्भोधिमध्ये ।।

(वृत्ता ।।।।.।।।।.ऽऽऽ हंहमः)

द्विजगुरुपरिभवकारी यो नरपतिरतिधनलुब्धात्मा ।
ध्रुवमिह निपतति पापोऽसौ फलमिव पवनहतं वृन्तात् ।।

———

अथ जगतीप्रकरणम्

(विद्याधरः SSS.SSS.SSS.SSS. मिः

आत्मानं चेज्जानीयाच्छुद्धं प्रत्यञ्चं ब्रह्माभिन्नं तर्ह्याप्तुं शक्तः कैवल्यम्।
संसारेऽस्मिन् कश्चित् पाप्नोतीदृक् ज्ञानं बह्वायासात् काश्यां मृत्यौ चानायासात् ॥

(भुजङ्गप्रयातम् ।SS.।SS.।SS.।SS यिः)

पुरः साधुवद् भाति मिथ्याविनीतः परोक्षे करोत्यर्थनाशं हताशः।
भुजङ्गप्रयातोपमं यस्य चित्तं त्यजेत्तादृशं दुश्चरित्रं कुमित्रम् ॥

(स्रग्विणी, लक्ष्मीधरो वा S।S.S।S.S।S.S।S. रिः)

इन्द्रनीलोपलेनेव या निर्मिता शातकुम्भद्रवालङ्कृता शोभते।
नव्यमेघच्छविः पीतवासा हरेर्मूर्तिरास्तां जयायोषसि स्रग्विणी ॥

(तोटकम् ।।S.।।S.।।S.।।S सिः)

अमुना यमुना जलकेलिकृता सहसा रहसा परिरभ्य धृता।
हरिणा हरिणाकुलनेत्रवती नवयौवनयौवनभारवती ॥

(सारङ्गम्, विनीतो वा, SS।.SS।.SS।.SS। तिः)

सारङ्गतुल्यं मनो मे तवास्यन्तु पूर्णेन्दुबिम्बोपमं तत् कथं सुभ्रु।
तस्मात् समुद्भूतपीयूषमापीय वामोरु चित्रं न तृष्णां जहात्याशु ॥

(मौक्तिकदाम ।S।.।S।.।S।.।S। जिः)

सुवर्णघटाभपयोधरयोश्च, नितम्बिनि योजय मौक्तिकदाम।
विलासरसप्रियनायकमाशु विनोदय मानमपाहर सुभ्रु ॥

(मोटकम्, लतागहनं या S।।.S।।.S।।.S।।. भिः)

मञ्जुलकाननकेलिकलापर गोपवधूजनरासरसाहित।
भक्तजनोद्धततापह माधव नाशय कल्मषमाशु जनार्द्दन ॥

(तरलनयनम्, नूपुरध्वनिर्वा ।।।.।।।.।।।.।।।. निः)

भव भय-हर हर वितरय चरणकमलमति सकरुण।
यदगतिकगति किल वदति मुनिगण इह सकलशरण ॥

(वंशस्तनितम्, वंशस्थबिलम्, वंशस्थं वा)
।S।.SS।.।S।.S।S जतजरः

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥

(इन्द्रवंशा SS।.SS।.।S।.S।S तुजरः)

कुर्वीत यो देवगुरुद्विजन्मनामुर्वीपतिः पातकमर्थलिप्सया।
तस्येन्द्रवंशेऽपि गृहीतजन्मनः सञ्जायते श्रीः प्रतिकूलवर्तिनी।

(ललिता ऽऽ।. ऽ।।. ।ऽ।. ऽ।ऽ तभजरः)

पूर्वैः सुधीभिरमृता सरस्वती निर्मायि या च ललिता तया पुनः ।
विश्वंभरा रसवती बभूव किं चित्रं नवीनकविभिः करिष्यते ।।

(प्रियंवदा ।।।. ऽ।।. ।ऽ।. ऽ।ऽ नभजरः)

हरिपदं मनसि चिन्तयन् सदा न च कदापि विपदां पदं भवेत् ।
इह परत्र स जनः सुखी भवेत् तरणिसूनुजभयं तरेन्मुदा ।।

(पञ्चचामरम् ।ऽ।. ऽ।ऽ. ।ऽ।. ऽ।ऽ जरजरः

(नवमालिनी ।।।।. ऽ।ऽ. ।।।. ऽऽ हरनक्षः)

धवलयशोंशुकेन परिवीता सकलजनानुरागघुसृणाक्ता ।
दृढगुणबद्धकीर्तिकुसुमोघैस्तव नवमालिगीव नृप लक्ष्मीः ।।

(उज्वला ।।।. ।।।. ऽ।।. ऽ।ऽ नुभरः)

गुणिपरिषदि यस्य महोज्ज्वला भवति यदि कृतिः कृतिनस्तदा ।
खलु बहु सुकृतानि चकार सः, दिवि निवसति पुण्ययुतः सदा ।।

(ललितम् ।।।.।।।.ऽऽऽ.ऽ।ऽ नुमरः)

(ततम् ।।।.।।।.ऽऽ.ऽऽ।.ऽ नुक्षंतगः)

कुरु करुणमियं गाढोत्कण्ठिका यदुतनयचकोरी कामाधिका ।
विरहदहनसङ्गादङ्गैः कृशा पिबतु तव मुखेन्दोर्बिम्बं दृशा ।।

(द्रुतपदम् ।।।.ऽ।।.।ऽ।.।ऽऽ नभजयः)

द्रुतपदं तमसि गच्छति बाला मदनवाणदहनादतितप्ता ।
प्रियसमीपगमनोत्सुकचित्ता मनसिजः किमिह कर्त्तुमशक्तः ।।

(वाहिनी ऽऽ।ऽऽऽ ऽऽऽ।ऽऽ तमुयः)

यो वाहिनीं क्रव्यादां त्रुटयद्धं मात्राद्धन्तुं हि शक्तोऽनन्तः सोप्यद्य मूर्च्छाम् ।
प्राप्तः किमेतच्चित्रं पौलस्त्यशक्त्या ज्ञातुं न शक्यं त्वज्ञैश्चारित्र्यमेषाम् ।।

(तामरसं, ललितं वा ।।।.।ऽ।.।ऽ।.।ऽऽ—नजुयः)

स्फुटसुषमामकरन्दमनोज्ञं व्रजललनानयनालिनिपीतम् ।
तव मुखतामरसं मुरशत्रो ! हृदयतडागविकासि ममास्तु ।।

(कुसुमविचित्रा, ।।।.।ऽऽ.।।।.।ऽऽ. नयंनयः)

विपिनविहारे कुसुमविचित्रा कुतुकितगोपीमहितचरित्रा ।
मुररिपुमूर्त्तिर्मुखरितवंशा चिरमवताद् बस्तरलवतंसा ।।

(केलिरवम् ।।ऽ.।ऽऽ.।।ऽ.।ऽऽ सयंसयः)

(मणिमाला ऽऽ।.।ऽऽ.ऽऽ।.।ऽऽ तयंतयः)

प्रह्वामरमौलौ रत्नोपलक्लृप्ते जातप्रतिबिम्बा शोणा मणिमाला ।
गोविन्दपदाब्जे राजी नखराणामास्तां मम चित्ते ध्वान्तं शमयन्ती ।।

(जलोद्धतगतिः ।ऽ।.।।ऽ.।ऽ।.।।ऽ— जसंजसः)

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां सतां जवनिका, निकामसुखिनाम् ।
बिभर्त्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवला बलाहकततीः ।।

(स्रग्विणी ऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ रिः)

यो रणे युध्यते निर्भरं निर्भयस्त्यागिता यस्य सर्वस्वदानावधिः ।
तं नरं वीरलक्ष्मीर्यशःस्रग्विणी नूनमभ्येति सत्कीर्त्ति शुक्लांशुका ।।

(चञ्चलाक्षिका ।।।.।।।.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ—नुरुः)

सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्म्मितम् ।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ सविस्मयम् ।। इति भारवौ

(प्रमुदितवदना ।।।.।।।.ऽ।ऽ.ऽ।ऽ—नंरुः)

प्रभा ।।।.।।।.ऽ.।ऽ.ऽ।ऽ—नुगंकरः

गौरी ।।।.।।।.ऽ।.ऽ.ऽ।ऽ नुखंगरः

प्रणमत चरणारविन्दद्वयं त्रिभुवननमितस्य गौरीपतेः ।
सकृदपि मनसैव यः सेवितः प्रवितरति यथेष्टमष्टौ गुणान् ।।

पुटः श्रीपुटो वा ।।।.।।।.ऽ.ऽऽ.।ऽऽ—नुगंक्षयः

।।।.।।।.ऽऽ.ऽ.।ऽऽ—नुक्षंगयः

न विचलति कथंचिन्न्यायमार्गात् वसुनि शिथिलमुष्टिः पार्थिवो यः ।
अमृतपुट इवासौ पुण्यकर्म्मा भवति जगति सेव्यः सर्वलोकैः ।।

नवमालिका ।।।.।ऽ.।.ऽ।।.।ऽऽ—नकंलभयः

।।।.।ऽ।.ऽ।.।.।ऽऽ—नजखंलयः

धवलयशोंऽशुकेन परिवीता सकलजनानुरागघृसृणाक्ता ।
दृढगुणबद्धकीर्त्तिकुसुमौघैस्तव नवमालिकेव नृप लक्ष्मीः ।।

वैश्वदेवी ऽऽऽ.ऽऽ..ऽ.।ऽऽ.।ऽऽ—मक्षंगयुः

अर्चामन्येषां त्वं विहायामराणामद्वैतेनैकं विष्णुमभ्यर्च्य भक्त्या ।
तत्राशेषात्मन्यर्चिते भावनी ते भ्रातः संपन्नाराधना वैश्वदेवी ।।

ललना ऽ।।.ऽऽ.।.।।।.।।ऽ—भक्षंलनसः

ऽ।।.ऽऽ.।।।.।।।.ऽ—भक्षंनुगः

यमुना ।।।.।ऽ।.।.ऽ।.ऽ।ऽ—नजलंखरः

मालती ।।।.।ऽ.।.।ऽ।.ऽ।ऽ नकलंजरः

अयि विजहीहि दृढोपगूहनं त्यज नवसङ्गमभीरु ! वल्लभम् ।
अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः ।। इति भारविः

वरतनुः ।।।.।ऽ।.।ऽ।.ऽ।ऽ—नजुरः

उपरितनमेवोदाहरणम्

प्रमिताक्षरा ।।ऽ.।ऽ।.।।ऽ.।।ऽ—सजंससु:
प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ।। इति माघे

द्रुतविलम्बितम्—सुन्दरी वा ।.।।ऽ.।।ऽ.।।ऽ.।ऽ—नभभराः
वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः ।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः ।।

चन्द्रवर्त्म ऽ।ऽ.।।।.ऽ।.।.।।ऽ—रनभसाः
चन्द्रवर्त्म पिहितं धनतिमिरै राजवर्त्म रहितं जनगमनैः ।
इष्टवर्त्म तदलंकुरु सरसे कुञ्जवर्त्मनि हरिस्तव कुतुकी ।।

जलधरमाला—ऽऽऽऽ।।।।ऽऽऽऽ-म्भौस्मौ
धूमाकारं दधति पुरः सौवर्णे वर्णेनाग्नेः सदृशि तटे पश्याऽमी ।
श्यामीभूताः कुसुमसमूहेऽलीनां लीनामालीमिह तरवो बिभ्राणाः ।।

कान्तोत्पीडा ऽ।।. ऽऽऽ. ।।ऽ. ऽऽऽ भ मं स मं क्षग:
कामशरैर्व्याप्ता खलु कान्तोत्पीडामाप्तवती दुःखैः परिमुह्यन्ती या ।
सा लभते चेत्कामुकयोगं गाढं दुःखविमुक्ता स्यात् परमानन्दाप्ता ।।

अथातिजगतीप्रकरणम्

कन्दुकं कन्दो वा ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।यिलः
अनाथोऽस्मि नाथाशु कुर्य्याः कथं मां न,
विमुक्तं तवाऽऽख्या भवाम्भोधिनौर्वा हि ।।
कथं मां सदुःखं प्रदृश्यापि सर्वज्ञ ।
न दुःखस्य नाशं करोषि त्वमीशान ! ।।

तारकम् ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ-सिग:
स्मरशासनशासनतो गिरिकन्ये
सकृदेव हि ये तव नाम जपन्ति ।।
इह वा परजन्मनि वा कुशलं ते
अचिरादमरेप्सितमम्ब लभन्ते ।।

कलहंसः सिंहनादो वा ।।ऽ।ऽ। ।।ऽ।।ऽऽ-सजंसुग:
यमुनाविहारकुतुके कलहंसो,
व्रजकामिनीकमलिनीकृतकेलिः ।

जनचित्तहारि कलकण्ठनिनादः,
प्रमदं तनोतु तव नन्दतनूजः ॥

चञ्चरीकावली ।SSSSSSISSISS लमुयुः
सुरज्येष्ठादीनामुत्तमाङ्गेषु जुष्टा,
किरीटव्यूहस्था नीलरत्नावली या ।
नतानां भाव्येषा धूर्जटेर्हृत्सरःस्थे,
भवानीपादाब्जे चञ्चरीकावली च ॥

पङ्क्तावली-पङ्कजावली वा. SII IIISIISII-भनुभुः—
देवि भगवति ममाखिल पापज-
दुःखविषजलधिमाशु च शोषय ।
अम्ब भवति यदि ते न कृपा मयि,
तर्हि जनिरिह वृथा हि भवे मम ॥

क्षमा ।।। ।।। ।S। SS।S नुजंतगः
अयि सुदति तव पादलग्नं प्रियं, विमलविधुसममाननं दर्शय ।
झटिति जहि जहि मानमद्य क्षमां कुरु वद वचनमाशु तं जीवय ॥

मञ्जुहासिनी ।S।S.S।।.।S।S।S—कुभका

उपस्थितम् ।S।।।SSS।।।SS—कनमनक्षः

मृगेन्द्रमुखम् ।।। ।S।।S।S।SS—नजुरगः
गुरुभुजवीर्य्यभरं हरिं मदान्धा युधि समुपेत्य न दानवा जिजीवुः ।
क्षुधितमृगेन्द्रमुखं मृगा उपेत्य क्व नु खलु बिभ्रति जीवनस्य योगम् ॥

चण्डी ।।। ।।। ।।S ।।SS—नुसुगः
जयति दितिजरिपुताण्डवलीला कुपितकवलकरकालियमौलौ ।
चरणकमलयुगचापलचण्डीपदनखरुचिजितभोगमणिश्रीः ॥

उत्पलिनी ।।। ।।।SS।SS।S—नुतुगः

क्षमा, विद्युच्चन्द्रिका, कुटिलगतिर्वा ।।। ।।।SS।SS।S—नुगंरुः
अधरकिसलये कान्तदन्तक्षते हरिणशिशुदृशां नृत्यति भ्रूयुगम् ।
ध्रुवमिदमुचितं यद्विपत्तौ सतामतिकुटिलगतेः स्यान्महानुत्सवः ॥

चण्डिका चन्द्रिका वा ।।। ।।।SS।SS।S—नुगंरुः
इह दुरधिगमैः किंचिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।
असुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् । इति भारवौ.

सुदन्तम् ।।।S।SS।।S।S।S नरभरकः

प्रबोधिता ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ—घरनखरः

मञ्जुभाषिणी-कनकप्रभा-सुनन्दिनी वा ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ—घरंनखरः

अधिरुह्यतामिति महीभृतोदितः कपिकेतुनार्पितकरो रथं हरिः ।
अवलम्बितैलविलपाणिपल्लवः श्रयति स्म मेघमिव मेघवाहनः ।।

नन्दिनी ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ—घरनगंलरः

पूर्वोक्तमेवोदाहरणम्

रुचिरा ।ऽ।ऽ।।। ।ऽ।ऽ।ऽ—कुंनका

अभून् नृपो विवुधसखः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः ।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ।।

प्रहर्षिणी ऽऽऽ।।। ।ऽ।ऽ।ऽऽ—मंनकागः

एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र ।
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः ।।

प्रभावती ऽऽ।ऽ।।।।ऽ।ऽ।ऽ—गरंनका

मत्तमयूरः माया वा ऽऽऽ ऽऽ।।ऽऽ।।ऽऽ—गमंभतयः

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन् वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं वीक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तः शल्य इवासीत् क्षितिपोऽपि ।।

चन्द्रलेखा ।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ—नसंरुगः

कुटजगतिः ।।।।ऽ।ऽऽऽऽऽ।ऽ—नकुंमरः

कुटिलगतिः ।।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽ—नुतुगः

अधरकिसलयैकान्तदन्तक्षते हरिणशिशुदृशां नृत्यति भ्रूयुगम् ।
ध्रुवमिदमुचितं यद्विपत्तौ सतामतिकुटिलगतेः स्यान्महानुत्सवः ।।

अथ शक्वरी

वसन्ततिलकम्-उद्धर्षिणी-शोभावती-सिंहोद्धता-मधुमाधवी वा

ऽऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽ।ऽऽ—तभजुक्षः

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य रूपं च शत्रुभयकार्य्यतिहारि कुत्र ।
चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ।।

वरसुन्दरी ऽ।।ऽ।।।ऽ।।।ऽऽ गनगनगनक्षः

स्वादुशिशिरोज्ज्वलसुगन्धि जलपूर्णं वीचिचयचञ्चलविचित्रशतपत्रम् ।
हंसकलकूजितमनोहरतटान्तं पश्य वरसुन्दरि सरोवरमुदारम् ।।

वासन्ती ऽऽऽऽऽ।।।।ऽऽऽऽऽ—क्षमघुक्षमः

भ्राम्यद्भृङ्गीनिर्भरमधुरालापोद्गीतैः श्रीखण्डाद्रेरद्भुतपवनैर्मन्दान्दोला ।
लीलालोला पल्लवविलसद्धस्तोल्लासैः कंसारातौ नृत्यति सदृशी वासन्तीयम् ।।

लक्ष्मीः ऽऽऽ।।ऽऽऽ।।।।ऽऽ—मघमनयः

चन्द्रौरसः SSSSIIIIIISSIS—क्षनुतगः

इन्दुवदना SIIISIIISIIISS—भजसनक्षः

इन्दुवदनेन सहते तुहिनरश्मिनोंपमितिमेति ललने क्वचिदपीषत् ।
एतमिह सोऽनिशमलं मनसि तापं प्राप्य गगने स्थित इहाति रहसीति ॥

प्रमदा IIIISISIIISIIS—घुखुसुः

सुकेसरम् IIISISIIISISIS—नरनरकः

चक्रपदम् SII III III IIIIS—गनिगः

चन्द्रकरनिभतरलतरसुयशः कस्य हि सुहृदय कुमुदमतिशयम् ।
कारयति जगति न च रघुवर ते, रावणबधकृतजगदुपकृतिजम् ॥

कुटिलम् SSSSIIIIIISSSS—क्षंनुक्षुः

मध्यक्षामा-हंसश्येनी वा SSSSIII IIISSSS—क्षंनुक्षुः

असंबाधा SSSSS III III SSS क्षमं नुगंक्षः

वीर्य्याग्नौ येन ज्वलति रणवशात् क्षिप्ते दैत्येन्द्रे जाता धरणिरियमसंबाधा ।
धर्म्मस्थित्यर्थं प्रकटिततनुसंबन्धः साधूनां बाधां प्रशमयतु स कंसारिः ॥

मञ्जरी IISISIIISISSIS—घरंनरुः

प्रहरणकलिता III III S III IIIS—नुगंनुगः

सुरमुनिमनुजैरुपचितचरणां रिपुभयचकितत्रिभुवनशरणाम् ।
प्रणमत महिषासुरतनुकुपितां प्रहरणकलितां पशुपतिदयिताम् ॥

अपराजिता III III SIS IISIS—नुगंजुगः

यदनवधिभुजप्रतापकृतास्पदा यदुनिचयचमूः परैरपराजिता ।
व्यजयत समरे समस्तरिपुव्रजं स जयति जगतां गतिर्गरुडध्वजः ॥

नान्दीमुखी-वसन्तो वा III III SSISSISS—नुगंरुगः

सरसखगकुलालापनान्दीमुखीयं लहरिभुजलता चारुफेनस्मितश्रीः
मुरहरकलयाऽऽसत्तिमासाद्य किन्ते प्रमुदितमनसा भानुजा नृत्यतीह ॥

नदी III III SSII SISS—नुगंभरगः

अलोला SSSIISSSSSIISS मघक्षंमघक्षः

मुग्धे यौवनलक्ष्मीर्विद्युद्विभ्रमलोला त्रैलोक्याद्भुतरूपो गोविन्दोऽतिदुरापः ।
तद्वृन्दावनकुञ्जे गुञ्जद्भृङ्गसनाथे श्रीनाथेन समेता स्वच्छन्दं कुरु केलिम् ॥

कुमारी IIIISISIIISISS-घुखुंसयः

सुपवित्रम् III III III III SS-नुघंनयः

।। अथातिशक्वरो ।।

नलिनी भ्रमरावली वा ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ-सासुः

गिरिराजसुताधृतसुन्दरकन्धरकं परिधूतगजाजिनवाससमुच्छ्रिरसम् ।
गलनीलविभूषितदीनदयालुमिमं भज रे स्मर रे प्रभुमीशमहो ह्यनिशम् ।।

विपिनतिलकम् ।।। ।।ऽ ।।। ऽ।ऽऽ।ऽ-नसनरः

विपिनतिलकं विकसित्तं वसन्तागमे मधुकृतमदैर्मधुकरैः क्वणद्भिर्वृतम् ।
मलयमरुताचरितलास्यमालोकयन् व्रजयुवतिभिर्विहरति स्म मुग्धो हरिः ।।

ऋषभः ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽ।ऽऽ-सजसुयः

तूणकं-चामरो वा-ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ-खाखिगः

देवराजसेव्यमानपावनाङ्घ्रिपङ्कजं व्यालयज्ञसूत्रमिन्दुशेखरं कृपाकरम् ।
कालकालमम्बुजासनादिदेवसंस्तुतं काशिकापुराधिनाथकालभैरवं भजे ।।

रमणीयकः ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ-खुसाकः

निशिपालकम् ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ—गनगनगनरः

मुञ्च नृप मुञ्च नृप पञ्चमुखकामिनी पञ्चवदनेन सह पञ्चशरतापिनी ।
कुञ्जवनमेति नृप मत्तगजगामिनी यामि नृप यामि नृप याति नृप यामिनी ।।

मानसहंसः ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ—घरघरघरः

रमणीकटाक्ष शराहतं कुरुते जनं निजधर्मलोपभयाच्च्युतं निरतं क्षणात् ।।
मकरध्वजो हि भवाम्बुधौ नियतो रिपुर्हरिभक्त एव विमुच्यते विषयात सदा ।।

सुखेलकम् ।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ—लनरनरकः

प्रभद्रकम् ।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ—लनरंनरकः

पशुपतिपादपद्ममिह चिन्तयेत् सदा पितृपतियन्त्रणाद् भवति यस्य भीरसौ ।
प्रचुरतराघयुक्तमपि वञ्चकं शिवः स्वनिवसतिं निनाय करुणामयो हि सः ।।

चित्रा ऽऽऽऽऽऽऽऽऽ।ऽऽ।ऽऽ—मायुः

गोपालीलीला लोला यद्वत् कलिन्दात्मजान्ते खेलन्मुक्ताहारे वन्यस्त्रग्लसत्यर्धचित्रा ।
कंसारातेर्मूर्तिस्तद्वन्मे हृदि क्रीडतीयं कोऽन्यः स्वर्गो मोक्षो वा विद्यते तन्न जाने ।।

कामक्रीडा ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ मामुः

लीलाखेलः सारंगी वा—ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ क्षुंक्षुंमुगः

मा कान्ते पक्षस्यान्ते पर्याकाशे स्वाप्सीः कान्तं वृत्तं वक्त्रं पूर्णं चन्द्रं मत्वा रात्रौ चेत् ।
क्षुत्क्षामः प्रार्टश्चेतो राहुः क्रूरः प्राद्यात् तस्माद्ध्वान्ते हर्म्यस्यान्ते शय्यैकान्ते कर्त्तव्या ।।

चन्द्रकान्ता ऽ।ऽऽ।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽऽ—रुगगंरुगः

चन्द्रलेखा—ऽऽऽऽ। ऽऽऽऽ। ऽऽ। ऽऽ— मरगंगरुगः

विच्छेदे ते मुरारे पाण्डुप्रकाशा कृशाङ्गी
म्लानच्छायं दुकूलं न भ्राजते विभ्रती सा ।
राधाऽम्भोदस्य गर्भे लीना यथा चन्द्रलेखा
किं चार्त्ता त्वां स्मरन्ती धत्ते ध्रुवं जीवयोगम् ॥

मालिनी ।।।।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽऽ नुक्षंरुगः

नवनगवनखेलाश्याममध्याभिराभिः स्फटिककटकभूमिर्नाटयत्येष शैलः ।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागैरधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥

उपमालिनी ।।।।।।ऽऽ।ऽ।।ऽ।ऽ—नुक्षंजुगः

एला ।।ऽ।ऽ।।।।।।।।ऽऽ सजनुयः

रमणीमुखाद् यदि वहति सुरभिवायुर्नियतं हि सा भवति नरपतिसुभोग्या ।
स्वपतिप्रियापि भवति बहुधनयुक्ता कमला यथा हरिहृदयवसतिमाप्ता ॥

मणिगुणनिकरः ।।।।।।।।।।।।।।ऽ—नुघंनुगः

नरकरिपुरवतु निखिलसुरगतिः रमितमहिमभरसहजनिवसतिः ।
अनवधिमणिगुणनिकरपरिचितः सरिदधिपतिरिव धृततनुविभवः ॥

चन्द्रावर्त्ता 'शशिकला, शरभो वा ।।।।।।।।।।।।।।ऽ—नुनुसः

पटुजवपवनचलितजललहरीतरलितविहगनिवहरवमुखरम् ।
विकसितकमलसुरभिशुचि सलिलं विचरति पथिकमनसि शरदि सरः ॥

माला ।।।।।।।।।।।।।।ऽ—नंनुसः

नवविकसितकुवलयदलनयने निशमय नवजलधरमिह गगने ।
अपनय रुषमुपसर मम सविधं यदि रतिसुखमभिलषसि बहुविधम् ॥

अथाष्टिप्रकरणम्

अश्वगतिर्नीला वा ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ—गसासुः

कुञ्चितकुन्तलशोभितमोहितगोपिगणं इन्दुनिभं मुखमाशु च दर्शय कृष्ण विभो ।
निन्दितपङ्कजपादयुगं कुरु मच्छरणं नाशय माधव जन्म ममाशु हरे ॥

ब्रह्मरूपकम् ऽऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ गमामुः

ब्रह्म ह्येतद्रूपं नागाधीशेनोदीर्णैर्वर्णैर्वैः सर्वैः सम्यग् विन्यस्तैर्विद्वद्गोष्ठीष्वाकर्षेत् कर्णैः ।
दिक्षट्संख्यै रौद्रे वीरे योज्यः काव्ये शिष्यस्तद्वत् कीर्तिं दत्ते लक्ष्मीं धत्ते विज्ञाना-
सद्भावाबद्धम् ॥

चित्रं चञ्चला वा ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।—खिखाखः

देवराजसेव्यमानपावनाङ्घ्रिपङ्कजं हि व्यालयज्ञसूत्रमिन्दुशेखरं कृपाकरं हि ।
कालकालमम्बुजासनादिदेवसंस्तुतं हि, कशिकापुराधिनाथकालभैरवं भजे हि ॥

पञ्चचामरं, नाराचो वा ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ—किकि:

सुरद्रुमूलमण्डपे विचित्ररत्ननिर्मिते लसद्वितानभूषिते सलीलविभ्रमालसम् ।
सुराङ्गनाभवल्लवीकरप्रपञ्चचामरं, स्फुरत्समीरवीजितं सदाऽच्युतं भजामि तम् ।।

प्रवरललितम् ।ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽऽ—यमहृयु:

भुजोत्क्षेप: शून्ये चलवलयझङ्कारयुक्तश्चलत्पादन्यास: प्रकटिततुलाकोटिनाद: ।
स्मितं वक्त्रेऽकस्माद् दृशि पटुकटाक्षोर्मिमाला हरे जीयादीदृक् प्रवरललितं वल्लवीनाम् ।।

गरुडरुतम् ।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽऽ।ऽ—हरनरु:

अमरमयूरमानसमुदे पयोदध्वनिर्गरुडरुतं सुरारिभुजगेन्द्रसन्त्रासने ।
धरणीभरावतारबिधिडिण्डिमाडम्बर: स जयति कंसरङ्गभुवि सिंहनाद: ।।

वाणिनी ।।।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽऽ हरनरय:

स्फुरतु ममाननेऽद्य ननु वाणिनीति रम्यं तव चरणप्रसादपरिपाकत: कवित्वम् ।
भवजलराशिपारकरणक्षमं मुकुन्दं सततमहं स्तवै: स्वरचितै: स्तवानि नित्यम् ।।

मणिकल्पलता ।।।।ऽ।ऽ।ऽऽ।।ऽ।।ऽ—हरयसु:

शैलशिखा ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ गसजसा

धीरललिता ऽ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।।।ऽ गसजसजस:

वरयुवति: ऽ।।ऽ।ऽ।ऽऽ।।।।।ऽ गसजतनस:

गजतुरगविलसितमृषभगजविलसितं वा ऽ।।ऽ।ऽ।।।।।।।।।ऽ गसजंनुस:

यो हरिरुच्चखान खरतरनखशिखरैर्दुर्जयदैत्यसिंहसुविकटहृदयतटम् ।
किंत्विह चित्रमेतदखिलमपहृतवत: कसनिदेशदृप्यदृषभगजविलसितम् ।।

मदनललिता ऽऽऽऽ।।।।।ऽऽऽ।।ऽ क्षुंनसंतस:

विभ्रष्टस्रग्गलितचिकुरा धौताधरपुटा ग्लायत्पत्रावलिकुचतटोच्छ्वासोर्म्मितरला ।
राधात्यर्थं मदनललितान्दोलालसवपु: कंसाराते: रतिरसमहो चक्रेऽति चटुलम् ।।

चकिता ऽ।।।।ऽऽऽऽऽऽ।।।।ऽ गहमंमहग:

दुर्जयदनुजश्रेणीदुश्चेष्टागतचकिता, यद्भुजपरिघत्राता याता साध्वसविगमम् ।
दीव्यति दिविषन्माला शश्वन्नन्दनविपिने गच्छत शरणं कृष्णं तं भीता भवरिपुत: ।।

अचलधृति: ।।।।।।।।।।।।।।।। हुंहु:

इत्यष्टिप्रकरणम्

अथात्यष्टिप्रकरणम्

शिखरिणी ।ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।।ऽ यमंहयनग:

परीवाद: सत्यो भवति वितथो वाऽपि महतामतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरव: ।
तुलोतीर्णस्यापि प्रकटितहताशेषतमसो रवेस्तादृक् तेजो न हि भवति कन्यां गतवत: ।।

पृथ्वी ।ऽ।।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽऽ।ऽ कनरंनरुः

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ।।

मालाधरः ।।।।।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽऽ।ऽ लहरनरुः

हिमकिरणभूषितापि रजनी महातापदा सखि मम वदाशु किन्नु विषाक्तचन्द्रा हि सा ।
दयितविरहाग्निना जनितकालकूटान्विता किमु दहति मां बलात् किमधुना करोमीह वै ।।

मन्दाक्रान्ता ऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ क्षुंनसंरुगः

प्रत्यादिष्टं समरशिरसः, कान्दिशीभूय नष्टं,
त्वं निःशेषं कुरु रिपुवलं मार्गमासाद्य सद्यः ।
किं नाश्रौषीः परिणतधियां नीतिमार्गोपदेशं,
मन्दाक्रान्ता भवति फलिनी वारिलक्ष्मीः क्षयाय ।।

भाराक्रान्ता ऽऽऽऽ।।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ क्षुंनसंजुगः

भाराक्रान्ता मम तनुरियं गिरीन्द्रविधारणात् कम्पं धत्ते श्रमजलकणं तथा परिमुञ्चति ।
इत्यावृण्वन् जयति जलदस्वनाकुलवल्लवीसंश्लेषोत्थं समरविलसितं विलोक्य गुरुं हरिः ।।

हारिणी ऽऽऽऽ।।।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ क्षुंनसंतुगः

यस्यानित्यं श्रुतिकुवलये श्रीशालिनी लोचने,
रागः स्वीयाऽधरकिसलये लाक्षारसारञ्जनम् ।
गौरी कान्तिः प्रकृतिरुचिरा रम्याङ्गरागच्छटा,
सा कंसारेरजनि न कथं राधा मनोहारिणी ।

हरिणी ।।।।।ऽऽऽऽऽ।ऽ।।ऽ।ऽ नसंक्षुंजुगः

कुवलयदलश्यामा पीनोन्नतस्तनशालिनी
चकितहरिणनेत्रच्छायामलिम्लुचलोचना ।
मनसिजधनुर्ज्यानिर्घोषैरिव श्रुतिपेशलै
र्मनसि ललना लीलालापैः करोति ममोत्सवम् ।।

हरिः ।।।।।ऽऽऽऽ।ऽ।।ऽ।ऽ नुंक्षुंजुगः

कान्ता ।ऽऽऽ।।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ कक्षंनसंजुगः

शिखरिणी ।ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।।।ऽ कक्षुंनसंखसः

यशःशेषीभूते जगति नरनाथे गुणनिधौ,
प्रवृत्ते वैराग्ये विषयरसनिष्क्रान्तमनसाम् ।
इदानीमस्माकं घनतरुलतानिर्झरवतीं,
तपस्तप्तुं चेतो भवति गिरिमालां शिखरिणीम् ।।

नर्द्दटकमवितथं वा ।।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ हरनभुगः

श्रुतिपरिपूतवक्त्रमतिसुन्दरवाग्विभवं,
तमखिलजैमिनीयमतसागरपारगतम् ।

अवितथवृत्तविप्रजनपूजितपादयुगम्,
पितरमहं नमामि बहुरूपमुदारमतिम् ॥

नर्कुटकम् ।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ हरंनभुगः

व्रजवनितावसन्तलतिकाविलसन्मधुपं मधुमथनं प्रणम्रजनवाञ्छितकल्पतरुम् ।
विभुमभिनौति कोऽपि सुकृती मुदितेन हृदा रुचिरपदावलीघटितनर्कुटकेन कविः ॥

कोकिलकम् ।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ हरंनभंभगः—।।।।ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽ।।ऽहखुंघभंभगः

ननसहकारपुष्पमधुनिष्कलकण्ठतया,
मधुरतरस्वरेण परिकूजति कोकिलकः ।
प्रथमककारविद्धवचनैर्धनलुब्धमते-
स्तव गमनस्य भङ्गमिव सम्प्रति कर्तुंमनाः ॥

चित्रलेखाऽतिशायिनी वा ।।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽऽ सुकुंनरगः

वंशपत्रपतितम्-वंशदलं वा ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।।।।।ऽ गसजसंहसः

अद्य कुरुष्व कर्म्म सुकृतं यदि परदिवसे,
मित्र विधेयमस्ति भवतः किमु चिरयसि तत् ॥
जीवितमल्पकालकलनालघुतरतरलं,
नश्यति वंशपत्रपतितं हिमसलिलमिव ॥

पञ्चचामरम् ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ। किकिलः

इत्यत्यष्टिप्रकरणम्

अथ धृतिप्रकरणम्

क्रीडाचक्रम् ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ याया

समस्तान् मनुष्यान् विपन्नान् प्रतीमां वदामीह युक्तिम्,
गृहे वा वने वा जले वा रणे वा विपत्तौ नरा ये ।
जपेयुर्भवानी भवानीति वाणीमुदारामुदारां,
न रोगो न शोको न दुःखं कदाचित् कथंचिच्च तेषाम् ॥

अश्वगतिः ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।।।ऽ भाभुसः

ब्रह्मभवादिकपूजितपादयुगं भवतर्णि,
दीनकृपानिधिमीप्सितदायकमाशु भयहरम् ।

नीलसरोरुहहृद्यरुचिं हृदि कृष्णमघभिदं
चिन्तय चिन्तय नन्दसुतं यदि वाञ्छसि सुगतिम् ।

भ्रमरपदकम् ऽ।।ऽ।ऽ।।।।।।।।।।।ऽ भरनासः

सुधा ।ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽऽ।।।ऽ कक्षुंनसंतसः

कुसुमितलतावेल्लिता ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ मक्षंनसंरुगः
धन्यानामेताः कुसुमितलतावेल्लितोत्फुल्लवृक्षाः,
सोत्कण्ठं कूजत्परभृतकलालापकोलाहलिन्यः ।
मध्वादौ मादयन्मधुकरकुलोद्गीतझङ्काररम्याः,
ग्रामान्तःस्रोतःपरिसरभुवः प्रीतिमुत्पादयन्ति ।।

सिंहविस्फूर्जितम् ऽऽऽऽऽऽऽ।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽऽ मक्षंतयंरुगः

चित्ररेखा ऽऽऽऽ।।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ क्षुंनुगंरुगः
शङ्केऽमुष्मिन् जगति मृगदृशां साररूपं यदासी-
दाकृष्येदं व्रजयुवतिसभा वेधसा सा व्यधायि ।
नैतादृक् चेत्कथमुदधिसुतामन्तरेणाऽच्युतस्य,
प्रीतं तस्यां नयनयुगमभूच्चित्रलेखाद्भुतायाम् ।।

चलम् ऽऽऽऽ।।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ क्षुंहसंजुगः

केसरम् ऽऽऽऽ।।।।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ क्षुंहसंतुगः

शार्दूलम् ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।।।ऽऽ।ऽऽऽऽ मसजसंरमः

शार्दूललितम् ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।।।ऽऽऽ।।।ऽ मसजसंतसः
कृत्वा कंसमृगे पराक्रमविधिं शार्दूलललितम्,
यश्चक्रे क्षितिभारकारिषु दरं चैद्यप्रभृतिषु ।
सन्तोषं परमं तु देवनिवहे त्रैलोक्यशरणम्,
श्रेयो नः स तनोत्वपारमहिमा लक्ष्मीप्रियतमः ।।

नाराचं, लालसा, महामालिका वा ।।।।।।ऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ नुरिः
दिनकरतनयातटीकानने चारुसञ्चारिणी-
श्रवणनिकटाकृष्टमेणेक्षणा कृष्ण राधा त्वयि ।।
ननु विकिरति नेत्रनाराचमेषाऽतिहृच्छेदनम्,
तदिह मदनविभ्रमोद्भ्रान्तचित्तां विधत्स्व द्रुतम् ।।

गजेन्द्रलता ।।।।।।ऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽऽ।ऽ नुरगंघरुः

लालसा ऽऽ।।।।ऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ तनरगंकरुः

नन्दनम् ।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽऽ।ऽ हरनगंलरुः
तरणिसुतातरङ्गपवनैः सलीलमान्दोलितम्,
मधुरिपुपादपङ्कजरजःसूपूतपृथ्वीतलम् ।
मुरहरचित्रविष्ठितकलाकलापसंस्मारकम्,
क्षितितलनन्दनं व्रज सखे सुखाय वृन्दावनम् ।।

हरिणप्लुतम् ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ मघरंघरंघरः
रे दुर्योधन विद्रुतस्त्वमितो रणाद्धरिणप्लुतं,
किन्ते मानमिहास्ति चेत्तव दोर्बलं द्रुतमेहि च ।
युद्धार्थं कुरुषे भयं किमहो नराधम दुर्मते,
त्वामद्यैव नयामि वै यमपत्तनं गदया क्षणात् ।।

हरनर्त्तनम् ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ रघरंघरंघरः

विबुधप्रिया ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ रघरंघरघरः

चर्चरी ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ रघरघरघरः
वल्लवीगणवस्त्रहारक कृष्ण का तव चातुरी,
श्यामसुन्दर कामिनीगणवस्त्रमाशु हि देहि तत् ।
हे सखे प्रिय नार्पयेर्यदि कंसभूपतिसंसदि,
प्रस्तुमः स्तववद्गुणावलिमद्य माधव निस्त्रप ।।

मञ्जरी ऽऽऽऽऽऽऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽऽऽ क्षुमघमघमगः
ऐशीं मूर्त्ति ध्यायन्तो भुवि भक्ता भक्तिरसं ये प्राप्तुं,
ते हानायासं नूनं खलु तत्प्राप्त्या परमे लीयन्ते ।
तद्भिन्नाः कस्माद् भक्तिं वद लब्धुं मूढतमा योग्याः स्युः,
भक्तिश्चिन्तागम्यैवं किमु भक्तिं जल्पसि निश्चिन्तेऽर्थे ।।

हीरकम् ऽ।।।ऽ।।।ऽ।।।ऽ।ऽ गहगहगहरः

इति धृत्यधिकारः ।।

अथातिधृत्यधिकारः

मेघविस्फूर्जिता विस्मिता वा ।ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ कंक्षुनसंरुगः
कदम्बामोदाढ्या विपिनपवनाः केकिनः कान्तकेकाः,
विनिद्राः कन्दल्यो दिशि दिशि मुदा दर्दुरा दृप्तनादाः ।
निशा नृत्यद्विद्युद्विलसितलसन्मेघविस्फूर्जिता चेत्
प्रियः स्वाधीनोऽसौ दनुजदलनो राज्यमस्मात् किमन्यत् ।।

मकरन्दिका ।ऽऽऽऽऽ।।। ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ कक्षुंनसंजुगः

छाया ।ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ कक्षुंनसंतुगः

अभीष्टं जुष्टं यो वितरति लसद्दोश्चारुशाखोज्ज्वलः,
स्फुरन्नानारत्नस्तवकिततनुश्चित्रांशुकालम्बितः ।
न यस्याङ्घ्रेश्छायामुपगतवतां संसारतीव्रातपः,
तनोति प्रोत्तापं जयति जगतां कंसारिकल्पद्रुमः ॥

फुल्लदाम पुष्पदाम वा ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ मक्षंह्संरुगः

शश्वल्लोकानां प्रकटितकदनं ध्वस्तमालोक्य कंसं,
संहृष्यच्चेतोभिस्त्रिदिववसतिभिर्व्योमसंस्थैर्विमुक्तम् ।
मुग्धामोदेन स्थगितदशदिशाभोगमाहूतभृङ्गम्,
मौलौ दैत्यारेर्न्यपतदनुपमं स्वस्तरोः फुल्लदाम ॥

बिम्बम् ऽऽऽऽऽ।।।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ मक्षंह्संतुगः

शार्दूलविक्रीडितम् ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ मसजसंतुगः

कम्बुग्रीवमुदग्रबाहुशिखरं रक्तान्तदीर्घेक्षणम्,
शालप्रांशुशरीरमायतभुजं विस्तीर्णवक्षःस्थलम् ।
कीलस्कन्धमनुद्धतं परिजने गम्भीरधीरस्वनम्,
राज्यश्रीः समुपैति वीरपुरुषं शार्दूलविक्रीडितम् ॥

मणिमञ्जरी ।ऽऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽ।।ऽ।ऽ यभनयंजुगः

सुरसा ऽऽऽऽ।ऽऽ।।।।।ऽऽ।।ऽ क्षुयंह्संखसः

कामक्रीडासतृष्णो मधुसमयसमारम्भरभसात् ।
कालिन्दीकूलकुञ्जे विहरणकुतुकी हृष्टहृदयः ॥
गोविन्दो वल्लवीनामधररससुधां प्राप्य सुरसां
शङ्के पीयूषपानैः प्रचयकृतसुखं व्यस्मरदसौ ॥

सिद्धा ऽ।ऽऽ।।ऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ।।ऽ रगनरंरुसः

रचना ।।।ऽ।ऽ।।ऽऽ।।ऽ।ऽ।ऽ हरनगंभरकः

समुद्रतता ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽऽऽ।ऽ।।ऽ कनरंनगंतभगः

धवला ।।।।।।।।।।।।।।।।।ऽ निहसः

सुरदनुजमनुजसततकृतनतिकचरणम्,
निजभजकजनकृतविधिहरिपदवितरणम् ।
जननमरणतपनतनयकृतभयशमनम्,
भज भज शिवमतिशयदयमघततिहरणम् ॥

चन्द्रमाला ।।।।।।।।।।ऽ।।।।।।।। नाजनहः

भवभयलयकरहरिपादयुगमुपसरतु
सहृदयनरहृदयभानतिशयमिह तव ।
नहि नहि किमपि जगति हे सुखकरफलमपि,
जहि जहि सकल विषयमाशु विषमिव झटिति ।।

शम्भुः ।।ऽऽऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽऽऽऽऽऽ घमघमघमगमः

रमणीदन्तच्छदहालां मा पिबत श्रेयःकामा धीराः,
न सुरा तादृङ् मदयेद् यादृक् प्रमदानां वक्त्रोत्था हाला ।
यदि तां त्यक्तुं भवतीच्छा चः कुरुताऽरं सत्सङ्गं यूयम्,
स्मरतेशं शम्भुमनाद्यन्तं भविता वश्चित्तं प्रेमार्द्रम् ।।

पञ्चचामरः ।।।।।।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ नुखारजगः

क इह जगति भूप ते मतेर्बलस्य चोपमां नरो,
धरति मघववह्निधर्म्मराजवायुयक्षपा न वै ।
दधति हि तव पञ्च चामराधिपा बलांशतुल्यताम्,
गुरुरपि च न ते धियः शतांशभाजनं न गीष्पतिः ।।

इत्यतिधृत्यधिकारः

समाप्तं चातिच्छन्दसां प्रकरणम् ।।

अथ कृतिच्छन्दसामधिकारः

शोभा ।ऽऽऽऽऽ।।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ कक्षुंहसंरुगः

सदा पूषोन्मीलत्सरसिजयुगला मध्यनम्रा फलाभ्यां,
तयोरूर्ध्वं राजत्तरलकिसलयाश्लिष्टसुस्निग्धशाखाः।
लसन्मुक्तारक्तोत्पलकुवलयवच्चन्द्रबिम्बाञ्चिताग्रा,
महाशोभा मौलौ मिलदलिपटला कृष्ण सा कापि वल्ली ।।

सुवदना ऽऽऽऽ।ऽऽ।।।।।।ऽऽऽ।।ऽ क्षुंयंहसतसः

या पीनोद्गाढतुङ्गस्तनजघनघना भोगालसगतिः,
यस्याः कर्णावतंसोत्पलरुचिजयिनी दीर्घे च नयने ।
सीमा सीमन्तिनीनामतिलटभतया या च त्रिभुवने,
सम्प्राप्ता सांप्रतं मे नयनपथमसौ दैवात् सुवदना ।।

मत्तेभविक्रीडितम् ।।ऽऽ।।ऽ।ऽ।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ सभरनगंतुगः

सुवंशा ऽऽऽऽ।ऽऽ।।।।।ऽऽ।।ऽ।।ऽ क्षुयहयसुः

गीतिका ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ घरघरघरघरः
वनितामुखाब्जमधु त्यजाशु मनस्त्वमत्र विषं यथा,
यदि ते यमाद् भयमस्ति चास्ति च धर्म्ममोक्षमनोरथः।
हरिपादपद्ममधु स्वदस्व च तृप्तिमेष्यसि सन्ततम्,
परमं पदं त्वमवाप्स्यसि ह्यचिराद्धरेरमृताक्षरम् ।।

वृत्तम् ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ। खिखुखिः
जन्तुमात्रदुःखकारि कर्म निर्म्मितं भवत्यनर्थहेतु,
तेन सर्वमात्मतुल्यमीक्षमाण उत्तमं सुखं लभस्व,
विद्धि बुद्धिपूर्वकं ममोपदेशवाक्यमेतदादरेण,
वृत्तमेतदुत्तमं महाकुलप्रसूतजन्मनां हिताय ।।

इति कृतिच्छन्दसामधिकरः ।।

अथ प्रकृतिच्छन्दसामधिकारः

स्रग्धरा ऽऽऽऽ।ऽऽ।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ क्षुयंहसंरुगः
रेखाभ्रूः शुभ्रदन्ता द्युतिहसितशरच्चन्द्रिकाचारुमूर्त्ति-
र्मद्यन्मातङ्गलीलागतिरतिविपुलाभोगतुङ्गस्तनी या ।।
रम्भास्तम्भोपमोरूरलिमलिनघनस्निग्धधम्मिल्लहस्ता
विम्बोष्ठी चारुकण्ठी दिशति रतिसुखं स्रग्धरा सुन्दरीयम् ।।

धृतश्रीः ।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ हरंलसुंसलरः

नरेन्द्रः ऽ।।ऽ।ऽ।।।।।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ भरंनुजुयः
या प्रबलाबला यदि भवति हि नरेन्द्रवधूरपि नित्यं,
सा खलु दुश्चरित्रकलुषितललना लभते चिरदुःखम् ।
निर्धनकामिनी यदि भवति च सुशीलयुताऽतिसुवाक्या,
माधवपादपङ्कजभजननिरता लभते चिरसौख्यम् ।।

सरसी, सिंहकं, सिद्धकं, सलिलनिधिर्वा ।।।।ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ हखुसाकुः ।।

अथाकृतिच्छन्दसामधिकारः

महास्रग्धरा ।।ऽ।ऽ।ऽऽ।।।।।।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ घरयंहसंरुगः

हंसी SSSSSSSS।।।।।।।।।।।।।SS मुक्षंनिक्षः
इन्दो दर्शे कस्ते गर्वो नहि भवसि जननयनविषयस्त्वम्,
दर्शे चादर्शे लोलाक्ष्या जितपरिणतशशधरमुखमस्याः ।
दृश्यं सर्वैर्लोकैर्यस्मात् त्यज मृगवधु ! निजसुनयनगर्वः,
क्वाऽस्ते तादृग् भ्रू युग्मं ते यदतनुमपि तनुयुतमकरोत् तत् ।।

लालित्यम् SSS।।SS।S।।SSS।।S।।।।S मसंरसक्षसघसः

भद्रकम् S।।S।S।।।S।S।।S।S।।।S गसजसंजसजसः
भद्रकगीतिभिः सकृदपि स्तुवन्ति भव ! ये भवन्तमभयम्,
भक्तिभरावनम्रशिरसः प्रणम्य तव पादयोः सुकृतिनः ।
ते परमेश्वरस्य पदवीमवाप्य सुखमाप्नुवन्ति विपुलम्,
मर्त्यभुवं स्पृशन्ति न पुनर्मनोहरसुराङ्गनापरिवृताः ।।

मदिरा S।।S।।S।।S।।S।।S।।S।।S भिभागः
माधवमासि विकस्वरकेसरपुष्पलसन्मदिरामुदितैः,
भृङ्गकुलैरुपगीतवने वनमालिनमालि ! कलानिलयम् ।
कुञ्जगृहोदरपल्लवकल्पिततल्पमनल्पमनोजरसम्,
त्वं भज माधविकामृदुनर्त्तनयामुनवातकृतोपगमा ।।

इत्याकृत्यधिकारः

अथ विकृतिच्छन्दसामधिकारः

मत्ताक्रीडा वाजिवाहनं वा SSSSSSSS ।।।। ।।।। ।।।। ।।S क्षिहासः
हृद्यं मद्यं पीत्वा नारी स्खलितगतिरतिशयरसिकहृदया,
मत्ता क्रीडालोलैरङ्गैर्मुदमखिलविटजनमनसि कुरुते ।
वीतव्रीडाश्लीलालापैः श्रवणसुखसुभगसुललितवचना,
नृत्यैर्गीतैर्भ्रूविक्षेपैः कलभणितविविधविहगकुलरुतैः ।।

सुन्दरिका ।।S ।।SS ।।।। SSS ।।S ।।S ।।S सुगहमसा
भजनं तव जानामि नहि शिवे पूजामपि नैव करोमि पुनः,
भविता मम का देवि गतिरिदं जानेऽहमिहाम्ब परत्र च नो ।
यदि ते ह्यनुकम्पा मयि नहि जायेताऽत्र भवानि कथं मम वै,
नियताद् यमघण्टाद् भगवति भूयान्निष्कृतिरित्थमहमत्र वसन् ।।

अश्वललितम् ।। ।।S ।S। ।।S ।S। ।।S ।S। ।।S घसजसंजसजसः
पवनविधूतवीचिचपलं विलोकयति जीवितं तनुभृताम्,
वपुरपि हीयमानमनिशं जरावनितया वशीकृतमिदम् ।
सपदि निपीडनव्यतिकरं यमादिव नराधिपान्नरपशुः,
परवनितामवेक्ष्य कुरुते तथापि हतबुद्धिरश्वललितम् ।।

अद्रितनया ।। ।।ऽ।ऽ। ।।ऽ।ऽ। ।।ऽ।ऽ। ।।ऽ घसजसजसजस:
खरतरशौर्यपावकशिखापतङ्गनिभमग्नदृप्तदनुजो
जलधिसुताविलासवसतिः सतां गतिरशेषमान्यमहिमा ।
भुवनहितावतारचतुरश्चराचरधरोऽवतीर्ण इह हि
क्षितिवलयेऽस्ति कंस! शमनस्तवेति तमवोचदद्रितनया ।।

मालती मत्तगजेन्द्र ऐन्दवो वा ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ भाभिक्ष:

चित्रपदा चकोरो वा ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ। भाभिख: ।

मतल्लिका-मल्लिका-मानिनी-सुमुखी वा ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ लभाभिग:

———

अथ संकृतिच्छन्दसामधिकार:

तन्वी ऽ। ।ऽ ऽ।।। । ।।ऽ ऽ।।ऽ।। ।।।।ऽऽ खकं गंनु तंज नसग:
चन्द्रमुखी सुन्दरघनजघना कुन्दसमानशिखरदशनाग्रा,
निष्कलवीणाश्रुतिसुखवचना त्रस्तकुरङ्गतरलनयनान्ता ।
निर्मुखपीनोन्नतकुचकलशा मत्तगजेन्द्रललितगतिभावा
निर्भरलीलानिधुवनविषये मुञ्जनरेन्द्र भवतु तव तन्वी ।।

किरीटम् ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। भिभि:
भालविराजितचन्द्रकलं नयनानलदाहितकामवरं नर,
बाहुविराजितशेषफणीन्द्रफणामणिभासुरकान्तिधरं खल ।।
भूधरराजसुतापरिरम्भितनूपुरशिञ्जितकान्तिधरं भुवि,
शङ्करमीशमशेषसुरेशविलक्षणवेशमुमेशहरं भज ।।

दुर्मिलकम् ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ सिसि:
वसुधे वसुधा मयि नास्ति पुनर्न च खेदय भो तव चास्ति हि सा,
रमणीदशनच्छदनोत्थसुधा भवने भवने प्रचुरा नियता ।
सुरलोकसमं तव गौरवमस्ति धरानियतं प्रमदाधरत:,
हतभाग्यजना: खलु देवसुधां प्रति यत्नपरा ननु सा मधुरा ।।

भुजङ्ग: ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ यियि:

लक्ष्मी: ऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽ रिरि:,

आभार: ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ। तिति:

चन्द्रपदी-मञ्जरी-मुक्तहरा-माधवो वा ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ। जिजि:

माधविका ।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ जाजिय:

———

अलसा ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ भाभिरः,

अथातिकृतिच्छन्दसामधिकारः

क्रौञ्चपदा ऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽ।।। ।।। ।।। ।। ।।।ऽ भक्षं भक्षं नुघं नुगः
या कपिलाक्षी पिङ्गलकेशी कलिरुचिरनुदिनमनुनयकठिना,
दीर्घतराभिः स्थूलशिराभिः परिवृतवपुरतिशयकुटिलगतिः ।
आयतजङ्घा निम्नकपोलालघुतरकुचयुगपरिचितहृदया,
सा परिहार्य्या क्रौञ्चपदा स्त्री ध्रुवमिह निरवधि सुखमभिलषता ।।

कमला-सुखदा-सुन्दरी-माधवी वा ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽऽ सिसिगः,

सुधाऽरविन्दो वा ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ। सिसिलः

अथोत्कृतिच्छन्दसामधिकारः

भुजङ्गविजृम्भितम् ऽऽऽऽऽऽऽऽ।।।।।।।।।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ क्षिहुंसंजुगः
ये सन्नद्धानीकानेकैर्नरतुरगकरिपरिवृतैः समं तव शत्रवः,
युद्धश्रद्धालुब्धात्मानस्तदभिमुखमपगतभियः पतन्ति धृतायुधाः ।
ते त्वां दृष्ट्वा संग्रामाग्रे तुडिगनृप कृपणमनसः पतन्ति दिगन्तरम्,
किं वा सोढुं शक्यं भेकैर्बहुभिरपि सविषविषमं भुजङ्गविजृम्भितम् ।।

अपवाहकः—ऽऽऽ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।। ।।ऽऽऽ—मनुंनुंनुघमः
श्रीकण्ठं त्रिपुरदहनममृतकिरणशकलललितशिरसं रुद्रम्,
भूतेशं हतमुनिमखमखिलभुवननमितचरणयुगमीशानम् ।
सर्वज्ञं वृषभगमनमहिपतिकृतवलयरुचिरकरमाराध्यम्,
तं वन्दे भवभयभिदमभिमतफलवितरणगुरुमुमया युक्तम् ।।

ललिता-मालती-सुखः-सावनो-वा ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।। सिसिघः,

इतीत्थं गायत्र्याद्युत्कृतिपर्य्यन्तानां छन्दसामुदाहरणानि
यथोपलब्धानि विभागशो दर्शितानि ।।

तदित्थं माधुसूदन्या सरस्वत्या प्रसन्नया ।
समीक्षाचक्रवर्त्तिन्या छन्दस्तत्वं समीक्षितम् ।। १ ।।

सैषा शब्दसमीक्षायां वर्णाक्षरपदादिभिः ।
विभक्तायां द्वितीयाऽभूत् पूर्णाऽक्षरसमीक्षिका ।। २ ।।

वर्णोऽक्षरं पदं भाषा वाक्यं सूक्तचयः कथा ।
समीक्षा-वेद-विज्ञान-तन्त्रादिभिरनूच्यताम् ।। ३ ।।
शिक्षा-छन्दो निघण्टुश्च व्याक्रिया च निरुक्तयः ।
तर्कन्यायश्च साहित्ये समीक्ष्यन्तां पृथक् पृथक् ।। ४ ।।
उक्ता शिक्षा तथा च्छन्दोऽप्युक्तमेतदतः परम् ।
निघण्टुवेदो विज्ञेयस्तदयं वक्ष्यतेऽग्रतः ।। ५ ।।

।। इत्यक्षरविज्ञानं नाम छन्दःसमीक्षा सम्पूर्णा ।।

छन्दस्तत्त्ववादः

अथ किमिदं छन्द इति पृच्छामः !

ननु च भोः—यदि कश्चिद् ब्रूयात् कः खलु ब्राह्मण इति सोऽयं त्रिविधः पर्य्यनुयोगो भवति, लक्ष्यापेक्षो लक्षण्यापेक्षो लक्षणापेक्षश्च । तदतस्त्रिविधः समाधिर्भवति । असौ देवदत्तो ब्राह्मण इति लक्ष्यापेक्षः । कश्यपाङ्गिरोभृग्वत्रिवसिष्ठविश्वामित्रागस्त्याख्याः सप्तैव—ब्राह्मणजातयो भवन्ति । इति लक्षण्यापेक्षः ।।

विद्या योनिः कर्म्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यलक्षणम् ।
सेवा संग्रहवृद्धिश्च कालयापश्च पातनम् ।।१।।
जीवितं यस्य धर्म्मार्थं धर्म्मो रत्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।२।।
कर्मणा ब्रह्मणो जातः करोति ब्रह्मभावनाम् ।
स्वधर्मनिरतः शुद्धस्तस्माद्ब्राह्मण उच्यते ।।३।।
जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च ।
एभिर्युक्तो हि यस्तिष्ठेन्नित्यं स द्विज उच्यते ।।४।।
धृसिः क्षमा दयाऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
विद्या चैव नयः सत्यं नवकं ब्रह्मलक्षणम् ।।५।।

इति लक्षणापेक्षः ।। एवमेवेदं यददः पर्य्यनुयुज्यते किमिदं च्छन्द इति, सोऽयं त्रिविधः पर्य्यनुयोगो भवति, लक्ष्यापेक्षो लक्षण्यापेक्षो लक्षणापेक्षश्च । तदतस्त्रिविधः समाधिर्भवति ।

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम्" (ऋ० १ अ० १ अ० १ व.)

इतीदं छन्द इति लक्ष्यापेक्षः । गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्याख्याः सप्तैव च्छन्दोजातयो भवन्तीति लक्षण्यापेक्षः—

"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः ।"
"मात्राक्षरसंख्यया नियता वाक् छन्दः ।।" इति लक्षणापेक्षः ।।

तदित्थं सिद्धं प्रतिवचनमितीदं छन्द इति चेन्न सिद्धम् । कुत एतत्

अत्रोच्यते—मितिश्छन्दः । कुत एतद् गम्यते—यदिदमार्षं वचनं श्रूयते । "मा च्छन्दः—प्रमा च्छन्दः—प्रतिमा च्छन्द" इति ।। तदेतदासां मिति-प्रमिति-प्रतिमितीनां सामान्यतो दृष्टौ मितिश्छन्द इति लभ्यते । ननु का मितिः का प्रमितिः का वा

प्रतिमितिरिति चेत्—दिग्देशकालसंख्याभ्यः कृता मर्य्यादा मितिः। सा दिगादि-भेदाच्चतुर्द्धा। एवंविधमर्य्यादापरतयैव च—

अस्तभ्राद् द्यामृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥
गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥१॥
(ऋ० २ अ० ३ म० व० १८)

इत्यादिषु चामिमीतमिमतेप्रभृतिपदानां प्रयोगा उपलभ्यन्ते तत्रार्थप्रतिपत्त्युपायत्वं शब्दानामीक्षमाणैर्व्यावहारिकैर्यथा मांसपिण्डाद्यर्थविशेषेषु देवदत्तादयः शब्दाः त्रसरेणुविलक्षणसंयोगात्मकरूपविशेषावच्छिन्नमृत्पिडेषु घटादयः शब्दाः संकेत्यन्ते। तथा च तत्तच्छब्दज्ञानमहिम्ना ते तेऽर्था अनायासेन परिचीयन्ते। एवमेवैतेषामर्थच्छन्दसां परिचयाय शब्दच्छन्दांसि संकेत्यन्ते, शब्दच्छन्दोज्ञानमहिम्ना चावश्यमर्थच्छन्दःपरिचयो भवति। तथा च ब्राह्मणच्छन्दसि गायत्रीच्छन्दः, क्षत्रियच्छन्दसि त्रिष्टुप्छन्दः, वैश्यच्छन्दसि जगतीच्छन्दः, शूद्रच्छन्दसि अनुष्टुप्छन्दः परिचायकत्वेनोपतिष्ठते। यत्र न च्छन्दोविशेषादेशस्तत्र सामान्यादनुष्टुप्छन्दसो, यत्र वा न देवतादेशस्तत्र सामान्यात् प्रजापतिदेवताया व्यवहार इष्यते इत्यच्छन्दस्कत्वाददैवतत्वादेवायं शूद्र आनुष्टुभः प्राजापत्यो भवतीत्यनुसन्धेयम्। तत्र न ब्राह्मणेषु सप्त च्छन्दांसीति वक्तुं युक्तम् क्षत्रियादिष्वभावात्। किन्तु विश्वस्मिन्नेव स्थावरजङ्गमात्मके जगति गायत्र्यादीनि सप्त च्छन्दांसि भवन्तीति द्रष्टव्यम्। गायत्रत्रैष्टुभजागतादिवदौष्णिहपाङ्क्तेयादीनामप्यर्थानां तत्र तत्र वेदे प्रसिद्धेः। न चैवं तर्हि सप्त मनुष्यजातयः स्युर्न्न ब्राह्मणादयश्चतस्र एवेत्यापाद्यम्। इति चेत्-गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुभां सर्वच्छन्दस्त्वेन वेदे भूयसाम्रेडनादितरेषामेष्वेवान्तर्भावाभिप्रायेण प्राधान्याच्चतुर्धैव सर्वेषां जागतिकपदार्थानां वेदे विभागकरणात्। "पुरुष एवेदं सर्वमिति प्रतिज्ञाय तदनन्तरं "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत"—इति मन्त्रस्य व्याख्यानपरशतपथश्रुत्या तथैवार्थावगमात्। इदं तु बोध्यम्। "यद्गायत्रे अधिगायत्रम् त्रिष्टुभि त्रैष्टुभमित्येकैकच्छन्दसि पुनश्छन्दोऽन्तरव्यवस्थानस्य सुवचत्वादवान्तरमप्येते सप्त विभागाश्चत्वारो विभागा वा विवक्षाधीना इष्यन्ते इति॥

अथ द्रव्यगुणैर्मात्राभिधानैः कृता मर्य्यादा प्रमितिः सा षोढा-गुरुलघुप्रमितिः।१। अणुमहत्प्रमितिः।२। ह्रस्वदीर्घप्रमितिः।३। आद्यन्तबुद्धिप्रमितिः।४। सदसद्बुद्धिप्रमितिः।५। यत्किञ्चिद्गुणक्रियानुबन्धसम्बन्धतारतम्यप्रमितिश्चेति।६।

एतास्वेवायतनभूतासु तत्तदर्थानां प्रतिष्ठितत्वात्प्रमाशब्देन संग्रहः। तथा च श्रूयते प्रतिष्ठायां प्रमाशब्दः—"यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः"—(अथ० अ० ४ सू० ७)॥ इति॥ एतदभिप्रायेणैव—"अच्छन्दस्कमनायतनं गृह्णीते"—इत्यादयः श्रुतयः प्रवर्त्तन्ते इति द्रष्टव्यम्।

अथ अनुकृत्या कृता वस्तुस्वरूपमर्य्यादा प्रतिमितिः । तथा च तैत्तिरीयकानामाधानब्राह्मणे श्रूयते—"संवत्सरप्रतिमा वै द्वादश रात्रयः" इति । एवमेव मैत्रायणीयानामग्निहोत्रब्राह्मणेऽपि "द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा" इति । द्वादशरात्रसंवत्सरयोः सादृश्ये प्रतिमाशब्दः श्रूयते । तदित्थं यथाकथञ्चिदेव कृतो मर्य्यादाबन्धः सामान्येन मितिः स्यात्, सा छन्दःशब्देनाभिधीयते परोक्षेण । ननु प्रमाप्रतिमयोरपि च्छन्दस्त्वेऽभ्युपगम्यमाने ।

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ।।
(ऋ० १०।१३०।३)

इत्यत्र प्रमाप्रतिमयोश्छन्दःपार्थक्येनोपादानं विरुध्यते इति चेत्तन्न ।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।।१।।

आदित्या विश्वे मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्व ऋभवश्च विश्वे ।
इन्द्रो अग्निरश्विना तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।२।।

इत्येवमादिषु विशेषोपादाने सामान्यशब्दस्य विशेषेतरपरत्ववदिहापि छन्दःशब्दस्य मितिपरत्वेन चारितार्थ्यात् । वस्तुतस्तु न मितेर्मितित्वेन प्रमितित्वेन प्रत्तिमितित्वेन वा छन्दस्त्वमाश्रीयते—अपि तु कारणतापेक्षितस्वरूपसंवरकतावच्छेदकत्वेनेति पदार्थतावच्छेदकभेदादपौनरुक्त्यम् । मा च्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, प्रतिमाच्छन्दः, इत्येवं त्रयाणामुपादानेन मात्वप्रमात्वप्रतिमात्वानामथ लाघवात्सामान्येन मितिश्छन्द इत्येवं वक्तुमौचित्येऽपि तदनादृत्य विशेषमुखेन विधानान्मितेरप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वनिरासे तात्पर्य्यविसायात् । ननु च भोः, नैत्तदस्ति नहीमे मा-प्रमा-प्रतिमाशब्दा मिति-प्रमिति-प्रतिमितिपरतया भगवदभिप्रेताः—किर्न्तहि लोकत्रयाभिप्रायाः आम्नायन्ते । तथा चाग्निचितिमन्त्रः श्रूयते—"मा छन्दः—प्रमा छन्दः—प्रतिमा च्छन्दः—इति ।। इयं वै मा, अन्तरिक्षं प्रमा, असौ प्रतिमा, इमानेव लोकानुपधत्ते" इति । तथा च लोकपरिभाषितैरेतैः शब्दैरिदं तावदसाध्यं यदुच्यते मितिश्छन्द इति । इति चेत् भ्रान्तोऽसि—तत्रैवाग्निचितिप्रकरणे सावित्रैरभ्रिमादत्ते प्रसूत्यै । चतुर्भिरादत्ते, चत्वारि वै छन्दांसि, छन्दोभिरेवादत्ते । अथो ब्रह्म वै छन्दांसि, ब्रह्मणैवादत्ते, इयं वै गायत्री । अन्तरिक्षं त्रिष्टुप् । द्यौर्जगती । दिशोऽनुष्टुप् । सवितृप्रसूतो वा एतदेभ्यो लोकेभ्यश्छन्दोभिर्दिग्भ्यश्चाग्निं संभरतीत्याम्नायते । तत्रैतदासां गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुभां लोकदिक्परतया प्रतिपादितानामपि नैकान्ततः स्वार्थंपरित्यागो दृष्टः । आसां हि गायत्र्यादीनां छन्दस्त्वं सिद्धमस्तीति तदनुवादेन लोकानां गायत्र्यादिच्छन्दस्त्वमाख्यायते । चैत्रमैत्रौ मे हस्ताविवितिवत् । अत एव च "इयं वै मा—अन्तरिक्षं प्रमा-असौ प्रतिमा-इमानेव लोकानुपधत्ते" इत्युक्त्वा "अथो देवच्छन्दसानि वा एतानि । देवच्छन्दसान्येवोपधत्ते । द्वादश द्वादशाभि ता

उपदधाति । तत् षट्त्रिंशत्, षट्त्रिंशदक्षरा बृहती । बृहती खलु वै छन्दसां स्वाराज्य-मानशे" इत्यादिना लोकानां बृहतीच्छन्दस्त्वमुपपादितम् । ततश्चैतेषां लोकानामस्त्येव यतः षट्त्रिंशदक्षरतयाऽवच्छिन्नत्वमतश्छन्दोयोगाच्छन्दोव्यवहारो वाग्बृहतीवत् ।। अपि च तानेव त्रीँल्लोकाननुसृत्य सर्वाणि छन्दांस्युत्पन्नानीति तेषां तत्तल्लोका-श्रयत्वमावेदयितुमिव "इयं वै मा" इत्यादिना तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यन्यायेन तत्तल्लोक-तादात्म्योपचारः । आम्नायते हि लोकाश्रयतया छन्दसामुत्पत्तिस्तैत्तिरीयके—"प्रजापतिरकामयत । प्रजायेयेति स एतं दशहोतारमपश्यत् । तेन दशधात्मानं विधाय दशहोत्राऽतप्यत । तस्य चित्तिः स्रुगासीत्, चित्तमाज्यम् । तस्यैतावत्येव वागासीत्, एतावान् यज्ञक्रतुः ।। स चतुर्होतारमसृजत । सोऽनन्दत् । असृक्षि वा इममिति ।। तस्य सोमो हविरासीत् । स चतुर्होत्राऽतप्यत । सोऽताम्यत् । स भूरिति व्याहरत् । स भूमिमसृजत । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि ।। स द्वितीयमतप्यत । सोऽताम्यत् । स भुव इति व्याहरत् । सोऽन्तरिक्षमसृजत । चातुर्मास्यानि सामानि ।। स तृतीय-मतप्यत । सोऽताम्यत् । स सुवरिति व्याहरत् । स दिवमसृजत । अग्निष्टोममुक्-थ्यमतिरात्रमृचः ।। एता वै व्याहृतय इमे लोकाः । इमान् खलु वै लोकाननु प्रजाः पशवश्छन्दांसि प्राजायन्त" इत्यादिना ।

तत्रापि—दिग्देशादिपरिच्छेदानां मितिपदवाच्यतयाऽभिप्रेतानां पृथिव्या-यत्ततया तत्र माशब्दे प्रवृत्ते—"अयं वै लोको रथन्तरमसौ लोको बृहत् । अस्य वै लोकस्यासौ लोकोऽनुरूपोऽमुष्य लोकस्यायं लोकोऽनुरूपः" इत्यैतरेयोक्तन्यायेन प्रथमोपस्थितपृथिव्यानुरूप्यमभिवक्तुमिव सादृश्यार्थस्य प्रतिमाशब्दस्य दिवि प्रयोगे कृते पारिशेष्यादन्तरिक्षे प्रमाशब्दः प्रयुज्यते । "प्र वो देवायाग्नये" इत्येतन्मन्त्रस्याधिदैवतपक्षीयार्थविवरणप्रसङ्गे "अन्तरिक्षं वै प्र । अन्तरिक्षं हीमानि सर्वाणि भूतान्यनुप्रयन्ति" इत्यैतरेयोक्तन्यायेन प्रयणानुमोदितानां मितीनामन्तरिक्षे साद्गुण्यात् । तस्मादेकत्र लोकपरतयाऽभ्युपगममात्रेणैषां माप्रमा-प्रतिमाशब्दानां नैकान्ततः शक्यते स्वार्थापलापः कर्तुमतः सिद्धं यथाकथंचिदवच्छेद-श्छन्द इति ।।.।।

अथ यदियमाध्वर्यवे छन्दस्योपनिषदाम्नायते ।—

"मा च्छन्दः प्रमा च्छन्दः प्रतिमा च्छन्दो अस्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दः उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्रीछन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती च्छन्दः ।१। पृथिवी च्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो मनश्छन्दो वाक् छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः ।२। एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रं छन्दः सलिलं छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः संस्तुप्छन्दोऽ-नुष्टुप् छन्दः ककुप्छन्दस्त्रिककुच्छन्दः काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्दः पदपङ्क्ति-श्छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभृज्वा छन्द प्रच्छच्छन्दः

पक्षश्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विशालं छन्दो विष्पर्धाश्छन्दश्छदिश्छश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः इति"। सेयं माप्रमाप्रतिमानां छन्दस्त्वोपदेशमात्रेणैव सिद्धौ भूयश्छन्दोविशेषाणां केषांचिदुपन्यासेनास्य च्छन्दसः केवलं महिमानमावेदयति। यदिदं किञ्च दृश्यते तस्य सर्वस्याप्येकैकस्य यथाकथञ्चिदवच्छेदकावच्छिन्नतया च्छन्दस्त्वप्रतिपादने तत्तात्पर्य्यावसायात्

अत एव "वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो" इति, "छन्दांसि वा अग्नेर्वासः। छन्दांस्येष वस्ते। छन्दोभिरेवैनं परिददातीति मैत्रायणीयश्रुतौ छन्दसां वासस्त्वमाख्यायते॥ आच्छादकेनापि वाससाऽन्तर्बहिष्ट्वाभ्यामावृतानावृततत्तद्वस्त्ववच्छेदसंसाधनात्। एतदभिप्रायेणैव च—"छन्दांसि वै संवेश उपवेश" इत्येवं तैतिरीयकाणां ब्राह्मणे संवेशोपवेशयोरपि छन्दस्त्वं श्रूयते। यथा कथञ्चित्सन्निवेशस्य देशावच्छेदरूपत्वात्, संप्राप्यावस्थितिः संवेशः, तत्रैवासनमुपवेशः इति हि तत्र भाष्यम्॥ तथाच मान-प्रमाण-प्रतिमान-साधारणी मितिरेव च्छन्द इति संसिद्धम्॥

ननु च भोः—एवमपि न केवलं मितिरेव च्छन्दः। शिल्पं छन्द इत्यपि तर्त्हि वक्तव्यम्! "शिल्पानि शंसन्ति देवशिल्पानि। एतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते—हस्ती, कंसो, वासो, हिरण्यमश्वतरी रथः शिल्पं, शिल्पं हास्मिन्नधिगम्यते य एवं वेद। यदेव शिल्पानीं३ आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि च्छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते॥ इत्यैतरेयश्रुतेः॥

एतदभिप्रायेणैव हि तैत्तिरीयकाणां श्रुतौ।

येभिः शिल्पैः पप्रथानामदृंहद् येभिर्द्यामभ्यपिंशत् प्रजापतिः।
येभिर्वाचं विश्वरूपां समव्ययत् तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि॥१॥
येभिरादित्यस्तपति प्रकेतुभिः येभिःसूर्य्यो ददृशे चित्रभानुः।
येभिर्वाचं पुष्कलेभिरव्ययत् तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि॥२॥
यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावद् इन्द्रियावत् पुष्कलं चित्रभानुः।
यस्मिन् सूर्य्या अर्पिताः सप्त साकं, तस्मिन् राजानमधि विश्रयेमम्॥३॥

इति द्यावापृथिव्योर्य्यथास्थानावस्थानसाधनभूतानामर्थच्छन्दसां वाक्संवरणसाधनभूतानां च वाक्छन्दसां शिल्पशब्देनाभिधानं श्रूयते। इतिचेत्

अत्रोच्यते—ऐतरेयश्रुत्या छन्दसामात्मसंस्कारस्य च शिल्पत्वविधायिन्या दोषविशेषापवर्जन-गुणविशेषसंपर्चन-हीनाङ्गपूरणरूपसंस्कारत्रयातिरिक्तानां यावतामेव शिल्पानामर्थतश्छन्दस्त्वोपदेशात्तावताऽपि प्रतिमाच्छन्द इत्युक्तायास्तुलितकप्रधानाया मितेरेव च्छन्दस्त्वसंसिद्धिः। हस्तिकंसवासोहिरण्याश्वतरीरथादीनां शिल्पानां प्रसिद्धहस्त्यादितुलितकेनैव साध्यमानतया शिल्पत्वोपचारदर्शनात्। तथा च श्रूयते शतपथे--"यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्"—इति (३।२।१।५)। यत्रापि वा सामान्य-

सामग्रीतोऽदृष्टपूर्वरचनोद्भावनस्योद्भाविताऽदृष्टपूर्वरचनाया वा शिल्पत्वमिष्यते तत्रापीतरासाधारणत्वेनावच्छिद्यमानत्वात्तादृशावच्छेदस्यैव च सकलचित्ताकर्षकत्वात्मकसौष्ठवरूपशिल्पसामान्यधर्म्माश्रयतयाऽवच्छेदप्रधानाया मितेरेव छन्दस्त्वसंसिद्धिः।

अस्तभ्नाद् द्यामृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥१॥

येभिः शिल्पैः पप्रथानामदृंहद् येभिर्द्यामभ्यपिंशत् प्रजापतिः।
येभिर्वाचं विश्वरूपां समव्ययत् तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि ॥२॥

इत्यनयोर्म्मर्य्यादाबन्धसम्बन्धमात्रबोधकयोर्मन्त्रयोरेकवाक्यतया अमिमीतपदार्थस्यैव शिल्पत्वोपचारदर्शनात् ॥ अतएव "तुलितकप्रधानाया मितेरेव च्छन्दस्त्वेऽभ्युपगम्यमाने दैव्यासुरीप्राजापत्यादिच्छन्दसां पादव्यवस्थारहितानां साम्यनिरूपकानुपलब्ध्या छन्दस्त्वमसिद्धं स्यात्, आर्य्यादिगणवृत्तानां, विषमवृत्तानामुपजातीनां वा च्छन्दोव्यवहारो व्याकुप्येत, चित्रजालाद्यालेख्यरचनादिष्वेकस्या भङ्ग्या भङ्ग्यन्तरसाम्योपचारवदिहाप्येकस्या वृत्तजात्या वृत्तजात्यन्तरसाम्यन्तु नाभिसन्धातुं शक्यते। इतरासन्निधानदशायामप्येकस्या एवार्य्यायाः स्वस्वरूपमात्रापेक्षयैव च्छन्दोव्यवहारदर्शनात्"—इत्याक्षेपः प्रत्युक्तो भवति।

येभिर्बाचं विश्वरूपां समव्ययद्
येभिर्वाचं पुष्कलेभिरव्ययद् ॥१॥

इत्यादिवचनैरवच्छेदप्रधानाया मितेः शिल्पत्वोक्त्या तुलितकमनपेक्ष्यैव छन्दोव्यवहारसंसिद्धेः॥ तुलितकस्यापि नैकान्ततोऽसम्बन्धं वाक्छन्दःसु पश्यामः। अर्णसामिवाशयसाम्येनैवार्णानामपि संवेशोपवेशाभ्यां गायत्र्यादिच्छन्दोविशेषस्वरूपोपलब्धेस्तत्संवेशोपवेशाधिष्ठानस्य प्रस्तारादिक्रियाभिनेयस्य साम्यनिरूपकत्वसंसिद्धेः। इन्द्रवज्रादिवर्णवृत्तेषु पुनर्द्वेधा तुलितकसंबन्धः—मात्रेयत्तानिबन्धनायाश्छन्दःप्रतिष्ठापदवाच्याया भूमेरिवावयवेष्वेव पिण्डानां यथास्थानावस्थानानां पिण्डान्तरसापेक्षमुच्चारणानुकूल्येन तुलितकनिरूपकत्वात्। एवमेवार्थिकेष्वपि च्छन्दःसु च्छन्दःप्रतिष्ठा द्रष्टव्या। अथातः प्राकृतां छन्दःप्रतिष्ठामनुवर्तयामः। अस्ति हि सर्वेषामेवार्थजातानां काचिदाकारनिबन्धना मात्राभूमिर्ज्ञानदर्शनचारित्र्यशक्तिनिबन्धना च वृत्तभूमिः प्रातिस्विकभावेन प्रकृतिसिद्धा, या भूयोदर्शनेन परीक्षकबुद्धिनिरूढा भवति। तां तामेव भूमिं बुद्धिनिष्ठां छन्दःप्रतिष्ठामालोचमानः शिल्पी तत्साम्येन बहिरर्थमुत्पादयति। इमां च दार्शनिका यद्यप्यनुभवाहितसंस्काररूपां विषयाकाराकारितान्तःकरणवृत्त्यनुशयरूपां वाचक्षाणा विषयोत्पत्त्यनन्तरभाविनीमेवाभिप्रयन्ति। अथापि तद्वस्तूत्पत्तेस्तच्छन्दःप्रतिष्ठानिघ्नतया वस्तुतस्तस्या औत्पत्तिकत्वसंसिद्धिः। नहि खलु ह्रस्वचिकोर्षया कार्श्यं गमितस्य हस्तिनः, प्रोत्तुङ्गचिकीर्षया वा पोषं गमितस्यापि कीटस्य कपिशरीरमर्य्यादानुगमः शक्यते कर्त्तुम्।

न वा तरुणकपिसमशरीरस्य मनुष्यशिशोर्म्महतापि प्रयत्नेन मुग्धत्वमपनोद्य तरुण-कपिवद्गमनागमनप्रवृत्तिप्रौढि कर्त्तु पारयामः। पञ्चविंशतिबर्षाणि यावद्दृष्टवर्द्धनभावस्यापि नरशरीरस्य तदुत्तरमुपायपरम्परयापि वृद्धियोग्यत्वं न दृश्यते। एते चान्ये चैवंविधास्तस्या एव सृष्टयादौ परमेश्वरेच्छानियमितायाः प्रातिस्विक्याश्छन्दः-प्रतिष्ठाया महिमानो भवन्ति।

सा चेयं छन्दःप्रतिष्ठा द्वेधा मात्राप्रतिष्ठा वृत्तप्रतिष्ठा च। अवयवपिण्ड-परिवृत्तिसहत्वे आद्यायास्तदसहत्वे चान्त्याया व्यवस्थितिः। एतदव्यक्तप्रतिष्ठा-व्यञ्जका एवावयवकूटाः प्रतिष्ठातुलितकेन संनिविष्टाश्छान्दसिकनयेऽक्षरशब्देन संज्ञायन्ते वर्णशब्देन च। तथा च श्रूयते—स बृहतीमेवास्पृशत् द्वाभ्यामक्षराभ्या-महोरात्राभ्यामेव। तदाहुः—कतमा सा देवाक्षरा बृहती यस्यां तत्प्रत्यतिष्ठत्। द्वादश पौर्णमास्यः, द्वादशाष्टकाः, द्वादशामावास्याः, एषा वाव सा देवाक्षरा बृहती, यस्यां तत्प्रत्यतिष्ठदिति"—अत्र हि पौर्णमास्यष्टकामावास्यानामहोरात्रयोश्चा-क्षरत्वमाख्यायते च्छन्दःपरिभाषायाम्॥ तथा शतपथश्रुतौ—"पञ्चदश वा अर्द्धमासस्य रात्रयः। अर्द्धमासशो वै संवत्सरो भवन्नेति तद्रात्रीराप्नोति। पञ्चदशानामु वै गायत्रीणां त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि, त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि, तदहान्याप्नोति। तद्वेव संबत्सरमाप्नोति"॥

इत्येवमहोरात्राभ्यां संवत्सराप्ति प्रदर्शयता भगवता महर्षिणा पञ्चदशभिः पञ्चदशभिरंशैः प्रकल्पितशरीराणां वैदिकपर्य्याये संवत्सराख्याप्रतिपन्नक्रान्तिवृत्त-प्रदेशानामर्द्धमासाख्यानां छन्दःपरिभाषायामक्षराख्यया प्रतिपत्तव्यानां चतुर्विंशतया संवत्सरस्य गायत्रीत्वं सुप्रतिपादितं भवतीति द्रष्टव्यम्॥२॥

एतदभिप्रायेणैव च—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्। (ऋ. १।१२।१)

इत्येतन्मन्त्रस्य विवरणप्रक्रमे शतपथे—

"देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान् स्पर्द्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ, या वै सा गायत्र्यासीद् इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ। त उभय एव विदांचक्रुः यतरान् वै न इयमुपावर्त्स्यति, ते भविष्यन्ति, परेतरे भविष्यन्तीति। 'तामुभय एवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरे, अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा इत्यसुररक्षसामसुराणाम्। साग्निमेवानुप्रेयाय। तस्मादन्वाह—अग्निं दूतं वृणीमह इति" इत्यनेन ग्रन्थेन संवत्सरवत्पृथिव्या अपि गायत्रीत्वमाख्यायते। तत्राप्यंशानां षष्ट्युत्तरत्रिशतीमितानां व्यवस्थिततया अर्द्धमासशो वै संवत्सरो भवन्नेति इति न्यायेन पञ्चदशशः परिच्छेदे चतुर्विंशत्यक्षरत्वोपलब्धेः॥३॥

अपर आह—

यत्पर्य्यपश्यत् सरिरस्य मध्ये उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम् ।
तत्पुष्करस्यायतनाद्धि जातं पर्णं पृथिव्याः प्रथनं हरामि ॥१॥
याभिरदृंहज्जगतः प्रतिष्ठामुर्वीमिमां विश्वजनस्य धर्त्रीम् ।
ता नः शिवाः शर्कराः सन्तु सर्वाः ॥२॥

"आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तेन प्रजापतिरश्राम्यत् कथमिदं स्यादिति । सोऽपश्यत् पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत-अस्ति वै तत् यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति । स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् । स पृथिवीमध आर्च्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् । तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यदप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम् ॥ अभूद्वा इदमिति तद्भूम्यै भूमित्वम् ॥ तां दिशोऽनु वातः समवहत् । तां शर्कराभिरदृंहत् । शं वै नोऽभूदिति तच्छर्कराणां शर्करात्वम् ।"

इत्येवं मन्त्रब्राह्मणाभ्यां तैत्तिरीयके जगतः प्रतिष्ठायाः शर्कराभिरक्षरस्थानीयाभिः संभृतत्वादस्याश्छन्दःसामान्यलक्षणे प्राप्ते छन्दोविशेषप्रतिपित्सायाम्—"स वै खलु बर्हिः प्रथमं यजति । तद्वै कनिष्ठं च्छन्दः सद् गायत्री प्रथमा छन्दसां युज्यते । अयं वै लोको बर्हिः, ओषधयो बर्हिः, अस्मिन्नेवैतल्लोके ओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिंल्लोके ओषधयः प्रतिष्ठिताः । तदिदं सर्वं जगदस्याम्—तेनेयं जगती, तज्जगतीं प्रथमामकुर्वन् । अथ नराशंसं द्वितीयं यजति, अन्तरिक्षं वै नराशंसः । अन्तरिक्षमु वै त्रिष्टुप् । तत् त्रिष्टुभं द्वितीयामकुर्वन्'—इति शतपथोक्तप्रकारेण द्युलोकान्तरिक्षापेक्षया कनिष्ठायाः पृथिव्याः कनिष्ठत्वसाधर्म्याद् गायत्रीत्वं सर्वजगदाश्रयत्वाद्वा जगतीत्वमित्यादि तत्तत्प्रकरणप्राप्तं द्रष्टव्यमिति ॥४॥ क्वचित्तु अस्य श्लोकस्य स्रग्धरा च्छन्दः, त्रैष्टुभमिदं पद्यमित्यादिवदिहापि भेदेन व्यपदिशन्ति "गायत्री वै पृथिवी त्रैष्टुभमन्तरिक्षं जागती द्यौरानुष्टुभीर्दिशः" इत्यादि ॥ एवं यत्र गार्हपत्यात्प्राञ्चं सन्तमाहवनीयमुद्धर्तुं विक्रमाधानं विधीयते तत्र—

तं वा अष्टासु विक्रमेष्वादधीत, अष्टाक्षरा वै गायत्री । गायत्र्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति । एकादशस्वादधीत, एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् । त्रिष्टुभैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति । द्वादशस्वादधीत, द्वादशाक्षरा वै जगती । जगत्यैवैतद्दिवमुपोत्क्रामति । नात्र मात्रास्ति । यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत तदादधीत । स यद्वा अप्यल्पकमिव प्राञ्चमुद्धरति तेनैव दिवमुपोत्क्रामति ॥

इत्येवं विक्रमाणां छन्दोनिदानसंख्यया संख्यातानां छन्दःपरिभाषायामक्षरत्वं छन्दसां मात्रानिबन्धनत्वं च सुव्यक्तमाख्यातमिति द्रष्टव्यम् ॥४॥ एवमग्निष्टोमप्रशंसायामैतरेयके—सा वा एषा गायत्र्येव यदग्निष्टोमः । चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री, चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि । स वा एष संवत्सर एव यदग्निष्टोमः । चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सरः, चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि"—इत्येवमग्निष्टोमस्य गायत्रीत्वसंवत्सरत्वोपचारप्रसङ्गेन स्तुतशस्त्राणामक्षरत्वमवगतं भवति । यत्तु स्तोत्रशस्त्राणामर्द्धमासत्वानवगमवदक्षरत्वमपि नावगतं स्यादिति

ब्रूयात् । तदपवाद्यम् ।। स्तोत्रशस्त्रयोरर्द्धमासत्वासिद्धौ चतुर्विंशत्यर्द्धमासत्वरूप-संवत्सरत्वस्याप्यग्निष्टोमनिष्ठत्वेनाप्रतिष्ठानापत्तेः । तस्माच्छन्दःप्रतिष्ठाव्यञ्जका यत्किञ्चिदवयवकूटाश्छन्दःपरिभाषायामक्षरशब्देनाख्यायन्ते इति संसिद्धम् । अत एव कात्यायनीये सर्वानुक्रमणीसूत्रे—"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः"—इत्येवमुक्तं छन्दःसामान्यलक्षणं सूपपन्नं भवति । अन्यथा वेदे भूयसा व्यवह्रियमाणस्य द्यावा-पृथिव्याद्यनुगतच्छन्दस्त्वस्य लोके च मात्रावृत्ताद्यनुगतच्छन्दस्त्वस्यासंग्रहणाद्व्याप्तिः स्यादित्यवधेयम् ।। तदेतदक्षरत्वं चैषां सन्निविष्टानामवयवभागानां स्वस्थानात् क्षरणाभावसंबन्धादेव । "छन्दसां यो रसोऽत्यक्षरत्सोऽतिछन्दसभ्यत्यक्षरत् तदति-च्छन्दसोऽतिच्छन्दस्त्वमित्यतिच्छन्दस्त्वनिर्वचनपरया श्रुत्या तदर्थस्य संसूचितत्वात् । यथेयं वर्णमाला पञ्चाशदक्षरा भवति । एवमेवेदं छन्दोऽपि सर्वं भवतीत्यनुसन्धेयम् ।।

यत्तु "सोऽब्रवीत् प्रजापतिः छन्दांसि रथो मे भवत । युष्माभिरहमेतमध्वानमनु-संचराणीति । तस्य गायत्री च जगती च पक्षावभवताम् । उष्णिक् च त्रिष्टुप् च प्रष्टचौ । अनुष्टुप् च पङ्क्तिश्च धुर्य्यौ । बृहत्येवोद्धिरभवत् । स एतं छन्दोरथमास्थाय एतमध्वानमनुसमचरत् ।" इति तैत्तिरीयके छन्दसां रथत्वम् ।।१।।

यच्च—

पशवो वै देवानां छन्दांसि, तद् यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्ति—एवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति"—

इति शतपथे छन्दसां पशुत्वम् ।।२।। यदपि—

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ।।१।। (ऋ. १।५०।९)

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य्य । शोचिष्केशं विचक्षण ।।२।। (ऋ. १।५०।८)

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः ।।३।। (ऋ. १।११५।३)

सप्त स्वसारः सुविताय सूर्य्यं वहन्ति हरितो रथे ।।४।।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाऽधितस्थुः ।। (ऋ. १।१६४।२)

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ।। (ऋ. १।१६४।३)

इत्येतेषु मन्त्रेषु च्छन्दसामश्वत्वम् ।३।

"तेऽब्रुवन्नङ्गिरस आदित्यान्—क्व स्थ, क्व वः सद्भ्यो हव्यं वक्ष्याम इति । छन्दःसु इत्यब्रुवन् । गायत्रियां त्रिष्टुभि जगत्यामिति । तस्माच्छन्दःसु सद्भ्य

आदित्येभ्यः आङ्गिरसीः प्रजाः हव्यं वहन्ति—इति ब्राह्मणे छन्दसां सदनत्वं वाऽऽख्यायते ।।४।।

एवमेव—"यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः । छन्दांसि वै साध्या देवाः ।।" इति श्रुत्या छन्दसां साध्यदेवत्वमुच्यते ।।५।। "छन्दांसि खलु वा अग्नेः प्रिया तनूः" इति श्रुत्या छन्दसामग्निशरीरत्वमुपचर्य्यते ।।६।। "छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः"—इति छन्दसां व्रजत्वमुपपाद्यते ।।७।। तदेतदेषां सर्वेषां श्रुतिवचनानामयमाशयः—

सूर्य्यो हि दिवि गच्छन् त्रिशत्युतरषट्षष्टितमे दिवसे पुनः प्राक्तनं स्थानमागच्छन् यं पन्थानमाश्रयति तदयनवृत्तं त्रिशत्युत्तरषष्ट्यंशैरङ्कितं याम्योत्तरतश्चैकांशेन विपुलं द्रष्टव्यम् ।। तदीययाम्यरेखातो दक्षिणतो द्व्यंशान्तरेऽपरा रेखा तावदंशाङ्किता, ततोऽपि दक्षिणेन अंशान्तरेऽन्या, ततः पश्चांशान्तरेऽप्यन्या कार्य्या । एवमुत्तररेखाया उत्तरतोऽपि तिस्रो रेखाः कार्य्याः । तदित्थमष्टरेखाभिः सप्तपर्वा सूर्य्यमार्गः । तत्र सर्वदक्षिणे पर्वणि पञ्चदशभिः पञ्चदशभिरंशैर्विभागे कृते चतुर्विंशतिर्विभागा लभ्यन्ते । तदतश्चतुर्विंशत्यक्षरेयं गायत्री द्रष्टव्या ।१। तदुत्तरपर्वणि च पादार्द्धोनैस्त्रयोदशभिस्त्रयोदशभिरंशैरष्टाविंशतिर्विभागाः स्युस्ततस्तावदक्षरा सेयमुष्णिक् संसिद्धा ।२। ततोऽप्युत्तरपर्वणि सपादैकादशांशैः कृत्वा द्वात्रिंशद्विभागलाभात्तावदक्षरा सेयमनुष्टुप् सिध्यति ।३। अथ मध्यमपर्वणि सूर्यबिम्बाधिष्ठिते दशभिर्दशभिरंशैर्मर्य्यादायां षट्त्रिंशद्विभागसिद्धौ तावदक्षराया बृहत्याः सिद्धिः ।४। एवं तदुत्तरपर्वणि नवांशैः कृत्वा चत्वारिंशदक्षरायाः पङ्क्तेः ।५। तदुत्तरतश्च पादोनपादेन सपादैकादशकलात्मकेन सहितैरष्टांशैः कृत्वा चतुश्चत्वारिंशदक्षरायास्त्रिष्टुभः ।६। तथा सर्वोत्तरपर्वणि सार्द्धसप्तांशैः कृत्वा अष्टाचत्त्वारिंशदक्षराया जगत्याश्च संसिद्धिर्द्रष्टव्या ।७। तथाहि न्यासः—

	छन्दोनाम	अक्षराणि		
१	गायत्री	२४	१५°	इतः सार्धसप्तविंशतियुक्तशतकला (१२७।।) पचये
२	उष्णिक्	२८	१२°५२'३०"	इतः सार्धसप्तनवतिकला (९७।।) पचये
३	अनुष्टुप्	३२	११°१५'	इतः पञ्चसप्ततिकला (७५) पचये
४	बृहती	३६	१०°	इतः षष्टिकला (६०) पचये
५	पङ्क्तिः	४०	९°	इतः पादोनोनपञ्चाशत्कला (४८।।।) पचये
६	त्रिष्टुप्	४४	८°११'१५"	इतः सपादैकचत्वारिंशत्कला—(४१।) पचये
७	जगती	४८	७°३०	

इत्थं मात्रापचयक्रमेऽपि तारतम्यं भवति

३०—२२।।—१५—११—७।।
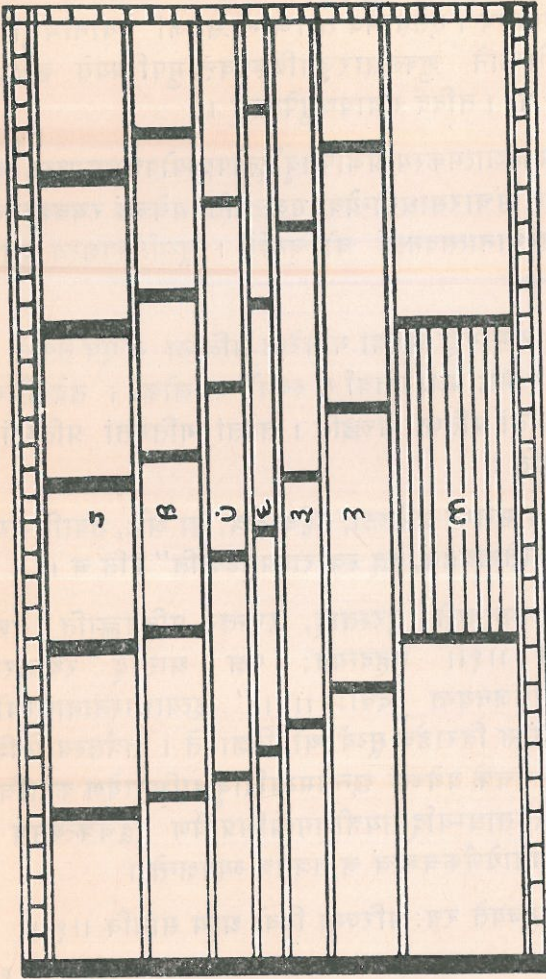
गौरं शोणं नी. कृ. कपिशं सारङ्गं शुक्लं

अस्मिंश्च निर्दिष्टे संवत्सरचक्रे यद्यपि निर्देशलाघवाय एकस्मादेव स्थानादारब्धानि तानि सर्वाणि च्छन्दांसि, अथापि तेषामारम्भणीयस्थानानि देवताविशेषैः प्रतिपत्तव्यानि । अग्नितारातो गायत्र्याः १. सवितृत उष्णिहः २. सोमादनुष्टुभः ३. बृहस्पतेश्च बृहत्याः ४. वरुणात् पङ्क्तेः ५. इन्द्रादेव त्रिष्टुभः ६. अथ विश्वेभ्यो देवेभ्यो जगत्या ७. उपक्रमणात् । एतदभिप्रायेणैवैतेषां देवानाम्—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता संबभूव ।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ।। (ऋ. १०।१३०।४)
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।
विश्वान् देवान् जगत्याविवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ।। (ऋ.१०।१३०।५)

इत्यस्मिन् मन्त्रे तत्तच्छन्दोभिः सयुक्त्वं तत्तच्छन्दोऽधिष्ठातृत्वं च महर्षय आमनन्ति तथैव जगदुपभोगाच्च । एतेषामेव तत्तच्छन्दःसयुजां देवानामंशुभिराप्यायितस्य सूर्य्यांशोस्तत्तदधिष्ठाने शुक्लसारङ्गादिरूपवत्त्वमुपदिश्यते छन्दःस्थितिनिदर्शनायावगमसौकर्य्याय वा । तदिदं यथायथमुपेक्ष्यम् ।।

तथा च प्रकृते सूर्य्यप्रकाशात्मकस्य प्रजापतेर्बृहतीपदव्योपक्रममाणस्य बृहतीमुभयतो भागा रथोपकरणवत् संचारसाधनान्येव भवन्तीति यथेच्छं रथवद्यानत्वमश्ववद्वा वाहनत्वमत्रैव सर्वदावस्थानात्सदनत्वं चोपचर्य्यते । सूर्य्यप्रकाशस्य प्रजापतित्वं चैतरेयशतपथयोराम्नायते—

"तदु तदिमांल्लोकान् समारुह्य अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः । तदेवमिमाँल्लोकान् समारुह्य अथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वा एतस्यैवावृतमन्वावर्तते । इति ।

"असावादित्य एकविंश उत्तमा प्रतिष्ठा, तद्दैवं क्षत्रं, सा श्रीः, तदाधिपत्यं, तद् ब्रध्नस्य विष्टपम्, तत् प्रजापतेरायतनं, तत् स्वाराज्यमृध्नोति" इति च ।

अन्यत्र पुनः—"बृहदेनमनुवस्ते पुरस्ताद्, रथन्तरं प्रतिगृह्णाति पश्चात् । ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम् ।।१।। बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची । यद्रोहितमजनयन्त देवाः ।।२।।" इत्याद्याम्नानाद्यस्योत्तरतो बृहत्साम दक्षिणतस्तु रथन्तरं स विराडेव सूर्य्यरथो विज्ञायते । तत्रैतस्य विशिष्टस्य रथत्वाभ्युपपत्तौ तदपेक्षिते रथचक्रे यथेच्छं छन्दोमर्य्यादावृन्नाभिप्रायेण कदाचित्सप्तचक्रत्वं कदाचिच्च रथपार्श्वत्वसाधर्म्याद्गायत्रीजगत्यभिप्रायेण द्विचक्रत्वमथ कदाचित्पुनः कालचक्रपरिवृत्त्यभिप्रायेणैकचक्रत्वं च तत्रतत्र व्यपेक्षन्ते ।

एष स्य भानुरुदियर्त्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि ।।१।।

(ऋ. ४।४५।१)

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ।।२।। (ऋ. १।१६४।३)

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ।।३।। (ऋ. १।१६४।१२)

इत्यादिषु सप्तचक्रत्वस्य—

द्वे ते चक्रे सूर्य्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः ।।१।। (ऋ. १०।८५।१६)

"तस्य गायत्री च जगती च पक्षावभवतामित्यादिषु द्विचक्रत्वस्य—

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्य्यस्य ।
समानं चक्रं पर्य्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ।।१।। (ऋ. ७।६३।२)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।।२।। (ऋ. १।१६४।२)

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।३।। ऋ. १।१६४।११)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभिः ।।४।।(ऋ. १।१६४।१३)

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राह तास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ।।५।।
(ऋ. १।१६४।४८)

एकचक्रं वर्त्तते एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्द्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्द्धं क्व तद् बभूव ।।७।।

इत्येवमादिष्वेकचक्रत्वस्य च प्रतिपादनात् ।। एवमेवाश्वत्वाभ्युपपत्तावपि सप्ताश्वत्वैकाश्वत्वाभ्यां कल्पनाभेदोऽपि सर्वथा संभवादुपपद्यते । दिशश्चतस्रोऽश्वतर्य्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः, द्यावापृथिवी पक्षसी, ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यं संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् ।। इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ।।२।। इत्येवमादीनि च रथाश्वादिरूपकाणि देवान्तरविषयतया समुन्नेयानि । सूर्य्यविषये तु यथेच्छं क्वचिच्छन्दसां क्वचित्सप्तदिशामश्वत्वमुपचर्य्यते सिंहो माणवक इत्यादिवद्गुणशब्दतया तत्तात्पर्यविषयभूते वस्तुनि बाधादर्शनात् । विधीयते हि प्रकृते रथाश्वादिशब्दैः कश्चन रथाश्वादिगुणश्छन्दसि वस्तुभूतः । स च—स्वाधिष्ठितत्व-स्वव्यापारप्रयोजकव्यापारवत्वैतदुभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टं यत् तन्निष्ठप्रवृत्तिजनकप्रवृत्तिमत्त्वरूपः । एतदेव हि देवताच्छन्दसोः सयुक्त्वमित्यवधेयम् ।।

एतदभिप्रायेणैव च—"एते वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ—त एते सप्तभिः सप्तभिश्छन्दोभिरागच्छन्ति" इत्येवमादयः श्रौतव्यवहाराः संगच्छन्ते । तदित्थंभूतस्य खल्वप्यस्य सप्तच्छन्दोमण्डलरूपस्य सूर्य्यमार्गस्य—

साशीतिमण्डलशतं काष्ठयोरन्तरं द्वयोः ।
आरोहणावरोहाभ्यां भानोरब्देन या गतिः ।।१।।
स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणीसर्पराक्षसैः ।।२।।

इत्येवं विष्णुपुराणादिषु गतिप्राधान्येन रथत्वव्यवहारवदेव ऋतसत्यमयत्वादग्निप्राधान्ये यज्ञशब्देन आदित्यप्राधान्ये प्रजापतिशब्देनाथ कालप्राधान्ये संवत्सरशब्देन च भूयसा वैदिकव्यवहारा दृश्यन्ते । अत एव—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।। इत्येतन्मन्त्र-विवरणप्रक्रमे

"यज्ञेन वै तद्देवा यज्ञमयजन्त, यदग्निना अग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन् । छन्दांसि वै साध्या देवाः । तेऽग्रेऽग्निना अग्निमयजन्त, ते स्वर्गं लोकमायन् । आदित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च । ते अग्रे अग्निना अग्निमयजन्त, ते स्वर्गं लोकमायन्" इत्येवमुक्तमैतरेयके । अत एव च त्रीणि च शतानि षष्टिश्चानूच्यानि यज्ञकामस्य, त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि, तावान् संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञः" इत्यादि श्रूयते ।। एतदभिप्रायेणैव चैतेषां छन्दसामग्नेः प्रजापतेश्च तनुत्वमपि तत्रतत्रोपचर्य्यते । तथाहि—

"विष्णुमुखा वै देवाश्छन्दोभिरिमांल्लोकाननपजय्यमभ्यजयन् । यद्विष्णुक्रमान् क्रमते बिष्णुरेव भूत्वा यजमानश्छन्दोभिरिमांल्लोकाननपजय्यमभिजयति" इत्येवं विष्णुक्रमपरिक्रमणविधौ—

अथावर्त्तते—"सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्त्त इति"—एवमिमाँल्लोकान् समारुह्य अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति, तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः, तदेवमिमाँल्लोकान् समारुह्य अथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वा एतस्यैवावृतमन्वावर्तते" इति माध्यन्दिना आहुः । तैत्तिरीया अप्येवम्—

"ऐन्द्रीमावृतमन्वावर्तते इत्याह । असौ वा आदित्य इन्द्रः । तस्यैवावृतमनु पर्य्यावर्त्तते । दक्षिणा पर्य्यावर्त्तते । स्वमेव वीर्य्यमनु पर्य्यावर्त्तते । तस्माद्दक्षिणोऽर्द्ध-आत्मनो वीर्य्यावत्तरोऽथो आदित्यस्यैवावृतमनु पर्य्यावर्त्तते ।" इत्युक्त्वा "चतसृभि-रावर्त्तते—चत्वारि च्छन्दांसि । छन्दांसि खलु वा अग्नेः प्रिया तनूः । प्रियामेवास्य तनुवमभिपर्य्यावर्त्तते" इत्याद्यामनन्ति । छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः—इत्याद्याः श्रुतयः सप्त च्छन्दांसि क्रतुमेकं तन्वन्तीत्याद्याः स्मृतयश्चैतदर्थपरा द्रष्टव्याः ।। एवं हि भूयांसो याज्ञिकानां यज्ञानुबन्धिनो व्यवहारा एतमेव छन्दोमयमण्डलमनुसृत्य प्रवर्त्त-मानाः सन्तीति तत्र तत्रान्वीक्षितव्यम् ।

एवमेवादित्यप्राधान्यात् प्रजापतिशब्देन व्यवहारे प्रवर्तमाने मुख्यमादित्य-बिम्बं तदुपलक्षितरेखां वोभयतो दश दश रेखा आक्रम्य कृतशरीरस्यैकविंशस्य प्रजा-पतिपुरुषस्य याम्यसौम्यभेदेन द्वैधे प्रतिपन्ने—

ता उत्तरेणहवनीयं प्रणयति । योषा वा आपो वृषाग्निः, मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते । एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तम् । उत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते"—इति शतपथोक्तयोषावृषन्यायेन सौम्याया अपां दिशो योषात्वं याम्याया अग्निदिशश्च वृषत्वं प्रतिपद्य तत्रांशानुरोधिदशरेखाभिप्रायेण विराट्त्वमाख्यातं दृश्यते श्रुति-स्मृत्यादिषु । तथा च विषुवदहःसंस्थानाभिप्रायेण तावत्—

"यथा वै पुरुषः एवं विषुवान्। तस्य यथा दक्षिणोऽर्धः एवं पूर्वोऽर्द्धो विषुवतः। यथोत्तरोऽर्द्धः—एवमुत्तरोऽर्द्धो विषुवतः।। तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रवाहुक् सतः शिर एव विषुवान्। विदलसंहित इव वै पुरुषः। तद्धापि स्यूमेव मध्ये शीर्ष्णो विज्ञायते" इत्युक्तमैतरेयके।

तैत्तिरीयकेऽपि—

"एकविंश एष भवति। एतेन वै देवा एकविंशेनादित्यमित उत्तमं सुवर्गं लोकमारोहयन्। स वा एष इत एकविंशः। तस्य दशावस्तादहानि दश परस्तात्। स वा एष विराज्युभयतः प्रतिष्ठितः। विराजि हि वा एष उभयतः प्रतिष्ठितः तस्मादन्तरेमौ लोकौ यन् सर्वेषुसु वर्गेषु लोकेष्वभितपन्नेति" इत्युक्त्वा—देवा वा आदित्यस्य सुवर्गस्य लोकस्य पराचोऽतिपातादबिभयुः तं छन्दोभिरदृहन् धृत्यै। देवा वा आदित्यस्य सुवर्गस्य लोकस्यावाचोऽवपातादबिभयुः। तं पञ्चभी रश्मिभिरुदवयन्।" इत्याद्याम्नायते।।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।१।।
ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः।
स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः।।२।।

इत्येवमादयो मन्त्रवर्णा अप्यमुमर्थं द्रढयन्ति।
स्मर्य्यते चायमर्थो मन्वादिभिरपि—
द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः।१। इत्यादिना।
तदित्थं—

तावदंशानां दशकस्य दशकस्यैकैकमक्षरत्वमभिप्रेत्य बृहतीत्वमाख्यातम्। अन्यत्र पुनः इयं वै मा, अन्तरिक्षं प्रमा, असौ प्रतिमा। द्वादश द्वादशाभित उपदधाति। तत् षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदक्षरा बृहती इत्येवमाचक्षाणेनेष्टकानामेकैकमक्षरत्वमभिप्रेयते।।

तथान्यत्र कतमा सा देवाक्षरा बृहती द्वादश पौर्णमास्यः, द्वादशाष्टकाः द्वादशामावास्याः एषा वाव सा देवाक्षरा बृहतीत्येवमाचक्षणेन पौर्णमास्यष्टकामावास्यानां देवानामेवाक्षरत्वमभिप्रेत्य बृहतीत्वं संसाध्यते। एवं द्वादशाहस्तुतौ "तदाहुः—यदन्यानि च्छन्दांसि वर्षीयांसि भूयोऽक्षरतराणि, अथ कस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते इति। एतया हि देवा इमाँल्लोकानाश्नुवत। ते वै दशभिरेवाक्षरैरिमं लोकमाश्नुवत, दशभिरन्तरिक्षम्। दशभिर्द्दिवम्। चतुर्भिश्चतस्रो दिशः द्वाभ्यामेवास्मिँल्लोके प्रत्यतिष्ठन् तस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते"। इत्यैतरेयश्रुत्या संवत्सरवलयात्मकबृहतीव्याप्यैकपदाविराजोऽक्षरत्वमाख्यायते"—

विराजोऽपि भूयस्यः क्लृप्तयो भवन्ति । तैत्तिरीयके तावत्—

"नव प्रयाजा इज्यन्ते नवानुयाजाः, अष्टौ हवींषि, द्वावाघारौ, द्वावाज्यभागौ । त्रिंशत् सम्पद्यन्ते । त्रिंशदक्षरा विराट्" । इत्येवं प्रयाजादीनामक्षरत्वमाह ।

मैत्रायणीयकेऽप्येवम्—

प्राणेभ्यो वैताः प्रजाः प्राजायन्त । प्राणा वा एतानि नव हवींषि । नव हि प्राणाः । आत्मा देवता । ततः प्रजायते । नव प्रयाजाः, नवानुयाजाः, द्वा आज्यभागौ, अष्टौ हवींषि अग्नये समवद्यति । वाजिनो यजति । तत्त्रिंशत् । त्रिंशदक्षरा विराट् । विराज्येव प्रतितिष्ठति । विराजो वै योनेः प्रजापतिः प्रजा असृजत । विराजो वा एतद्योनेर्यजमानः प्रजायते त्रिंशत् । त्रिंशद्वै रात्रयो मासः । यो मासः स संवत्सरः । संवत्सरः प्रजापतिः । तत्प्रजापतेश्च वा एतद्विराजश्च योनेर्मिथुनाद् यजमानः प्रजायते" इति प्रयाजादीनामिव त्रिंशद्रात्रीणां बिराडक्षरत्वमुच्यते । अथ माध्यन्दिनीयके-

"शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च, शम्यां च कृष्णाजिनं च, उलूखलमुसले, दृषदुपले, । तद्दश, दशाक्षरा विराट् । विराड् वै यज्ञः "इति शूर्पादीनामक्षरत्वमुक्तम् । ऐतरेयके च—

"यदु गायत्री च पङ्क्तिश्च, ते द्वे अनुष्टुभौ । यदुष्णिक् च बृहती च ते द्वे अनुष्टुभौ । यदु द्विपदा च विंशत्यक्षरा, त्रिष्टुप् च ते द्वे अनुष्टुभौ । यदु द्विपदा च षोडशाक्षरा, जगती च, ते द्वे अनुष्टुभौ ।। "इति । तथा अनुष्टुप्पङ्क्त्योरुष्णिक्त्रिष्टुभोर्गायत्रीजगत्योश्च बृहतीत्वमिति विजातीयच्छन्दोद्वयाक्षराणां सजातीयच्छन्दोद्वयाक्षरत्वमाख्यायते । तदेतदेवमन्यत्रान्यत्र भूयसा तत्तच्छन्दःस्वरूपनिर्वचनपरतत्तच्छ्रौतवचनपरिशीलनया चत्वारोऽर्था निष्कृष्य सिध्यन्ति । छन्दःस्वरूपनिरूपकतयाभिप्रेतस्य यथेष्टसमुदायावयवतां गतस्य यस्य कस्यापि द्रव्यजातस्य गुणजातस्य वा छन्दःपरिभाषायामक्षरसंज्ञा इत्येकः ।।१।। (२) क—तादृशैश्चाक्षराख्यैर्द्रव्यगुणैश्चतुर्विंशतिसंख्यापूरणे च सा मर्यादा गायत्री, अष्टाविंशतिसंख्यापूरणे च सा मर्यादा उष्णगित्येवं चतुरुत्तराणि तानि तानि च्छन्दांसि वेदितव्यानि । उत्तरोत्तरमेकैकाक्षरवर्द्धितपादत्वात् । (२) ख—पादप्राधान्येन च अष्टभिरक्षरैः कृता मर्य्यादा गायत्री, दशभिर्विराट्, एकादशभिस्त्रिष्टुप् द्वादशभिर्जगतीत्यपीच्छन्तीति द्वितीयः ।।२।। (३) एवम्परिच्छेदायतनपर्य्यायतुलितकाख्या शिल्पाद्युपयोगिनी मितिश्छन्दः इति तृतीयः । मितेरपि न मितित्वेन रूपेण छन्दस्त्वमपि तु कारणतापेक्षितस्वरूपविशेषजनतावच्छेदकत्वेनेति चतुर्थः ।।४।। एतमेव निष्कर्षमनुसृत्य लौकिकाः, वैदिकाः, वाचिकाः, आर्थिकाश्च सर्वे छन्दोव्यवहारा यथायथं प्रवर्तमानाः सन्तीति तत्रतत्रोपेक्ष्यम् ।

तदित्थमार्थिकेषु च्छन्दोव्यवहारेषु छन्दःप्रतिष्ठातत्वं वैशदचे न प्रदर्शितं भवति ।।

इति छन्दस्तत्त्ववादस्य परिशिष्टोंऽशः ।

परिशिष्टभागः

अथैतद्ग्रन्थमुद्रणानन्तरमेकस्यां जरत्तरप्रतावुपलब्धा ग्रन्थकृता संशोधिताः परिवर्धिताश्च पाठविशेषाः अत्र परिशिष्टांशरूपेण प्रकाश्यन्ते ।

पृष्ठ २ पंक्ति २ में

'छन्दोऽव्यवस्थामुपदर्शयन्ति' के आगे—

अथवा लोकेऽप्युत्कलिकादीनां गद्यच्छन्दस्त्वं व्यवहरन्ति ।

पृष्ठ ४ पंक्ति ४ के आगे—

अर्थजातेष्वप्याकाशवाय्वादिष्वेषामेव चतुर्णां छन्दसां भेदान्नानाविध्यम् । अत एवैक एव भावो द्रव्यगुणकर्मरूपैस्तेजोऽबन्नरूपैस्तदवान्तरानेकरूपैर्वा भेदेन समुत्पद्य नानात्वं प्रतिपद्यते । तदेतदेषां विभिन्नच्छन्दस्कानामर्थजातानां छन्दोनिबन्धन एवातिरेक इति यज्ञस्वरूपनिरूपणप्रकरणेऽन्यत्र वैशद्येन प्रदर्शितम् ।

पृष्ठ ४ पंक्ति १२ में 'दृश्यते' के आगे—

अत एव तु द्वासप्ततिमात्राप्रस्तारस्वरूपविशेषात्मिकाया अष्टादशमात्राप्रस्तारस्वरूपविशेषात्मिकाया वा इन्द्रवज्राया मात्रावृत्तत्वमनभ्युपगम्य यथा वर्णवृत्ततयाऽभ्युपपत्तिर्दृश्यते न तथा खिंखिंखिखागः प्रमोदेति लक्षितायाः प्रमोदाया डुजंडुजंडुजंडुकः प्रमदेति लक्षितप्रमदाजातिबहिर्भाविनाभ्युपगमः क्रियते ।

पृ. ५ पंक्ति ८ में 'पश्यन्ति' के आगे—

अथ यतश्चैकपादपि च्छन्दो भवति, तस्मान्न पादसिद्धिश्छन्दःसिद्धौ विशिष्योपयुज्यते किन्त्ववच्छेदसिद्ध्यैव छन्दःस्वरूपसिद्धिर्भवतीति विज्ञेयम् । यस्य कस्याप्यर्थस्य शब्दस्य वा यथाकथञ्चित् क्रियमाणोऽवच्छेद एव तदर्थस्य शब्दस्य वा छन्दः । सर्वोऽप्यर्थः स्वच्छन्दसाऽवच्छिन्नो भवति ।

यत्तु विच्छित्तिविशेषोऽप्यत्रान्यदान्तरं छन्दः शिल्पापरपर्यायमाख्यायते—शिल्पं छन्द इति श्रुतेः । तदप्यवच्छेदरूपत्वादेव । यदि ह्ययमवच्छेदो नाम धर्मो जगति न स्यात् तर्हि जगदेवेदं न स्यात्, जगदन्तर्गतं वा यत्किञ्चित् । एकमेव हीदं सत्यं ब्रह्म तदवच्छेदमाहात्म्यादनेकधात्वेन प्रतिपद्यमानं जगद् भवति, तदन्तर्गतं वा यत्किञ्चित् । उरूदरोरोग्रीवाशिरोहस्तपादाद्यवच्छेदान्मनुष्यवत् । यथा ह्येकस्मिन् श्वेतपत्रे शिल्पिकृतानेकभङ्गिरेखावच्छेदमाहात्म्याद् गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्येवमादयोऽनेकभावाः प्रादुर्भूय पृथक्त्वेन प्रतिपद्यन्ते न ते श्वेतपत्रादतिरिच्यन्ते । एवमेवैकस्मिन् सत्ये ब्रह्मणि विश्वकर्मकृतानेकभङ्गिरेखावच्छेदमाहात्म्यादेव गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्येवमादयोऽनेकभावाः प्रादुर्भूय पृथक्त्वेन प्रतिपद्यन्ते । न ते सत्याद् ब्रह्मणोऽतिरिच्यन्ते । तथा च भगवान् कणादः—"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता । सदिति

लिङ्गाविशेषादु विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भाव इत्येवमाद्याख्यायैकस्मादेव भावात् सत्तापदप्रतिपन्नाद् ब्रह्मणश्छन्दोभेदेन सर्वेषां द्रव्यादीनामुत्पत्तिमभिप्रैति। तथाहि—एकः कश्चित् सत्तापरपर्यायो भावः प्रतीतिसिद्धः। स द्रव्यगुणकर्मभेदात् त्रेधा—द्रव्याणि पुनर्नवधा, गुणास्तु सप्तदशधा, कर्म पञ्चधा। तेषामेषां द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यविशेषाभ्यां जात्याकृतिव्यक्तिपदप्रतिपन्नाभ्यां ये समवायास्त एव पदार्थाः। यथा घट इति केषाञ्चिद् द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यविशेषाभ्यामेकः समवाय इत्येकः पदार्थो भवति, एकस्मिन्नेव घटभावे कानिचिद् द्रव्यगुणकर्माणि समवयन्ति, न च तेषां त्रयाणां तत्र सत्तात्रयी। अत एव न द्रव्यगुणकर्माणीति त्रयः पदार्थाः। अपि तु द्रव्यगुणकर्मण्येकः पदार्थः। अनन्ताश्चैवं पदार्थाः। तेषां च सत्तैकत्वनिबन्धनं पदार्थैकत्वम्। द्रव्यगुणकर्मणां तु समवेतानामेकैव सत्ता। तथाहि यावत् पृथिव्यामेकस्या एव सत्तायाः प्रतीतावप्यवान्तरं घटपटादिषु मिथः सत्ता भिद्यन्ते नैवं द्रव्यगुणकर्मणामेकस्यां सत्तायां पुनरवान्तरं द्रव्यादिसत्ताः पार्थक्येन प्रतिपद्यन्ते। यथा तु घटपटादिषु पृथिवीत्वं न भिद्यते पृथिव्यादिषु वा द्रव्यत्वं न भिद्यते, तथैव पुनर्द्रव्यादिषु सत्त्वं न भिद्यते। पृथिवीत्वं पृथिवीति प्रत्ययः, द्रव्यत्वं द्रव्यमिति प्रत्ययः। सत्त्वं सदिति प्रत्ययः। सत्त्वं सत्ता भाव इत्येकार्थाः। तदित्थं सद्भाव-द्रव्यभाव-पृथिवीभाव-घटादिभावानां विभिद्य प्रतीतानामानन्त्येऽपि संक्षिप्य स भावस्त्रेधा प्रतिपद्यते, कश्चित् सामान्यमेव, कश्चिद्विशेष एव, कश्चित्तु सामान्यविशेषात्मकः। अत एव घटेऽपि नाना भावाः प्रतीयन्ते। घट इत्येको भावः। घटपटमठादयो वा सर्वे एको भावः। अत एवेदं जगन्नाम भवन्त्यनन्ता भावाः। एक एव वा भावः पुरुषाख्यः। स हि खल्वेकः पुरुधा भवति। अत एवामनन्ति—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। तमेकं सन्तं बहुधा वदन्ति। पुरुष एवेदं सर्वम्। सर्वं खल्विदं ब्रह्म-एकमेवाद्वितीयमित्यादि। तत्र यथायं पुरुषापरपर्याय एकः केवलसामान्यभावो भातिसिद्धः तथा सामान्यविशेषभावा नित्यभावाश्च सर्वेऽपि भातिसिद्धा एव। जात्याकृतिव्यक्तिसमवायात्मकानां घटपटादिपदार्थानां सत्तासिद्धत्वेऽपि सत्तायाः सत्तासिद्धत्वासम्भवात्। एकस्मिन् सामान्ये सामान्यविशेषभेदा नित्यविशेषभेदाश्च भातिसिद्धा एव संभवन्ति। एतदभिप्रेत्यैव सूत्रयति—सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षमिति। तथा च यदि सत्ता भातिसिद्धा, तर्हि सत्तासिद्धा अपि सर्वे अन्ततो भातिसिद्धा एवेति सिद्धं सर्वस्यास्य जगतो विज्ञानरूपत्वम्। विज्ञानं हि ब्रह्मशब्देनाख्यायते। तदुपासको हि ब्राह्मणो भवति। स विजानीयात्—विज्ञानमेव सामान्यविशेषाभ्यामवच्छेदाभ्यां विवर्त्य तदवच्छेदमाहात्म्यादेव सर्वं जगदुद्भवति। तथा चैत एवावच्छेदास्तदवच्छेदावच्छिन्नानां खण्डानां स्वस्वच्छन्दांसि भवन्ति। स्वस्वच्छन्दःसम्पत्त्यैव च तत्तदर्थस्वरूपसम्पत्तिर्दृश्यते। यदि हि गोत्वरूपावच्छेदरूपाया रेखायाः किञ्चिद्विहन्यते तावतैवावश्यं गोस्वरूपं विहन्यते। तदवच्छेदावच्छादितस्य तु गोः स्वरूपादप्रच्यवो भवति। तदिदमेवास्य छन्दसः स्वरूपाच्छादकत्वं स्वरूपरक्षकत्वं च वेदे महर्षयः समामनन्ति। अथैतदवच्छेदोपाधिभूतास्तु तत्तत्खण्डस्यावान्तरखण्डा अक्षरशब्देनाख्यायन्ते। अत एवाक्षरव्यूहश्छन्द इति पर्यायेण वदन्ति। यथा संवत्सरच्छन्दस्त्वनिर्वाहकाणि द्वादशाक्षराणि मासाः।

मासच्छन्दस्त्वनिर्वाहकाणि त्रिंशदशराणि दिनानि। संवत्सरस्य गायत्रीत्वे पक्षाश्चतुर्विंशतिरक्षराणि, इत्येवमनेकत्र शतपथादिब्राह्मणेषु प्रपञ्चितम्। तदित्थं यथैवार्थत: खल्वाकाशश्छन्द:, वायुश्छन्द:, तेजश्छन्द:, आपश्छन्द:, पृथ्वी च्छन्द:। एवमेव शब्दतोऽपि वर्णश्छन्द:, अक्षरं छन्द:, पदं छन्द:, वाक्यं छन्द:, प्रकरणं छन्द:—इत्येवमेषां सर्वेषामेव छन्दस्त्वं यद्यपि सम्प्रतिपन्नम्। तथापि नूनमक्षरव्यवस्थानिबन्धनमेव च्छन्दोव्यवहारमिच्छन्ति च्छान्दसिका:। अक्षरं चेह मात्रानियतं भवति। परमाणुत्रसरेणुवदेकमात्रिकत्वद्विमात्रिकत्वाभ्यामक्षरमपि द्वेधैव भवति। तथा च मात्रानियताक्षरव्यूह एव च्छन्दोऽवच्छेद एव च्छन्द इति संसिद्धम्।

पृ. १२ पंक्ति ११ के आगे—

उद्बुद्धेऽर्थे विरुद्धा या सा यति: प्रतिषिध्यते।
छन्द:स्वरूपे तूद्बुद्धेऽनुप्रासे वा न दूषणम् ॥१॥

इत्येवं प्रत्यवतिष्ठमानानां तु नास्त्ययं दोष: अनुप्रासस्योद्बुद्धविषयत्वात्। प्रथमं दशकलितमित्येवमादिष्वत एवादोष:। तत्रानुप्रासवच्छन्द:स्वरूपस्याप्युद्बोध्यत्वान्। इति विज्ञेयम्॥

पृ. १४ पंक्ति २२ के आगे—

अरेरे कथय वार्तां दूति! तस्यातिचित्रां मम सविधमुपैष्यत्येष कृष्ण: कदा नु।
इति चटु कथयन्त्यां राधिकायां तदानीमतिडगडगमगदेह: केशवोऽप्याविरासीत् ॥१॥

इति संस्कृतोदाहरणेऽप्यरेरेशब्दैकारयोर्ह्रस्वपठनाल्लघुत्वं द्विरुक्तयोरपि डगशब्दयो: शीघ्रपठनादेकत्वं स्वीकृत्य नगणद्वयशुद्धिमभिप्रयन्ति तदनादेयम्। अप्रामाणिकत्वात्। व्यामोहवलिगते अररपाठस्यैव च यौक्तिकत्वाच्च। डगशब्दस्त्वधिको मालिनीभङ्गभिया त्याज्य एवेति बोध्यम्॥

पृ. १९ पंक्ति १६ के आगे—

हर: शशी सूर्यशक्रशेषाहिकमला: क्रमात्।
धाता कलिश्चन्द्रध्रुवौ धर्म: शालीति सन्ति टा: ॥४॥

इन्द्रासनं सूरचापहीरशेखरकौसुमम्।
क्रमादहिगण: पापगणश्चेति भवन्ति ठा: ॥५॥

कर्ण-करतल-पयोधर-वसु-चरणा विप्र इति च डा: पञ्च।
ढा: ध्वज-सुरपति-भावा:, णौ तु द्वौ हारसुप्रियौ प्रोक्तौ ॥६॥

पृ. २० पंक्ति १४ के आगे—

प्रदेशकृता च। लोकेऽपि येयं क्षिप्रा समा मन्देत्येवं त्रैविध्येन गतिर्भिद्यते। सा कालभेदात्। या तु मन्थरस्य वा धावमानस्य वा द्वित्रपदोत्तरं पञ्चषपदोत्तरं वावष्टभ्यावष्टभ्य सम्पाद्यमानत्वात् सोपरोधा गतिरथ तद्वैकल्ये निरवच्छिन्नेति द्वैविध्येन गतिर्भिद्यते सा यतिभेदात्। या वै मार्गस्थभूप्रदेशानामुच्चावचत्वे गच्छत: क्व-

चिदुत्क्रान्तत्वं क्वचिदवक्रान्तत्वम्, यदिवोत्प्लुत्योत्प्लुत्य निर्वृत्ता, पङ्गुवदवसृप्यावसृप्य निर्वृत्ता वेत्येवमथोपक्रमभेदान्मन्दा तीव्रा वा गतिर्भिद्यते सा क्रान्तिभेदात्। अथ यैकस्मिन्नध्वनि क्वचित् क्वचिन्मध्ये कियद्दूरं व्याप्य त्रिचतुरवर्तिनीभिर्ऋजुवक्राभिर्गतिवैषम्यं सा गन्तव्यप्रदेशभेदात्। तदित्थमिहापि छन्दोवेदे सा चतुर्धा गतिर्भवति।

तथा हि पठितैः पदात् पदान्तरसञ्चारो मुख्या गतिः। सा चेह चतुर्थी प्रदेशकृतेत्याख्याता। अथेयं पठितिः केनचिदौचित्योपनिपातिना सन्दर्भपरिमाणेन नियम्यते। तदेतन्नियमनमप्युपचारेण गतिरिष्यते। सा चेह द्वितीया यतिकृतेत्याख्याता। अथैतत्पठितिपरिमाणमपि स्यादेव गतिः। सा चहे प्रथमा कालकृतेत्याख्याता। एवं वर्णोच्चारणोपयुक्तबलतारतम्यादुत्कलिका (कल्लोल) प्रायो नादो भवति। तदेनन्नादप्रतिभातमुच्चावचत्वमपि शक्यं वाचो गतिर्भवितुम्। सेयं तृतीया नादकृतेत्याख्यायते। तदित्थमुपपादितं चातुर्विध्यम्।

पृष्ठ २० पंक्ति १५ में

'विलम्बिता च' के आगे—

आसां मिथो व्यतिकरेण सङ्कीर्णा अपि त्रेधा। तदुक्तम्—

'द्रुता विलम्बिता मध्या साऽथ द्रुतविलम्बिता।
द्रुतमध्या च विज्ञेया तथा मध्यविलम्बिता ॥१॥

सा लघूनां गुरूणां च बाहुल्यालपत्वमिश्रणैः।
पद्ये गद्ये च मिश्रे च षट्प्रकारोपजायते ॥२॥

तत्र वृत्तं च जातिं च पद्यमाहुरथो पृथक्।
समं चार्धसमं चैतद्विषमं च प्रचक्षते ॥३॥

गद्यमुत्कलिकाप्रायं पद्यगन्धीति च द्विधा।
द्विधैव गद्यपद्यादिभेदान् मिश्रमपीष्यते ॥४॥

ललितं निष्ठुरं चूर्णमाविद्धं चेति योऽपरः।
विशेषः स तु गद्यस्य रीतिवृत्त्योर्भविष्यति ॥५॥ इति।

पृष्ठ २० पंक्ति १८ में

'प्रतिषेधति' के आगे—

तत्र जलधरमाला-वासन्ती-रुचिरा-भ्रमरविलसितादयश्छन्दोभेदा द्रुतापक्षपातिनः। भुजङ्गप्रयात-शार्दूलविक्रीडितादयो मध्यापक्षपातिनः। चर्चरी-चामर-वसन्ततिलका-निशिपालकादयो विलम्बितापक्षपातिनः। मालत्यादयो द्रुतमध्यामपेक्षन्ते, इत्येवमनुभवरसिकानां सर्वत्रैषा कालकृता गतिः स्पष्टमाभातीति तत्र तत्रोपेक्ष्यम्।

पृष्ठ २१ पंक्ति १७ के आगे

अथ चतुर्थी गतिः प्रदेशकृता चाल इत्युच्यते । यथा—

यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चित् मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिन् लोके गर्हितः स्यात् परे च ।।

इत्यस्मिन् शुक्रवचने एकस्मिन्नेवोपजातिच्छन्दसि त्रेधा गतिर्दृश्यते । प्रथम-द्वितीयचरणयोरेका । तृतीयचरणे द्वितीया । चतुर्थचरणे च तृतीया । तत्र प्रथमा-तृतीययोर्नितान्तवैषम्यात् सहयोगायोग्यत्वेऽपि द्वितीयस्याः पूर्वोत्तराभ्यां साम्यापन्नाया मध्येऽवपातात् तद्द्वारा सहयोगावसरो लभ्यते । तथाहि तत्राक्षरपञ्चकादूर्ध्वं सकारमपोह्य रगयोः संनिवेशात् कथंचिद् भेदोपलम्भेऽपि द्वितीयायाः सर्वमन्यत् प्रथमया समानम् । यदि चेदपेतधर्मा द्विजहा च स स्यादित्येवं ब्रूयात् सा नैव गतिर्भिद्यते । एवमेव चरणादौ क्षकारमपोह्य जकारसंनिवेशात् कथंचिद्भेदोपलम्भेऽपि द्वितीयायाः सर्वमन्यत् तृतीयया समानम् । यदि चेदिहापि लोके गर्हितः ।............
....'विचित्रा हि सरस्वती' इति भोजः ।

पृष्ठ ३४ पंक्ति १६ में

'अयमेवार्थो' से लेकर २१ वीं पंक्ति में कार्यः, तक का पाठ हटा देना है ।

पृष्ठ ३४ पंक्ति २८ से आगे--

संस्कृतपिङ्गले त्वयमेवार्थः कथञ्चिद्भेदेनोक्तः । तथा च सूत्रम् लदर्धे । सैके गिति । अस्यार्थः स्वतःसिद्धसमस्यार्धे लघुः । सैकसमस्यार्धे तु गुरुः । एवमर्धकरण-क्रियामुत्तरोत्तरमनुवर्तयेत् । यावतिथं स्वरूपं जिज्ञास्यं स नष्टाङ्कः साधनम् । स्वरूपं तु साध्यम् । यावदक्षरके जिज्ञासा तावत्पूर्तौ क्रियात्यागः । यथा षडक्षरप्रस्तारे जिज्ञास्यं स्वरूपं कीदृशमस्तीति जिज्ञासायां त्रिंशदङ्केन साधनेन साध्यमभीष्टं स्वरूपं संपादयेत् । तथा हि नष्टादस्मात् साधनाङ्कादर्धं विनाशयेत् । समे नष्टाङ्के क्रिया जातेति साध्यस्वरूपे लघुः फलितः ।१। अथ शेषस्य नष्टस्य पञ्चदशाङ्कस्य विषमत्वात् सैकं कृत्वा ततोऽर्धं विलोपयेत् । सैके नष्टाङ्के क्रिया जातेति साध्ये गुरुः फलितः ।२। अथ शेषस्य नष्टस्याष्टाङ्कस्यार्द्धं विलोपयेत् । समे क्रिया जातेति साध्ये लघुः फलितः ।।३।। पुनः शेषस्य नष्टस्य चतुरङ्कस्यार्द्धं विनाशयेत् । समे क्रिया जातेति साध्ये लघुः फलितः ।४। पुनः शेषस्य द्वयङ्कस्यार्धं नाशयेत् । समे क्रिया जातेति साध्ये लघुः फलितः ।५। अथ शेषस्यैकाङ्कस्य सैकीकृतस्यार्धं नाशयेत् । सैके नष्टे क्रिया जातेति साध्ये गुरुः फलितः ।६। तथा च त्रिंशदङ्केन साधनेन अर्धनाशक्रियया (।ऽ।।।ऽ) जसात्मकं साध्यस्वरूपं फलितम् । एवमन्यान्यप्रस्तारेऽन्यान्यभेदा विज्ञेया इति नष्टक्रियाया द्वितीयः प्रकारः ।।२।।

पृ. ३४ में पंक्ति २९ में—

२ अङ्क के स्थान में ३ अङ्क होना चाहिए ।

पृ. ३५ में पंक्ति ६ में—

'नष्टक्रियाया द्वितीय:' के स्थान में 'नष्टक्रियायास्तृतीय:' पाठ है ।

पृ. ३५ में पंक्ति ७ में—

'३' अङ्क के स्थान में '४' अङ्क पढ़ना चाहिए ।

पृ. ३५ में पंक्ति १४ में—

'त्रिप्रकारा' के स्थान में 'चतु:प्रकारा' पाठ है ।

पृ. ३५ में २६वीं पंक्ति में—

'प्रातिलोम्येन' के बाद 'दक्षिणतो गत्या' तथा इसी पंक्ति में 'द्वि:कृतमङ्कं' के स्थान में 'द्विगुणितमङ्कं' और 'न्यस्य' के बाद 'ततो' यह पाठ और होना चाहिए ।

पृ. ३९ पंक्ति १७ के बाद २५ पंक्ति तक के पाठ के स्थान में निम्नलिखित पाठ है—

अपेक्षितप्रस्ताराङ्के बीजभूते अर्द्धं जह्यात् । अर्धे हीने द्विरिति लेख्यम् ।१। यत्र त्वर्द्धकरणं न सम्भवति तत्र रूपं जह्यात् । रूपे हीने शून्यमिति लेख्यम् । तदित्थं सूत्रद्वयेन साधनक्रिया विहिता । यथा द्वयक्षरप्रस्तारे बीजभूताद्द्वयङ्कादर्धं त्यक्त्वा मूलमेकं लिखेत् । अत्रार्धत्यागविधि: समभूदिति कृत्वा द्वयङ्को लिख्यते संकेतार्थम् । अथ तस्य पुनरर्धभूतस्यैकाङ्कस्यार्धकरणं न संभवतीति कृत्वा ततो रूपं त्यजेत् । रूपे त्यक्ते शून्यं जातमिति बिन्दुर्लिख्यते संकेतार्थम् । तथा च न्यास:

बीजं $\frac{2}{1}$ मूलसाधन $\frac{2}{0}$ द्वारसाधनन्यास:

पृ. ३९ पंक्ति ३० में—

'द्वि: कृत्वा' के बाद 'लिखेत् । तदिदं गुणस्थानं भवति' पाठ है ।

पृष्ठ ४० में पंक्ति ७ में—

'यथा चैवं' से लेकर ११वीं पंक्ति तक के पाठ को न पढ़ें हटा दें ।

पृ. ४० के अन्त में निम्न पाठ और हैं—

अथैकाक्षरपादमारभ्य षड्विंशत्यक्षरपादान्तं यावत् योगसंख्याऽप्युपदिश्यते श्लोकेन—

षड्विंशति:, सप्तशतानि, चैव तथा सहस्राण्यपि सप्तपंक्ति: ।
लक्षाणि दृग्वेदसुसंमितानि, कोटचस्तथा रामनिशाकरै: स्यु: ।।१।।

१३; ४२, १७, ७, २६

पृष्ठ ४१ पंक्ति ३४ में—

'लगक्रिया' के बाद 'लघुक्रिया, एकावली, मेरुक्रिया च' यह पाठ और है ।

पृष्ठ ४२ पंक्ति २ में 'त्यजेत्' के बाद—

इति सम्प्रदायविदः। तत्त्वविदस्तु यावदक्षरकप्रस्तारे लगक्रियाऽपेक्षिता तावन्मितानेव शून्याङ्कानौत्तराधर्येणोल्लिख्य तदधस्तादेकमेकाङ्कं विन्यसेत्। तमेकाङ्कमुत्तरोत्तरेषु शून्याङ्केषु योजयेत्। चरमं योगफलं पङ्क्तेर्बहिष्कृत्यान्यत्र लिखेत्। पुनरादिममेकाङ्कमारभ्योत्तरोत्तराङ्के पूर्वपूर्वाङ्कयोगक्रमः। चरमं योगफलं च पंक्तेर्बहिष्कृत्यान्यत्र लिखेत्। अनया परिपाटचा अन्यत्र लिखितैश्चरमयोगफलाङ्कैरेकावलीमेरुः स्यादित्याहुः।

पृ. ६४ पंक्ति २३ में 'अथ मेरुसम्बन्धेन वक्तव्यम्। तत्र' के आगे—

यावन्मात्राकप्रस्तारे लघुक्रियाऽपेक्षिता तावन्मिता एवैकाङ्का लेख्याः। ततः पूर्वपूर्वाङ्कयोगेनोत्तरोत्तराङ्काः परिवर्त्य लेख्याः। भूयोऽप्येवमादितः क्रियाऽऽवर्तनीया। प्रतिक्रियं त्वेकैकमङ्कमन्त्ये परित्यजेत्। परिवर्तिताङ्केषु च यश्चरमस्तदधस्तनमङ्कं प्रतिक्रियं लोपयेत्। तथा च सिद्धैरङ्कैरेकावलीमेरुः स्यात्।

यथा षण्मात्राकप्रस्तारे षडेकाङ्का ऊर्ध्वाधरं लेख्याः। ततः पूर्वाङ्कानामुत्तरेषु योगादेकोत्तरवृद्ध्या द्वितीयस्थानमारभ्य पञ्चमस्थानपर्यन्तमङ्काः साध्यन्ते। प्रथमावृत्तौ षष्ठस्थानीयाङ्कस्य चरमत्वान्न तत्र पूर्वयोगः। तथा च प्रथमक्रियायाम् एको, द्वौ, त्रयः, चत्वारः, पञ्च, पुनरेकः, इत्येवमङ्का लभ्यन्ते। तत्र परिवर्तिताङ्केषु द्वित्रिचतुःपञ्चरूपेषूपान्त्यस्य चतुरङ्कस्य लोपविधिः। ततश्च एको, द्वौ, त्रयः, पञ्च, पुनरेकः, इत्येवंक्रमेणाङ्कस्थितिः। अथ द्वितीयक्रियावृत्तिः। तत्र पूर्वाङ्कानामुत्तरत्र योगात् क्रमेण—एकः, त्रयः, षट्, पञ्च, पुनरेकः इत्येवमङ्कलब्धिः। द्वितीयावृत्तौ पञ्चाङ्कस्य चरमत्वात् पूर्वयोगाभावः। तत्र परिवर्तितयोस्त्रिषडङ्कयोरुपान्त्यस्य त्र्यङ्कस्य लोपविधिः। ततश्च एकः, षट् पञ्च, पुनरेकः—इत्येवमङ्कसिद्धिः। अथ तृतीयक्रियावृत्तिर्निवर्तते। षडङ्कस्य चरमत्वात् तत्र पूर्वाङ्कयोगाननुशासनात्। तथा च एकः, षट्, पञ्च, पुनरेकः—इत्येवं पर्यवसन्ना अङ्काः षण्मात्राकप्रस्तारे एकावलीमेरुः स्यात् इति सम्प्रदायविदः।

तत्त्वविदस्तु—वर्णलघुक्रियावदिहापि मात्रालघुक्रियायां यावन्मात्राकप्रस्तारे मेरुरपेक्षितः,तावन्मितानेव शून्याङ्कानौत्तराधर्येण लिखित्वा तदधस्तात् योगमूलतयैकमेकाङ्कं विन्यसेत्। अथोत्तरोत्तरेषु शून्याङ्केषु तमेकाङ्कं योजयित्वा सर्वान्ते योगफलमन्यत्र लिखेत्। अवशिष्टान्त्यं च लोपयेत्। पुनरेकाङ्कत उत्तरोत्तराङ्कयोगे सर्वान्तयोगफलमन्यत्र लिखेत्। अवशिष्टान्त्यं च लोपयेत्। पुनरेकाङ्कत उत्तरोत्तराङ्कयोगे सर्वान्तयोगफलमन्यत्र लिखेत्। शिष्टान्त्यं च लोपयेत्। तथा च योगफलाङ्कैरन्यत्र लिखितैरेकावली मेरुः स्यात्—इत्याहुः। एवमेव सर्वत्राप्यूनाधिकमात्राप्रस्तारेषु लघुक्रिया द्रष्टव्या। न्यासो यथा—

१-१		१
१-०		०
१-१	५-५	५
१-१	४-०	०

१-१	३-३	६-६		६
१-१	२-२	३-०		०
				१
१-१	१-१	१-१,	१-१	

पृ. ९५ पंक्ति १ में

'पंक्ति च।' के आगे 'तद्द्वे छन्दसी एकं छन्दोऽभिसम्पादयति बृहतीम्।' पाठ और है।

पृष्ठ ९८ पंक्ति १७ के आगे—

योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम्।
विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

पृ. १०१ २६वीं पंक्ति में—'छन्दसोऽतिरिच्यन्ते।' के आगे

पद्यादित्रैविध्येन छन्दस्त्रैविध्यस्य साम्प्रदायिकैरभ्युपेतत्वात्।

पृ. १०१ पंक्ति ३० के आगे—

(इति छन्दस्तत्ववादे प्रश्नग्रन्थः)

पृ. १०१ पंक्ति ३१ में—

'अत्रोच्यते' से आगे प्राणमात्रा छन्दः। सर्वं चेदं स्थावरजङ्गमं सप्राणमेवेह जीवति। प्राणधारणं हि जीवनम्। अतः प्राणापगमे निर्जीवं विनश्यति सर्वम्। स च प्राणः सर्वत्र व्यक्तिभेदभिन्नया कयाचिन्नियतयैव मात्रयावस्थाय स्वप्रणीतं स्वायत्तं शरीरमधितिष्ठतीति प्रतिपद्यते। तत्र वाचिकप्राणः स्वर इत्युच्यते। तन्मात्रा वाचिकच्छन्दः। एवं भौतिकप्राणो वैश्वानरः, तन्मात्रा च भौतिकच्छन्द इत्यनुसन्धेयम्। मात्रा च पुनरवच्छेदः। यद्यपि च नियतासु वाक्षु प्रयुञ्जते छन्दः-शब्दम्, अथापि नैतावता वागेव छन्दःशब्दवाच्येति भ्रमितव्यम्। नीलश्वेतादि-शब्दानां गुणवाचकतया जातिशब्दत्वेऽपि गुणिपरत्वेनोपचारात् गुणशब्दत्ववदस्य छन्दःशब्दस्यापि गुणशब्दत्वव्यवहारोपपत्तेः। तस्मादवच्छेदश्छन्द इत्येव सिद्धान्तः।

पृ. १०२ पंक्ति २३ के आगे—

सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता—

पृ. १०३ पंक्ति ३ में 'सन्तमर्थम्' के आगे—

किं बहुना-लोके हि सर्वत्रैवार्थे प्रतिपत्तिस्त्रिधा दृष्टा-पारमार्थिकी, व्यावहारिकी प्रातिभासिकी चेति। पारमार्थिकी आर्थिकी वास्तविकीत्यनर्थान्तरम्। व्यावहारिकी औपयौगिकी औपचारिकीत्यनर्थान्तरम्। प्रातिभासिकी आध्यासिकी वैकल्पिकीत्यनर्थान्तरम्। यथा काचे स्फटिकबुद्धिराध्यासिकी। काचे काचबुद्धिरौपयौगिकी। काचे मृद्बुद्धिरार्थिकी। एवं पृथिव्यपेक्षया सूर्यस्य कूटस्थता वास्तविकी। पृथिवीं परितः सूर्यस्य वार्षिकगतिः पूर्वाभिमुखीना औपचारिकी। पृथिवीं परितः

सूर्यस्य दैनन्दिनगतिः पश्चिमाभिमुखीना प्रातिभासिकी। इत्येवं सर्वत्र त्रैविध्यं द्रष्टव्यम्। तत्र प्रातिभासिक्या मिथ्यात्वमेव। वास्तविक्याः सत्यत्वमेव। व्यावहारिक्यास्तु सत्यासत्यत्वम्। अन्यथा सतोऽपि व्यवहारसिद्ध्यनुरोधेनान्यथा प्रकल्पितरूपस्य लोके उपयोगदर्शनात्॥

पृ. १०३ पंक्ति ३० में 'इत्यादिषु' के आगे—

दीपादीनां घटादिद्रव्यैस्तिरोधानेनाप्रतिपत्तिदर्शनात्। प्रकृते पुनर्नैतदेवं दृश्यते।

पृ. १०४ पंक्ति ११ में ।।९।। के आगे—

गर्गश्च गोकुले तत्र वसुदेवप्रणोदितः।
प्रच्छन्न एव गोपानां संस्कारानकरोत् तयोः॥
(विष्णुपुराण, ५ अं. ६ अ.) इत्यादावज्ञातत्वम्॥१०॥

पृ. १०६ पंक्ति २४ में 'इत्यवच्छेदकानामेषां' के आगे—

'तद्वस्तुस्वरूपस्थितिनियामकप्राणमात्रारूपाणां' पाठ और है।

पृ. १०७ पंक्ति ३ में 'पदार्थः' के आगे—

यत्तु "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" इत्यौलूक्यसूत्रप्रामाण्याद् द्रव्यादीनां षण्णां पदार्थत्वमीक्षमाणा नव्यनैयायिका गुणादावाकृत्याद्यसमन्वयाद् व्यक्त्याकृतिजातिसमवायस्य पदार्थत्वे विप्रतिपद्यन्ते तदेतत्सूत्रार्थानभिज्ञानात्। द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावतामेव सामान्यविशेषाभ्यां ये समवायास्तेषामेव पदार्थतायास्तेन सूत्रेण विवक्षणात्। दृश्यते ह्येतस्मिन्नेवार्थे तदुत्तरयावद्ग्रन्थस्वारस्यम्। अत एव न हि षट् पदार्थाः सन्तीति शास्त्रार्थः। द्रव्ये गुणकर्माणि द्रव्यगुणकर्माणि वैकत्र समवयन्ति तस्य सत्तासत्वभावादिप्रतीतस्यार्थस्य पदार्थत्वं द्रष्टव्यम्। स खलु भावो यद्यप्येक एव तथापि कर्मगुणादीनां सामान्यविशेषाभ्यां तारतम्यात् तदुपलक्षिताः समवाया भिद्यन्ते। तस्माद् बहवः पदार्था घटपटादयः सिद्धाः। अस्ति हि घटो वा पटो वाऽन्यो वा द्रव्यगुणकर्मणामेव स स समवायः। तथापि केचिद् गुणाः जात्याकृतिरूपाः समाना भवन्ति, केचित्पुनर्व्यक्तिधर्मा विशिष्यन्ते। अत एवैकजातीया अपि ते तेऽर्थाः परस्परं भिद्यन्ते। तस्माद्द्रव्यगुणकर्मणां समवाय एव प्रकारान्तरविवक्षायां व्यक्त्याकृतिजातीनां समवाय आख्यायते। अत एव "जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः"—इत्युत्तरेणौलूक्यसूत्रेणैकवाक्यता सम्पद्यते। समवायस्तु भिन्नानामैकात्म्येनावस्थानमित्युक्तम्। तन्निरूपितैव च पदे शक्तिरभ्युपेयते—इत्यतस्तत्र पदार्थशब्दः। पदनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वस्यैव पदार्थत्वेन विवक्षितत्वात्। अथवोपयाच्यमानत्वादर्थः प्रयोजनम्। यमुद्दिश्य यत्प्रवर्तते स तस्यार्थः। तथा च यदर्थं पदप्रयोगः स पदार्थः। व्यक्त्याकृतिजातिसमवायं प्रत्याययितुं हि पदप्रयोगः इति स पदार्थः। तासाँ च व्यक्त्याकृतिजातीनामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिः स्वरूपं निरूपयितुं प्रवर्तन्ते पारमर्षसूत्राणि—

पृ. १०९ पंक्ति ३० के आगे

तदित्थं मा-प्रमा-प्रतिमात्मकभेदत्रयभिन्नः प्राणावच्छेदोऽवच्छिन्नः प्राण एव वा छन्द इति लभ्यते। तत्रास्य प्राणस्यायमवच्छेदो यैरवयवभूतैरन्यान्यैः प्राणैः प्रसाध्यते ते प्राणाश्छन्दःपरिभाषायामक्षरशब्देनाख्यायन्ते, तेषां चाक्षरप्राणानां प्रातिस्विकोऽवच्छेदो मात्राशब्देन। कयाचिन्मात्रया नियतैरनियतैर्वा तैस्तैरक्षरैरवच्छेदसिद्धौ तदवच्छेदकाक्षरसंख्याभेदाच्छन्दांसि भिद्यन्ते। यथाऽष्टाक्षरा गायत्री। एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरा जगती चेत्यादीनि। तत्रैतान्यक्षराणि वाचिकच्छन्दसि वाचिका एव प्राणा भवन्ति। आर्थिके तु छन्दस्यार्थिकाः प्राणाः। प्रसिद्धानि खलु वाचिकान्यक्षराणि। अथार्थिकान्युदाहरामः—तथा हि शतपथश्रुतावग्निरयिरूपाया अस्याः पृथिव्याः पृथिवीप्राणरूपस्याग्नेश्च पृथक् पृथग् गायत्रीत्वमुपपादयितुमित्थमाम्नायते (६ प्र. १।२।३६)

'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत—बहु स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। तस्माच्छ्रान्तात् तेपानादापोऽसृज्यन्त ॥१॥ तस्मात्पुरुषात्तप्तादापो जायन्ते। आपोऽब्रुवन्-क्व वयं भवामेति। तप्यध्वमित्यब्रवीत्। ता अतप्यन्त। ताः फेनमसृजन्त ॥२॥ तस्मादपां तप्तानां फेनो जायते। फेनोऽब्रवीत्-क्वाहं भवानीति। तप्यस्वेत्यब्रवीत्। सोऽतप्यत। स मृदमसृजत ॥३॥ एतद्वै फेनस्तप्यते—यदप्स्वावेष्टमानः प्लवते। स यदोपहन्यते मृदेव भवति। मृदब्रवीत्—क्वाहं भवानीति। तप्यस्वेत्यब्रवीत्। साऽतप्यत। सा सिकता असृजत ॥४॥ एतद्वै मृत्तप्यते—यदेनां विकृषन्ति, तस्माद् यद्यपि सुमार्त्स्नं विकृषन्ति सैकतमिवैव भवति (एतावन्नु तत्—यत् क्वाहं भवानि क्वाहं भवानीति) सिकताभ्यः शर्करामसृजत ॥५॥ तस्मात् सिकताः शर्करैवान्ततो भवति। शर्कराया अश्मानम् ॥६॥ तस्माच्छर्कराऽश्मैवान्ततो भवति। अश्मनोऽयः ॥७॥ तस्मादश्मनोऽयो धमन्ति। अयसो हिरण्यम् ॥८॥ तस्मादयो बहु ध्मातं हिरण्यसंकाशमिवैव भवति ॥९॥ तद्यदसृज्यत अक्षरत् तत्। यदक्षरत् तस्मादक्षरम्। यदष्टौ कृत्वोऽक्षरत्। सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति। तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत्। सा पृथिव्यभवत्। तस्मादस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानाँ च पतिः संवत्सरायादीक्षन्त। भूतानां पतिर्गुहपतिरासीदुषाः पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते ॥१०॥ अथ यः स भूतानांः पतिः संवत्सरः सः। अथ या सोषाः पत्नी, औषसी सा। तानीमानि भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सरः उषसि रेतोऽसिञ्चत्। स संवत्सरे कुमारोऽजायत ॥११॥ सोऽरोदीत्। तं प्रजापतिरब्रवीत्। कुमार! किं रोदिषि, यच्छ्रमात्तपसोऽधिजातोऽसीति ॥१२॥ सोऽब्रवीत्—अनपहतपाप्मा वा अस्मि,—अविहितनामा, नाम मे धेहीति। तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्। पाप्मानमेवास्य तदपहन्ति। अपि द्वितीयम्, अपि तृतीयम्। अभिपूर्वमेवास्य तत् पाप्मानमपहन्ति ॥१३॥ तमब्रवीत्-रुद्रोऽसीति। तद्यदस्य नामाकरोत्, अग्निस्तद्रूपमभवत् अग्निर्वै रुद्रः। यदरोदीत्तस्माद्रुद्रः। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे

नामेति । तमब्रवीत्—सर्वोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोत् । आपस्तद्रूपमभवत् । आपो वै सर्वः । अद्भ्यो हीदं सर्वं जायते ।।१५।। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति । तमब्रवीत्—पशुपतिरसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोत् । ओषधयस्तद्रूपमभवत् । ओषधयो वै पशुपतिः तस्माद्यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति ।।१६।। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति । तमब्रवीत्—उग्रोऽसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोत् । वायुस्तद्रूपमभवत् । वायुर्वा उग्रः । तस्माद् यदा बलवद्वाति उग्रो वातीत्याहुः ।।१७।। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति । तमब्रवीत्—अशनिरसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोत्—विद्युत्तद्रूपमभवत् । विद्युद्वा अशनिस्तस्माद् यं विद्युद्हन्ति, तमशनिरवधीदित्याहुः ।।१८।। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति । तमब्रवीत् भवोऽसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोत्, पर्जन्यस्तद्रूपमभवत् । पर्जन्यो वै भवः । पर्जन्यादधीदं सर्वं भवति ।।१९।। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति । तमब्रवीत्—महान् देवोऽसीति । तद्यदस्य तन्नामाकरोत् चन्द्रमास्तद्रूपमभवत् । प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः । प्रजापतिर्वै महान् देवः ।।२०।। सोऽब्रवीत्—ज्यायान् वा अतोऽस्मि धेह्येव मे नामेति । तमब्रवीत्—ईशानोऽसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोत् आदित्यस्तद्रूपमभवत् । आदित्यो वा ईशानः । आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे ।।२१।। सोऽब्रवीत् एतावात् वा अस्मि मा मेतः परो नाम धा इति । तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि । कुमारो नवमः । सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता । यद्वेवाष्टावग्निरूपाणि । अष्टाक्षरा गायत्री । तस्मादाहुर्गायत्रोऽग्निरिति । सोऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्राविशन्न वा अग्निं कुमारमिव पश्यन्ति, एतान्येवास्य रूपाणि पश्यन्ति, एतानि हि रूपाण्यनुप्राविशत् ।।२२।।

इत्येतावता महता प्रबन्धेनामीभिरप्फेनमृत्सिकताशर्कराश्मायोहिरण्यरूपैरष्टाभिरक्षरैः परिच्छेदादमुष्याः पृथिव्या भूतगायत्रीत्वमञ्जोसोपपादितम् । एवं पृथ्वीजलतेजोवाय्वाकाशसूर्यचन्द्रयजमानरूपैरष्टाभिरक्षरैः परिच्छेदादमुष्याग्ने रुद्रकुमारस्य भूतगायत्रीत्वमञ्जसैवोपपादितम् । एवमेतच्छ्रुतितात्पर्यानुसारिभिरन्यत्राप्यार्थिकप्राणानामक्षरत्वमुपगभ्य ततः परिच्छेदादन्यान्या गायत्र्यः प्रतिपादचन्ते । यथा हि महाभारते भीष्मपर्वणि भौमगुणस्थाने चतुर्थाध्याये लोकगायत्री प्रतिपादिता—

द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च ।
त्रसानां त्रिविधा योनिरण्डस्वेदजरायुजाः ।।

चराणां खलु सर्वेषां श्रेष्ठा राजन् जरायुजाः ।
जरायुजानां प्रवरा मानवाः पशवश्च ये ।।

सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा ।
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप ।।

गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः ।
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः ।।

एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ।।

ग्राम्याणां पुरुषाः श्रेष्ठाः सिंहाश्चारण्यवासिनाम् ।
सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम् ।।

उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पञ्चैव जातयः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ।।

तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसंमता ।।

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ।।

१. आकाशः	१	धातुपादः १	६. वृक्षाः	१	मूलपादः २
२. वायुः	२		७. गुल्माः	२	
३. तेजः	३		८. लताः	३	
४. जलम्	४		९. वल्ल्यः	४	
५. पृथ्वी	५		१०. तृणानि	५	
११. सिंहाः	१	जीवपादः ३	१८. मनुष्याः		जीवपादः ४
१२. व्याघ्राः	२		१९. अजाः		
१३. वराहाः	३		२०. अवयः		
१४. महिषाः	४		२१. गावः		
१५. वारणाः	५		२२. अश्वाः		
१६. ऋक्षाः	६		२३. अश्वतराः		
१७. वानराः	७		२४. गर्दभाः		

इत्यादिना प्रबन्धेन पञ्चभिरचेतनजातीयैः, पञ्चभिश्चान्तश्चैतन्यजातीयैः स्थावरसंज्ञैः, तथा चतुर्दशभिश्चेतनजातीयैः प्राणिभिरवच्छेदाच्चतुर्विंशत्यक्षरा लोकगायत्री समाख्याता ।

एवमेवान्यत्रान्यत्र सर्वत्रापि च्छन्दोव्यवहारः श्रौतः स्मार्तो वा वाचिकाक्षरानुरूप्येणार्थिकाक्षरावच्छेदान्मा-प्रमा-प्रतिमात्मकभेदत्रयभिन्नः समर्थनीयः । तत्र च वाचिकाक्षरसंख्यानानां लक्षणत्वम्, आर्थिकाक्षरसंख्यानानां च लक्ष्यत्वं सर्वत्र समुन्नेयम् । एतेन सर्व एवात्रत्यप्रश्नग्रन्थोक्ता वैदिकनिदर्शनास्थानाश्छन्दोव्यवहारा व्याख्याताः । विषुवाहोरात्रवृत्तस्य बृहतीच्छन्दस्त्वम्, ततो दक्षिणतः क्रमेण ह्रसितानां त्रयाणामहोरात्रवृत्तानामनुष्टुबुष्णिग्गायत्रीत्वम्, विषुवाहोरात्रवृत्तादुत्तरतश्च क्रमेण दीर्घाणां त्रयाणामहोरात्रवृत्तानां पंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्वं च पूर्वोक्तप्रकारेणैवाभिप्रेत्य सप्तानामेषां छन्दःसंज्ञानां सूर्याश्वत्वमाख्यायते । 'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्,

तदश्वोऽभवत्' इति श्रुत्या सूर्यरथसमाविष्टानां चक्रस्थानां तेषामहोरात्रवृत्तानामेव सूर्याश्वत्वात् । तदेतत्सर्वं वेदसमीक्षायां विस्तरतः समाख्याय स्पष्टीकृतमिति ततोऽवलोकनीयम् । इह तु मा-प्रमा-प्रतिमात्मकभेदत्रयभिन्नः प्राणावच्छेदोऽवच्छिन्न-प्राणो वा च्छन्द इत्येतत् तावत् सर्वच्छन्दोरहस्यं सिद्धान्ततो व्याख्यातमिति दिक् ।

पृष्ठ ११० पंक्ति ८ के नीचे—

१. नित्याः	संस्काराः	पञ्च महायज्ञाः ५
२. मासिकाः	,,	पार्वणादयः
३. वार्षिकाः	,,	आग्रयणादयः ७
४. नैमित्तिकाः	,,	उद्वाहान्ताः १६
५. काम्याः	,,	अग्निष्टोमादयः (गुणाधानाः) प्रायश्चित्तानि (दोषनिरासाः)

पृष्ठ ११० पंक्ति १४ में 'प्रतिरूपकरणं च ।' के आगे

यत्र प्रकृतिदृष्टस्यार्थस्य भूयसा वैरूप्यमेव संसाधयितुमिष्यते तदाद्यम् ।

यत्र तु प्रकृतिदृष्टस्यार्थस्य भूयसाऽऽनुरूप्यमेव संसाधयितुमिष्यते तद् द्वितीयम् ।

पृष्ठ ११९ पंक्ति ३२ के आगे—

०—१ एकाहः १	एकाहः	अनावृत्तः
२—१२ अहीनाः ११	अहीनः	आवृत्तः
११—९९ रात्रिसत्राणि ८९	सत्रम्	आवृत्तः
१००—१००० अयनसत्राणि ९००	सत्रम्	आवृत्तः

पृष्ठ १२७ पंक्ति ३१ के आगे—

इति छन्दस्तत्ववादे आक्षेपनिरासो नाम

तृतीयग्रन्थः

१. अग्निवासः ।	९. विषम् ।	१७. संस्कृता छन्दःप्रतिष्ठा ।
२. संवेशोपवेशौ ।	१०. रहः ।	१८. प्राकृता छन्दःप्रतिष्ठा ।
३. शिल्पम् ।	११. रुचिः ।	१९. वेदः ।
४. एति च प्रेति च ।	१२. अभिलाषा ।	२०. वेदग्रन्थः ।
५. संस्कारः ।	१३. वश्यता ।	
६. द्रविणम् ।	१४. स्वैराचारः ।	
७. छन्दोभाषा ।	१५. निष्प्रतिबन्धः ।	
८. जलवातौषधिः ।	१६. विरेचनम् ।	

पृष्ठ १३० पंक्ति १७ में 'चेत्तदपि न । इसके आगे—

"नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्याम्" इति शतपथश्रुतौ (७/१/२/२२) "न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति न द्वाभ्याम्" इति कौषीतकिश्रुतौ (२७ अध्या. १)

पृ. १३० पंक्ति १७ में—

"न वा एकेनाक्षरेण च्छन्दांसि बियन्ति न द्वाभ्याम् इति ऐतरेयश्रुतौ (१।६) तथान्यत्रापि चैकद्विवर्णोनातिरेकेऽपि गायत्र्यादिच्छन्दोव्याघातप्रत्याख्यानस्य भूयसाऽऽम्रेडनात् तथाविधानां।

पृ. १३० पंक्ति १८ में—

'निचृद्भुरिगा' के आगे 'दिशब्दव्यपदिष्टानां।

पृ. १३२ पंक्ति १० में 'भाक्तः' के आगे—

यद्यपि कौषीतकिश्रुतौ मन्त्रोऽयमन्यथा व्याख्यायते। यथा—यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत। यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः इति अथो यदिमा देवता एषु लोकेष्वध्यूढाः,—गायत्रेऽस्मिल्लोके गायत्रोऽयमग्निरध्यूढः। त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः। जागतेऽमुष्मिल्लोके जागतोऽसावादित्योऽध्यूढः। इति। न चैतावता छन्दसि छन्दोऽन्तरसत्ता मन्त्रार्थ उपलभ्यः, तथापि स्वल्पेन यत्नेनाधिकमर्थमुपदेष्टुमिवाभिवर्तमानानां महर्षीणां बहुविधा हि मन्त्रार्थवादा भवन्ति। तदतो नाभिगम्यमानं प्रमाणान्तरसिद्धमर्थं सर्वथा प्रत्याख्यातुमवकल्पते।

पृष्ठ १४३ में 'इति छन्दःपदवादः' के बाद निम्नलिखित पाठ है—

छन्दःपदसंहितावादः

ननु चतुःपद्याविषमपादान्ते सन्धिकार्याणि दृश्यन्ते न तथा समपादान्ते, तत्र को हेतुः। अत्र वदन्ति—पद्यं हि चतुष्पात्त्वसामर्थ्यात् पशुवद्द्रष्टव्यम्। पशूनां हि पादेषु द्वन्द्वं द्वन्द्वं संनिकृष्यते, विकृष्यते चाग्रिमाद् द्वन्द्वात् पश्चिमं द्वन्द्वम्। एवमेव पद्यानां पादेषु प्रथमं द्वयमुत्तमं च द्वयं पृथक् पृथक् संनिधत्ते। तस्मात्तत्र तत्र संहिताकार्याणि भवन्ति। समपादान्ते तु संनिकर्षाभावात् संहिताकार्याणि निवर्तन्ते, परः संनिकर्षः संहिता इति सिद्धान्तात्॥.॥ अथ पुनः कश्चित् प्रत्यवतिष्ठते। कश्चायं परः संनिकर्षः। यदि हि स्वारसिकार्धमात्राकालाधिककालव्यवायाभावः संहितेतीष्यते तर्हि नूनमिहापि विषमपादान्ते संहिताकार्याणि निवर्तेरन्, यजुःप्रातिशाख्यपञ्चमाध्यायस्य प्रथमसूत्रे—'समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः', इत्यनुशासनात् तदनुरोधेनैवासमस्तपदयोरध्यर्धमात्राकालस्य, यतौ द्विमात्राकालस्य, विरतौ तु सार्धद्विमात्राकालस्य व्यवच्छेदकत्वस्वीकारापत्त्या संहिताया दूरापास्तत्वात्। अत्रोच्यते—नेदमवग्रहे तावदेकमात्राकालव्यवधानं नियम्यते। "अवग्रहे तु यः कालस्त्वर्धमात्रा विधीयते" इति याज्ञवल्क्येन तत्रैवार्धमात्राकालव्यवस्थापनात्। तस्मादवग्रहे क्वचिदेकमात्रयापि व्यवच्छेद इत्यत्रैव कात्यायनतात्पर्यं लभ्यते। युक्तश्चायमर्थः, विच्छेदकालस्य न्यूनाधिकताया विवक्षाधीनतया नियमानुपपत्तेः। अत एव ऋक्प्रातिशाख्ये संहिता "पदप्रकृतिः" (२/१) इत्याख्यायते। संहितायाः पदं प्रकृतिः, पदस्य

वा संहिता प्रकृतिरित्युभयथा सूत्रं व्याचक्षते। अर्थे क्वचित् कृतसमया संहिता वर्णाः पदमिति पदे वर्णस्थित्या संहितास्वरूपं प्रतिपत्तुं युक्तम्। तत्र हि व्यञ्जनयोः स्वरान्तरितयोः स्वरानन्तरितयोर्वा विच्छेदकालो नैकधा भवति। अत एव चावग्रहेऽसमस्तपदे यत्यादौ च नैकरूपो विच्छेदकालः क्रमागतः शक्यो नियन्तुम्। विवक्षावशाद्वर्णमैत्रीवशाच्च तारतम्यसंभवात्। यत्तु—

स्वरान्तरितयोर्मध्यवर्ती व्यञ्जनयोः स्वरः।
विच्छेदकालो मात्रा वा द्वे मात्रे तिस्र एव वा ॥१॥

विच्छिद्येते व्यञ्जनेन व्यञ्जनान्तरितौ स्वरौ।
व्यञ्जनस्वरयोः कालो विच्छेदस्य न विद्यते ॥२॥

संयुक्तयोर्व्यञ्जनयोर्मात्रापादोऽन्तरं भवेत्।
मात्रापादार्धविच्छेदे गुणसाङ्कर्यसंभवः ॥३॥

समस्तपदयोर्मध्ये विच्छेदस्त्वर्धमात्रकः।
पादोनमात्राविच्छेदः पदयोरसमस्तयोः ॥४॥

एकक्रियान्वये वाक्यखण्डानां मात्रयान्तरम्।
सैकद्वित्रिचतुःपादा मात्रा सापेक्षवाक्ययोः ॥५॥

त्रिमात्रा वा चतुर्मात्रा सूक्तपूर्तौ विधीयते।
अधिकारे प्रकरणे ततोऽप्यधिकमिष्यते ॥६॥

श्लोकेऽर्धमात्रा तु यतौ विरतौ मात्रयान्तरम्।
विच्छेदे त्वत्र मात्रे द्वे अवसाये ततोऽधिकम् ॥७॥

इत्येवं केचन व्यवच्छेदनियमाः प्रदर्श्यन्ते; तदपि औचित्यमात्रसापेक्षं व्यवस्थानमात्रम्। वर्णमैत्रीवशाद्विवक्षावशाच्च क्वचित्तदतिरेकदर्शनात्। यथा

जायन्ते नव सौ तथापि च नव भ्यांभिस्भ्यसां सङ्गमे।
षट्संख्यानि नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि त-
ज्जानन्तु प्रतिभाऽस्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः ॥१॥

इत्यत्राद्यपादयतौ अर्धमात्रया, द्वितीयपादयतौ पादोनमात्रया तृतीयपादयतावेकत्रया वा व्यवच्छेदोऽवभासते। तृतीयपादान्ते त्वर्धमात्रयैव नैकमात्रयेति नाविदितं भावुकानाम्।

नन्वेवं तर्हि विषमपादान्ते समपादान्तेऽपि च यथाविवक्षं क्वचित् सन्धिकार्याणि प्रवर्तेरन्, क्वचिद्वा निवर्तेरन्नित्यव्यवस्थया वैषम्यं स्यात् इति चेन्न। द्विविधा संहिता भवति-प्राकृता संस्कृता च। या स्वाच्छन्द्येन प्रकृतिमनुवर्तमाना स्वारसिकी, सा प्राकृता स्वतन्त्रा चाख्यायते। यथा दध्यानयेत्यत्रेकाराकारयोः। या तु स्थलविशेषे वाचनिकी सा संस्कृता प्रगृह्या चाख्यायते। सा हि नियमेन प्रगृहीतत्वादेव न कस्य-

चिद्विवक्षयाऽन्यथा भवति। यथा विषमपादान्ते संहिता। सा हि यद्यपि कश्चिद्विलम्बेन वर्णानुच्चारयेत्, अथापि न निवर्तते प्रगृह्यत्वात्। यथा रामेष्वित्यत्र षुभागं तदितरभागात् पृथक्कृत्य विलम्बेनापि कश्चिदुच्चारयेत् अथापि सा पदप्रकृतिः संहिता न निवर्तते प्रगृह्यत्वात्। इयं समपादान्ते नाभ्युपगम्यते तस्माददोषः।

अन्ये वदन्ति—भिद्यते हीयं संहिता वर्णाक्षरपदपादपद्यादिषु प्रत्यर्थं रूपभेदेन। वर्णसंहिता हि बलतारतम्येन वर्णगुणादिकं परवर्णे संचारयति, अक्षरसंहिता तु कञ्चिद्वर्णं किञ्चिदक्षराङ्गत्वेनावकल्पयति। तथा पदसंहिता वर्णानन्योन्यं संनिधापयति। अखण्डपदसंहितानिवृत्तिस्त्ववग्रहशब्देनोच्यते। उक्ताश्चैते संहिताविशेषधर्मा वर्णसमीक्षायां संहितोपनिषत्प्रकरणे। तत्रेयं पदसंहिता वर्णानां विलम्बेनोच्चारणं न सहते। सन्धिकार्यप्रतिपत्तौ तु वर्णसंहिता तन्त्रम्। नैषात्यन्तं वर्णसांनिध्यमपेक्षते; राधवेणेत्यादौ षण्मात्राविलम्बेऽपि रेफसंहितानिबन्धनणत्वकार्यदर्शनात्। तथा चेयं सन्धिकार्यप्रयोजिका संहिता यावन्तं कालं सहते, तावत्कालानतिपातेनैव विषमपादान्ते विश्रामः कर्तव्य इत्यादिश्यते। अधिकं तु ततः समपादान्ते इत्यतो न तत्र सन्धिकार्याणि प्रवर्त्तन्ते। परे त्वाहुः—अतिविलम्बेनोच्चारणेऽपि विषमपादान्ते सन्धिकार्याणि भवन्ति। अनतिविलम्बेनोच्चारणेऽपि समपादान्ते न भवन्ति। राधवेणेत्यादौ षण्मात्राविलम्बेऽपि सन्धिरनुवर्तते पुनर्न रघुनाथादावतिसांनिध्येऽपि। तस्मान्नैतदुक्तं युक्तम्। वस्तुतस्तु-

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥१॥

इति यथा वैयाकरणा धातूपसर्गादौ नित्यत्वं वाचनिकं फलबलादनुजानन्ति तथैव खलु विषमपादान्ते संहिताया नित्यत्वं, समपादान्ते तु संहिताया अविवक्षितत्वं फलानुरोधादेव छन्दसिका अनुजानन्ति। तस्माच्छान्दसिकसमयसिद्ध एवायमर्थ इत्यलमतिचिन्तया॥

इति छन्दःपदसंहितावादः

पृष्ठ १४८ पंक्ति १५ का पाठ—

'अत्रोल्लिखितैरङ्कैः पादाक्षरसंख्या द्रष्टव्याः' यह पाठ इससे नीचे की १६वीं पंक्ति में पढें तथा १६वीं पंक्ति का 'गायत्रीभेदाः १४' यह पाठ १५वीं पंक्ति में पढ़ें।

पृष्ठ १५२ पंक्ति २२ में 'देवताः' के आगे—

यत्तु—"अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता संबभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् (ऋ१०/१३०/४)
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।

विश्वान्देवान् जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः (ऋ.१०/१३०/५) इत्येवं देवतानिरूपणमन्त्रे पङ्क्तिस्थाने विराजो मित्रावरुणदेवताकत्वमाम्नायते तदपि दशाक्षरत्वाविशेषात् पंक्त्यभिप्रायेणोन्नेयम्। मित्रावरुणयोरित्यनेन च मित्र-देवताकत्वं समुच्चीयते न तु वरुणदेवताकत्वं प्रतिषिध्यते इत्यविरोधः।

पृष्ठ १६२ पंक्ति ६ में—

'अथातः' के स्थान में 'अथादौ',

पृष्ठ १६४ पंक्ति २७ में—

'तत्रादौ' के स्थान में ,अथातः' पाठ है।

छन्दःसमीक्षायाः शुद्ध्यशुद्धिपत्रम्

पृ. पं०	अशुद्धिः	शुद्धिः
५— ५	श्रुभवाके	शुभवाके
५— ६	मश्रुभं	मशुभं
७—२३	न्दशिवः	न्दःशिवः
१७—२१	निरुत्यते	निरूप्यते
१९—१७	षयौ	षपौ
३७—२०	प्रतिपत्यर्थ	प्रतिपत्त्यर्थ
४०—११	२७	२६
४४—३०	०	१
४४—३१	४	V̲
४५—२०	स्थान	स्थानै
४६—१०	३९	३१
४६—१३	३३	३१
४६—१४	६९	६१
७४—२६	मार्कंटी	मर्कटी
१०४—२९	श्रुयन्त	श्रुत्यन्त
१०५—३१	तिष्ठन्ने	तिष्ठन्ते
१०५—३६	आश्रभावः	आश्रयभावः
१२१— ८	श्रूद्रस्य	शूद्रस्य
१२१—२२	न्वसृजत	न्वसृज्यत
१२१—२४	अन्वसृजन्त	अन्वसृज्यन्त